श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान पुष्प-२

ॐ

नमः परमात्मने

श्रीमदाचार्य अमृतचन्द्र सूरि विरचित

लघुतत्त्वस्फोट

卐

अनुवादक-सम्पादक

पण्डित डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

(सागर, म० प्र०)

प्रकाशक

श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान

[श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला]

नरिया, वाराणसी

वीर नि० संवत् २५०८] विक्रम संवत् २०३७ [ई० सन् १९८१

प्रकाशक :
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
डॉ० राजाराम जैन
एम० ए० (द्वय) पी-एच० डी०
अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग
जैन कालेज, आरा
उदयचन्द्र जैन, एम० ए०
जैन-बौद्ध सर्वदर्शनाचार्य
अध्यक्ष, दर्शनविभाग
प्राच्यविद्या, धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रथमावृत्ति
प्रति–७५०
मूल्य-पच्चीस रुपये

मुद्रक
आनन्द प्रेस
बी० २७/९२-१९, जवाहर नगर कालोनी,
वाराणसी

प्रकाशकीय

अध्यात्मरसमधुप आचार्य अमृतचन्द्रकी महत्त्वपूर्ण संस्कृत रचना—लघुतत्त्वस्फोटका श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थानकी ओरसे प्रकाशन करते हुए अतीव प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। संस्थान के अनेक उद्देश्योंमेसे एक उद्देश्य विविध उपयोगी साहित्य-प्रकाशन सम्बन्धी भी है। प्रकाशन-कार्यके साथ-साथ शोध-छात्रवृत्तियों एवं शोधानुदान आदिकी व्यवस्था भी उसके उद्देश्य-क्षेत्र हैं अत उनकी पूर्तियोंमे सलग्न रहते हुए भी संस्थानका यह दूसरा साहसपूर्ण प्रकाशन है। प्रथम प्रकाशन—आप्तमीमासा-तत्त्वदीपिका अपनी मौलिक श्रेष्ठताओंके कारण पुरस्कृत भी हो चुका है। आध्यात्मिक दृष्टिसे इसकी मौलिक विशेषताओंको ध्यानमे रखकर आत्मशोधार्थियों, जैनदर्शनके स्वाध्यायप्रेमियो तथा आधुनिक पद्धतिके शोधस्नातकोके लिए संस्थानकी ओरसे इस ग्रन्थरत्नके प्रकाशनका निर्णय लिया गया है।

'लघुतत्त्वस्फोट' एक स्तुतिपरक ग्रन्थ है जिसे अध्यात्म सम्बन्धी विविध विषयोका एक सुभाषितकोश-ग्रन्थ भी कहा जा सकता है इसीलिए इसका अपरनाम 'शक्तिभणितकोश' भी उपलब्ध होता है। जैन सस्कृत, प्राकृत, तमिल एव कन्नड साहित्यमे प्राचीनकालसे इस शैलीके ग्रन्थोके लिखे जानेकी परम्परा रही है और इस कोटिके ग्रन्थोमे अष्टपाहुड थिरुक्कुरल, सुभाषितरत्नसन्दोह, बज्जालग्ग जैसे ग्रन्थ प्रमुख हैं। वस्तुत यह शैली गागरमे सागरके भरने जैसी होती है। इसमे वही कवि सफल हो सकता है जो तत्तद्विषयका गम्भीरमर्मी विद्वान् हो तथा जिसका भाषापर असाधारण अधिकार हो। दूसरे शब्दोमे कह सकते हैं कि वर्गीकृत गहनविषय सम्बन्धी मुक्तक-शैली विद्वत्ता एव कवित्वशक्तिके लिए खरी कसौटी होती है और अपनी ख्यातिसे सर्वदा दूर भागनेवाले आत्मनिष्ठ आचार्य अमृतचन्द्र इस कसौटीपर निश्चय ही खरे उतरे हैं। अध्यात्मके क्षेत्रमें जहाँ वे सिद्धयोगी है, वही कविताके क्षेत्रमे वे महाकवि शिरोमणि। उनकी कवीन्द्रकी उपाधि सर्वथा सार्थक है। कवीन्द्राचार्य अमृतचन्द्रकी ज्ञान-गरिमा तथा विषय-प्रतिपादनकी शैलीकी अपूर्वतामे सभी विद्वज्जन एकमत हैं और उनके दृष्टिकोणसे उन्होने जैन अध्यात्म विशेषतया कुन्दकुन्दके अध्यात्मको सहज, सुबोध एव सर्वगम्य बनाया है। श्रीयुत् प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्यने उपयुक्त ही कहा है कि "कुन्दकुन्दको कुन्दनवत् प्रकट करनेका श्रेय अमृतचन्द्रको ही है। प्रकटन और प्रसारमे जा स्थिति भगवान् महावीर और गौतम गणधरकी है, वही स्थिति जैन अध्यात्मके प्रकटन और प्रसारमे आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रकी है।'

'लघुतत्त्वस्फोट' विविध विषयक २५ स्वतन्त्र प्रकरणोमे विभक्त है और प्रत्येक प्रकरणमे २५-२५ श्लोक है। इस प्रकार कुल श्लोक सख्या ६२५ + २ है। कविने विषयानुकूल १३ प्रकारके छन्दोका प्रयोग किया है। यथा—वसन्ततिलका (दे० १-३ प्रकरण) वशस्थ (दे० ४-७, २०-२१ प्रकरण), उपजाति (दे० ८-१० प्रकरण), अनुष्टुप् (दे० ११-१२ प्रकरण), मञ्जुभाषिणी (दे० १३वाँ प्रकरण), तोटक (दे० १४वाँ प्रकरण), मत्तमयूर (दे० १८वाँ प्रकरण), वियोगिनी (दे० १९वाँ प्रकरण), मन्दाक्रान्ता (दे० २२वाँ प्रकरण), हरिणी (दे० २३वाँ प्रकरण) एव शार्दूलविक्रीडित (दे० २४-२५ प्रकरण)। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शन समन्वित अध्यात्मका है किन्तु स्तुतिपरक होने तथा गेय छन्दोमे ग्रथित होनेके कारण पाठकको सहजमे ही उसकी मर्मानुभूति होने लगती है।

इस ग्रन्थरत्नका हिन्दी अनुवाद जैन साहित्यके सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् पं० डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य (सागर) ने किया है। ग्रन्थकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़ है। उसका अनुवाद सचमुच ही श्रमसाध्य था। उन्हें इस कार्यके सम्पन्न करनेमें घोर परिश्रम करना पड़ा है। उनके इस कार्यके लिए विद्वज्जगत् उनका सदा आभारी रहेगा।

जैन-विद्याके प्रकाण्ड विद्वान् श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'लघुतत्त्वस्फोट' के अध्ययनके साथ-साथ आचार्य अमृतचन्द्रकी अन्य उपलब्ध समस्त रचनाओंका सूक्ष्म अध्ययन कर उनके हार्दको प्रकाशित करनेका प्रयास किया है। इससे ग्रन्थकारके कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इसके लिए संस्थान उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

श्री० ब्र० पं० माणिकचन्द्रजी चवरे (तात्याजी) कारंजा इस योजनाके मूल केन्द्रबिन्दु रहे हैं। 'लघुतत्त्वस्फोट'की मूलहस्तप्रति उनके पास सुरक्षित थी। उन्होंने श्री० पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री (कटनी) के सत्परामर्शपूर्वक वर्णी संस्थानको उसके प्रकाशनकी अनुमति प्रदान कर दी तथा ग्रन्थकी अनुवाद सहित पाण्डुलिपि श्री० पं० फूलचन्द्रजी सि० शास्त्रीको भेज दी और लिखा कि वे संस्थानकी ओरसे उसके मुद्रणकी व्यवस्था कर दें। श्री० पं० फूलचन्द्रजीका विद्याव्यसन इसीसे प्रकट है कि अस्वस्थ रहते हुए भी उन्होंने तात्याजीका अनुरोध स्वीकार किया और उन्हींके अथक प्रयत्नोंसे यह ग्रन्थ प्रकाशित होकर पाठकोंके कर-कमलोंमें पहुँच सका है। इस पवित्र प्रसंगमें हम संस्थानके अध्यक्ष श्रीमान् सवाई सिंघई धन्यकुमारजीके प्रति भी कृतज्ञ है जो संस्थान-की गतिविधियोंको अग्रगामी बनाये रखनेके लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। इस ग्रन्थके प्रकाशनकी आवश्यक व्यवस्थाओंके संयोजनमे उनका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है।

जिनवाणी-रसिक श्री० बालचन्द्र देवचन्द्र शहा मंत्री—आचार्य शांतिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण (महाराष्ट्र) ने अपनी संस्थाके लिए संस्थानके साथ ही उसकी ७०० प्रतियाँ मुद्रित कराई है। संस्थाकी आर्थिक स्थितिको ध्यानमे रखकर तथा उसके कार्योंको गतिशील बनाने हेतु श्री० दीपचन्द्रजी सा० इन्दौरने संस्थानको २०००) (दो सहस्र) रुपयों का अनुदान दिया। उक्त सज्जनोके जिनवाणी-प्रकाशनके इस महान् कार्यमे सक्रिय सहयोग-की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही होगी। संस्थान इनके प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता है।

श्री० पं० हरगोविन्दजी ज्योतिषीने प्रूफ-सशोधनका कार्य बड़ी लगनके साथ किया तथा श्रीमान् पं० बाबूलालजी फागुल्लने इसके मुद्रण-कार्यमे तत्परता तो दिखाई ही, उसके सजाने-सँवारनेमे भी पर्याप्त सहयोग किया। इन कार्योंके लिए वे दोनों धन्यवादार्ह हैं।

उदयचन्द्र जैन
संयुक्त मन्त्री

डॉ० राजाराम जैन
मन्त्री

श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान

सम्पादकीय

आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराजके संघसे मेरे पास इस ग्रन्थके प्रारम्भकी तीन पच्चीसिकाएँ हिन्दी अनुवाद करनेके लिये आई। रचना प्रौढ़ थी और पाण्डुलिपिके अतिरिक्त कोई मूल प्रति प्राप्त नहीं थी अतः अनुवाद करनेमें कठिनता दिखी। फिर भी प्रयत्न कर इनका अनुवाद मैंने संघमें भेज दिया। संघस्थ मुनि श्री अजितसागर जी महाराज संस्कृतके प्रबुद्ध विद्वान् हैं। उन्हें अनुवाद पसंद आया और टाईप कराकर उसकी प्रतिलिपि उन्होंने आदरणीय ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरे कारंजाके पास भिजवा दी। कुछ समय बाद चवरे जी ने पूरा ग्रन्थ मेरे पास भेज कर अनुवाद करनेका अनुरोध किया।

पच्चीस पच्चीस श्लोकोंकी पच्चीस पच्चीसिकाओंमें ६२५ श्लोक थे, भाषा और विषय-दोनों की अपेक्षा रचना दुरूह दिखी। दैनिक कार्यक्रमोंकी व्यस्तताके कारण अनुवाद करनेमे लगभग एक वर्षका समय लग गया। चवरे जी की इच्छा थी कि इस अनुवादकी एक बार आचार्य समन्तभद्र जी बाहुबलीके संनिधानमे वाचना हो जाय। फलतः वाचनाके लिये श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्र जी वाराणसी तथा हमने स्वीकृति दे दी, स्वीकृति ही नही दी, हम दोनों अपने अपने स्थानोसे चलकर बीना पहुँच गये। परन्तु दादर एक्स-प्रेसमे स्थान नही मिला अतः उस समय हम लोगोंका जाना न हो सका। मैं बीनासे सागर वापिस आ गया और पण्डित जी कटनी होते हुए वाराणसी चले गये। एक वर्षके लिये वाचना रुक गई। हम लोगोंका वापिस चला आना भी अच्छा हुआ क्योंकि तब तक चवरे जी के पास हमने जिस प्रतिके आधार पर अनुवाद किया था उसके सिवाय कोई दूसरी प्रति नही थी। उस प्रतिके आधार पर वाचना करनेसे कोई विशेष लाभकी सम्भावना नही थी। परन्तु इस एक वर्षके भीतर उनके पास मूल प्रतिकी फोटो कापी आ गई। द्वितीय वर्ष मईके प्रारम्भमे श्री पण्डित कैलाशचन्द्र जी और डा० दरबारीलाल जी के साथ मुझे पुनः आमन्त्रित किया, फलतः हम तीनों विद्वान् बम्बईमे काका बालचन्द्र जी शहाका आतिथ्य स्वीकृत कर कुम्भोज बाहुबली पहुँच गये। वहाँकी रचनाएँ और प्राकृतिक वातावरण देखकर चित्तमे बड़ा आह्लाद हुआ। १८ दिन मैं वहाँ रहा। अनुवादकी एक प्रति मैंने और दूसरी प्रति डा० दरबारीलाल जी कोठियाने अपने सामने रक्खी। पण्डित कैलाशचन्द्र जीने फोटो कापी हाथ मे ली। मैं स्वयं वाचना करता था। संशयास्पद पाठोंके शुद्धरूप फोटो कापीमें मिले अतः अनुवाद मे परिमार्जन किया। चवरे जी भी साथ बैठते थे। ऊहापोह होता था। सुबह मध्याह्न और रात्रि में तीन बार बैठते थे। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग चलता था। प्रातः पूजा आदिसे निवृत्त हो आचार्य श्री समन्तभद्र जीके पास १५ मिनटके लिये बैठते थे और पण्डित कैलाशचन्द्र जी उन्हे अवगत कराते थे कि आज अमुक विषय बड़े महत्त्व का निकला। दार्शनिक विषयको डा० दरबारीलाल जी कोठिया व्यवस्थित करते थे। इस तरह तीन विद्वानोंके सहयोगसे यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। ग्रीष्ममासकी दुपहरियोंमें भी पण्डित कैलाशचन्द्र जी कितना परिश्रम कर लेते हैं तथा बारीकीसे देखकर शुद्ध पाठ पकड़ लेते है यह देख मुझे आश्चर्य होता था। मेरे मनमे आता था कि महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ यदि इसी प्रकारकी वाचनाके द्वारा परिमार्जित कर प्रकाशित किये जावें तो विसंवादकी स्थिति उत्पन्न न हो।

अठारह दिनमें वाचना समाप्त कर मैं सपत्नीक श्रवणबेलगोल तथा मूडबिद्रीकी यात्राके लिये चला गया और कोठिया जी तथा पण्डित कैलाशचन्द्र जी गजा बहिनको धवलाका स्वाध्याय करानेके लिये वही रह गये। एक वर्षमे प्रेसकापी तैयार हो सकी। पश्चात् श्री गणेश वर्णी शोधसंस्थान वाराणसीसे उसके प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ। श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने लिखकर ग्रन्थका हार्दको प्रकट किया है तथा श्री ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरेने अवान्तर भूमिका का निर्वाह तत्परतासे किया है।

ग्रन्थ का नाम

इस ग्रन्थका नाम लघुतत्त्वस्फोट अथवा शक्तिमणित कोष है। लघुतत्त्वस्फोटका अर्थ है तत्त्वोंका लघुप्रकाश और शक्तिमणित कोषका अर्थ है—शक्तिरूपी मणियोंसे युक्त खजाना। एक कल्पना यह भी उठती है कि ग्रन्थका नाम शक्तिभणित कोष है अर्थात् आत्म शक्तियोंके कथन का कोष। लिपि कर्त्ताने म और भ के अन्तरको नही समझा। इस कल्पनाका समर्थन ग्रन्थके अन्तमे समागत निम्न श्लोकसे मिलता है—

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः
संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः।
आस्वादयत्यमृतचन्द्रकवीन्द्र एष
हृष्यन् बहूनि भणितानि मुहुः स्वशक्ते.॥

अर्थात् स्वयं वेगसे अच्छी तरह निपीडित और सम्यग्ज्ञानके विकास रूप रसकी तरङ्गोंसे समुल्लसित आत्मशक्तिके विविध कथनोंका यह अमृतचन्द्र कवीन्द्र हर्षित होता हुआ बार बार आस्वादन करता हे।

शक्तिमणित और शक्तिभणितका स्पष्ट निर्णय न होनेके कारण 'लघुतत्त्वस्फोट' इस नाम से ही प्रकाशन किया जा रहा है। 'इत्यमृतचन्द्रसूरीणा कृति शक्तिमणितकोषो नाम लघुतत्त्व-स्फोटः समाप्त' इस पुष्पिका वाक्यमे दोनो नामोका उल्लेख है।

ग्रन्थके कर्त्ता

ग्रन्थके कर्त्ता समयसार प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायके सस्कृत टीकाकार तथा तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्ध्युपायके रचयिता अमृतचन्द्र सूरि ही है क्योकि पुष्पिका वाक्यके स्पष्ट उल्लेखके साथ समयसार और प्रवचनसारके अनेक गाथाओका भावानुसरण इसमे पाया जाता है। भावानुसरण ही नही निम्न श्लोकमे समयसारके कलशका पूर्णरूपसे शब्दानुसरण भी पाया जाता है—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमा सवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर ॥

समयसारमे यह १४१ वाँ कलश काव्य है। विशेषता इतनी ही है कि वहाँ मन्येके स्थानमे यस्या पाठ है। इसके सिवाय 'लवणखिल्यलीलायते' आदि अनेक कलशोंका भी इसमे रूपान्तरण है। समयसारकी टीकामे एक जगह अमृतचन्द्र स्वामीने 'झटिति' अर्थमे 'टसिति' शब्दका प्रयोग किया है वह इसमें २३ वीं पच्चीसिकामे उपलब्ध है। १८ वी पच्चीसिकाके २ श्लोकमे 'तवैषो विषयः स्यात्' यहाँ एतद् शब्द सम्बन्धी सु का लोप नही किया है जब कि अन्यत्र श्लोकोंमे किया है।

इससे जान पड़ता है कि आचार्यको एतत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप विकल्पसे इष्ट है। इसी प्रकार का एक प्रयोग इन्होंने 'नैष: कदापि सङ्ग: सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्' पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी किया है।

तुलनात्मक टिप्पणमे समयसार, प्रवचनसार आदिकी गाथाओ तथा समानार्थक कलश काव्यों के मैंने उद्धरण दिये हैं।

लघुतत्त्वस्फोटमें समन्तभद्र स्वामीकी पद्धतिका अनुसरण किया गया है अर्थात् जिस प्रकार उन्होने युक्त्यनुशासन और स्वयभूस्तोत्रमे दार्शनिक तत्त्वोका समावेश किया है उसी प्रकार इसमें भी दार्शनिक तत्त्वोंका समावेश किया है। विशेषता यह है कि अनेकान्त पद्धतिसे भिन्न दर्शनोंकी मान्यताओको जैन मान्यताओंके रूपमे स्वीकृत किया गया है। वर्तमानमें चल रही कितनी ही समस्याओंका समाधान इसमे किया गया है। व्यवहार चारित्रको सर्वप्रथम स्वीकृत करनेको बात कहकर उसकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्तका निरूपण, निश्चय और व्यवहारकी चर्चा भी जहाँ तहाँ उपलब्ध है।

ग्रन्थकी भाषा

ग्रन्थकी भाषा प्रौढ संस्कृत है। अमृतचन्द्राचार्य संस्कृत भाषाके प्रकाण्ड विद्वान् थे, यह हम समयसारादि ग्रन्थोंकी टोकाओंके माध्यमसे जानते हैं। समयसारादि जैसे अध्यात्म ग्रन्थोंकी टीका में भी जब उन्होंने भाषाको प्रौढताको नही छोड़ा है तब इस स्वतन्त्र ग्रन्थमे कैसे छोड सकते थे। प्रथम पच्चीसिका तथा अन्तकी चार पच्चीसिकाएँ भाषाकी दृष्टिसे प्रौढतम कही जा सकती है।

इन पच्चीसिकाओंमे वसन्ततिलका, वशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप्, मञ्जुभाषिणी, तोटक, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता, हरिणी और शार्दूलविक्रीडित छन्दोंका प्रयोग हुआ है। अमृतचन्द्र सूरि कवि ही नही कवीन्द्र थे, अत भावानुकूल पदोके चयनमे उन्हे कठिनाई प्रतीत नही होती। उनकी वाग्धारा गङ्गाके प्रवाहके समान अखण्ड गतिसे प्रवाहित हुई है। प्रथम पच्चीसिकामे वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करोका स्तवन है। ग्रन्थमे भावकी गरिमाके साथ भाषाकी प्रौढ़ता भी ग्रन्थकार आचार्य अमृतचन्द्रके वैशिष्ट्यको प्रकाशित करती है। दृष्टान्तके लिये अभिनन्दन स्वामीका स्तवन देखिये—

> यद् भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति
> नाभाति भाति स च भाति न भात्यभाति।
> मा (या) भाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति
> सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम् ॥४॥

श्लोकका अन्वयार्थ तथा पाद टिप्पण ग्रन्थ मे देखिए।

विज्ञानकी महिमा

आत्मरसमें प्रवृत्त विज्ञानतन्तुओंकी महिमा देखिए—

> विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
> द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते।
> अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
> देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था ॥१७॥

हे भगवन् ! यदि ये विज्ञानतन्तु स्वरस-आत्मरसमें प्रवृत्त हो अन्य द्रव्योंके संयोजन-कर्तृत्व से च्युत हो जावें तो अत्यधिक मलसे व्याप्त यह कषायरूपी मलिन कन्था (कथरी) आज ही विघट जाय। तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी स्वमुखी प्रवृत्ति ही कषायको नष्ट करती है।

द्रव्यसंयम और भावसंयमकी उपयोगिता

द्रव्यसंयम और भावसंयमकी प्रभुताका प्रतिपादन करते हुए अमृतचन्द्र सूरि द्रव्यसंयमको प्रथम धारण करनेकी बात कितनी दृढतासे करते हैं देखिये—

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
स्वं द्रव्यभावमहिमानमबाधमान ।
स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्युङ्क्थाः ॥२०॥ (८)

हे भगवन् ! यद्यपि आप परस्पर अत्यन्त सापेक्ष द्रव्यसंयम और भावसंयमको बाधित नही करते थे अर्थात् किसी एकको प्रभुता बताकर अन्यको तुच्छ नही बताते थे। और भावसंयमके वैभवको स्वेच्छासे हृदयमे धारण करते थे तथापि अपने आपको प्रथम द्रव्यसंयमके मार्गमे लगाया था।

भक्तकी भावना

हे भगवन् ! कषायरूपी कषण पट्टिका पर घिसनेसे मेरे ज्ञानकी एक ही कला शेष रही है। उस ज्ञानकी एक कलाके द्वारा ही मै आपका स्तवन करनेके लिये उद्यक्त हुआ हूँ। आपकी विभूति के प्रकट करनेमे उस कलासे कितना प्रकाश हो सकता है ? क्या कभी अलातचक्र भी सूर्य हुआ है?

स्तुतिकर्ता अपने आपको भगवत्स्वरूपमें किस प्रकार विलीन करता है, यह देखिये—

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे ।
लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन-
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववत् विष्वग्विलीनात्मनः ॥२५॥ (२४)

हे भगवान् ! आपके भीतर छलकते हुए केवलज्ञानरूपी प्रशस्त जलके पूरमे जो स्नान कर रहा है, जो निरन्तर सावधान है, लीलासे चञ्चल चैतन्य विलासरूपी तरङ्ग समूहके प्रचण्ड आस्फालनकी क्रीडासे जो जर्जरित हो रहा है तथा शीत शिव—सेंधा नमकके समान जो सब ओरसे विलीन हो रहा है ऐसे मेरा उत्तार—उत्तरण—आपसे पृथक्भाव नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पानी मे बिलीन सेंधे नमककी डली उससे पृथक् नही हो सकती उसी प्रकार मै भी आपसे पृथक् नही हो सकता। यह है भगवान्के साथ भक्तकी तन्मयताका सुन्दर निदर्शन।

इस प्रकार ग्रन्थका प्रत्येक श्लोक अद्भुत भावसे परिपूर्ण है। आत्माकी जो अनन्त शक्तियाँ मणियोंके समान देदीप्यमान हैं वे सब इस कोषमें देदीप्यमान हो रही हैं। समयसार और प्रवचनसारके अन्तमे आत्माकी जिन शक्तियोंका दिग्दर्शन कराया है उन्ही शक्तियोका नये परिवेशके साथ इस ग्रन्थमे प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकी उपलब्धि

इस ग्रन्थकी ताडपत्रपत्रीकी उपलब्धि अहमदाबादके देलाभण्डारमें हुई है। भण्डारके व्यवस्थापकोने इस ग्रन्थकी अबतक रक्षा की और उसे प्रकाशमें लानेकी उदारता दिखलाकर श्री

पुण्यविजयजीने उदारतासे डा० पद्मनाभजीको प्रदान किया, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। डा० साहबने इसपर अंग्रेजी टीका लिखकर विस्तृत प्रस्तावना लिखी। ग्रन्थका प्रकाशन अहमदाबादसे हुआ है। यद्यपि अंग्रेजी टीकाके पूर्व ही मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जा चुकी थी और इसका सहकार डा० साहबको प्राप्त हो चुका था फिर भी इसका प्रकाशन कारणवश देरसे हो रहा है। ग्रन्थ दुरूह है अतः मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जानेमें त्रुटियाँ रही होंगी, उन सबके लिए मैं विद्वद्वर्गसे क्षमाप्रार्थी हूँ। अपने क्षयोपशमके अनुसार मैंने ग्रन्थकर्त्ताका अभिप्राय प्रकट करनेका प्रयास किया है। इस ग्रन्थके संशोधन और संपादनमे बड़ा श्रम करना पड़ा है। दृष्टिकी मन्दता और शरीरकी शिथिलता देखते हुए लगता है कि यह मेरी अन्तिम रचना होगी। अमृतचन्द्र स्वामीके अद्यावधि अप्रकाशित इस ग्रन्थ पर कार्य करनेका मुझे सौभाग्य मिला, इसकी अत्यधिक प्रसन्नता है।

श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजीने अपनी विस्तृत प्रस्तावनामे ग्रंथकर्त्ताके जीवन पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकी विशेषताओंका दिग्दर्शन कराया है। इसके लिये उनका आभारी हूँ। सहयोगी विद्वान् डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया वाराणसीने दर्शन विषयक कुछ श्लोकोंका अनुवाद और भावार्थ लिखकर भेजा तथा वाचनाके समय एक प्रतिको परिमार्जित किया। इसके लिये इनका आभारी हूँ।

आदरणीय तात्या जी बड़े धीरजके साथ लम्बे समय तक प्रतियोंकी पाण्डुलिपि कराने तथा उसे इधर-उधर भेजनेमे तत्परता दिखाते रहे, इसके लिये उनका आभारी हूँ।

मुद्रणमे प्रूफकी अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं उनका शुद्धिपत्रक अलगसे मुद्रित कराकर संलग्न करा दिया है। स्वाध्यायके पूर्व अपनी प्रतियोंका शोधन कर लेनेसे स्वाध्यायमे सुविधा होगी।

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

प्रस्तावना

आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायके आद्य टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रके नामसे प्रायः सभी अध्यात्मरसिक सुपरिचित हैं। यद्यपि जैन अध्यात्मके पुरस्कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द हुए; किन्तु अध्यात्मकी सरिता प्रवाहित करनेका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको ही प्राप्त है। आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रके मध्यमे लगभग एक हजार वर्षोंका अन्तराल है और इस अन्तरालमें प्रख्यात जैनाचार्य हुए हैं। उनमेंसे आचार्य पूज्यपाद तो कुन्दकुन्दसे प्रभावित हैं। उनके समाधितंत्र और इष्टोपदेश पर कुन्दकुन्दके पाहुडोंका प्रभाव है। सर्वार्थसिद्धि टीकामे[1] भी पंच परावर्तनसम्बन्धी पाँच गाथाएँ कुन्दकुन्दके बारस अणुवेक्खासे संगृहीत हैं। आचार्य अकलंकने तत्त्वार्थवार्तिकमें[2] प्रवचनसारसे एक गाथा उद्धृत की है। आचार्य विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीमे[3] *पञ्चास्तिकायकी गाथा 'सत्ता' आदिका संस्कृत रूपान्तर दिया है। किन्तु कुन्दकुन्दके मौलिक* ग्रन्थ समयसारको किसीने स्पर्श नही किया। यह श्रेय तो अमृतचन्द्रको ही प्राप्त है। उन्होंने ही सर्वप्रथम उसका मूल्याङ्कन किया और ऐसा किया कि आचार्य कुन्दकुन्द जैनाकाशमे सूर्यकी तरह प्रकाशित हो गये। कुन्दकुन्दको कुन्दनवत् प्रकट करनेका श्रेय अमृतचन्द्रको ही है। अतः उनकी वाणीके प्रकटन और प्रसारमें जो स्थिति भगवान् महावीर और गौतम गणधर की है वही स्थिति जैन अध्यात्मके प्रकटन और प्रसारमें आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रकी है। जैसे भगवान् महावीरकी वाणीको द्वादशाङ्ग श्रुतमे गौतम गणधरने निबद्ध करके प्रवाहित किया। उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा पुरस्कृत अध्यात्मको अपनी टीकाओके द्वारा आचार्य अमृतचन्द्रने निबद्ध और प्रवाहित किया। उनके पश्चात् ही अन्य टीकाकारोंने भी उन पर अपनी टीका रची, इस तरह अध्यात्मरूपी कमलका सौरभ फैलाकर भी, आचार्य अमृतचन्द्र अपने सम्बन्धमें मूक है। उन्होंने अपनी कृतियोंमें अपना नामोल्लेख मात्र किया है। समयसार और पञ्चास्तिकायकी टीकाके अन्तमे वह लिखते हैं—

> 'स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
> स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥'

अर्थ—अपनी शक्तिसे वस्तु तत्त्वको सम्यक्रूपसे सूचित करनेवाले शब्दोंने यह समयकी व्याख्या की है। अपने स्वरूपमे लीन अमृतचन्द्र सूरिके लिये तो कुछ भी करनेको नही है। इसी तरह तत्त्वार्थसारके अन्तमें कहा है—

> वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
> वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥

अर्थ—अक्षर पदोंके कर्त्ता है, पद वाक्योंके कर्त्ता हैं। वाक्य इस शास्त्रके कर्त्ता है, हम नही है।

---

१. सर्वा० २।१०। बारसअणु०, गा० २५ से २९ तक। २. तत्त्वा० पृ० ११६ पर।
३. अष्टस० पृ० ११३।

पुरुषार्थसिद्धयुपायके अन्तमे भी यही भाव व्यक्त किया है। स्वकर्तृत्वका यह परिचय जैन अध्यात्मकी अमिट छापको व्यक्त करता है। यह बतलाता है कि आचार्य अमृतचन्द्र जैन अध्यात्मके कोरे व्याख्याता नही थे, उन्होंने उसे अपने जीवनमें उतार लिया था। उनका एक एक शब्द बहुमूल्य है, एक-एक वाक्यमें अमृत भरा है। जैन वस्तु विज्ञानके तो वे परम प्रवीण आचार्य हैं ही। अनेकान्त उनकी तुला है। उस तुलाके दो पलड़े हैं—निश्चय और व्यवहार। उनके द्वारा वह वस्तुतत्त्वकी मध्यस्थभावसे समीक्षा करते हैं। उनके अन्तस्तलमें न निश्चयके प्रति अनुराग है और न व्यवहारके प्रति द्वेष। दोनोंमे समभाव रखते हुए भी वे मोक्षमार्गमें उनकी उपयोगिताकी दृष्टिसे ही विचार करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने समयसारके प्रारम्भमे जो निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहा है तथा शुद्धनयका जो स्वरूप कहा है, आचार्य अमृतचन्द्र सर्वत्र उसीका अनुगमन करते हैं। हमें खोजने पर भी ऐसे स्थल नही मिले जहाँ अमृतचन्द्रने कुन्दकुन्दका अतिक्रमण किया हो, या उनकी ओटमे अपना कोई स्वतंत्र मन्तव्य निर्दिष्ट किया हो। वे एकान्ततः कुन्दकुन्दके अनुगत है। कुन्दकुन्दने अपने समयसारके द्वारा अध्यात्मका जो वृक्षारोपण किया था, अमृतचन्द्रने उसे केवल समृद्ध करके पुष्पित और फलित किया है। जैसे वृक्षके पत्ते पुष्प फल सब उससे अनुप्राणित रहते है वही स्थिति अमृतचन्द्रके वचनोकी है। उनका एक एक पद कुन्दकुन्दके अध्यात्मसे अनुप्राणित है।

समयसारकी व्याख्याका आरम्भ करते हुए तीसरे कलशमे वह जो भाव व्यक्त करते हैं उसे पढ़ कर किसका तन मन रोमाञ्चित नही होता। वह कहते हैं—'मै शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। परन्तु मेरी परिणति मोहके उदयका निमित्त पाकर मलिन हो गई है—रागद्वेषरूप हो रही है। शुद्ध आत्माका कथन करनेरूप इस समयसार ग्रन्थकी व्याख्या करनेका यह फल चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादिसे रहित होकर शुद्ध हो, मुझे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो।'

कितनी पवित्र भावना है। उनकी यह भावना अवश्य ही समयसारके पठन, चिन्तन और मननका परिणाम है। उन्होने अवश्य ही आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका तलस्पर्शी अध्ययन मनन और चिन्तन किया था और उससे उन्हे जो आत्मबोध हुआ था उससे उनकी अन्तर्दृष्टि अवश्य ही खुल गई थी और उसीके फलस्वरूप उन्हे कुन्दकुन्दके ग्रन्थरत्नोकी इतनी सुन्दर समृद्ध टीकाएँ रचनेकी अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह भक्तकी भगवान्‌के प्रति कुसुमाञ्जलि जैसी है।

पं० आशाधर जीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामे[1] उनके नामके साथ ठक्कुर शब्दका प्रयोग किया है। ठक्कुर और ठाकुर एकार्थवाची है। प्रेमी जीने लिखा[2] है—ठक्कुर फेरु ओसवाल जैन थे। उनका शिल्पशास्त्र प्रकाशित हो गया है। जैनेतरोंमे आज भी ठाकुर शब्दका व्यवहार पाया जाता है। जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर। जैनाचार्योमे ऐसे भी आचार्य हुए है जो जन्मसे जैन नहीं थे। जैसे आचार्य विद्यानन्द, किन्तु उनकी कृतियाँ अनमोल हैं। आचार्य अमृतचन्द्र भी यदि ऐसे ही हो तो कोई आश्चर्य नही है। जैसे समन्तभद्रके आप्तमीमांसाको सुनकर विद्यानन्द विद्यानन्द बन गये, संभव है उसी प्रकार समयसार आदिके अध्ययनने अमृतचन्द्रको अमृतचन्द्र बना दिया हो। हमें तो उनके तीसरे कलशमे उसीको प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

---

१. एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचितसमयसारटीकाया दृष्टव्यम् पृ० ५८२। 'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमवादीत्' पृ० १६०। २. जै० आ० इ०, पृ० ३०९।

किन्तु सबसे आश्चर्यजनक है उनकी टीकाओंमें ग्रन्थकार कुन्दकुन्दके किसी भी नामका निर्देश न होना। वे सूत्रकार शब्दका प्रयोग अवश्य करते हैं। समयसारकी प्रथम गाथाकी उत्थानिका 'अथ सूत्रावतार' मात्र है। कृतिके लिये सूत्र और उसके कर्त्ताके लिये सूत्रकार शब्दका प्रयोग अत्यन्त श्रद्धामूलक है। फिर भी सूत्रकारका नामोल्लेख न करना विस्मयकारक है। शायद उनकी अध्यात्मवृत्ति इसमे बाधक हो और जैसे वे अपनी टीकाको वर्ण समुदायरूप पद, और पद समुदायरूप वाक्यकृत मानते है स्वकृत नही मानते। उसी प्रकार समयसारादि ग्रन्थोंको भी उसी दृष्टिसे तौलते हों तो कोई आश्चर्य नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्रके पूर्व न तो कुन्दकुन्द ही उतने प्रसिद्ध थे और न उनके ग्रन्थरत्न ही। और कुन्दकुन्दने इन ग्रन्थरत्नोंमें अपना किञ्चित् भी संकेत नही दिया है। अतः यह सम्भव है उपलब्ध मूल प्रतियोके अध्ययनसे ही वे उनके भक्त बन गये हों और उन पर टीकाएँ लिखनेके लिये तत्पर हुए हों।

समयसारकी टीका रचते हुए जो उनकी भावना थी उसे उन्होंने तीसरे कलशमें व्यक्त किया है। प्रवचनसारकी टीकाके प्रारम्भमे वह कहते है कि परमानन्दरूपी अमृतको पीनेके इच्छुक जनोके हितके लिये यह वृत्ति की जाती है। प्रवचनसारकी वृत्ति परहितके लिये रची है और समयसारकी टीका आत्महितके लिये रची है। इस प्रकार यहाँ भी निश्चय और व्यवहारकी सरणिके दर्शन होते हैं।

उनकी टीकाओको पढकर ऐसी कल्पना होती है कि कुन्दकुन्दने ही अमृतचन्द्रके रूपमे अवतार लिया है। उनकी टीकाएँ मात्र शब्दार्थव्याख्या रूप नही हैं, किन्तु प्रत्येक गाथासूत्रमे भरे हुए रहस्यको उद्घाटित करती है। अतः उसे टीका न कहकर भाष्य कहना ही उचित होगा। जिसमे सूत्रके अर्थके साथ उसके आधारसे अपनी भी बात कही जाती है उसे भाष्य कहते हैं। अमृतचन्द्र जी की टीका इसी रूप है। कही भी उसमे अतिक्रम या व्यतिक्रम नही है। और भाषा तो संस्कृत गद्यात्मक अतिमनोहर है। शब्दोंका चयन अध्यात्मके सर्वथा अनुरूप है। इस प्रकारकी अनुप्रासात्मक श्रुतिमधुर शब्दावली अन्य जैन टीकाओमे नही पाई जाती। गद्य और पद्य दोनोमें एकरूपता है। गद्यमे भी पद्यका आनन्द आता है।

उनका जो नवीन ग्रन्थ लघुतत्त्वस्फोट प्रकाश मे आया है उसके अन्तिम पद्यमें उन्होने अपने नामके साथ 'कवीन्द्र' विशेषणका प्रयोग किया है। उनके इस ग्रन्थमे उनके कवीन्द्रत्वके स्पष्ट दर्शन पद-पदपर होते है। काव्यशास्त्रकी सब विशेषताएँ उनकी इस कृतिमे वर्तमान हैं। यो तो उनकी उपलब्ध रचनाएँ ही उनके वैदुष्य और रचनाचातुर्यकी गरिमाके लिए पर्याप्त थी। किन्तु इस नवीन कृतिने तो उनकी उस गरिमापर कलशारोहण कर दिया है।

जैनतत्त्वज्ञानकी जिस निधिने अमृतचन्द्रको सर्वाधिक आकृष्ट किया है वह है अनेकान्त और ज्ञानज्योति। उन्होंने अपनी रचनाओंके प्रारम्भमे किसी तीर्थंकर आदि व्यक्तिको नमस्कार न करके आत्मज्योति और अनेकान्तको ही नमस्कार किया है। समयसारके प्रारम्भमे समयसारको नमस्कार करके अनेकान्तमयी मूर्तिका स्मरण किया है। प्रवचनसारकी टीकाके प्रारम्भमे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको नमस्कार करके अनेकान्तमय तेजका जयकार किया है। पञ्चास्तिकायकी टीकामे उक्त प्रकारसे परमात्माको नमस्कार करके स्यात्कारजीविता जैनी सिद्धान्त पद्धतिका जयकार किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायके प्रारम्भमें परम ज्योतिका जयकार करके अनेकान्तको नमस्कार किया है। तत्त्वार्थसारके प्रारम्भमे भी जिनेशकी ज्ञानज्योतिका जयकार है। अनेकान्त

सिद्धान्तके प्रति इतनी अधिक भक्ति की व्यक्ति तो दर्शनशास्त्रके प्रतिष्ठाताओंकी कृतियोंमें भी नहीं मिलती।

तब क्या अमृतचन्द्रकी जैन तीर्थङ्करोंके प्रति भक्ति नहो है ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसके समाधानके लिए प्रवचनसारकी प्रथम मगल गाथाकी टीकाके अन्तिम शब्द ही पर्याप्त हैं—

'प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारक-महादेवाधिदेव-परमेश्वर-पूज्य-सुगृहीत-नामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि' श्रीवर्धमान स्वामीके लिए परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, पूज्य जैसे विशेषण व्यक्त करते हैं कि कितनी अधिक भक्ति भगवान् महावोरके प्रति थी। और क्यों न हो, अनेकान्त सिद्धान्त उन्हीकी तो देन है। वे ही स्यात्कारजोविता जैनी सिद्धान्तपद्धतिके या जैनी नीतिके पुरस्कर्ता हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपायको प्रारम्भ करते हुये वे कहते हैं—'तीनों लोकोंको देखनेके लिए नेत्रस्वरूप परमागमका प्रयत्नपूर्वक आलोडन करके हम इस पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक ग्रन्थका उद्धार करते है।

इससे स्पष्ट है कि वे परमागमके गहरे अभ्यासी थे और उनको उसके प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थकारकी रचनाओके सम्बन्धमे अन्यथा कल्पना करना सूरज पर धूल फेंकना जैसा है!

पञ्चास्तिकायकी टीकाके प्रारम्भमे वे उसकी व्याख्याको 'द्विनयाश्रया'—दो नयोका आश्रय करनेवाली कहते हैं। इस प्रकार जिनागमकी व्याख्या निश्चय और व्तवहार नयका आश्रय लेकर करनेवाले वे ही आद्य टीकाकार है। उन्हीका प्रभाव उनके पश्चात् होनेवाले आध्यात्मिक टीकाकारों और ग्रन्थकारो पर देखनेमे आता है। इस प्रकार वे इस आध्यात्मिक युगके स्रष्टा हुए है।

अमृतचन्द्र और काष्ठासंध

यह हम लिख आये है कि अमृतचन्द्रने अपने सम्बन्धमे एक भी शब्द नही कहा। केवल आशाधर अपनी धर्मामृत टीकामे उन्हे ठक्कुर कहते है। अन्यत्रसे भी उनके सम्बन्धमे कोई सकेत नही मिलता।

स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारका सम्पादन किया था जो वि० सं० १९९१ (ई० सन् १९३४) मे रायचन्द्रशास्त्र माला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। उसकी विद्वत्तापूर्ण अग्रेजी प्रस्तावनामें डॉ० उपाध्येने अमृतचन्द्रके सम्बन्धमे प्रकाश डालते हुए लिखा था—

'यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अमृतचन्द्रने प्राकृतमे भी कोई रचना की थी ? सम्भवतया की थी, उसके कारण इस प्रकार हैं—उनकी टीकाएँ बतलाती हैं कि अमृतचन्द्र प्राकृतके गहरे अभ्यासी थे। समयसारकी टीकाकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंके अन्तमें एक प्राकृत गाथा पाई जाती है जो सम्भवतया उन्हीके द्वारा रची गई थी। इसके सिवाय मेघविजयगणि कुछ प्राकृत गाथाओंको अमृतचन्द्रकी कहते है जो उनके प्राकृतमे रचे श्रावकाचारकी हैं। उन गाथाओंमेंसे एक गाथा ढाढसी गाथामें पाई जाती है। उस ढाढसी गाथाके रचयिताके सम्बन्धमें केवल इतना ज्ञात होता है कि वह काष्ठासंघी थे। यदि मेघविजयजीका कथन यथार्थ है तो अमृतचन्द्र ढाढसी गाथाके रचयिता हो सकते हैं। और ऐसी अवस्थामे वे काष्ठासंघी हो सकते हैं। यदि वे काष्ठासंघी हैं

तो अमृतचन्द्रके द्वारा प्रयुक्त कुछ पदों और वाक्यांशोंपर तथा कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे कुछ प्रामाणिक गाथाओंको न लेने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यह सब पराश्रित कल्पना पर निर्भर है।'

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयगणिने अपने युक्तिप्रबोधमें दो पद्य प्राकृतके उद्धृत किये हैं।

१. यदुवाच अमृतचन्द्रः—

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णाऊण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥

२. श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोऽप्याह—

संघो को वि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु झायव्वो ॥

इनमें पहली गाथा तो समयसारकी ३४ वी गाथा है। यह अमृतचन्द्रकी नही है। दूसरी गाथा ढाढसी गाथा नामक ग्रन्थकी है अमृतचन्द्रकी नही। इस गाथामे काष्टासंघ मूलसंघ और निःपिच्छिक संघोंका उल्लेख हैं। इनमेसे अन्तिम निःपिच्छिक या माथुरसंघकी उत्पत्ति दर्शनसारमे वि० स० ९५३ के लगभग बतलाई है। स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमीने लिखा[1] है कि यदि यह सही है तो ढाढसी गाथा विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके पहलेकी नही हो सकती।

प्रेमीजीने टिप्पणमें यह भी लिखा है कि ढाढसी गाथाकी एक प्रति संस्कृत टीका सहित (नं० १६१०) बम्बईकी रायल एशियाटिक सो ायटीके लाइब्रेरीमे है। उसके अन्तमे इतना ही लिखा है कि इति 'ढाढसीमुनीनां विरचिता गाथा सम्पूर्णा।'

इसका नाम ढाढसी गाथा अवश्य ही उसके रचयिताके नामपर ही पड़ा ज्ञात होता है, अन्यथा ढाढसी शब्दका कोई अर्थ नही होता। यद्यपि ढाढसी गाथा ध्यानसे सम्बद्ध है और उसमे आत्मध्यानकी चर्चा होनेसे उसका विषय अध्यात्म है फिर भी उसके अमृतचन्द्र रचित होनेका कोई प्रमाण नही है। तथा न वह श्रावकाचार ही है। गणिजीने किसी गलत आधारपरसे ही लिख दिया प्रतीत होता है।

किन्तु डॉ० उपाध्येने जो अमृतचन्द्रके द्वारा प्रयुक्त कुछ पदो और वाक्यांशोंके समाधान की बात कही है, तथा उनके द्वारा कुछ गाथाओंको अपनी टीकामें सम्मिलित न करना लिखा है वह विचारणीय है।

पञ्चास्तिकायमे अमृतचन्द्रके अनुसार गाथा संख्या १७३ है और जयसेनके अनुसार १८१ है। समयसारमे अमृतचन्द्रके अनुसार गाथा संख्या ४१५ है और जयसेनके अनुसार ४३९ है। तथा प्रवचनसारमें अमृतचन्द्रके अनुसार गाथा संख्या २७५ है तथा जयसेनके अनुसार ३११ है।

गाथा संख्यामें इतना अन्तर पड़नेका कोई स्पष्ट कारण समझमे नही आता। अमृतचन्द्र आद्य टीकाकार हैं अतः उनके सन्मुख तो मूलग्रन्थ ही रहा है। किन्तु जयसेनके सन्मुख अमृतचन्द्र की टीकाएँ रही हैं। इनके सिवाय भी कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी मूल प्रतियाँ उनके सन्मुख होनी चाहिये जिनके आधारपर जयसेनने अतिरिक्त गाथाएँ सम्मिलित की हैं। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि कुछ गाथाएँ क्षेपक आदि रूपमें रही हों और उन्हे अमृतचन्द्रने मूलकी न मानकर छोड़ दिया हो। किन्तु दोनोंकी गाथा संख्यामे इतना अन्तर है कि क्षेपकवाली बात भी गले नही उतरती।

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ३१३।

डॉ० उपाध्येने ठीक ही लिखा है कि यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि अमुक गाथाएँ ग्रन्थकी मूल गाथाएँ रही हैं या पीछेसे उसमे मिला दी गई हैं। उन्होंने प्रवचनसारकी गाथाओंके सम्बन्धमे अपनी प्रस्तावनामें विचार किया है।

वह लिखते हैं—अमृतचन्द्रकी टीकाका उद्देश्य गाथाओंकी शाब्दिक व्याख्या नही है। उनकी टीका एक भाष्यकी तरह है। (जैसा हम पूर्वमें लिख आये हैं) ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक है कि वह ऐसी गाथाओंकी परवाह न करें जो प्रवचनसारके विषयमे अपना ठोस और मौलिक आधार न रखती हों।

अमृतचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमे अनेक प्राचीन गाथाओंका अनुसरण किया है यद्यपि ऐसी कुछ गाथाओको उन्होने प्रवचनसारकी अपनी टीकामें स्थान नहीं दिया है किन्तु उनका संस्कृत रूपान्तर उनके ग्रन्थोंमे वर्तमान है। यथा—

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्त ॥

यह प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें ४३ वी गाथाकी जयसेनकृत टीकामें मूल गाथा रूपसे संगृहीत है। तत्त्वार्थसारके अजीवाधिकारमे इसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार पाया जाता है—

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवै।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः ॥३-४॥

प्रवचनसारके तीसरे अधिकारमे गाथा २९ मे युक्त आहार-विहारकी चर्चा है। जयसेनकी टीकामे उस प्रकरणमे दो गाथाएँ विशेष हैं—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संत्ततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥

इन दोनो गाथाओका सस्कृत रूपान्तर पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे है—

'आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीसु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोदानाम् ॥६७॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटिनाम् ॥६८॥

इस प्रकारकी गाथाओंकी संगति कुन्दकुन्दके प्रवचनसार जैसे संतुलित रचना प्रधान ग्रन्थ के साथ नही बैठती। प्रवचनसारके ही तीसरे अधिकारमे कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके वस्त्र-पात्रवाद और स्त्रीमुक्ति पर प्रहार करती हैं वे अमृतचन्द्रकी टीकामे नही है।

तीसरे अधिकारकी २० वी गाथामे कहा है—'परिग्रहकी अपेक्षासे रहित यदि परिग्रहका त्याग न हो तो मुनिके चित्तकी निर्मलता नही होती। और जिसका चित्त अविशुद्ध है वह कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है।

इसकी टीकामे जयसेनने लिखा है कि अमुक गाथाएँ अमृतचन्द्रकी टीकामे नही है। २१ वी गाथामे कहा है—'उस परिग्रहके होने पर मूर्छा आरम्भ असंयम कैसे नही होगा। तथा जो पर द्रव्य परिग्रहमे रत है वह कैसे आत्मस्वरूपकी साधना कर सकता है।'

गाथा २० और २१ दोनों परस्परमें सम्बद्ध है, दोनोंके मध्यमें किसी अन्य गाथाको स्थान नहीं है। यही प्रकरण आगे भी चलता है। गाथा २४ और पच्चीसमे भी परिग्रहका ही निषेध है और जिनमार्गमें यथाजातरूप (नग्न दिगम्बरत्व) गुरुके वचन, विनय और शास्त्राध्ययनको ही अपवाद परिग्रहके रूपमें स्वीकार किया है। इन्ही २४-२५ गाथाओंके मध्यमें वे ग्यारह गाथाएँ आती हैं जो स्त्री की मुक्ति और दीक्षा के निषेधपरक है।

प्रवचनसारकी सुसम्बद्ध रचनाके प्रकाशमे कोई भी चिन्तक इन्हे ग्रन्थकारके द्वारा प्रवचनसारमे रची गई नही मान सकता। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने अन्य पाहुड़ोंमे इस विषय पर लिखा है। हो सकता है कि ये गाथाएँ कुन्दकुन्द रचित हों। किन्तु उन्हें प्रवचनसारमे रचा गया था, यह हम माननेके लिये तैयार नहीं हैं।

डा० उपाध्येने अपनी प्रस्तावनामे इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'यह सुझाव कि अमृतचन्द्र श्वेताम्बर थे अनेक कारणों से किसी भी तरह मान्य नही किया जा सकता। वे कारण इस प्रकार हैं—

१. अमृतचन्द्र २८ मूलगुण स्वीकार करते हैं जिनमे एक नग्नता भी है। (प्रव० ३।८–९ गा०)

२. वे प्रव० के तीसरे अधिकारकी गाथा ४, ५ और २५ मे आये 'यथाजातरूप' पदको स्वीकार करते हैं।

३. वे अपने तत्त्वार्थसारमें विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तद् स्मृतम्॥ ५–६।

'सग्रन्थ भी निर्ग्रन्थ है, केवली कवलाहारी है जिसमें इस प्रकारकी श्रद्धा है वह विपरीत मिथ्यात्व है।' दोनों बातें श्वेताम्बर मान्य हैं।

दर्शनसारमे काष्ठासघको जैनाभासोंमे गिनाया है' और उनकी मान्यताओमे स्त्रीदीक्षा, क्षुल्लकोकी वीरचर्या, मयूरपिच्छिकाके स्थानमे गोपुच्छकी पीछी रखना आदि कहा है। यतः अमृतचन्द्रने स्त्रीदीक्षाके निषेधवाली गाथाओंको स्थान नही दिया, इससे भी उन्हे काष्ठासंघी समझने का भ्रम हुआ है।

किन्तु समालोचकोने दर्शनसारकी स्थितिको मान्य नही किया है (देखो—भट्टारक सं० पृ० २१२)। तथा काष्ठासघसे सम्बद्ध माथुर, वागड़, लाडवागड़ आदिमे अनेक प्रख्यात आचार्य हुए है और उनका विपुल साहित्य वर्तमान है। उसमे इस तरहकी कोई बात नही पायी जाती। ग्रन्थकी प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है कि अग्रवाल दि० जैन जातिका सम्बन्ध काष्ठासंघसे विशेष था।

ऐसा प्रतीत होता है कि संघोमे भी परस्परमे कुछ वैमनस्य जैसा चलता था। इसकी एक कथा प्रेमीजीने अपने जैन साहित्य और इतिहासमे (पृ० ३९१) दी है।

अत: काष्ठासंघको जैनाभास मानकर अमृतचन्द्रको भी बलात् उससे सम्बद्ध करना उचित नही है। मूलसंघके सस्थापक आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थो पर टीका रचनेवाले अत: जिनशासन प्रभावक और अध्यात्मकी सरिता प्रवाहित करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्रके सम्बन्धमे किसी भी प्रकारकी अन्यथा कल्पना करना उचित नही है। जिन्हे अध्यात्म सह्य नही है वे तो कुन्दकुन्द को भी नही छोड़ते। किन्तु कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन शासनके सूत्रधार हैं, अतः किसीकी कुछ चलती

नही। अमृतचन्द्र तो उन्हींके अनुगामी हैं। आगे हम उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे, इससे उनकी स्थिति और भी सुस्पष्ट होकर सामने आवेगी।

अमृतचन्द्रकी टीकाएँ

पञ्चास्तिकाय टीका

पञ्चास्तिकायकी टीकाके प्रारम्भमें अमृतचन्द्रने कुछ श्लोकोंके द्वारा पञ्चास्तिकायकी मुख्य विषयसूची दी है कि पहले इस ग्रन्थमें सूत्रकार (कुन्दकुन्द) ने मूल पदार्थोंका पाँच अस्तिकाय और छह द्रव्यरूपसे कथन किया है। फिर जीव अजीवकी पर्याय नौ पदार्थोंका कथन किया है। उसके पश्चात् तत्त्वपरिज्ञानपूर्वक रत्नत्रयात्मक मार्गके द्वारा मोक्ष प्राप्तिका कथन किया है, इस प्रकारका विषय प्रतिपादन उनके अन्य टीका ग्रन्थोंमे नही है। इससे हमें लगा कि संभवतया अमृतचन्द्रने सर्वप्रथम पञ्चास्तिकाय पर टीका रची थी।

गाथाकी टीकामे उन्होंने गाथाके पूर्वार्द्ध 'समवाओ पंचण्ह समओ त्ति।' का व्याख्यान करते हुए शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय ये तीन भेद समयके करके लिखा है कि इस ग्रन्थमे ज्ञानसमयकी प्रसिद्धिके लिये शब्दसमयके द्वारा अर्थसमयका कथन करना इष्ट है। उस अर्थसमयके दो भेद हैं—लोक और अलोक। आगे पञ्चास्तिकायोंका वर्णन करते हुए उन्होंने नयके दो भेद किये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। तथा लिखा है कि भगवान्‌की देशना दोनो नयोंके अधीन थी, एक नयके नही।

कुन्दकुन्दके इस ग्रन्थमे सर्वप्रथम सत्ताका विवेचन है। उसका व्याख्यान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी महत्त्वपूर्ण यह गाथा है। एक तरहसे जैनाभिमत द्रव्य गुण पर्याय और उत्पाद व्यय ध्रौव्यका विश्लेषण इसके द्वारा हो जाता है। यह उसकी आधारशिला है। इसमे सत्ताको सप्रतिपक्षा कहा है। अर्थात् सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्रने लिखा है—

सत्ताके दो प्रकार है—महासत्ता और अवान्तरसत्ता। सब पदार्थसमूहमे रहनेवाली और उनमें सादृश्यरूप, अस्तित्वको सूचित करनेवाली महासत्ता है। और एक ही प्रतिनियत वस्तुमे रहनेवाली अवान्तर सत्ता है जो उसके स्वरूपास्तित्वकी सूचिका है, उसके बिना प्रत्येक वस्तुका प्रतिनियत स्वरूप नही हो सकता। उनमे महासत्ता अवान्तर सत्तारूपसे असत्ता है और अवान्तर सत्ता महासत्तारूपसे असत्ता है। इस प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। एक ही वस्तुमे दृष्टि भेद से दोनो रहते हैं। महासत्ता सब पदार्थोंमे रहती है, अवान्तर सत्ता एक ही पदार्थमे रहती है। अतः महासत्ता एक है, अवान्तर सत्ता अनेक हैं, क्योंकि एक वस्तुकी स्वरूपसत्ता अन्य वस्तुकी स्वरूप सत्ता नही हो सकती। सत्ता उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेसे त्रिलक्षणा है। किन्तु जिस स्वरूपसे उत्पाद है उस स्वरूपसे उत्पाद ही है। जिस स्वरूपसे व्यय है उस स्वरूपसे व्यय ही है, और जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है उस स्वरूपसे ध्रौव्य ही है। जैसे पिण्डरूपसे विनाश ही है, घट रूपसे उत्पाद ही है और मिट्टीरूपसे ध्रौव्य ही है। तो वस्तुका उत्पद्यमान स्वरूप घट, विनश्यमान रूप पिण्ड और स्थायी रूप मिट्टी ये तीनों उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणात्मक न होने से अत्रिलक्षणात्मक है। अतः सत्ता त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है।

इस प्रकार इस गाथाकी व्याख्या द्वारा अमृतचन्द्रने बड़ी सरलतासे समझाया है। इसे हृदयंगम कर लेनेसे जैन वस्तुव्यवस्था करतलवत् स्पष्ट हो जाती है।

आगे इस प्रकरणमे द्रव्योंके सामान्य स्वरूपका विवेचन करते हुए द्रव्य गुण पर्यायकी स्थिति को स्पष्ट किया है।

दूसरे प्रकरणमे प्रत्येक द्रव्यका विस्तारसे विवेचन है।

जीव द्रव्यका विवेचन करते हुए स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यने जीव और कर्मकी स्थितिको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए यह स्थापित किया है कि निश्चयनयसे कर्म, अपना कर्ता है और व्यवहारसे जीवके भावका कर्ता है। जीव भी निश्चयसे अपने भावका कर्ता है, और व्यवहारसे कर्मका कर्ता है। अमृतचन्द्रने अपनी टीकाके द्वारा इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

आज कल जीव और कर्मका सम्बन्ध मुख्य विवादका विषय है। व्यवहारका अवलम्बन लेनेवाले जीवकी परतन्त्रताका मुख्य कारण जीवको न मानकर कर्मको मानते हैं। तथा कर्मका कर्ता जीवको मानते हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

कुव्वं सगं सभावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६२॥

'आत्मा अपने परिणामोको करता हुआ अपने परिणामका कर्ता होता है, पुद्गल कर्मोंका कर्ता आत्मा नही है, यह जिनवचन जानना चाहिए।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके सद्भावमे युक्ति देते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि उनके सद्भावसे लोक अलोककी स्थिति और गति स्थिति होती है। (गा० ८७)

इसकी टीकामे अमृतचन्द्रने लिखा है—

'धर्म और अधर्म द्रव्य विद्यमान है, क्योकि उनके विना लोक अलोकका विभाग नही बन सकता। जीव और पुद्गल स्वभावसे ही गति और स्थितिरूप परिणाम करते हैं, स्वय ही गतिरूप और गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणामको करते हुए जीव और पुद्गलोके बाह्य कारण धर्म अधर्म न होते तो निर्बाध गति स्थिति परिणाम होनेसे जीव और पुद्गलका गमन अलोकमें भी हो जाता। तब लोक अलोक विभाग सिद्ध नही होता। किन्तु जीव और पुद्गलकी गति और गतिपूर्वक स्थितिका बाह्य कारणरूपसे धर्म और अधर्मका सद्भाव मानने पर लोक और अलोकका विभाग बन जाता है।' किन्तु ये दोनो गति और स्थितिके मुख्य कारण नही हैं, उदासीन कारण है। निश्चयसे तो सब गति-स्थितिमान् पदार्थ स्वपरिणामसे ही गति और स्थिति करते है।'

इसके तीसरे प्रकरणमे मोक्षमार्गकी चर्चा करते हुए अमृतचन्द्रने गा० १५९ की टीकाके अन्तमे लिखा है—

'एवं हि शुद्धद्रव्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम्। यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रित भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद् विप्रतिसिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।'

अर्थात् मोक्षमार्गके कथनके दो प्रकार है—एक निश्चयनयनसे और एक व्यवहारनयसे। निश्चयनयाश्रित कथन शुद्धद्रव्याश्रित होता है और उसमें साध्य-साधनका भेद नही होता है। किन्तु व्यवहारनयाश्रित कथन स्वपरनिमित्तक पर्यायाश्रित होता है और उसमे साध्य साधनका

२

भेद होता है। इसमे कोई विरोध नही है क्योंकि निश्चय और व्यवहारमें उसी प्रकार साध्य साधनभाव है जैसे सुवर्ण और सुवर्णपाषाणमे है।'

आगे गाथा १६० मे निश्चय मोक्षमार्गके साधनरूपसे व्यवहार मोक्षमार्गका कथन है। और गाथा १६१ में व्यवहार मोक्षमार्गके साध्यरूपसे निश्चय मोक्षमार्गका कथन है।

ग्रन्थके अन्तमे शास्त्रका तात्पर्य बतलाते हुए अमृतचन्द्रने लिखा है—

'इस शास्त्रका तात्पर्य परमार्थसे वीतरागता है। यह वीतरागता व्यवहार और निश्चयके अविरोध पूर्वक जानने पर ही इष्ट सिद्धिके लिये होती है।

जिनकी बुद्धि अनादि कालीन भेदवासनासे ग्रस्त है ऐसे प्राथमिक जन व्यवहारनयसे भिन्न साध्य-साधनभावका अवलम्बन लेकर सुखपूर्वक संसार समुद्रको पार करते है। वही कहते हैं—यह श्रद्धान करनेके योग्य और यह श्रद्धान करनेके योग्य नही है, यह श्रद्धान करनेवाला है, यह श्रद्धान है, यह अश्रद्धान है। यह जानने योग्य है, यह जाननेवाला है, यह ज्ञान है, यह ज्ञाता है, यह आचरण करने योग्य है. यह आचरण करने योग्य नही है, यह आचरण है, इस प्रकार कर्तव्य, अकर्तव्य, कर्ता और कर्मके विभागको जाननेसे उनका उत्साह बढ जाता है। वे धीरे धीरे मोहको उखाड़नेका प्रयत्न करते है। कभी कभी अज्ञानवश प्रमादी होकर अपने कर्तव्यमे शिथिल हो जाते है तो दोषके अनुसार प्रायश्चित लेते है। इस प्रकार साध्य आत्मा और साधन श्रद्धान ज्ञान चारित्रमें भेद करके थोड़ी थोडी विशुद्धिको प्राप्त होते है। जैसे धोबी मलिन वस्त्रको पत्थर पर पछाड़कर निर्मल जलसे धोता है। फिर निश्चयनयमे भिन्न साध्य-साधनभावका अभाव होनेसे दर्शन-ज्ञान-चरित्रमय आत्मामे लीन होते हैं उस समय समस्त क्रियाकाण्डका आडम्बर शान्त हो जाता है और आत्मा निर्विकल्प चैतन्यरूप हो जाता है। तब वे क्रमसे समरसीभावमे निमग्न होते हुए परम वीतराग भावको प्राप्त करके साक्षात् मोक्षका अनुभवन करते है।

आगे अमृतचन्द्रजी ने केवल व्यवहारावलम्बी और केवल निश्चयावलम्बीका चित्रण विस्तारसे किया है। उसका आशय यह है कि केवल व्यवहारावलम्बी बाह्य क्रियाकाण्डमे फँसा रहता है। वह कर्मचेतना प्रधान होता है अत. यद्यपि वह अशुभ कर्मकी प्रवृत्तियोसे दूर रहता है, किन्तु शुभकर्मकी प्रवृत्तियोंमे रमा रहता है। उसके सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरसे रहित और दर्शन-ज्ञान-चरित्रकी ऐक्य परिणतिरूप ज्ञानचेतना किञ्चित् भी नही होती। उसकी चित्तवृत्ति प्रचुर पुण्यबन्धके भारसे भरी होती है। अत: चिरकाल तक ससार सागरमे भ्रमण करता है।'

जो केवल निश्चयावलम्बी होते है वे समस्त क्रियाकाण्डके आडम्बरसे विरक्त होकर आँखोंको अर्धनिमीलित करके सुख पूर्वक बैठे रहते हैं। वे भिन्न साध्य-साधनभावको तो तिरस्कृत कर देते है और अभिन्न साध्य साधनको प्राप्त करनेमे असमर्थ होते है। इस तरह व्यवहार और निश्चय दोनोंसे ही भ्रष्ट होकर प्रमादी हो जाते हैं। वे पुण्यबन्धके भयसे व्रतादिरूप मुनिधर्म सम्बन्धी कर्मचेतनाको अपनाते नहीं है और परम नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतनाको प्राप्त नही कर सकते। अत: व्यक्त और अव्यक्त प्रमादके अधीन होकर कर्मफलचेतना प्रधानवृत्ति होनेसे केवल पापका ही बन्ध करते है।'

किन्तु जो महाभाग पुनर्जन्मके फन्देसे छूटनेके लिए नित्य उद्योगशील रहते हैं और निश्चय तथा व्यवहारमेंसे किसी एकका अवलम्बन न करके अत्यन्त मध्यस्थ रहते है तथा शुद्ध

चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वमें स्थिरताके लिए सावधान रहते है। जब प्रमाद सताता है तो उसको शास्त्र विहित क्रियाकाण्डरूप परिणतिसे दूर करते हुए भी अत्यन्त उदासीन रहते है। यथाशक्ति आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामे अनुभवन करते हैं। वे स्वतत्त्वमें स्थिरताके अनुसार क्रमसे कर्मसंन्यास करते हुए अत्यन्त निष्प्रमादी होकर कर्मफलचेतनासे अत्यन्त दूर होते हैं, और कर्मचेतनाकी अनुभूतिसे उदासीन होते है, मात्र ज्ञानचेतनाकी अनुभूतिसे उत्पन्न वास्तविक आनन्दसे भरपूर होकर ससार समुद्रको पार करते हैं और इस तरह शाश्वत सुखके भोक्ता होते हैं।'

इस प्रकार अमृतचन्द्रजीने पञ्चास्तिकायकी टीकाके अन्तमें निश्चय और व्यवहारके एकान्तका फल दिखाकर दोनोमे मध्यस्थ भावसे ही मोक्षमार्गकी सार्थकता बतलाई है। उन्होने जो यह उपपादान किया है वह उनसे पूर्व किसी भी ग्रन्थमे नहीं मिलता। मिले भी तो कैसे, सिद्धान्त ग्रन्थोमे तो केवल भेद रत्नत्रयका ही कथन है। वहाँ रत्नत्रयकी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नही होती। यह तो केवल अध्यात्मका विषय है, क्योंकि सिद्धान्तका उद्देश्य मोक्षमार्गका ज्ञान कराना है और अध्यात्मका उद्देश्य मोक्षमार्ग प्राप्त कराना है। कोई भी मुमुक्षु जब मोक्षमार्गमें लगता है तो भेद रत्नत्रयकी उपासनासे ही लगता है। भेद व्यवहारनयका विषय है अत: वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे और आत्मामे भेद करके उनकी उपासना करता है, क्योकि उसके बिना वह आत्माको समझ नही सकता। यही स्थिति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भी है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थका श्रद्धान होनेपर अग पूर्वगत अर्थका जानना सम्यग्ज्ञान है। और आचार आदि सूत्र ग्रन्थोमें वर्णित यतियोके चारित्ररूप तपमे चेष्टा सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार रत्नत्रयका स्वरूप है।

इसमे अश्रद्धान, अज्ञान और अचारित्रको त्यागकर श्रद्धान, ज्ञान और चारित्रको ग्रहण करनेका विकल्प रहता है। धीरे-धीरे विशिष्ट भावनावश स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके एकमेक होते-होते जब त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य यह आत्मा तन्मय हो जाता है तब यह आत्मा ही निश्चयसे मोक्षमार्ग कहा जाता है।

साराश यह है कि व्यवहार मोक्षमार्ग स्व-पर प्रत्यय-पर्यायाश्रित होता है। और दर्शन, ज्ञान-चारित्रके साथ किञ्चित् भी परसमयप्रवृत्ति जबतक है तबतक निश्चय मोक्षमार्ग नही है। जब पर समय प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप स्वसमय प्रवृत्ति होती है तभी दर्शन, ज्ञान, चारित्र साक्षात् मोक्षरूप होते है। अत: किञ्चित् भी पर समयरूप प्रवृत्ति हेय है।

गाथा १६५ की टीकामे कहा है—गाथामे शुद्ध संप्रयोग शब्द आया है। मोक्षके साधनभूत भगवान् अर्हन्त आदिमे भक्तिबलसे अनुरंजित चित्तवृत्तिको शुद्ध संप्रयोग कहा है। यदि ज्ञानी भी अज्ञानके किञ्चित् आवेशवश ऐसा मानता है कि शुद्ध संप्रयोगसे मोक्ष होता है तो उसे भी रागका अंश होनेसे 'पर समयमे रत' कहा जाता है। फिर जिनकी चित्तवृत्ति निरंकुश रागसे कलंकित है उनका तो कहना ही क्या है। अत: अर्हन्त आदि के सम्बन्धमे भी क्रमसे रागका कणमात्र भी दूर करना चाहिए।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अमृतचन्द्रजीने अर्हन्त आदि की भक्तिरूप पर समयप्रवृत्तिको परम्परासे मोक्षका कारण स्वीकार किया है। यद्यपि स्वयं कुन्दकुन्दने ऐसा नही कहा है।

प्रवचनसार टीका

प्रवचनसारकी टीकाके प्रारम्भमे ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा तथा अनेकान्तमय तेजको नमस्कार करके अमृतचन्द्रने परमानन्दरूप सुधारसके पिपासु भव्योंके हितके लिए प्रवचनसारकी वृत्ति रचनेकी प्रतिज्ञा की है।

प्रवचनसार पञ्चास्तिकायसे सब दृष्टियोंसे महान् है, ग्रन्थरूपसे भी और अर्थरूपसे भी। इसमें तीन अधिकार है जिन्हे टीकाकारने ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार नाम दिया है। जैसे यह ग्रंथ महान् है उसी प्रकार इसकी टीका भी महान् है। इसकी शब्दरचना अति गहन है, विषय तो गहन है ही। अमृतचन्द्रका वैदुष्य इसमे पद-पदपर मुखरित है। शब्दोका चयन भी अध्यात्मके अनुकूल है। कुछ शब्द और उपमाएँ तो एकदम नवीन जैसे प्रतीत होते है। पूरी टीका सस्कृत गद्यशैलीमे रचित है। जिसमे लम्बे-लम्बे समस्यन्त पद है। जैसे—

१. 'भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनविलीननिखिलस्वपरविभागतया। (१।५)
२ 'स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः। (२।१)
३. 'स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्व यौगपद्यातिशयप्रमादासादितशुद्धज्ञानमयात्मकत्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्व।' (३।३८)

वाक्य रचना सरस और प्रसाद गुणयुक्त है। साहित्य, दर्शन और अध्यात्मकी त्रिवेणी प्रवाहित है जिसमे अवगाहन करके सासारिक तापसे तप्त प्राणियोंको आध्यात्मिक शान्ति मिलती है और उनके संसार परिभ्रमणका अन्त समीप आता है। अस्तु,

प्रवचनसारका प्रारम्भ एस (एष) शब्दसे होता है। जिसका अर्थ अमृतचन्द्रने एष स्वसवेदनप्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माह' किया है अर्थात् 'स्वसवेदनसे प्रत्यक्ष और दर्शन सामान्य तथा ज्ञान सामान्यस्वरूप मै आत्मा' महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर सर्वसिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु, मनुष्यलोकमे वर्तमान तीर्थंकर इन सबको एकसाथ तथा पृथक्-पृथक् भी नमस्कार करके उनके विशुद्ध ज्ञानदर्शनप्रधान आश्रमको प्राप्त करके 'वीतरागचारित्ररूप' साम्यभावको धारण करता हूँ जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रके कथनका सूत्रपात करके प्रथम अधिकारमे अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखका, दूसरेमे जैन तत्त्वव्यवस्थाका और तीसरे अधिकारमे मुनिके चारित्रका वर्णन किया है।

अमृतचन्द्रने उसकी उत्थानिकामे लिखा है—'जिसके ससारका अन्त निकट है, सातिशय विवेकज्ञान जाग्रत हुआ है, एकान्तवादसम्बन्धी अभिनिवेश दूर हो गए है, वह अनेकांत विद्याको जानकर समस्त पक्षपातको छोडकर अत्यन्त मध्यस्थ हो, मोक्षलक्ष्मीको उपादेयरूपसे निश्चय करके मोक्षमार्गको स्वीकार करनेकी प्रतिज्ञा करता है।

गाथा ६ मे कुन्दकुन्दने कहा है कि 'दर्शनज्ञानप्रधान चारित्रसे सासारिक विभवके साथ मोक्षकी प्राप्ति होती है।' इसपरसे टीकाकारने चारित्रके दो भेद किए है—सराग और वीतराग। और कषायका लेश होनेसे सराग चारित्रको पुण्यबन्धका हेतु अतएव हेय कहा है और समस्त कषायसे रहित वीतरागचारित्रको निर्वाणकी प्राप्तिका कारण होनेसे उपादेय कहा है। इसी

तरह गाथा ११ मे कुन्दकुन्दने चारित्रधर्मरूप परिणत आत्माके दो भेद किये हैं—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। एकका फल निर्वाण और दूसरेका फल स्वर्ग कहा है। इसकी व्याख्यामे अमृतचन्द्रने शुभोपयोगरूप चारित्रको अपना मोक्षरूप कार्य करनेमे असमर्थ और कथचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला कहा है। तथा गाथा १२ की उत्थानिका और टीकामे अशुभोपयोगको अत्यन्त हेय कहा है, उसमे चारित्रका लेश भी नही कहा।

इस प्रकार अमृतचन्द्र जी शुभोपयोगरूप चारित्रको हेय तो कहते हैं किन्तु अशुभोपयोगकी तरह सर्वथा हेय नही कहते।

तीसरे चारित्राधिकारमे गाथा ४५ में स्वयं कुन्दकुन्दने श्रमणोके दो भेद किये है। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी आस्रव रहित होते हैं और शुभोपयोगी आस्रव सहित होते हैं।

इसकी टीकामे अमृतचन्द्रने लिखा है—

जो श्रामण्यरूप परिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी कषायाशका उदय होनेसे समस्त पर द्रव्योंसे निवृत्तिमें प्रवृत्त सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोगकी भूमिका पर आरोहण करनेमे समर्थ नही है वे श्रमण हो सकते है या नही? उसका उत्तर है कि 'धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि गाथाके द्वारा ग्रन्थकारने स्वयं कहा है कि शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थ समवाय है। अत शुभोपयोगियोके भी धर्मका सद्भाव होनेसे श्रमण हो सकते हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियोके बराबर नही होते।

आगे कहा है कि वे शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोगी श्रमणोंमे अनुराग रखते हैं अत वे उनकी नमस्कार आदि पूर्वक वैयावृत्ति आदि भी शुद्धात्मवृत्तिकी स्थिरताके लिये करते हैं। आगे आचार्य कुन्दकुन्दने ही शुभोपयोगी श्रमणोकी प्रवृत्तियां इस प्रकार बतलाई हैं—पर कल्याणकी भावनासे ज्ञान और दर्शनका उपदेश देना, शिष्योको स्वीकार करके उनका पोषण करना, जिनेन्द्रकी पूजा का उपदेश देना।

किन्तु दूसरे साधुओकी शुद्धात्मवृत्तिकी रक्षाके अभिप्रायसे वैयावृत्य करते हुए जो साधु अपने सयमकी विराधना करता है वह मुनि पदसे च्युत हो जाता है। अत. प्रवृत्ति सयमकी साधनाके लिये ही की जाती है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र दोनों ही शुभोपयोगको सर्वथा हेय नही कहते। गृहस्थ धर्ममे तो शुभोपयोगकी ही प्रधानता होती है। प्रवचनसारमे ही (२।६५) कहा है—जीवका अशुद्ध उपयोग पर द्रव्यके सयोगका कारण होता है। उसके दो भेद हैं—विशुद्धि रूप उपरागवश शुभोपयोग होता है और संक्लेशरूप उपरागवश अशुभोपयोग होता है। शुभोपयोग से पुण्यबंध और अशुभोपयोगसे पापबन्ध होता है। दोनोके अभावमे शुद्धोपयोग होता है। जो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकी विशिष्ट क्षयोपशमरूप दशा होने पर देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध और साधुमे श्रद्धा भाव रखता, उनका पूजन आदि करता है, समस्त प्राणियोंमे कारुण्यभाव रखता है उसका उपयोग शुभ होता है, आदि।

शुभोपयोगका फल इन्द्रिय सुख बताकर इन्द्रिय सुखको दु ख ही बतलाया है। तथा शुभोपयोगसे होनेवाले पुण्यबन्धको दुःखका बीज बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि यदि शुभोपयोगरूप परिणामोसे उत्पन्न पुण्य है तो वह देवता पर्यन्त सब जीवोंको विषयोंकी तृष्णा उत्पन्न करता है और तृष्णासे आकुल होकर वे जीव मरणपर्यन्त विषय सुखमे ही रमे

रहते हैं, उन्हीकी प्राप्ति और भोगमें उनका जीवन बीतता है। अतः पापकी तरह पुण्य भी दुःख का कारण है। जो ऐसा नही मानता कि पाप पुण्यमें कोई भेद नही है वह अपार घोर ससारमे भ्रमण करता है (१।७४-७७)। गाथा ७४ की टीकामे अमृतचन्द्र जीने लिखा है—

उक्त प्रकारसे शुभ और अशुभ उपयोगके युगलकी तरह तथा सुख और दुःखके युगलकी तरह परमार्थसे पुण्यपापका युगल भी नही ठहरता। दोनो ही आत्माके धर्म नही हैं। जो इन दोनोंमे सुवर्ण और लोहेकी बेड़ीके समान अहंकार बुद्धिसे भेद मानता है और अहमिन्द्र आदि पदोका कारण मानकर धर्मानुराग करता है वह रागके वश होकर शुद्धोपयोगका तिरस्कार करता है और इस तरह जब तक संसारमे रहता है तब तक शारीरिक दुःख ही भोगता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने ही शुभोपयोग और तज्जन्य पुण्यको हेय कहा है और उन्हीं का अनुसरण अमृतचन्द्रने भी किया है। तथा समस्त दु:खोंके क्षयके लिये शुद्धोपयोगको ही अपनाने पर जोर दिया है।

प्रवचनसारमे (१।१४) शुद्धोपयोगी श्रमणका लक्षण सुविदित पदार्थसूत्र, संयम-तपसंयुत, विगतराग और समसुख-दुख कहा है। अमृतचन्द्रने प्रत्येक पदकी व्याख्या अध्यात्मदृष्टिसे इस प्रकार की है—

सूत्रार्थके ज्ञानके बलसे स्व और पर द्रव्यके विभागके परिज्ञान श्रद्धान और विधानमे समर्थ होनेसे जो सुविदित पदार्थसूत्र है, समस्त षट्कायके जीवोको मारनेके विकल्पसे तथा पाँचो इन्द्रियोंके विषयोकी अभिलाषाके विकल्पसे हटकर अपने शुद्ध स्वरूपमे संयमित होनेसे और स्वरूपमे विश्रान्त निर्विकल्प चैतन्यमे तपन करनेसे संयम और तपसे सहित है, समस्त मोहनीयके उदयसे रहित भावनाकी सुष्ठुतासे निर्विकार आत्मस्वरूपके प्रकट होनेसे विगतराग है, सातावेदनीय और असातावेदनीयके उदयसे होनेवाले सुख दु:ख जनित परिणामोकी विषमता का अनुभव न करनेसे समसुख-दु:ख है ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी होते है।

शुद्धोपयोगके प्रसादसे ही आत्मा स्वय सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वय ही होता है इस लिये उसे स्वयभू कहते है यह आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है। आचार्य समन्तभद्रने चौबीस तीर्थंकरोकी स्तुति रचते हुए प्रथम तीर्थंकरकी स्तुतिका प्रारम्भ 'स्वय-भू' शब्दसे किया है। इसी से वह स्तोत्र स्वय-भू स्तोत्र के नामसे ख्यात है। किन्तु स्वयं-भूका यथार्थ आध्यात्मिक अर्थ तो सम्भवतया आचार्य अमृतचन्द्रने ही किया है। वह कहते है—

लोकमे षट्कारक प्रसिद्ध हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। इन कारकोके द्वारा कार्यकी निष्पत्ति लोकमे मानी जाती है। जैसे कुम्हार घटका कर्त्ता है, घट उसका कर्म है, दण्ड चक्र आदि करण हैं, पानी भरने आदिके लिये घट बनाया जाता है अत: यह सम्प्रदान है। मिट्टीकी पिण्ड पर्यायसे घट बनाया जाता है, अत. अपादान है। उसका भूमि आदि अधिकरण है। किन्तु आत्माकी स्वरूपोपलब्धिरूप कार्यकी निष्पत्तिमे षट्कारकरूपसे एक आत्मा ही है वही अपना कर्ता, कर्म, आदि है। यही निश्चय व्यवस्था है। तभी आत्माका यथार्थमे स्वयं-भूपना बनता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने इस ग्रन्थमे मुनि या साधुके लिये श्रमण शब्दका प्रयोग किया है। इसीसे जैन संस्कृति श्रमण संस्कृति कही जाती है। भारतमे दो ही सस्कृतियाँ प्राचीन हैं—श्रमण और ब्राह्मण और भाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार दोनोंमे शाश्वतिक विरोध रहा है क्योंकि सैद्धान्तिक भेद है।

आचार्य अमृतचन्द्रने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें एक बात बड़े महत्त्वकी लिखी है कि उपदेष्टाको सर्वप्रथम यति धर्मका उपदेश देना चाहिये। जो उसे स्वीकार करनेमे असमर्थ हो उसको गृहस्थ धर्मका उपदेश देना चाहिये। यह कथन बतलाता है कि मोक्षमार्गमे मुनि धर्मकी महत्ता है, क्योंकि मुनि ही मोक्ष प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। यही बात आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमें भी परिलक्षित होती है। वे श्रमणको लक्ष्य करके ही लिखते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नही कि गृहस्थको उसे पढ़नेका अधिकार नही है या उसे उन ग्रन्थोको पढना नही चाहिये। यदि वह नही पढेगा तो मुनि कैसे बनेगा। मुनि पद अज्ञानियोंके लिये नही है। यह बात प्रवचन-सारकी मगल गाथाओंकी उत्थानिकासे स्पष्ट है। अत. इस प्रकरणकी गाथा ९१ की व्याख्यामे अमृतचन्द्रने लिखा है—'जो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्योको स्व और परके भेद सहित नही जानता या श्रद्धान नही करता और यो ही मुनि पद धारण करके आत्माका दमन करता है वह मुनि नही है। जैसे जिसे धूलि और सोनेके कणोका भेद ज्ञात नही है वह धूलिको धोकर सोनेके कण प्राप्त नही कर सकता। उसी प्रकार उस अज्ञानी मुनिको भी राग रहित आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप धर्मकी प्राप्ति नही हो सकती। अत: इस अधिकारके आरम्भमे ग्रन्थकारने यह प्रतिज्ञा की है कि मै साम्यभावरूप श्रामण्यको धारण करता हूँ जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। और प्रतिज्ञा करके साम्यभावको धर्म निश्चित करके साम्यभाव धर्मरूप परिणत आत्माको ही धर्म कहा है तथा उसकी सिद्धिके लिये निर्वाण सुखका साधन शुद्धोपयोगको कहा है। शुद्धोपयोगके विरोधी शुभ और अशुभ उपयोगका निराकरण करके शुद्धोपयोगका स्वरूप कहा है। उसीके प्रसादसे आत्माको स्वाभाविक ज्ञान और सुखकी प्राप्ति बतलाते हुए ज्ञान और सुखका स्वरूप कहा है।

श्री जयसेनाचार्यकी टीकामे दो गाथाएँ इस प्रकरणके अन्तमे अधिक है। उनमे कहा है कि जो उक्त प्रकारके श्रमणको देखकर उनका वन्दन नमस्कार आदिसे सत्कार करता है, उससे वह धर्मको ग्रहण करता है और उससे मनुष्य वा तिर्यञ्च भवान्तरमे देव या मनुष्यगति प्राप्त करके सदा सम्पूर्ण मनोरथ होते है।

गाथामे 'धम्ममादियदि' पद है और जयसेनने धर्मका अर्थ पुण्य किया है। कुन्दकुन्दने पुण्यके लिए धर्म शब्दका प्रयोग किया ही नही। अत· ये गाथाएँ कुन्दकुन्दकृत नही हो सकती। न यहाँ उनकी आवश्यकता है। इससे पूर्व भी जयसेनकी टीकामें इसी प्रकारकी नमस्कारात्मक गाथाएँ आई हैं। अमृतचन्द्रकी टीकामे आगत गाथा ८२ मे तो निर्वाण प्राप्त अरहंतोको नमस्कार किया ही है। वही इस प्रकरणके उपयुक्त है।

प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारके अन्तमे अमृतचन्द्र लिखते है—'स्याद्वादकी मुद्रासे अंकित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म (द्रव्यश्रुत) जयवन्त होओ। उस शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वकी उपलब्धि जयवन्त होओ, जिस आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके प्रसादसे अनादि संसारसे बद्ध मोहकी गाँठ तत्काल खुल जाती है। परम वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोग जयवन्त होओ, जिसके प्रसादसे यह आत्मा स्वयं धर्मरूप हो जाता है।

उक्त वाक्य बहुमूल्य है जो बतलाते हैं कि आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका मूल जिनागमका अभ्यास है और जिनागमके अभ्यासके लिए स्याद्वादका परिज्ञान होना जरूरी है। उस आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे ही अनादि संसार सान्त हो जाता है और तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगके द्वारा आत्मा स्वयं धर्मरूप होकर शाश्वत सुखको भोगता है।

प्रवचनसारका दूसरा ज्ञेयाधिकार तो अमृतचन्द्रकी देनसे भरपूर है। द्रव्य, गुण, पर्यायके तो वह विचक्षण पण्डित थे। इस अधिकारकी प्रथम गाथाकी टीकामे वह द्रव्यको विस्तार सामान्य समुदायात्मक और आयत सामान्य समुदायात्मक कहते हैं तथा गुणको एकाश्रय विस्तार विशेषात्मक और पर्यायको आयत विशेषात्मक कहते है।

विस्तारका अर्थ है चौडाई और आयतका अर्थ है लम्बाई। गुण ओर पर्याय ये दोनो द्रव्यके विशेष है। गुण विस्तार विशेष है—द्रव्यके प्रत्येक अंशमे सदा रहता है। पर्याय आयत विशेष है अर्थात् एकके बाद एकरूपसे सदा प्रवाहित होती है। पर्याय द्रव्यात्मक भी होती हैं और गुणात्मक भी। अनेक द्रव्योमे ऐक्यके बोधमे कारण द्रव्य पर्याय है। उसके दो भेद है—समानजातीय और असमानजातीय। अनेक पुद्गलोके मेलसे निष्पन्न स्कन्ध समानजातीय द्रव्य पर्याय है। तथा जीव और पुद्गलके संयोगसे निष्पन्न देव मनुष्य आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय है।

गुणपर्यायके भी दो भेद है—स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय। समस्त द्रव्योंके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रकट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकताकी अनुभूति स्वभाव पर्याय है। तथा रूपादि या ज्ञानादिके स्व और पर कारणके द्वारा प्रवर्तमान पूर्व और उत्तर अवस्थामे होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमे आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकताकी प्राप्ति विभावपर्याय है।

अमृतचन्द्रजीने मोहका लक्षण तत्त्वको न जानना कहा है। यह लक्षण बहुत ही उपयुक्त है। तत्त्वको न जाननेके कारण ही अज्ञानी प्राणी मोहमे पड़ता है। यदि तत्त्वको जान ले तो मोह दूर हो जाये।

गाथा ९५ मे आचार्य कुन्दकुन्दने द्रव्यके लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा गुण-पर्याययुक्त कहे है। अमृतचन्द्रजीने उसकी व्याख्यामे इन्हे दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करते हुए गुणके दो भेद कहे है—सामान्य और विशेष। तथा अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व आदिको सामान्य गुण कहा है, तथा अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणता, वर्तनाहेतुता, रूपादिमत्ता, और चेतनत्वको विशेष गुण कहा है।

आचार्य देवसेनकी आलापपद्धतिमे गुणोके भेदोका विस्तारसे कथन होनेसे स्व०डा०ए०एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामे यह सम्भावना व्यक्त की है कि अमृतचन्द्र आलापपद्धतिसे परिचित थे। किन्तु हमे यह नही जचता, क्योकि अमृतचन्द्रने निश्चयनय और व्यवहारनयके किसी भी भेदका निर्देश नही किया जो आलाप पद्धतिमे वर्णित है। अमृतचन्द्रके उत्तरकालीन टीकाकार ब्रह्मदेव और जयसेनकी टीकाओमे उनका प्रयोग पाया जाता है। ये दोनों टीकाकार आलापपद्धतिसे सुपरिचित थे।

अमृतचन्द्रजीने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी टीकामे अस्तित्व या सत्ता, उत्पाद व्यय ध्रौव्य, और गुण-पर्यायका जो स्पष्ट विवेचन किया है जो अन्यत्र नही देखा जाता। अस्तित्वका वर्णन करते हुए वह कहते है—अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है और वह अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि अनन्त है। तथा द्रव्य गुण पर्यायका अस्तित्व एक ही है भिन्न भिन्न नही है, क्योंकि गुण पर्यायें द्रव्यसे ही निष्पन्न होती है, और द्रव्य गुण पर्यायोसे निष्पन्न होता है। इसी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और द्रव्यका अस्तित्व भी एक ही है, क्योकि

उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यरूप हैं और द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है।

उन्होंने अस्तित्वके दो भेद किये हैं स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। उक्त कथन स्वरूपास्तित्वका है। गाथा ९८ की टीकामें वह लिखते हैं—

द्रव्योंसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि सब द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं। और स्वभाव सिद्ध इसलिये हैं कि अनादि-निधन है। जो अनादि अनन्त होता है वह अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखता। जो द्रव्योंसे उत्पन्न होता है वह तो पर्याय है। जैसे मनुष्य या स्कन्ध। द्रव्य तो त्रिकालस्थायी होता है। इस प्रकार उन्होंने द्रव्य गुण पर्याय तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यको खूब स्पष्ट किया है।

उत्पाद व्ययके विना नहीं होता। व्यय उत्पादके बिना नही होता और उत्पाद व्यय दोनों ध्रौव्यके बिना नहीं होते। तथा ध्रौव्य उत्पाद व्ययके विना नही होता। अतः जो उत्पाद है वही व्यय है। जो व्यय है वही उत्पाद है और जो उत्पाद व्यय है वही ध्रौव्य है। जो ध्रौव्य है वही उत्पाद व्यय है। जैसे—जो घटका उत्पाद है वही मिट्टीके पिण्डका विनाश है क्योंकि मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नही होता। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है वही घट का उत्पाद है, क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभावरूप देखा जाता है। जो घटका उत्पाद और पिण्ड का विनाश है वही मिट्टीकी ध्रुवता है, क्योंकि पर्यायके बिना द्रव्यकी स्थिति नही हैं। जो मिट्टीकी ध्रुवता है वही घटकी उत्पत्ति और पिण्डका विनाश है, क्योंकि द्रव्यकी ध्रुवताके बिना पर्याय नही होती।

यदि ऐसा नही माना जाता है तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यको भिन्न-भिन्न मानना होगा और ऐसी स्थितिमे केवल उत्पाद मानने पर घटका उत्पाद नहीं होगा। होगा तो असत्‌का उत्पाद होगा, क्योंकि मिट्टीकी पिण्ड पर्यायके विनाशसे घटका उत्पाद होना था। वह आप मानते नही, उसके बिना घट उत्पन्न नही होगा। घटके उत्पन्न न होने पर सभी पदार्थोंका उत्पाद नही होगा। असत्‌का उत्पाद मानने पर आकाशके फूल आदि असंभव वस्तुओंका भी उत्पाद मानना होगा। तथा केवल विनाश मानने पर विनाशका कारण न होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश नही होगा। क्योकि घटके उत्पन्न होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश होता था। यदि सत्‌का विनाश मानेंगे तो ज्ञानादिका भी नाश मानना होगा। तथा केवल ध्रौव्य मानने पर मिट्टीकी स्थिति नही रहेगी। क्योकि पिण्डादि पर्यायके बिना मिट्टीकी स्थिति नही है। या फिर मिट्टीको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानना होगा। यही दशा अन्य सब पदार्थोंको भी प्राप्त होगी। इसलिये उत्तरोत्तर पर्यायो के उत्पाद और पूर्व पूर्व पर्यायोके विनाश तथा मूलवस्तुकी ध्रौव्यतारूप त्रैलक्षण्यसे युक्त द्रव्य मानना चाहिये।

किन्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायके आश्रित है और पर्याय द्रव्यके आश्रित है। ये सब मिलकर एक ही द्रव्य है। द्रव्य समुदायी है, अतः वह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका समुदाय है। जैसे वृक्ष स्कन्ध मूल और शाखाका समुदायरूप है इसी प्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायोंका समुदायात्मक है। और पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप हैं। यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायोंका न मानकर द्रव्यका ही माना जाये तो सब गड़बडा जाये। जैसे यदि द्रव्यका नाश माना जाये तो एक ही क्षणमे सब द्रव्योंका नाश होनेसे जगत् द्रव्यसे शून्य हो जाये। यदि द्रव्यका उत्पाद माना जाये तो प्रति समय द्रव्यके उत्पन्न होनेसे द्रव्योंकी संख्या अनन्त हो जावे तथा असत्‌की उत्पत्तिका प्रसंग आवे। इसी तरह द्रव्यको ध्रुव

मानने पर क्रम-क्रमसे होनेवाली पर्यायोंका अभाव होनेसे द्रव्यका भी अभाव हो जाये। अतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं और पर्याय द्रव्याश्रित है। तथा ये सब मिलकर एक द्रव्य होता है।

गाथा ९९ की टीका बहुत महत्त्वपूर्ण है जो प्रकारान्तरसे पर्यायोंकी क्रमबद्धता पर प्रकाश डालती है।

उन्होंने दो शब्दोंका प्रयोग किया है—द्रव्यवास्तु और द्रव्यवृत्ति। द्रव्यवास्तुसे उनका अभिप्राय है—द्रव्यका आश्रय अर्थात् उसके प्रदेशरूप स्वक्षेत्र। तो द्रव्य तो एक और अखण्ड है किन्तु उसका जो विस्तार है उस विस्तारके क्रममें वर्तमान जो सूक्ष्म अंश है वे कहलाते है प्रदेश। इन प्रदेशोंके ही कारण आकाश सर्वव्यापी और शेष द्रव्य अव्यापि कहे जाते है। तो जैसे एक भी द्रव्यके प्रदेश होते है वैसे ही द्रव्यका अस्तित्व एक होने पर भी उसमे जो प्रति समय परिवर्तन होता है उन्हे पर्याय कहते हैं। अमृतचन्द्रजीने प्रदेशोको 'विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्ति' सूक्ष्म अंश कहा है। विष्कम्भ–विस्तार एकार्थक है। एक अखण्ड द्रव्यका जो एक प्रदेश है वह दूसरा नही है। जो दूसरा प्रदेश है, वह तीसरा नही है, ऐसा विचार करने पर द्रव्य अपने विस्तारक्रमसे बहु-प्रदेशी सिद्ध होता है। तथा एक द्रव्यकी एक समयकी पर्याय दूसरे समयवर्ती पर्याय नही है। दूसरे समयवर्ती पर्याय तीसरे समयवर्ती नही है। ये प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्म अंश है। पञ्चा-ध्यायीकारने द्रव्य द्रव्यांश, गुण गुणांशरूपमे इनका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है।

अमृतचन्द्रजीने इन्हे स्पष्ट करनेके लिये मोतियोंकी मालाका उदाहरण दिया है। जैसे मोति-योंकी मालामें सभी मोती अपने-अपने स्थानमे चमकते है। जब माला फेरते है तो आगे-आगेके मोती अपने अपने स्थान पर उदित होते जाते है और उनसे पूर्वके मोती विलय होते जाते हैं। किन्तु उनमे पिरोया गया डोरा एकरूपसे अवस्थित रहता है। इसी प्रकार परिणमनशील नित्य द्रव्यमे सभी पर्यायें अपने-अपने समयमे प्रकाशित होते हुए उत्तरोत्तर परिणाम उत्पन्न होते है, पूर्व पूर्व परिणाम विलय होते हैं तथा सर्वत्र पर्यायोमें अनुस्यूत प्रवाह अवस्थित रहता है। यही उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूपता है।

यहाँ जो विष्कम्भक्रम प्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्मांशको प्रदेश तथा प्रवाहक्रम प्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्मांशको परिणाम या पर्याय कहा है, आगे गाथा १४१ को टीकामे इन्हीके समूहको तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचय नाम दिया है। और प्रदेशोंके समूहको तिर्यक् प्रचय तथा समय-समयमे होनेवाली पर्यायोके समूहको ऊर्ध्व प्रचय कहा है। तथा कहा है कि सब बहुप्रदेशो द्रव्योमे तिर्यक् प्रचय होता है। परन्तु काल द्रव्यमे नही होता, क्योकि वह शक्तिरूपसे भी एक प्रदेशी है। ऊर्ध्व प्रचय तो सभी द्रव्योमे अनिवार्य है, क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति त्रिकालवर्ती है। किन्तु इतना अन्तर है कि काल द्रव्यके सिवाय शेष द्रव्योका ऊर्ध्व प्रचय समयविशिष्ट वृत्तियोका प्रचय है और समयोका प्रचय काल द्रव्यका प्रचय है। इस अन्तरका कारण यह है कि शेष द्रव्योकी वृत्ति तो समयसे भिन्न है, इसलिए उसे समय विशिष्ट वृत्ति कहा है, किन्तु काल द्रव्यकी वृत्ति तो स्वयं समयरूप है, क्योंकि समय काल द्रव्यकी ही तो पर्याय है।

गाथा १४२ की टीकामे इसे और भी स्पष्ट किया है। यह सब कथन आचार्य अमृतचन्द्रकी ही देन है।

जैनदर्शनमे काल द्रव्यको एकप्रदेशी क्यों माना गया इसकी उपपत्ति भी गाथा १४४ की टीकामे अमृतचन्द्रने दी है जो अन्यत्र हमारे देखनेमे नही आई।

जो पहले स्वरूपास्तित्व कहा था वह द्रव्यका स्वभाव ही है उसीसे स्व और परका भेद-ज्ञान होता है। अत. उसे ही पद पद पर जाननेकी प्रेरणा अमृतचन्द्र जी करते हैं। उसके होने पर ही मोह दूर होता है।

गाथा १५५ मे आचार्य कुन्दकुन्दने उपयोगके शुभ अशुभ दो भेद किये हैं। अमृतचन्द्रजी ने उपयोगके शुद्धऔर अशुद्ध भेद करके अशुद्धके शुभ और अशुभ भेद किये हैं। यह उनका वैशिष्टय है। निरुपराग उपयोग शुद्ध होता है, सोपराग अशुद्ध होता है। उपरागके भी दो भेद है–एक विशुद्धि-रूप और एक संक्लेशरूप। विशुद्धिरूप राग शुभ है। संक्लेशरूप अशुभ है। यह शुभ अशुभरूप उपयोग ही पर द्रव्यके संयोगमे कारण होता है। शरीर वचन मन ये सब पर द्रव्य हैं। स्व और परका ज्ञान न होनेसे ही जीव पर द्रव्यमें प्रवृत्ति करता है, अतः स्व द्रव्यमें प्रवृत्तिके लिए भेद-ज्ञान आवश्यक है।

गाथा १८४-१८५ मे कहा है कि पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म नही है, क्योंकि आत्मा पर द्रव्यके ग्रहण और त्यागसे रहित है। इन परसे प्रश्न हुआ तब आत्मा कैसे पुद्गल कर्मोंके द्वारा ग्रहण किया या छोड़ा जाता है। उत्तरमें कहा है कि ससार अवस्थामे जीव अपने परिणामोंको करता है। उनको निमित्त करके पुद्गल कर्म स्वयं ही जीवसे बँधते या छूटते हैं।

गाथा १८९ की टीकामे इस कथनका सार उपस्थित किया गया है— जो इस प्रकार है—

'राग परिणाम ही आत्माका कर्म है वही पुण्य पापरूप है। राग परिणामका ही आत्मा कर्ता है, उसीका ग्रहण और त्याग करनेवाला है, यह शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले निश्चय-नयका कथन है। और पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म है वही पुण्य पापरूप है, आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता, ग्रहण और त्याग करनेवाला है। यह अशुद्ध द्रव्यका कथन करनेवाले व्यवहार-नयका कथन है। ये दोनों ही नय हैं, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनो रूपसे द्रव्यकी प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम होनेसे ग्रहण किया गया है, क्योंकि साध्य है, शुद्ध आत्मा और निश्चयनय द्रव्यकी शुद्धताका प्रकाशक है, अत. वही साधकतम है, अशुद्ध आत्माका प्रकाशक व्यवहारनय साधकतम नही है।

इस प्रकार अमृतचन्द्रजीने व्यवहारनयको स्वीकार करते हुए भी मोक्षमार्गमे निश्चयनयको ही साधकतम कहा है। आगे कहा है जो साधु शुद्ध द्रव्यका कथन करनेवाले निश्चयनयसे निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्यका कथन करनेवाले व्यवहारनयके मोहमे पड़कर परद्रव्यमे ममत्व करता है वह शुद्धात्म परिणतिरूप मुनिमार्गको दूरसे ही छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप कुमार्गमे जाता है।'

ज्ञेयाधिकारके अन्तमे और चरणानुयोग चूलिकाके प्रारम्भमे अमृतचन्द्रजीने दो पद्य बड़े महत्त्वके कहे हैं—

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य॥

अर्थ—चारित्र द्रव्यके अनुसार होता है और द्रव्य चारित्रके अनुसार होता है। ये दोनों सापेक्ष हैं। इसलिए या तो द्रव्यका आश्रय लेकर या चारित्रका आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्गमें आरोहण करे।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धि.
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरता परेऽपि
द्रव्याविरुद्ध चरणं चरन्तु॥

अर्थ—द्रव्यकी सिद्धिमे चारित्रकी सिद्धि है। चारित्रकी सिद्धिमे द्रव्यकी सिद्धि है, यह जानकर कर्मोंसे अविरत दूसरे भी द्रव्यसे अविरुद्ध चारित्रका आचरण करो।

ये दो पद्य द्रव्य और चारित्रकी परस्पर सापेक्षता बतलाते हैं। यहाँ द्रव्यसे मतलब आत्म-द्रव्यसे है। उसीके स्वरूपबोधके लिये प्रथम दो अधिकार कहे गये हैं। तदनन्तर चारित्रका कथन है। अत: चारित्रकी सिद्धिके लिए द्रव्यकी सिद्धि, उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञानपूर्वक श्रद्धान आवश्यक है और चारित्रकी सिद्धिसे ही शुद्ध आत्मद्रव्यकी सिद्धि-प्राप्ति होती है। अत: चारित्रका पालन करना चाहिए। शुद्ध आत्मद्रव्यकी प्रतीतिके बिना चारित्रका पालन ससारका उच्छेद नही कर सकता। जो संसारका उच्छेद न करे वह चारित्र धर्म कैसे हो सकता है।

प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमे ४७ नयोंके द्वारा आत्माका कथन किया गया है। वे नय है—द्रव्यनय १, पर्यायनय २, अस्तित्वनय ३, नास्तित्वनय ४, अस्तित्वनास्तित्वनय ५, अवक्तव्यनय ६, अस्तित्वावक्तव्यनय ७, नास्तित्वावक्तव्यनय ८, अस्तित्व-नास्तित्वावक्तव्यनय ९, विकल्पनय १०, अविकल्पनय, ११, नामनय १२, स्थापनानय १३, द्रव्यनय १४, भावनय १५, सामान्यनय १६, विशेषनय १७, नित्यनय १८, अनित्यनय १९, सर्वगतनय २०, असर्वगतनय २१, शून्यनय २२, अशून्यनय २३, ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय २४, ज्ञानज्ञेयद्वैतनय २५, नियतिनय २६, अनियतिनय २७, स्वभावनय २८, अस्वभावनय २९, कालनय ३०, अकालनय ३१, पुरुषकारनय ३२, दैवनय ३३, ईश्वरनय ३४, अनीश्वरनय ३५, गुणिनय ३६, अगुणिनय ३७, कर्तृनय ३८, अकर्तृनय ३९ भोक्तृनय ४०, अभोक्तृनय ४१, क्रियानय ४२, ज्ञाननय ४३, व्यवहारनय ४४, निश्चयनय ४५, अशुद्धनय ४६, शुद्धनय ४७। इनमे प्रायः सभी मतवाद आ जाते हैं।

समयसार टीका—

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थको समयप्राभृत नाम दिया है। यथा—'वोच्छामि समयपाहुड'। किन्तु अमृतचन्द्रने अपनी टीकाके प्रथम मगल श्लोकमे 'नम. समयसाराय' लिखा और ग्रन्थका नाम समयसार ही रूढ हो गया। उन्होंने अपनी टीकामें उपसंहारात्मक जो पद्य लिखे वे भी समयसार कलशके नामसे ख्यात हुए। अर्थात् वे पद्य समयसाररूपी मन्दिरके शिखर पर कलशके तुल्य हैं। उन पर आचार्य शुभचन्द्रने संस्कृत टीका रची। राजमल्लने ढुढारी भाषामे उनकी टीका रची। उसे पढकर कविवर बनारसीदासने नाटक समयसार रचा जिसमें उन्होंने लिखा—

'नाटक सुनत हिय फाटक खुलत है'

अर्थात् समयसार नाटकको सुननेसे हृदयके फाटक खुल जाते हैं। समय सारको नाटकका रूप देनेका श्रेय भी अमृतचन्द्रको ही है। प्रथम गाथाकी उत्थानिका है—अथ सूत्रावतारः। जब नाटक प्रारम्भ होता है तो रगमंच पर सूत्रधार आता है। यह सूत्रावतार भी उसीका प्रतिनिधि है। ३८वी गाथाके अन्तमे लिखा है 'पूर्वरङ्गः समाप्तः'।

इसका मतलब है कि सूत्रधारका कार्य समाप्त हुआ। अब नाटक प्रारम्भ होता है। आगे लिखा है—

'अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशत:।' अर्थात् जीव और अजीव दोनों एकमेक होकर रंगमंचपर प्रवेश करते हैं। संसाररूपी नाटकका यही तो सूत्रपात है कि जीवने सोपाधि स्वरूपको ही अपना स्वरूप मान लिया है उसे जड़ और चेतनका बोध नही है। इसीका चित्रण छहढालाकी प्रथम ढालमें पं० दौलतराम जी ने किया है।

दूसरे कर्तृकर्माधिकारके प्रारम्भमे लिखते हैं—जीव और अजीव ही कर्ता और कर्मका वेष धारण करके प्रवेश करते हैं।

समयसारके दूसरे टीकाकार जयसेनने भी अमृतचन्द्रका ही अनुसरण करते हुए उसमे भी निश्चयनय और व्यवहारनयका प्रयोग किया है' यथा—

'इस प्रकार जीवाजीवाधिकाररूपी रगभूमिमे शृंगार सहित पात्रके समान दोनों व्यवहार-नयसे एकीभूत होकर प्रविष्ट हुए और निश्चयसे तो शृंगार रहित पात्रकी तरह जुदे होकर चले गये।'

तथा कर्तृकर्माधिकारके प्रारम्भमे जयसेन ने कहा है—

'पूर्वोक्त जीवाजीवाधिकारकी रंगभूमिमे जीव अजीव ही यद्यपि शुद्धनिश्चयसे कर्ता कर्म भावसे रहित है तथापि व्यवहारनयसे कर्ता कर्म के वेष से शृङ्गारसहित पात्र की तरह प्रवेश करते हैं।'

तीसरे पुण्यपापाधिकारके प्रारम्भमे कहा है—एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य और पापरूपसे प्रवेश करता है। अर्थात् पुण्य-पाप मूलमें एक ही है। इसीप्रकार आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष सबका प्रवेश और निकास कराकर अन्त मे सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है। किन्तु इसे निकाला नही गया है। यही तो ज्ञानपुंज शुद्ध आत्मा है जो बन्ध मोक्ष आदि के कारणभूत परिणामो से रहित है। इसप्रकार समयसारको नाटकका रूप देकर आचार्य अमृतचन्द्रने समय-सारकी अपनी टीकाके द्वारा उसके हार्दको जिसरूपमे प्रस्पष्ट किया है उससे समयसार समयसार बन गया है। टीकाकी प्रत्येक पक्तिमे अध्यात्मका रस भरा हुआ है। जिसका पान करके अन्त-रात्मा प्रफुल्लित हो उठता है।

ग्रन्थका नाम समय प्राभृत होनेसे सबसे प्रथम समयका कथन है, जीव नामक पदार्थ समय है क्योंकि समयसे अर्थात् एकत्वरूपसे एक साथ जानता भी है और परिणमन भी करता है, सम-उपसर्ग पूर्वक अय् धातुका अर्थ गमन भी है जानना भी है। उसका प्रकाशक शास्त्र समय-प्राभृत है।

आगे गाथा ३ की टीकामे समय शब्दसे सभी अर्थ-पदार्थ लिये है, क्योकि समय से अर्थात् एकी-भावसे अपने गुण-पर्यायोको प्राप्त करते हैं। दोनों ही स्थानोंमे प्रत्येक द्रव्यके एकत्वको बतलाते हुए अमृतचन्द्रने लिखा है कि अनन्त द्रव्योंके हिले मिले समूहमे रहते हुए भी सभी द्रव्य अपने मे निमग्न अनन्त धर्मोके समूहको अपनाये हुए हैं, किन्तु परस्परमे एक द्रव्य दूसरे द्रव्योंको अपनाये हुए नही है। अत्यन्त प्रत्यासत्ति होने परभी अपने स्वरूपसे च्युत न होकर पररूपसे परिणमन नही करते। अत' वे टाकीसे उकेरे हुएके समान सदा रहते है। द्रव्योंकी यह स्वतंत्रता ही अध्यात्मका प्राण है। इसी से अमृतचन्द्र जी ने अपनी टीकामे इसपर विशेष जोर दिया है।

गाथा ६ की टीकामे शुद्ध आत्माका कथन करते हुए कहा है—

संसार अवस्थामे अनादि बन्धपर्यायके कथनकी अपेक्षा यह आत्मा दूध और पानीकी तरह कर्मपुद्गलोंके साथ यद्यपि एकरूप हो रहा है तथापि द्रव्यस्वभावके कथनकी अपेक्षा कषायके

उदयवश होनेवाले शुभाशुभ भावोंके स्वभावरूप परिणमन नहीं करनेसे प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नही है। वही आत्मा समस्त अन्य द्रव्योंसे भिन्नरूपसे उपासना किये जानेपर शुद्ध कहा जाता है। अर्थात् एक द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप होता नहीं। परद्रव्यके संयोगसे मलिनता आती है, किन्तु द्रव्यदृष्टिसे तो द्रव्य शुद्ध ही अनुभवमे आता है, पर्यायदृष्टिसे तो वह मलिन ही है।

आत्माकी अशुद्धताका कारण केवल परद्रव्य संयोग ही नही है। अखण्ड आत्माका दर्शन ज्ञान चारित्ररूपसे भेदन करके कथन करने से भी अशुद्धता आती है। यह बात गाथा ७ मे कही है, क्योंकि धर्म और धर्मीमे स्वभावसे अभेद है, किन्तु कथन द्वारा भेद उत्पन्न करके ऐसा कहा जाता है कि आत्मामे दर्शन ज्ञान चारित्र है। ऐसा करनेका कारण यह है कि उसके बिना आत्माका स्वरूप समझाया नही जा सकता। इसीलिये व्यवहारनयकी आवश्यकता होती है क्योंकि व्यवहारके बिना परमार्थका कथन नही हो सकता। फिर भी व्यवहार तो व्यवहार ही है, परमार्थका प्रतिपादक होनेपर भी वह परमार्थ नही है। इससे उसकी उपयोगिता परमार्थको समझनेके लिये है। गाथा १२ मे यही स्पष्ट किया है—

'परम भावदर्शियोंके लिये शुद्धका कथन करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है, किन्तु जो अपरम भावमे स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करनेके योग्य है।'

अमृतचन्द्र जी ने परम भावको शुद्ध स्वर्णके समान कहा है और सोनेकी नीचेकी अशुद्ध दशाओके समान अपरम भाव कहा है। और अपरम भावमे स्थितोंके लिये उस समय व्यवहारनयको ही उपयोगी कहा है।

इसके भावार्थमे पं० जयचन्दजी ने लिखा है—

जबतक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हुई हो तब तक जिन वचनोका सुनना, धारण करना, जिन वचनोंके उपदेशक गुरुकी भक्ति, जिन बिम्बदर्शन आदि व्यवहारमार्गमे लगना प्रयोजनवान् है। और जिनको ज्ञान श्रद्धान तो हुआ पर साक्षात्प्राप्ति नही हुई तब तक परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत, महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, आदि व्यवहारमार्गमें प्रवर्तन करना कराना आदि व्यवहारनयका उपदेश करना प्रयोजनवान् है। अमृतचन्द्र जी ने भी लिखा है—

> व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
> मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
> तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
> परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥ ५ ॥

अर्थ—व्यवहारनयको यद्यपि इस प्रथम पदवीमे (जब तक शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति न हो तब तक) जिन्होंने पैर रखा है ऐसे पुरुषोंके लिये हस्तावलम्ब कहा है। तो भी जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावोंसे रहित परम अर्थको (जो शुद्धनयका विषयभूत है) अन्तरंगमे अवलोकन करते हैं उसका श्रद्धान करते है तथा उस स्वरूपमे लीनतारूप चारित्रको प्राप्त करते हैं उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नही है।

इसके पश्चात् ही अमृतचन्द्र जी ने सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है—

आत्माको, जो शुद्धनयसे एकत्वमे निश्चित किया गया है, अपने गुण-पर्यायोंमें व्याप्त और

पूर्ण ज्ञानघन है, द्रव्यान्तरसे भिन्न देखना श्रद्धान करना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है।'

पं० जयचन्द्र जी इसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह लिखते हैं—'जब तक व्यवहारनयके विषयभूत जीवादि भेदरूप तत्त्वोंका केवल श्रद्धान रहता है तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नही हो सकता इसलिये सर्वज्ञकी वाणीमे जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होनेसे निश्चय सम्यक्त्व होता है।' यह निश्चय सम्यक्त्व वही है जिसके होनेपर अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको चतुर्थ गुण-स्थानकी प्राप्ति होने के साथ उसका अनन्त संसार सान्त हो जाता है। किन्तु आचार्य जयसेन निश्चयचारित्रके अविनाभावीको निश्चय सम्यक्त्व कहते है। यथा-आर्त रौद्रध्यानोंका परित्यागरूप निर्विकल्प सामायिकमें स्थितको जो शुद्धात्मरूपका दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ख्याति, अनुभूति होती है वही निश्चयनयसे निश्चयचारित्रका अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व है।

गाथा १३ में आचार्य कुन्दकुन्द भूतार्थनयसे जाने गये जीवादि नव तत्त्वोंको सम्यग्दर्शन कहते है। तत्त्वार्थसूत्रादिमे तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। समयसारमे भूतार्थनयसे जाने गए पद अधिक है।

अमृतचन्द्र जी इसकी टीकामे लिखते हैं—

'ये जीवादि नौ तत्त्व तीर्थ प्रवृत्तिके निमित्त अभूतार्थनयसे कहे गये है। इनमे एकत्वको प्रकट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व लाकर शुद्धनयसे व्यवस्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—होती है। अतः इन जीवादि नौ तत्त्वोको भूतार्थनयसे जानने पर सम्यग्दर्शन होता ही है।'

इसी टीकामे आगे वे कहते हैं—'ये नौ तत्त्व जीव द्रव्यके स्वभावको दृष्टिसे ओझल करके स्वपर निमित्तक एक द्रव्यकी पर्यायरूपसे अनुभव करने पर भूतार्थ है। और सब कालोंमें कभी न डिगनेवाले एक जीव द्रव्य स्वभावका अनुभवन करनेपर अभूतार्थ है। अत. इन नौ तत्त्वोमे भी भूतार्थनयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार यह एकत्वरूपसे प्रकाशमान जीव शुद्धनयसे अनुभवमे आता ही है। यह अनुभव आत्मख्याति ही है और आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार सब कथन निर्दोष है।'

किन्तु आचार्य जयसेन यहाँ भी अभेद रत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधिकालमे नौ पदार्थों-को अभूतार्थ कहते हैं। उसी परम समाधिकालमे नौ पदार्थोंमे शुद्ध निश्चयनयसे एक शुद्धात्मा ही प्रकाशित होता है, प्रतीत होता है अनुभूत होता है। वह अनुभूति प्रतीति शुद्ध आत्माकी उपलब्धि है वही निश्चय सम्यक्त्व है।

यह ध्यानमें रखना चाहिए कि कुन्दकुन्द और उनके व्याख्याकार अमृतचन्द्र केवल सम्यक्त्व सामान्यका स्वरूप कहते हैं। उसके साथ निश्चय या व्यवहार पद नही लगाते।

इन दोनो टीकाकारोके कथनोमे यहाँ जो अन्तर पड़ता है उसका समाधान ब्रह्मदेवकी परमात्मप्रकाश (२।१७) की टीकासे होता है। उसे आगे दिया जाता है—

'सम्यक्त्व दो प्रकारका है—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति जिसका लक्षण है वह सराग सम्यक्त्व है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। उसके विषयभूत परद्रव्य हैं। वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण निज शुद्धात्माकी अनुभूति है वह वीतराग चारित्रका अविनाभावी है। उसे ही निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ प्रभाकर भट्ट पूछते हैं—आपने

पहले अनेक बार कहा है कि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है। यहाँ आप वीतराग चारित्रके अविनाभावीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यह तो पूर्वापर विरोध है; क्योंकि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्थामे तीर्थंकर परमदेव आदि के होता है। किन्तु उनके वीतराग चारित्र नही है, अत. परस्पर विरोध है। इसका उत्तर देते हैं—उनके शुद्ध आत्मा उपादेय है ऐसी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व तो है किन्तु चारित्र मोहके उदयसे स्थिरता नही है। शुद्धात्मभावनासे च्युत होनेपर भी भरतादि निर्दोष परमात्मा अरहन्त सिद्धोका गुणस्तवन आदि करते है उनके चरित पुराण आदि सुनते हैं। उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओंको दान पूजा आदि करते हैं। अतः शुभरागके योगसे सराग सम्यग्दृष्टि कहाते हैं। उनके सम्यक्त्वको जो निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं वह परम्परासे वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वका कारण होनेसे कहते है। वास्तवसे तो वह सराग सम्यक्त्व नामक व्यवहार सम्यक्त्व ही है।'' द्रव्यसंग्रहकी टीकामे 'जीवादिसद्दहृण सम्मत्' का व्याख्यान करते हुए ब्रह्मदेवजीने कहा है—वीतराग प्रणीत शुद्ध जीवादि तत्त्वके विषयमे चल मलिन अवगाढ रहित रूपसे जो श्रद्धान अर्थात् रुचि है, निश्चय अर्थात् यही है और इसी प्रकार है इसी प्रकारकी निश्चय बुद्धि है वह सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन अभेदनयसे आत्मस्वरूप है—आत्माका परिणाम है।'

प० राजमल्लने अपनी पञ्चाध्यायी अमृतचन्द्रजीकी टीकाओके आधारपर ही बनाई है और इसीसे उसे अमृतचन्द्रकी रचना भी समझ लिया गया था। उसके उत्तरार्द्धमे सम्यक्त्वका बडा विशद पाण्डित्यपूर्ण वर्णन है। वह सम्यक्त्वको स्वानुभूतिमूलक ही मानते है। अमृतचन्द्रजी भी यही कहते हैं। आत्माका परिणामरूप सम्यग्दर्शन द्रव्यान्तरसे भिन्न आत्माकी झलकके विना कैसे हो सकता है ?

जयसेनाचार्यने भी गाथा ३२० की अपनी टीकामे इसे स्वीकार किया है। लिखा है—

'जब कालादि लब्धिवश भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षणरूप निज परमात्म द्रव्यके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुचरण पर्यायसे परिणमन करता है। इस परिणमनको आगम भाषामे औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव कहते है। अध्यात्मकी भाषामे शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि कहते है।' जयसेनाचार्यके अनुसार चतुर्थ गुणस्थानमे भी शुद्धोपयोग होता है, किन्तु उस शुद्धोपयोगका अर्थ शुद्ध उपयोग न होकर शुद्धकी ओर उपयोग होता है। शुद्धकी ओर उपयोग शुद्धनयका अवलम्बन लिए विना नही हो सकता; क्योकि व्यवहारनयसे तो आत्माके रिले मिले अशुद्ध स्वरूपका ही दर्शन होता है। इसीसे आगे समयसारमे शुद्धनयका लक्षण कहा है। जो आत्माको द्रव्यकर्म नोकर्मसे अस्पृष्ट, नर नारक आदि पर्यायोमे एकरूप, अवस्थित, भेदरहित, असयुक्त देखता है वह शुद्धनय है। इस शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी श्रद्धाके बिना सम्यक्त्व नही हो सकता। कुछ विद्वानोको भी यह भ्रम है कि शुद्ध आत्माकी श्रद्धा मुनिको ही होती है। किन्तु यह ठीक नही है।

समयसारके निर्जराधिकारमे सम्यग्दृष्टीका विशेष वर्णन है। गाथा १९३ मे उसके उपभोगको निर्जराका कारण कहा है। इसकी टीकामे अमृतचन्द्रजीने कहा है—

'विरागीका उपभोग निर्जराके लिए होता है। और मिथ्यादृष्टिके रागादि भावोके सद्भावसे चेतन अचेतन द्रव्यका उपभोग बन्धके निमित्त ही होता है।'

यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके विपक्षमे मिथ्यादृष्टिका निर्देश है। जयसेनने भी ऐसा ही अर्थ किया है--मिथ्यादृष्टि जीवके राग द्वेष मोहका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे समस्त भोग भी निर्जराका कारण होता है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है--राग द्वेष मोहके अभाव होनेपर निर्जराका कारण कहा है। सम्यग्दृष्टिके तो रागादि है तब निर्जराका कारण कैसे है ? इसका उत्तर देते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं 'इस ग्रन्थमे वास्तविक रूपमे वीतराग सम्यग्दृष्टिका ग्रहण है जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि है उसका गौणरूपसे ग्रहण है। मिथ्यादृष्टिसे असंयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न रागादि नही है। श्रावकके अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ जनित रागादि नही है। तथा सम्यग्दृष्टिके संवरपूर्वक निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टिके बन्धपूर्वक निर्जरा होती है। इस कारणसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अबन्धक है।'

गाथा १७३-१७६ की टीकामें भी जयसेनाचार्यने विस्तारसे उक्त बातको कहा है।

भाषा टीकाकार जयचन्दजीने लिखा है कि यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धीका राग प्रधान है। मिथ्यात्वके बिना चारित्रमोहसम्बन्धी उदयके परिणामको यहाँ राग नही कहा। इसलिए अमृतचन्द्रजीने सम्यग्दृष्टिके ज्ञान वैराग्य शक्तिका अवश्य होना कहा है। अमृतचन्द्रजीके कथनको दृष्टिमे रखते हुए प० जयचन्दजीका कथन सम्यक् प्रतीत होता है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्दने भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको ही भ्रष्ट कहा है। समयसार भी उसीकी पुष्टि करता है।

गाथा ७ मे जो ज्ञानीके दर्शन ज्ञान चारित्रका निषेध करके उसे शुद्ध ज्ञायक कहा है उससे ज्ञानकी प्रधानताका सूत्रपात होता है। और वह पूरे समयसारमे अनुस्यूत होता हुआ अन्तिम सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमे ही समाप्त होता है। समयसारका ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है उसका श्रावक या मुनि होना आवश्यक नही है। यद्यपि वही व्रतादि धारण करके श्रावक और मुनि होता है। गा० १५१-१५३ इसपर प्रकाश डालती हैं। गाथा १५१ में कहा है परमार्थ अथवा आत्मा समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है। उसमें स्थित मुनि निर्वाण प्राप्त करते है, किन्तु जो परमार्थभूत आत्माके ज्ञानसे शून्य है और तप व्रत करते है उन्हे सर्वज्ञ बालतप बालव्रत कहते हैं।

आगे कहा है--जो परमार्थसे बाह्य है वे अज्ञानवश पुण्यकी इच्छा करते है। यद्यपि पुण्य संसारका कारण है, किन्तु वे मोक्षका कारण जो आत्मा है उसे नही जानते। अमृतचन्द्रजीने अपनी टीकामे इसे खूब स्पष्ट किया है।

समयसारकी गाथाओमे निबद्ध अध्यात्मके रहस्यके खोलनेका श्रेय अमृतचन्द्रजीको ही है। उन्होंने जो कुछ प्रतिफलित किया है उसीके आधार पर किया है। कर्ताकर्माधिकार समयसारका सारभूत है। जो आत्माको पौद्गलिक कर्मोका कर्त्ता और भोक्ता मानते है वे मिथ्यादृष्टि हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता भोक्ता नही हो सकता। अमृतचन्द्रजीने अपने 'व्याप्यव्यापकता' आदि कलशके द्वारा उसे खूब प्रस्पष्ट किया है। यह कलश गाथा ७५ की टीकामे है जिसमें ज्ञानीका स्वरूप कहा है।

जीव और पुद्गलके परिणामोंमे परस्परमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमात्र है तथापि कर्ता कर्म भाव नही है।

इस प्रकरणमें आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चयनय और व्यवहारनयके पक्षोंको स्पष्ट करके कहा है कि समयसार पक्षातिक्रान्त है। इस गाथा १४२ को स्पष्ट करनेके लिए अमृतचन्द्रजीने जो कलश रचे हैं उनमें अमृत भर दिया है। व्यवहार या निश्चयका पक्ष लेकर व्यर्थ ही परस्परमें झगड़ते है। दोनों समकक्ष नहीं हो सकते। व्यवहार असत्यार्थ है, किन्तु सर्वथा असत्यार्थ नही है। जीवाजीवाधिकारमें इसे स्पष्ट किया है। किन्तु जैसे व्यवहार हेय है वैसे शुद्धनय हेय नहीं है यद्यपि अन्तमे वह भी छूट जाता है। अमृतचन्द्रजीने कहा है—

'इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बन्ध एव हि ॥'

'यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय हेय नही है, क्योंकि शुद्धनयमें स्थित रहनेसे कर्मबन्ध नही होता। किन्तु उसे छोड़ देनेसे बन्ध अवश्य होता है।'

निर्जराधिकारमें अमृतचन्द्रजीने अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर अबन्धक माननेवालोंको कलश १३७ द्वारा अच्छी फटकार दी है—इसी निर्जराधिकारमे आचार्य कुन्कुन्दने गाथा २०१-२०२ मे कहा है—'जिस जीवके रागादिका लेशमात्र भी पाया जाता है वह सर्व आगमोका ज्ञाता होने पर भी आत्माको नही जानता। आत्माको नही जानते हुए वह अनात्माको भी नही जानता। इस तरह जो जीव-अजीवको नही जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

इसकी टीकामे अमृतचन्द्रजीने रागादिका अर्थ अज्ञानमय भाव किया है। उसीको लेकर प० जयचन्द्रजीने अपनी टीकामे जो भावार्थ दिया है उसे नीचे उद्धृत करते है—

'यहाँ राग कहनेसे अज्ञानमय राग द्वेष मोह भाव लिये गये है। उसमे भी अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादि समझना। मिथ्यात्वके बिना चारित्र मोहके उदयका राग' नही लेना। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके चारित्रमोहके उदय-सम्बन्धी राग है। वह ज्ञानसहित है, उसको रोगके समान जानता है, उस राग के साथ राग नही है, कर्मोदयसे जो राग हुआ है उसे मेटना चाहता है। और जो रागका लेशमात्र उसके नही कहा, सो ज्ञानीके अशुभ राग तो अत्यन्त गौण है, परन्तु शुभराग होता है। उस शुभ रागको अच्छा समझ लेशमात्र भी उस रागसे राग करे तो सर्वशास्त्र भी पढ लिये, मुनि भी होकर व्यवहारचारित्र भी पाले तो भी ऐसा समझना चाहिए कि उसने अपने आत्माका परमार्थस्वरूप नही जाना, कर्मोदयजनित भावको ही अच्छा समझा है उसीसे अपना मोक्ष होना मानता है। ऐसा माननेसे अज्ञानी है अपने और परके परमार्थ रूपको नही जाना। तब, जीव अजीव पदार्थका ही परमार्थ स्वरूप नही जाना और जब जीव अजीवको ही नही जाना तब कैसा सम्यग्दृष्टि।''

जयसेनाचार्यने तो अपनी टीकामे पूर्वोक्त कथन ही दोहराया है कि इस ग्रन्थमे पञ्चम गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियोका मुख्य रूपसे ग्रहण है। आदि।

इसी निर्जराधिकारमे कहा है कि ज्ञानी आगामी भोगोकी इच्छा नही करता। इसी प्रसगको लेकर अमृतचन्द्रजीने कलश १५३ मे कहा है कि जो फलकी इच्छा न करके कर्म करता है वह कर्म नही करता। उनके इस कथनमे गीताके 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की झलक दृष्टिगोचर होती है। किन्तु है दोनोमे बहुत अन्तर। गीताधर्मके अनुसार तो कर्मका फल भगवान्के हाथमे है इसलिये कर्तासे फलकी इच्छा न करनेको कहा जाता है। किन्तु जैनधर्ममे

ऐसा नहीं है। ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टि ज्ञानी फलकी इच्छाको भी फल प्राप्तिमें बाधा मानकर फलकी इच्छा नहीं करता। इच्छा करनेसे बन्ध है और न करनेसे निर्जरा है।

पुण्यपापाधिकारमें कलश १०९ में अमृतचन्द्र कहते हैं कि मोक्षार्थीको समस्त कर्म ही त्याज्य हैं तब पुण्य और पापकी बात क्या है अर्थात् पाप कर्मकी तरह पुण्य कर्म भी त्याज्य हैं।

इस परसे यह शंका उत्पन्न होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके जब तक कर्मका उदय रहता है तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है? इस परसे अमृतचन्द्र जी ने आगेके कलश के द्वारा ज्ञान और कर्मके एक साथ रहनेके सम्बन्धमें कहा है—

'जब तब कर्मका उदय है और ज्ञानकी सम्यक् कर्म विरति नहीं है तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी कहा है। इसमे कुछ भी हानि नहीं है। किन्तु यहाँ भी विशेषता यह है कि कर्मके उदयकी बलवत्तासे आत्माके वशके विना जो कर्म उदयमे आता है वह तो बन्धके ही लिये है और मोक्षके लिये तो एक परम ज्ञान ही है।'

आगे वे कर्म और ज्ञानका नय विभाग दिखलाते हुए कहते हैं—जो कर्मनयके अवलम्बनमे तत्पर हैं अर्थात् उसीके पक्षपाती हैं वे भी डूबते है। और जो ज्ञानको तो जानते नहीं किन्तु ज्ञाननयके पक्षपाती हैं और क्रियाकाण्डको छोड़ स्वच्छन्द हो अपने स्वरूपमे उद्यम करनेमे मन्द हैं वे भी डूबते है। किन्तु जो स्वय ज्ञानरूप हुए कर्मको भी नहीं करते और प्रमादके वश भी नहीं होते वे सब लोकके ऊपर तैरते हैं।

यहाँ कर्मनय और ज्ञाननयका विभाग और दोनोंका समीकरण अमृतचन्द्र जीकी अपूर्व देन है। मुमुक्षुमे ये दोनो धाराएँ चलती हैं। मुमुक्षु व्रतादि भी पालता है, नित्य कृत्य करता है किन्तु अन्तरात्मामे संलग्न रहता है, न प्रमादी होता है और न व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्रके क्रियाकाण्ड को निरर्थक जान छोड देता है। तथा न ज्ञान स्वरूप आत्माको जाने विना व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्रके क्रियाकाण्डको ही मोक्षका कारण जान उसमे ही लगा रहता है। ऐसी स्थिति ही मोक्षकी ओर जानेमे सहायक होती है।

कर्ता कर्म अधिकारकी गाथा १४४ मे कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—यह जो सर्वनय पक्षोसे रहित समयसार है, यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसकी टीकामे अमृतचन्द्र जी इसे स्पष्ट करते हुए कहते है—

'प्रथम ही श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करो। पीछे आत्माकी ख्यातिके लिये परपदार्थोकी ख्यातिके कारण सब इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानोंको तिरस्कृत करके मतिज्ञानको 'आत्माभिमुख' करो। तथा नाना प्रकारके नयपक्षोंके अवलम्बनसे उत्पन्न विकल्पो के द्वारा व्याकुल श्रुतज्ञान बुद्धि को भी तिरस्कृत करके श्रुतज्ञानको भी आत्माभिमुख करो तब अत्यन्त निर्विकल्प होकर विज्ञानघन परमात्मस्वरूप समयसारका ही अनुभव करते हुए आत्मा सम्यक् प्रकारसे देखा जाना जाता है। अतः वही सम्यग्दर्शन है।

इसीसे आगे कर्त्ता कर्म अधिकारको समाप्त करते हुए करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रियामे भेद कहा है—जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दृष्टिके पर द्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तत्वका अभिप्राय नहीं है। उसकी स्थिति उस सेवकके जैसी है जो स्वामित्वके अभावमें व्यापार करता हुआ भी उसके हानि-लाभका जिम्मेदार नहीं है। यही स्थिति ज्ञानीकी होती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि ही होता है और

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही होता है। इसीसे सम्यग्दर्शनके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। तथा भेद ज्ञानके विना सम्यग्दर्शन नही होता। और भेद ज्ञानके लिए वस्तु स्वरूपका सांगोपाग ज्ञान होना आवश्यक है। चारित्र धारण करनेसे वस्तु तत्त्वका ज्ञान नही होता। हाँ, उम ज्ञान जन्य आत्मस्थितिमें दृढता और स्थिरता आती है। किन्तु यदि वह नहीं है तो आत्मश्रद्धा ही नही है अतः समयसार सम्यक्त्व प्राप्त करने की कुंजी है।

अमृतचन्द्र जी के ग्रन्थरत्न

अमृतचन्द्रजीके दो ग्रन्थरत्न सर्वप्रसिद्ध है—तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

१. तत्त्वार्थसार

जैसा इसके नामसे प्रकट है यह तत्त्वार्थसूत्रका साररूप है। इसे अमृतचन्द्रजीने संस्कृतके अनुष्टुप छन्दमे रचा है।

इसमे आठ अधिकार है। प्रथम अधिकारमे तत्त्वार्थसूत्रके अनुमार मोक्षका मार्ग, सात तत्त्वार्थ, निक्षेप, प्रमाण और नयोका वर्णन है। दूसरे अधिकारमे औपशमिक आदि पाच भावोका वर्णन करके जीवका वर्णन करते हुए चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, छह पर्याप्तिया, दस प्राण, चौदह मार्गणाका भी कथन है जो तत्त्वार्थसूत्रमे नही है। इन्द्रियोका वर्णन करते हुए इन्द्रियोंके आकार, पृथिवीकायिक आदि जीवोका आकार, उनके भेद, योगके पन्द्रह भेद, आदिका कथन है तथा चौरासी लाख योनि, उनके कुल, तिर्यञ्चो और मनुष्योकी उत्कृष्ट आयु, नारकियो और देवोंकी आयु, शरीरको ऊचाई, तिर्यञ्चोकी अवगाहना, नरकमे जानेवाले जीव, नरकोसे निकले जीव, आदि बहुत वर्णन है जो तत्त्वार्थसूत्रकी टीका तत्त्वार्थवार्तिकमे है। तत्त्वार्थसूत्रके तीसरे चौथे अध्यायका वर्णन भी इसी अधिकारमे है। अन्तमे कहा है जो अन्य छह तत्त्वोके साथ जीव तत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है और उपेक्षा करके चारित्र धारण करता है वह निर्वाणको प्राप्त करता है।

तीसरे अधिकारमें तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अधिकारकी तरह अजीवतत्त्वका वर्णन है। चतुर्थ अधिकारमे आस्रव तत्त्वका वर्णन है। इसमे तत्त्वार्थके छठे और सातवें अध्याय समाविष्ट है। पाँच व्रतो और उनके अतिचारोका वर्णन इसी अधिकारमे किया है। पञ्चम अधिकारमे बन्धतत्त्वका, छठेमे संवरतत्त्वका, सातवेंमे निर्जरातत्त्वका और आठवेंमें मोक्षतत्त्वका वर्णन है। इसमे भी तत्त्वार्थसूत्रसे विशेष कथन है। अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका विशेष प्रभाव है। उसके अन्तमे उद्धृत कारिकाओमे से कोई कोई मूलमे सम्मिलत कर ली गई हैं।

उपसहारमे निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका कथन करते हुए दोनोमे साध्य साधनभत्व बतलाया है।

व्यवहारी मुनि और निश्चयमुनिका स्वरूप कहा है, अन्तमे कहा है—पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप है। और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा एक अद्वितीय ज्ञाता आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

२. पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अमृतचन्द्रजीका दूसरा ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक है। यह एक श्रावकाचार है, किन्तु इसे नाम दिया है—

पुरुषार्थ और मोक्षकी सिद्धिका उपाय। इसमें श्रावकधर्मके व्यावहारिक रूपका ही कथन है। किन्तु उसके प्रारम्भमें जो कथन है वह आचारशास्त्रकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रारम्भमें भी केवलज्ञान ज्योतिको और अनेकान्तको नमस्कार करके परमागमका आलोचन करके पुरुषार्थसिद्धयुपायको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। फिर कहा है—मुख्य कथन और उपचार कथनसे जिन्होंने शिष्योंके अज्ञानको दूर करनेवाले तथा निश्चय और व्यवहारके ज्ञाता ही जगतमे धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हैं। मुनीश्वर अनजानको समझानेके लिये ही अभूतार्थ व्यवहारका कथन करते हैं। जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेश का पात्र नहीं है। जैसे जिसने सिंह नहीं देखा उसे बिलावके समान सिंह होता है यह कहने पर बिलावको सिंह मान बैठता है वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है जो व्यवहार और निश्चयको जानकर तत्त्वरूपसे निष्पत्र रहता है वही उपदेशका सम्पूर्णफल प्राप्त करता है।

इतना आवश्यक कथन करनेके पश्चात् वे पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामकी ओर आते हैं। कहते हैं—

यह पुरुष चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श रस गन्ध वर्णसे रहित है, अपने गुणपर्यायसे सहित है और उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है। यह पुरुष नित्य होते हुए भी परिणमनशील है तथा अपने परिणामोंका कर्ता भोक्ता है। जब वह समस्त विभावपर्यायोंसे रहित होकर अचल चैतन्यको प्राप्त होता है तब वह सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धिको पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

इसके पश्चात् जीव कर्मसे कैसे बद्ध होता है यह कथन है। कहा है—जीवके द्वारा किये गये रागादिरूप परिणामोका निमित्त पाकर अन्य पुद्गल स्वय ही कर्मरूपमे परिणत हो जाते है। और जीव स्वय ही अपने परिणामोको करता है उसमे पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होते है। इस प्रकार यह जीव कर्मकृत भावोंसे असमाहित होते हुए भी अज्ञानी जनोंको तद्रूप प्रतिभासित होता है। यह प्रतिभास ही ससारका बीज है। इस विपरीत अभिनिवेशको दूर करके और अपने आत्मस्वरूपका भले प्रकार निश्चय करके उससे विचलित न होना ही पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है।

श्रावकाचारके प्रारम्भमे इस प्रकार आधारभूत लिखनेसे ग्रन्थकारका यह अभिप्राय घोषित होता है कि तत्त्वोकी श्रद्धामे जीव और कर्मके सम्बन्धकी यथार्थ स्थितिका बोध आवश्यक है। प्रायः सभीकी यह परम्परागत धारणा है कि कर्म ही जीवको बाँधे हुए हैं जीव ही पुद्गलोको कर्मरूप परिणमाता है। यही सब मिथ्या अभिनिवेश है। उसे दूर करके आत्मतत्त्व विनिश्चय करनेसे ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हुए अहिसाका वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो अन्यत्र नही पाया जाता। एक बात विशेष है पाँच अणुव्रतोंका कथन करनेके पश्चात् रात्रि भोजन त्यागका वर्णन है। अन्य श्रावकाचारोमे अहिसाणुव्रतके अन्तर्गत ही इसका वर्णन पाया जाता है।

दूसरी विशेषता यह है व्रत और शीलोके अतिचारोका वर्णन करनेके पश्चात् बारह तप, छह आवश्यक समिति' दस धर्म, बाईस परीषहजय, जो मुनि आचारमे आते हैं उनका भी यथाशक्ति सेवन करनेका उपदेश श्रावकोंके लिये दिया है।

अन्तमें कहा है कि मोक्षके इच्छुक गृहस्थको एकदेश रत्नत्रय भी प्रतिसमय पालन करना

चाहिए। किन्तु एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो कर्मबन्ध होता है वह विपक्षी रागकृत है रत्नत्रयकृत नहीं है, क्योंकि जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नहीं होता। आगे इसी का समर्थन करते हुए लिखा है—

'रत्नत्रयमेतत् हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।'

अर्थ—यह रत्नत्रय मोक्षका ही कारण है बन्धका कारण नहीं है। इसका पालन करते हुए जो पुण्य कर्मका आस्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है।

जैसे समयसारमें ज्ञाननय और कर्मनयकी धारामें ज्ञाननयसे मोक्ष और कर्मनयसे बन्ध कहा है उसी प्रकार यहाँ पर भी अशकल्पनाके द्वारा जितने अंशमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है उतने अंशमे बन्ध नहीं है और जितने अंशमे राग है उतने अंशमे बन्ध कहा है।

इस प्रकार अमृतचन्द्रजीका यह श्रावकाचार भी यथार्थमें पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है। इसमें जो विशेषताएँ वे अन्य श्रावकाचारोंमे नही है।

लघुतत्त्वस्फोट

लघुतत्त्वस्फोट नामका एक नवीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी प्रकाशमे आया है। इसकी प्राप्ति भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण वर्ष के शुभ अवसर पर अहमदाबादके एक श्वेताम्बर भण्डारसे श्वेताम्बर मुनि पुण्यविजयजीको हुई थी। उनसे ही कैलीफोर्निया विश्वविद्यालयमें बौद्ध शिक्षण के प्राध्यापक पद्मनाभ जैनको प्राप्त हुई। वह इसका अंग्रेजीमें अनुवाद करना चाहते थे। उन्हींसे कारजा गुरुकुलके सचालक ब्र० पं० माणिकचन्द्रजी चवरेको प्राप्त हुई। उसका हिन्दीमें अनुवाद डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने किया। उसका वाचन प० पन्नालालजी, प० दरबारीलालजी कोठिया, प० माणिकचन्दजी चवरे और मेरी उपस्थितिमे सबने मिलकर किया। उसीके आधार पर प्रो० पद्मनाभ जैनने अंग्रेजी अनुवाद किया जो लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबादसे मार्च ७८ मे प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थसे भी अमृतचन्द्रजीके सम्बन्धमे कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसकी अन्तिम सन्धिमे अमृतचन्द्र सूरि नाम आता है। तथा समाप्तिके पश्चात् प्रथम पद्यमें अमृतचन्द्र कवीन्द्र नाम आता है। यहाँ कवीन्द्र विशेषण नवीन है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। यो तो समयसार कलशके पद्योंकी रचनामें उनके कवीन्द्रत्वकी स्पष्ट झलक मिलती है किन्तु लघुतत्वस्फोटकी रचना तो उनके कवीन्द्रत्वको उजागर करती है। जैनदर्शन और अध्यात्मसे ओतप्रोत यह स्तुतिकाव्य कमसे कम जैन वाङ्मयमे तो अतुलनीय है। इसके श्रुतिमधुर किन्तु गहन अध्यात्मसे परिपूर्ण पद्योंमे एक काव्यके सभी गुण परिपूर्ण है। भाषा, भाव, छन्द, अलकार सभी पर कविका असाधारण अधिकार है जैसा कि आगेकी चर्चासे प्रकट होगा। इसमें दो पद्य ऐसे है जो समयसार कलशमे भी पाये जाते है। अतः कुन्दकुन्दके टीकाकार अमृतचन्द्रकी ही रचना होनेमे कोइ सन्देह नही है।

ग्रन्थ नाम

इस ग्रन्थका नाम लघुतत्त्वस्फोट है तथा दूसरा नाम शक्तिम (भ) णित कोश है। इसकी अन्तिम सन्धिमे कहा है—

इत्यमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः शक्तिम (भ) णितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोट· समाप्तः ।

इस सन्धिमें शक्तिगणितकोश और लघुतत्त्वस्फोटके बीचमें नाम शब्द पड़ा है। इसका अर्थ होता है शक्तिमणितकोश नामक लघुतत्त्वस्फोट समाप्त हुआ। यह नाम अन्तिम पद्यमे भी आया है—

'आस्वादयत्वमृतचन्द्र कवीन्द्र एष
हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्तेः'

मूल प्रतिमे मणित पाठ है। जिसका अर्थ मणियोंसे जडा हुआ होता है और भणितका अर्थ कहा हुआ होता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायका अन्तिम सन्धि वाक्य है—

'इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोशः समाप्त ।

इसमे भी मूल नाम प्रथम है अपर नाम बादमे है। यहाँ नामके साथ अपर शब्द छूट गया है यह भी सम्भव है। अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपायके आरम्भमे ही इस नामका अर्थ किया है जैसे यहाँ अन्तमे किया है। अतः हमे तो ग्रन्थका नाम शक्तिमणितकोश हो प्रतीत होता है। लघुतत्त्वस्फोट दूसरा नाम हो सकता है जिसका अर्थ होता है थोडेमे या शीघ्र तत्त्वका स्फोट-स्फुटन जिससे होता है। इसकी झलक अन्तिम पद्यके 'व्युत्पतिमाप्तुमनसा दिगसौ शिशूनाम्' अशमें मिलती ही है। किन्तु तीसरी स्तुतिके अन्तिम पद्यमें भी मिलती है—

'देव स्फुट स्वयमिमं ममचित्तकोशं प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव ।'

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थमे पच्चीस-पच्चीस पद्योंकी पच्चीस स्तुतियाँ है। यह ग्रन्थ आचार्य समन्तभद्रके वृहत्स्वयभूस्तोत्रकी तरह स्तुति ग्रन्थ है। बृ० स्व० स्तो०मे भी विभिन्न छन्दों मे चौबीस तीर्थंकरो की चौबीस स्तुतियाँ है जिनमे साधारणतया पाँच-पाँच पद्य है, किन्ही मे कुछ अधिक है। विषय विशेषरूपसे दार्शनिक है, गुणवर्णन रूप भी है, स्तुति परक तो है ही। किन्तु यहाँ प्रथम स्तुतिमे तो चौबीसो तीर्थंकरोकी स्तुति है, किन्तु आगे किसी भी तीर्थंकरका निर्देश नही है। मुख्यरूपसे ज्ञानज्योति, और अनेकान्तकी सरणिको लेकर ही विवेचन है। फिर भी कही-कही स्वयंभूस्तोत्रका आभास प्रतीत होता है। बृ० स्व० स्तोत्रका प्रारम्भ ही स्वयभुवा शब्दसे होता है इसीसे उसका नाम स्वयंभूस्तोत्र प्रसिद्ध हुआ। यहाँ भी 'स्वायभुवं मह' पदसे प्रथम स्तुति प्रारम्भ होती है।

आचार्य समन्तभद्रने कुन्थुजिनके स्तवनमे बाह्य तपको आध्यात्मिक तपमे वृद्धि करनेवाला कहा है। इस ग्रन्थके १३०वें पद्यमे भी तपको अध्यात्म विशुद्धिको बढानेवाला कहा है। शीतलनाथ-की स्तुतिमे समन्तभद्रने कहा है अन्य तपस्वी सन्तान, धन, परलोक आदिकी तृष्णावश कर्म करते है किन्तु आप पुनर्जन्म, जरासे बचनेके लिये मन वचन कायकी प्रवृत्तिका वारण करते है। लघु०मे भी १६१वें पद्यमे कहा है कि आपने रागरूपी दुष्ट रोगोका शोषण करके एक ज्ञान स्वभावमें लीनताको प्राप्त किया है। किन्तु रागरूपी ज्वरको अपनानेकी लालसा रखनेवाले अन्य देव विष तुल्य विषयोंको अपनाते है। युक्त्यनुशासनमें समन्तभद्र जिनमतको अन्य वादियोंके द्वारा अधृष्य कहते हैं। यहाँ भी ८वें स्तवनके २२वें पद्यमे ऐसा ही कहा है—

अघृष्यमन्यैर्निखिलैः प्रवादिभिः—युक्त्य० ६ श्लोक
जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।
परैरधृष्यं जिन शासनं ते—लघु० ८।२२ ।

जिस प्रकार समन्तभद्रकी रचनाओंमें स्याद्वाद और अनेकान्तवादकी छटा छाई हुई है। अमृतचन्द्रजीके इस ग्रन्थमें भी वही स्थिति है, किन्तु एक दार्शनिकमें और आध्यात्मिकमें जो अन्तर हो सकता है वही अन्तर है। समन्तभद्रका अनेकान्तवाद वस्तुपरक है और अमृतचन्द्रका आत्मपरक।

समन्तभद्र भगवान् ऋषभदेवको स्वयंभू कहते हैं किन्तु अमृतचन्द्र कहते हैं—मैं उस स्वायंभुव—स्वयं होनेवाले आत्मसम्बन्धी ज्ञान ज्योतिकी स्तुति करता हूँ जिससे आदिदेव भगवान् स्वयंभू हुए। समन्तभद्र स्वयंभूको स्पष्ट नही करते। किन्तु अमृतचन्द्र लिखते है :

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं
स्वास्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः।

'आप, अपने आपमे, अपने आपके लिये, अपने आपमे, अपने आपको, अपने आपके द्वारा देख रहे है।

लघु०के १७वी स्तुतिमे आत्मामे अनेकान्तवादका विवेचन है। अस्तिका विवेचन करते हुए कहा है—

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टाऽसौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।
चित्तत्त्व विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्त वदति परात्मना निषिद्धम् ॥८॥

अर्थ—सब ओरसे 'अस्ति' इस प्रकारका विकल्प स्फुरित होनेपर अपने आप प्रकट हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ इस चित् तत्त्वको स्वस्वरूपसे कहती है वहीपर परस्वरूपसे नास्ति रूप भी कहती है इसी प्रकार सब भंगोंका कथन किया है।

१८वी स्तुतिमे भी अनेकान्तवादका विवेचन करते हुए कर्त्ता और कर्मके भेदाभेदका कथन किया है :

जातं जात कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं जन्य कार्यनया स्व परिणामम्।
सर्वोऽपि त्व कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भाव कारणकार्याविषयोऽपि ॥१७॥

कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ प्रत्येक पदार्थ कारणरूपसे अपने ही परिणामको लेकर उत्पन्न हुआ है अतः आप कारण भी है और कार्य भी हैं। किन्तु शुद्धभाव कारण और कार्यका अविषय है।

यह सब अध्यात्मविषयक चर्चा दर्शनशास्त्रमे नही है। अत ये स्तुतियाँ दार्शनिक विवेचनसे ओत-प्रोत होते हुए भी आध्यात्मिक है। अध्यात्म और दर्शनका समन्वय इनमे हैं।

स्वयंभूस्तोत्रमे आचार्य समन्तभद्रने किसी-किसी स्तुतिके अन्तमें कामना व्यक्त की है, मुझे मोक्ष प्रदान करें या मेरे चित्तको पवित्र करें या आपको हम अमुक कारणोसे नमस्कार करते हैं। यथा—

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो ! जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्तां । ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः इस तरहकी प्रार्थना लघुतत्त्व०में कहीं भी नहीं है। प्रायः सर्वत्र सर्वज्ञरूपकी भावना है। यथा—पाँचवीं स्तुतिके अन्तमें—

नितान्तमिद्धेन तपो विशेषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा ।
यथैव मां त्वां सकलं चराचरं प्रधर्ष्य विश्वं ज्वलयन् ज्वलाम्यहम् ॥२५॥

हे प्रभो ! मुझे तेजके द्वारा इस प्रकार प्रज्वलित करो, जिस प्रकार मैं अपने आपको और समस्त चराचर विश्वको प्रज्वलित करता हुआ सब ओरसे प्रज्वलित होने लगूँ।

सबसे अन्तिम स्तुतिके अन्तमे कहा है—

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे ।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः
सम्यग् भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः ॥

उत्कृष्ट संयमके पालक मेरी ज्ञानरूपी अग्निमे यह पुटपाक घटित हो जिससे समस्त कषायरूपी अन्तरंग मलके गलनेसे जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है, ऐसी समस्त स्वभावरूप लक्ष्मियाँ अनुभूतिके मार्गमे पड़कर सम्यक्रूपसे सुशोभित हों।

उक्त उद्धरणोसे यह नही समझ लेना चाहिए कि इन स्तुतियोंमें संयमादिका कथन नहीं है। तीसरी स्तुतिमे गुणस्थानोकी श्रेणीमे प्रवेश करते हुए अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मकृष्टिरूप सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली आदि अवस्थाओका तथा उसमे होनेवाले केवलिसमुद्घातका भी वर्णन है। यह पूरी स्तुति इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें कहा है कि आपने अपनेको द्रव्यसंयममे लगाया।

इस प्रकारका कथन भी बृ० स्व० स्तो० में नहीं है। अतः यह स्तुतिग्रन्थ एक तरहसे बृ० स्व० स्तो० का पूरक है। जो इसमे है वह उसमे नही है। यह संभव है कि इसी दृष्टिसे अमृतचन्द्रने इसकी रचना की हो। वे जिनेन्द्रदेवके आन्तरिक गुणानुरागी हैं। समन्तभद्रकी तरह अमृतचन्द्र भी अनेकान्तके परम भक्त है। वे उसका उपयोग विशेषरूपसे आत्मतत्वकी व्यवस्थामे करते हैं। उसीके ज्ञानगुणको लेकर वे उसीमे मग्न हो जाते है। उसी परम ज्योतिने उन्हे मुग्ध किया है। यद्यपि समन्तभद्रजी सर्वज्ञ सिद्धिके द्वारा ही आप्तकी मीमासा करते है। किन्तु उनका सर्वज्ञ अनेकान्तमय वस्तु स्वरूपका प्रतिपादक होनेसे युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध वक्ता है।

प्रत्येक स्तुतिका सार

अब हम प्रत्येक स्तुतिका साराश यहाँ देते हैं। यह हम लिख चुके हैं कि प्रत्येक स्तुतिमे २५ पद्य है।

१ पहली स्तुतिकी रचना वसन्ततिलका छन्दमे है। इसके चौबीस पद्योमे चौबीस तीर्थंकरों के नाम आते हैं। अतः अन्तिम पद्यमे इसे जिन नामावली नाम दिया है। इस पद्यमे कहा है—

'जो भव्य जीव अमृतचन्द्र नामधारी चितके द्वारा पीत जिननामावलीको भाते है वे

निश्चयसे अनायास ही सकल विश्वको पी लेते हैं अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा वे कभी भी कर्म नोकर्मरूप पर द्रव्यके द्वारा नहीं पिये जाते अर्थात् कर्मबन्धनसे सदा अछूते रहते है।'

इस एक अन्तिम पद्यसे ही पाठक जान जायेंगे कि इस स्तुति ग्रन्थमे अमृतचन्द्रजीने स्तुतिके ब्याजसे अध्यात्मकी ही वर्षा की है, चित्‌रूपी चन्द्रसे अमृत बरसाया है।

एक वस्तुमें परस्परमे विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मोंकी स्थितिका नाम अनेकान्तवाद है। अतः अनेकान्तवादमें विरोधाभास नामक अलंकारका चमत्कार सहज सभाव्य है। इसीसे अमृत-चन्द्रजीकी इस रचनामे उसके दार्शनिक और आध्यात्मिक रूपके साथ उनके कवीन्द्रत्व रूपके भी दर्शनपद पदपर होते हैं। ऐसे कवीन्द्र शायद अमृतचन्द्रजी ही हैं।

अजितनाथका स्तवन करते हुए वे कहते है आप प्रमाता भी है, प्रमाण भी हैं, प्रमेय भी है और प्रमाणके फल भी है, फिर भी ज्ञेय ज्ञेय ही है और ज्ञाता ज्ञाता ही है, न ज्ञेय ज्ञानमय होता है और न ज्ञान ज्ञेयमय होता है। इसके 'चिच्चकायितचञ्चुरुच्चैः' पदमे समयसार कलशकी प्रतिध्वनि गूँजती है। इसी प्रकार भगवान् सुबुद्धि-सुमतिनाथके लिए प्रयुक्त 'कारकचक्रचर्चा-चित्रोऽप्यकबुंररसप्रसरः' पद उल्लेखनीय है जिसमे कहा है—आपका सहज प्रकाश षट्कारक समूहकी चर्चासे चित्ररूप होता हुआ भी अचित्रित-एकरूप सुशोभित हो रहा है। चन्द्रप्रभ भगवान् के लिए चितिचन्द्रिकौघः चैतन्यरूप चान्दनीका समूह कहा है।

प्रायः समस्त स्तुतियोमे अनेकान्तरूप विरोधाभासकी छटा है। धर्मनाथकी स्तुतिमे कहा है—आप सर्वात्मक हैं किन्तु परात्मक नही है। स्वात्मात्मक हैं किन्तु आपकी अपर आत्मा नही है।

२ दूसरी स्तुति भी वसन्ततिलका छन्दमे है। ये सब आगेकी स्तुतियां सामान्य है। किसी तीर्थंकर विशेषसे सम्बद्ध न होकर वे प्राय ज्ञानज्योतिसे सम्बद्ध हैं। इसका प्रारम्भ 'तेज'से होता है जो 'चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य' है। जो इस निर्विकल्प और सविकल्परूप दर्शन ज्ञान मात्र 'तेज'की श्रद्धा करते है वे विश्वको मानो स्पर्श करते हुए समस्त विश्वसे पृथक् परमात्म-अवस्थाको प्राप्त करते हैं।

आगे कहा है—आपका स्वभाव एक होते हुए भी विधिनिषेधमय है। वह स्वभाव 'अद्भुत चिदुद्गमचुञ्चु.' आश्चर्यकारक चैतन्य ज्योतिके उद्गमका स्थान है।

अमृतचन्द्रजीने प्रायः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिके लिए या एकान्तवादीके लिए 'पशु' शब्दका प्रयोग किया है। यथा आपके विषयमे सशय ही संभव नहीं है। यदि किसीके 'चिदुपप्लव' चैतन्यमे भ्रम होता है तो वह पशुके ही होता है।

दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोमे विपक्षीका निर्देश पशु शब्दसे मिलता है। सागारधर्मामृतमे मिथ्यात्व से ग्रस्त जीवोंको मनुष्य होते हुए भी पशुके तुल्य कहा है और सम्यग्दृष्टिको पशु होते हुए भी मनुष्यके तुल्य कहा है। उसी दृष्टिसे अमृतचन्द्रजीने भी पशु शब्दका प्रयोग एकान्तवादी मिथ्या-दृष्टिके लिए किया है।

पद्य १९ मे कहा है कि ज्ञानसे भिन्न अन्य फलको प्राप्त करनेके इच्छुक पशु-अज्ञानी विषयोकी इच्छा क्यो धारण करते हैं ? इन्द्रियोंको नियन्त्रित कर ज्ञानको ही क्यों नही धारण करते ?

पद्य २१ में कहा है—हे ईश ! आपमें कषायसे होनेवाला समस्त विकार नही है।

अन्तिम पद्यमे कहा है—नाना शक्तियोंके समुदायरूप यह आत्मा नयदृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः मैं खण्डरहित, किन्तु खण्डोंका सर्वथा निराकरण न करनेवाला एक अत्यन्त शान्त अचल चैतन्यस्वरूप तेज हूँ ॥२५॥

३ तीसरी स्तुति भी वसन्ततिलका छन्दमे है। यह स्तुति चारित्रप्रधान है।

प्रथम पद्यमे कहा है—मार्गावताररसनिर्भरभावित—मोक्षमार्गमे लगनेसे उत्पन्न हुए अलौकिक आनन्दरससे भरपूर आपका जो चित्‌विकास हुआ, हे प्रभो अद्‌भुत त्रिभूतिके प्यासे हमें उसका एक कण भी देनेकी कृपा करो।

२ हे भगवन् ज्ञानदर्शनमात्र महिमासे युक्त अपने आत्मामें मोहको दूरकर समस्त सावद्य-योगका परिहार कर स्वय आत्मरूप होते हुए सामायिकरूप हुए। भाव सयमके प्राप्त होते हुए भी परस्पर सापेक्ष द्रव्य-भावकी महिमामे बाधा न देते हुए आपने अपनेको प्रथम द्रव्यसयमके मार्गमे नियुक्त किया।

यहाँ भावसंयमपूर्वक द्रव्यसंयमकी प्रधानता बतलाई है। आगे कहा है कि आप शुद्धोपयोग की दृढ़भूमिको प्राप्तकर अन्तर्मुख हो गये तथा नाना प्रकारके तप करते हुए क्षयोपशमजन्य चारित्रकी शक्तियोंको आपने धारण किया। परीषह आनेपर भी आपका अन्त.करण कातर नही हुआ। बहुत भारी सयमका भार धारण करते हुए भी खिन्न नही हुए और दुर्जयकषायोको जीतने के लिए तत्पर रहे तथा ज्ञानरूपी अस्त्रको तीक्ष्ण करनेके लिए सदैव जाग्रत रहते हुए आपने श्रुत के समस्त विषयोका मनन किया। इस प्रकार तीव्र तपोंके द्वारा आत्मा और कर्ममे बहुत अन्तर करते हुए आपका विवेकपाक—भेदज्ञानका परिपाक ज्ञान और क्रियाके व्यतिकर द्वारा क्रमसे परम प्रकर्षको प्राप्त हुआ।

यह सब स्थिति छठे सातवें गुणस्थानकी है। उसके पश्चात् श्रेणीमे प्रवेश करते हुए अध-प्रवृत्तकरण हुआ, फिर अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मकृष्टि हुए। क्षीणकषायसे सयोगकेवली होकर लोकपूरण समुद्‌घात किया। फिर अयोगकेवली होकर सिद्ध हुए। यह सब वर्णन इस तीसरी स्तुतिमे है।

४ चतुर्थ स्तुतिमे जिनके ज्ञानरूप तेजको लेकर ही नमस्कार किया गया है। अमृतचन्द्रजीने अपनी टीकाओंमे आत्माको विज्ञानघन कहा है। यहाँ उसकी उपपत्ति देते हुए कहा है—यत. घट पट आदि पदार्थ बाह्यरूपताको धारण करते हुए भी आपमे ज्ञानरूपताको धारण करते है अर्थात् समस्त जगत् आपके ज्ञानका विषय है अत· आप अनन्तविज्ञानघन हैं, इसीसे न किसीसे मोह करते हैं, न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं ॥२२॥

५ पाँचवी स्तुति भी वंशस्थ छन्दमे है। इसका प्रारम्भ भी विरोधाभास अलकारसे होता है कि आप बढते नही, फिर भी सर्वोच्च हैं। नम्र न होते हुए भी अत्यन्त नम्र है आदि।

चौथे पद्यमे कहा है—अर्थसत्ता—महासत्ता आपसे भी बड़ी है, क्योंकि उसमे आप भी गर्भित है, किन्तु वह महासत्ता भी आपके ज्ञानमे समाई हुई है, यतः ऐसी कोई वस्तु नही है जो आपके ज्ञानका विषय नही है।

तीन सत्ताएँ है—अर्थ सत्ता, ज्ञान सत्ता और शब्द सत्ता। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ तीन रूपमे सत् है—अर्थ रूप, ज्ञान रूप और शब्द रूप। ज्ञानका विषय चराचर जगत् है किन्तु ज्ञान तदधीन नही है। न ज्ञान ज्ञेयमे जाता है न ज्ञेय ज्ञानमे आता है। दोनों स्वतन्त्र हैं फिर भी पदार्थ चिन्मय भासित होते हैं। इसी प्रकार शब्द सत्ता पुद्गल पर्यायरूप है तथापि उन शब्दोंकी वाचक शक्ति, आपके ज्ञानके एक कोनेमे पड़ी रहती है। इसी प्रसगमे बाह्य अर्थका अपलाप करनेवाले बौद्धोंका निराकरण किया गया है कि ज्ञानमे प्रतिबिम्बित प्रमाण-प्रमेयकी स्थिति बाह्य पदार्थोंका निषेध करनेमे समर्थ नही है।

आगे कहा है कि आप एक अनंश सहज सनातन सन्मात्रको देखते हैं। यहाँ निरंशमे अंश कल्पनाको लेकर स्तुति हैं जो प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी टीकामे चर्चित है, यह स्तुति द्रव्यके स्वरूप और उसमे अंश कल्पनाको लेकर की गई है।

६ छठी स्तुति भी वशंस्थमे है—

इसके प्रारम्भमे कहा है कि संसारका कारण क्रिया ही है, और आपने उसे क्रिया (सम्यक् चारित्र) के द्वारा ही नष्ट किया है, अन्तमे समस्त क्रिया कलापको आत्मोन्मुख करते हुए समाप्त किया है। उत्कट वैराग्य पूर्वक समस्त भोगोंको त्यागकर आपने अपने जीवनको तपरूपी अग्निमे होम दिया। अध्यात्मविशुद्धिको बढानेवाले तपोके द्वारा अतिप्रबल उदयाबलीको निर्जीर्ण कर दिया और इस प्रकार हे जिन आप सूक्ष्मकृष्टिके द्वारा रागको अत्यन्त सूक्ष्म करके क्षीणकषाय हो गये—बारहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए। अन्तमे समस्त कर्तृत्वसे उदासीन होते हुए आप सम्पूर्ण विज्ञानघन हो गये और अन्तमे सिद्धत्व पदको प्राप्तकर विशुद्ध ज्ञानमें लीन हो गये। यद्यपि आप एक चैतन्यधातुरूप है तथापि आपमे अनन्त वीर्यादि गुण है। हे भगवन् आप आत्मस्वरूपसे सुरिक्षित है, निराकुल है पर निरपेक्ष है। आपके स्वानुभवकी विषयभूत आनन्द परम्परा उल्लसित होती है।

अन्तमे स्तुतिकार कहते हैं—'हे भगवन् जैसे लोहके पिण्डमे आग बलात् प्रवेश कर जाती हैउसी प्रकार भावनाके द्वारा मेरेमे प्रवेश करके अभी भी मुझे चिन्मय नही करते, यह मेरी ही जड़ता है।'

७ सातवी स्तुति भी वशंस्थ छन्दमे है—

हे देव: इस अनन्त संसारमे परवश होकर मैंने अनन्तवार पंच परावर्तन किये है। अब मै आत्मगृहमे विश्राम करनेवाले आपके चैतन्यरूप अचलमे लगता हूँ।

हे भगवन्! आपके ज्ञानामृतका एक कण मेरे लिए आज औषधिकी मात्राके समान है।

हे प्रभो: निरन्तर ज्ञानरूपी रसायनका पान करते हुए और बहिरंग तथा अन्तरंग संयमका निर्दोष पालन करते हुए निश्चित ही मै स्वयं तुम्हारे समान हो जाऊँगा। ठीक ही है—संयमको ग्रहण करनेवालोके द्वारा क्या नही सिद्ध किया जा सकता।

इन स्तुतियोंमें अमृतचन्द्रजीने ज्ञानके साथ संयमका भी यथार्थ पक्ष लिया है। समयसारमे तो भेदज्ञानकी ही चर्चा होनेसे संयमका प्रसंग नही आया। अत. उससे यह नही मान लेना चाहिये कि अध्यात्ममे चरणानुयोग और करणानुयोगका कोई स्थान नही है। किन्तु वह सयम केवल क्रियाकाण्डरूप नही है यथा—

'समयसम्बन्धी सीमाके मार्गमें शुभ क्रियारत होते हुए भी आपने अन्य अशुभ क्रियाओंको नष्ट कर दिया। और एक चैतन्यमात्र आत्माके अवलम्बनसे समस्त कर्तृत्व भावको दूर कर दिया।' अर्थात् शुभ क्रिया करते हुए भी उसमे कर्तृत्व बुद्धि नही रही, यही अध्यात्मदृष्टि है।

इस स्तुतिमे भी अन्तमें केवलज्ञानरूपी ज्योतिके रूपमे भगवानका स्तवन करते हुए कहा है—

आप सब ओरसे चैतन्यके भारसे भरपूर हैं। जब कि बेचारा जगतका प्राणी एक क्षुद्र चैतन्यकणसे युक्त है। आपका अनुभवन या तो आप स्वयं कर सकते हैं या आपके अनुग्रहसे जो आगे बढ गया है वह कर सकता है।

८ आठवी स्तुति उपजाति छन्दमें है—

इसमे भी कषायोंको लेकर स्तवन किया गया है। यथा 'कषायका संचय बन्धका कारण होनेसे आप तत्त्वज्ञानीने कषायक्षयको ही मुक्तिका कारण कहा है।

एक होने पर भी कषायने जीवको अनेकरूप कर दिया है। प्रतिक्षण अपनी शक्तिका विकास करते हुए आपने कषायोके ऊपर एक ऐसा प्रहार किया कि सब कषायें नष्ट हो गईं। कषायोंका क्षय होते ही केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीका आपने वरण किया। और दूसरों पर अपने प्रभाव को प्रकट किया। यद्यपि आप ज्ञानपुज हो गये, किन्तु आयु कर्म शेष रहनेसे उसे भोगनेमे विवश थे। अत. आपने धर्म तीर्थका प्रवर्तन किया।

हे भगवन् आप तीर्थसे तीर्थकर होते हैं और तीर्थकरसे तीर्थ होता है इस प्रकारमे बीजाकुर के समान अनादि सन्तानरूपसे कार्य-कारणभाव है।

'आपने समस्त विश्वको जाना। किन्तु वचनमे इतनी शक्ति नही है कि सबको कह सके, अत' आप ज्ञानका अनन्तवा भाग ही कह सके।'

आगममे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमे अन्तर दिखाते हुए कहा है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥' गो० जी० गा०

'जो शब्दोंके द्वारा नही कहे जा सकते, ऐसे पदार्थोका अनन्तवां भाग शब्दोंके द्वारा कहे जाने योग्य है और उनका भी अनन्तवा भाग शास्त्रमे निबद्ध है।'

उसीको ऊपर कहा गया है।

हे भगवन् यह द्वयात्मक-विधिनिषेधात्मक—वस्तुस्वरूप आपके ही मुखसे उद्गत हुआ है। किन्तु उमका अर्थ उन्होने ही समझा जिनका आशय उभयपक्षके बोधसे शुद्ध हो गया था। विरोधी धर्मसे सापेक्ष होनेसे ही आपके शब्द विरुद्ध धर्मात्मक वस्तुको स्पर्श करते है। किन्तु स्याद्वादकी मुद्रासे रहित शब्द उसमे स्खलित हो जाते है।

इसप्रकार इस स्तुतिका अन्त स्याद्वादसे होता है। अन्तमे कहा है—

समतारूप सुखके स्वादको जाननेवाले मुनियोके लिये मुनि अवस्थाका महान् कष्टभार भी सुख है' जैसे दूधके स्वादको जाननेवाले बिलाव अति गर्म दूधको पीते हुए भी सुख मानता है। आपकी आत्मा केवलज्ञानसे सम्पन्न है, आप अनन्त वीर्यके अतिशयसे सम्पन्न है, आपने समस्त बाह्याभ्यन्तर मनको निःशेष कर दिया है, आपसे श्रेष्ठ आप्त कौन हो सकता है?

९ नौवी स्तुति भी उपजाति छन्द में है।

इसमे भी संयम और तपको लेकर स्तुति की गई है—'आपने परमार्थके विचारके सारको अपनाया, निर्भय होकर एकाकी रहनेकी प्रतिज्ञा की, अन्तरंग बहिरंग परिग्रहका त्याग किया और प्राणियोंपर दयाभाव किया' आपका पक्षपात रहित होते हुए भी समस्त प्राणियोंमे पक्षपात था। आतापन योग करते समय सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें आपके शरीरको जलाती थी, किन्तु आप कर्मफल-के परिपाककी भावनामें उन्हें अमृतके कणोंके समान मानते थे। रात्रिमे स्मशानमें जाकर शवासन से स्थित रहते हुए श्रृगालोने आपके सूखे शरीरको अपने दाँतोंसे काटा। बुद्धिमान् रोगी जैसे रोगको दूर करनेके लिये उपवास करता है वैसे ही आपने अनादि रागको दूर करनेके लिये एक मास अर्धमासके उपवास किये। इसप्रकार सम्पूर्ण आत्मबलसे संयमको धारण करके कषायके क्षय-से केवलज्ञानी हुए और मोक्षमार्गका उपदेश दिया।

आगे अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन करते हुए कहा है कि आपका उपयोग कभी नष्ट नही होता। अर्थात् ज्ञानदर्शन सदा उपयोगरूप रहते हैं। श्वेताम्बर ऐसा नही मानते। अन्तमे ग्रन्थ-कार कहते है—

मैं समस्त संसारमे भ्रमण करके खिन्न हो चुका हूँ, अब मैंने प्राणपणसे आपको अपनाया है। मेरे सब कुछ आप हो। अधिक विवाद से क्या ?

१० दसवी स्तुति भी उपजाति छन्दमे है—

इसके प्रारम्भमे ही कहा है कि मैं विशुद्ध विज्ञानघन आपकी एकमात्र शुद्धनयकी दृष्टिसे स्तुति करूँगा।

अर्थात् पूर्व स्तुतियोमे व्यवहार दृष्टि रही है क्योकि बाह्य क्रियाकलापोको लेकर भी स्तुति की गई थी, जो व्यवहार धर्मके रूपमे आवश्यक है।

शुद्धनयकी दृष्टिसे मतलब है दर्शन-ज्ञानमय चैतन्य स्वरूपको लेकर स्तवन। यथा—

हे भगवन् ! आपका यह चैतन्य शक्तिका विकासरूप हास्य सब ओर सुगन्ध फैला रहा है। सो किसी भाग्यशाली मनुष्यकी दृष्टि ही चैतन्यरूप मकरन्दके पानकी तृष्णासे इस ओर जाती है ॥१२॥

आप एक ज्ञायक स्वभावसे सहित हैं। स्वानुभूतिसे परिपूर्ण हैं। आपकी आभ्यन्तर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्य पिण्ड सहित है। अत आप नमककी डलीकी उपमाको प्राप्त हो रहे है ॥१३॥

यह उपमा समयसार कलश १४ मे भी आती है। यहाँ एक दूसरी उपमा प्रालेयपिण्ड—बर्फके डलाकी दी है। यथा—

विशुद्ध चैतन्यके पूरमे सब ओरसे डूबे हुए आप आत्मरससे अत्यन्त आर्द्र ही भासित होते है क्योकि वर्फका पिण्ड सब ओरसे घनरूप होते हुए भी सदा सब ओरसे आर्द्र ही भासित होता है ॥१४॥

सब क्रियायें कारकोसे मलिन ही होती हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति कर्त्ता आदि मूलक होती है। किन्तु आपका शुद्ध ज्ञान क्रियाकलापसे पराङ्मुख है, अतएव आप भामात्र ही भासित हो रहे हैं ॥१८॥

हे भगवन् ! आप अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त हुए अपने मे, अपने लिए अपनेसे अपनेको

स्वयं देखते हैं। अत: हे स्वामिन् आप द्रष्टा और द्रष्यके भेदसे रहित होकर स्थित हैं और इसलिए कारकोंसे रहित दर्शनरूप ही भासित होते है ॥१९॥

अन्तमें ग्रन्थकार अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

हे योगीश्वर ! मैं एक शुद्ध, निराकुल चिद्भावकी इस अखण्ड भावनाके द्वारा चिद्भाव-रूप ही होता हूं।

११ ग्यारहवीं स्तुति अनुष्टुप् छन्दमे है। इसमे मुख्य रूपसे दर्शन और ज्ञानको लेकर स्तवन किया गया है। यथा—

हे भगवन् ! आवका एक ही उपयोग साकार अनाकारके भेदसे ज्ञान और दर्शनके रूपमे दो रूप हो गया है ॥९॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उच्छेद हो जानेसे दोनो उपयोग सदा युगपत् रहते हैं ॥१०॥

उनका सहायक अनन्त वीर्य भी सदा रहता है। इस प्रकार आप पूर्ण ज्ञान-दर्शनसे युक्त हो सदा सुखी रहते हैं तथा सुखी रहते हुए भी प्रमादी नही होते। आपके दर्शन ज्ञान नश्वर नही है, क्योकि उनके लिए अन्य कर्त्ता आदि कारकोंकी अपेक्षा नही है। आप स्वयं सदा षट्कारकमय है इत्यादि।

१२ बारहवी स्तुति भी अनुष्टुप् छन्दमें है।

इसमे भी अनेकान्तशाली वीतराग जिनका स्तवन है। यथा—आप स्वरूपसे हो रहे हैं, पर रूपसे नही हो रहे। फिर भी भाव अभाव दोनोको जानते हुए साक्षात् सर्वज्ञ कहे जाते है ॥४॥

प्रागभाव आदि चारों अभाव आपमे भावरूप हैं और आप भावरूप होकर भी अभाव-रूपताको प्राप्त होते है ॥१७॥

यह पर्यायरूप तत्त्व अनित्य होते हुए भी आपको प्राप्त करके नित्य हो जाता है। और आप नित्य होकर भी अनित्य पर्याय रूपको पाकर अनित्य हो जाते है अर्थात् द्रव्य रूपसे पर्याय भी नित्य है और पर्याय रूपसे द्रव्य भी अनित्य है ॥१९॥

१३ वी स्तुति मञ्जुभाषिणी छन्दमें है। इसमे ज्ञानके स्वपर प्रकाशको लेकर स्तवन है यथा—

हे देव: यह चित् चमत्कार ही अपनेसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सुख वीर्य वैभव आदि अपनी शक्तियोको एक साथ जाननेसे आपके सहभावी अनन्त आत्मधर्मोंके समूहको प्रकट करता है ॥३॥ आप अनन्त धर्मोंके भारसे भावित होते हुए भी एक उपयोग लक्षणके द्वारा ही जाने जाते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि आपमें उपयोग ही एक गुण है, अन्य नही है, क्योंकि गुण बिना आधारके नहीं रहते ॥४॥

आप जड़ और केतन दोनोंको जानते हैं। आपका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। जो परको नहीं जानता उसमे जड़से कोई भेद नही है अर्थात् वह जड़वत् है। किन्तु जडको जाननेसे जड नहीं हो जाता। परको जाने बिना अनुभूति नही होती। फिर भी आज्ञानी हाथीकी तरह आँख बन्द करके भवकूपमे गिरते हैं ॥९॥

इसप्रकार परको जानकर भी आप परासक्त नही होते। आदि समस्त विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

१४ चौदहवी स्तुतिमे भी ज्ञान-दर्शनमय चितिमात्रको लेकर स्तवन है। इसमें अन्तमें कहा है—

दर्शन और ज्ञानमे निश्चल वृत्तिरूप आपका शक्ति समूह संसार बीजको हरनेवाला है। ज्ञानी पुरुष क्रियामे रमण नही करता, किन्तु पापमार्गसे बचनेके लिये शुभ क्रियाएँ व्रत तपादि करता है। क्रियाके द्वारा पौद्गलिक कर्ममलको दूर करते हुए आत्मा आत्मामे स्थिर होता है और ऐसा होनेसे नियमसे अपुनर्जन्म प्राप्त होता है।

हे जिन आपके समागमको ही सुख और आपके विरहको ही दु ख कहते हैं। हे जिन ! वे भाग्यशाली निश्चयसे सुखी हैं जिनके आप सदा हृदयमे बसते हैं।

१५ वी स्तुति वियोगिनी छन्दमे है। विषय प्रायः पूर्ववत् नवीनताको लिए हुए है प्रारम्भमें ही बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है।

'जैसे गन्नेकी गडेरीको चूसता बालक तृप्त नही होता, उसी प्रकार आपकी ज्ञानकलाका रात दिन आस्वाद लेनेवाला भी तृप्त नही होता।

द्रव्यके बिना पर्याय नही, पर्यायके बिना द्रव्य नही। आपकी प्रकृति ही द्रयावलम्बिनी है। विधि निषेधसे वाधित है और निषेध विधिसे वाधित है। फिर भी दोनो समभाव धारण करके अर्थकी सिद्धि करते हैं

कथनमे पुनरुक्तियाँ भी यत्र तत्र हैं। यहाँ भी कहा है—'आप परको जाननेसे पर नही हो जाते। क्योंकि परावभासनका मतलब है परका आलम्बन लेकर आत्मभासन, क्योकि परको जाने बिना अपनेको जानना शक्य नही है। व्यवहार दृष्टिसे देखनेवालोंके लिये आप पराश्रयी और परमार्थ दृष्टिसे देखनेवालोके लिये स्वाश्रयी एक ही साथ उभयरूप प्रतिभासित होते है।

अन्तमे कहते है—

जोरसे दवाये हुए गन्नेसे जैसे रसका प्रवाह निकलता है उसी प्रकार मेरी इस हठवादित.। उछलता हुआ आत्मरसका प्रवाह मुझे उसमें डुबो देगा। आपके चरण कमलोमे जाग्रत रहनेवाले मोहरात्रि वीत गई। अतः मुझे उठाकर अपनी गोदमे ले लीजिये।

यह एक आध्यात्मिक सच्ची भक्तिका प्रवाह है।

१६ सोलहवी स्तुति पुष्पिताग्रा छन्दमे है। विषय प्राय. पूर्ववत् है। यथा—

हे जिनवर ! सभी ओरसे दवाये जाने पर भी आप कभी भी नीरस नही होते। किन्तु उत्तरोत्तर निरन्तर अनन्त ज्ञानरूपी अमृत रसको देते है।

अन्तमे केवलज्ञानकी महत्ता दिखलाते हुए कहा है—

परमागम तीनो कालो और तीनों लोकोका प्रकाशक होने पर आपके केवलज्ञानके एक कोनेमें ऐसा शोभित होता है जैसा दिनमें जुगुनु।

१७ वी स्तुति प्रहर्षिणी छन्दमे है। इसमे भी स्वद्रव्यादिका विवेचन है। पद्य २१ मे समन्तभद्रके स्वयंभूस्तोत्रके 'विवक्षितो मुख्य' इत्यादि पद्यकी स्पष्ट झलक है—जिसकी विवक्षा की जाती है वह मुख्य होता है जो विवक्षित नही होता वह गौण होता है।

१८ वी स्तुति मत्तमयूर छन्दमे है। इसमे भी सामान्य-विशेष, भाव-अभाव, वाच्य-अवाच्य आदि अनेकान्तोंको लेकर विवेचन है। अन्तमे सिद्धोमे उत्पाद व्यय घटाते हुए कहा है—

जो आप पहले भविष्यत्की अपेक्षा सिद्ध थे, वही अब आप वर्तमान सिद्ध है। इसी प्रकार वर्तमानमें जो विरक्त दशा है वही भूतकालमे सराग दशा थी।

१९ वीं स्तुति वियोगिनी छन्दमें है। इसका विषय भी प्रायः वही है। यथा—आपके न पराश्रयपना है, न शून्यरूपता है, न अन्य भावोंका सम्मिश्रण है क्योंकि आप अपने असंख्य प्रदेश रूप वस्तुको ग्रहण किए हुए हैं ॥२॥

आप अमूर्त विशेषणसे युक्त हैं अत पुद्गलोंसे भिन्न हैं ॥३॥
और आप चित् विशेषणसे युक्त हैं अत समस्त अचेतनोंसे भिन्न है ॥४॥
तथा सहज स्वानुभवसे युक्त हैं अतः अन्य समस्त चेतनोंसे भिन्न है ॥५॥
ये आपके अजड आदि विशेषण आपको अन्य द्रव्योंसे भिन्न करते हैं स्वद्रव्यसे नही।

इस प्रकार इस स्तुतिमे भेदज्ञानकी प्रधानता है। इसे पढ़ते हुए समयसार कलशका 'चैरूप्यं जड़रूपतां च' आदि १२६ वाँ कलश बरबस स्मरण हो आता है।

२० वी स्तुति वशंस्थ छन्दमे है। इसमे व्यावहारिक नयोंको लेकर विवेचन है। यथा—हे स्वामिन् आप चैतन्यमात्र विभूतिसे परिपूर्ण होनेसे शुद्धसंग्रहनयकी दृष्टिसे सुशोभित हो रहे हैं। और आप असंख्य प्रदेशोंमें विभाजित होनेसे ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे शोभित हो रहे है। ऋजुसूत्रनय प्रति समयवर्ती पर्यायको ग्रहण करता है अतः बौद्धका क्षणिकवाद इसी एक नयका विषय है उसीको लेकर सापेक्ष विवेचन है बौद्धमतमे निर्वाणको दीपकके निर्वाणकी तरह माना है उसीको दृष्टिमें रखकर कहते है—

दीपककी तरह निर्वाणको प्राप्त हुए आपके समस्त विकार एक शून्यतारूप हो गये अर्थात् विकारोंका आपमे सर्वथा अभाव हो गया। किन्तु ऐसा करते हुए आपको कुछ भी साहस नही करना पडा जब कि मुझे कहनेमें भी साहस करना पड़ रहा है ॥१०॥ आगे विज्ञानवादी बौद्धका निषेध करते हुए विज्ञानघन भगवान्का स्तवन किया है।

हे प्रभो, आपका विज्ञानघन सर्वभक्षी है, विश्वका कोई पदार्थ उसका अविषय नही है। उसमे सब पदार्थ पृथक्-पृथक् भासते हैं। इस दृष्टिसे ही ज्ञानाद्वैतवाद बनता है, बाह्य पदार्थोंके अभावकी दृष्टिसे नही ॥१५॥

यह पूरा स्तवन बौद्धदर्शनके निराकरण-समन्वयकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमे शून्यवादका समन्वय करते हुए अन्तमे कहा है—हे भगवन् मेरी बौद्धके शून्यवादमें तो रुचि नही है। वहाँ, समस्त पदार्थोंके शून्यमय भानसे निर्मल आपके शून्यमें—निर्विकल्प विज्ञानघनमे प्रवेश कराकर मुझे कृतकृत्य करें।

२१ वी स्तुति भी वशंस्थ छन्दमे है। इसमे भी सामान्य विशेषरूप, द्रव्यपर्यायरूप आदिको लेकर स्तवन है। उत्पादव्ययध्रौव्यको लेकर कहा है—'सत्का नाश नही होता और असत्का उत्पाद नही होता। और उत्पाद व्ययके बिना कोई वस्तु नही होती। क्षण-क्षणमे होनेवाला उत्पाद व्यय आपको भिन्न-भिन्न करता है और ध्रुवत्व एकरूप करता है। भाव और अभाव दोनो ही आधारके बिना नही रहते। आप दोनोके ही आश्रय होनेसे भाववान् भी हैं और अभाववान् भी वस्तुविवेचन की दृष्टिसे पूरी स्तुति ही महत्त्वपूर्ण है।

२२ वीं स्तुति मन्दाक्रान्ता छन्दमें, २३ वीं स्तुति हरिणी छन्दमें, २४ वीं स्तुति और पच्चीसवीं स्तुति शार्दूलविक्रीडित छन्दमें है।

इन स्तुतियोंका भी विषय तो वही है किन्तु उसके उपपादनमें और भावानुभूतिमें अन्तर है—

हे स्वामिन् क्या ईंधन दाहसे भिन्न है उसीतरह यह समस्त विश्वरूप ज्ञेय क्या आपसे भिन्न है ?

एक अनेक नहीं होता और अनेक एक नहीं होता। किन्तु आप एकानेकरूप हैं।

अन्य नष्ट होता है, अन्य उत्पन्न होता है, और अन्य निरन्तर विद्यमान रहता है। आपका तीनोंमें समान पक्षपात है। अतः आप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनोंसे युक्त हैं। यदि वे तीनों आपसे बहिर्भूत हो जायें तो शून्यरूप हो जाये।

२२ वीं स्तुतिके अन्तमें कहा है—

निश्चयसे अनेकान्त ही आपको एक अनेक, सगुण निर्गुण, शून्य पूर्ण, नित्य अनित्य आदि करता है।

२३ वी स्तुतिके अन्तमें कहा है—

सम्यग्ज्ञान और क्रिया इन दोनोंकी भावनाओंसे भूतार्थरूप परिणमन करते हुए मेरेमे निरन्तर आपकी लक्ष्मियाँ प्रस्फुरत होवें, जो परम स्वाभाविक अवस्थामे संलग्न उपयोगरूपी रसमें मज्जन करनेसे बहुत आनन्ददायक हैं।

२४ वीं स्तुतिमें कहा है—

आपके चैतन्यरूपी अमृतके पूरसे भरपूर अद्भुततम रूपको आखोंके द्वारा पीकर किन्हे उन्माद नही सताता ॥३॥ जिस चैतन्यरूप चाँदनीके सागरमें तीनों लोक मानो डूब रहे हैं उसमें यह मैं दूरसे ही बिना डूबा दिखाई देता हूँ फिर भी मै सदा आपमें मग्न हूँ ॥१५॥

२५ वीं स्तुतिका विषय ज्ञान और कर्मका समुच्चय है। एक मुमुक्षुके लिये यह स्तुति बहुत ही उपादेय है यथा—जो पूर्व असंयमसे संचित कर्मरजके विनाशके लिये सादर हृदयसे सयम धारण करते है वे ही सहज अवस्थामें स्थित अन्तस्तेजको प्राप्त होते है ॥३॥

रागसमूहका विनिग्रह करनेके लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि रागके फन्देमें फँसे मन वचन कायका निग्रह फलदायी नही होता।

इस स्तुतिमें २४वाँ पद्य समयसार कलशका १४१ वाँ पद्य है। जिसमें कहा है—यह भगवान् चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरोंसे अभिन्न रस हुआ एक है फिर भी अनेकरूप हुआ प्रवर्तता है। इससे आगेके अन्तिम पद्यमे कहा है—

मेरे संयमका पुटपाक ज्ञानरूपी अग्निमे पककर तैयार हो जिससे रागादि विकारी भाव नष्ट होकर मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव भलीभाँति प्रकट हो सके।

लघुतत्त्वस्फोटकी अमृतचन्द्रकर्तृता

लघुतत्त्वस्फोटके उक्त विवेचनसे उसके टीकाकार अमृतचन्द्रके रचित होनेमें कोई सन्देह नही रहता। भाव, भाषा और शैली तीनों दृष्टियोंसे उसकी समयसारकलशके साथ एकरूपता प्रस्पष्ट है। उसके सम्बन्धमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

अमृतचन्द्रका समय

स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने तत्त्वानुशासनकी प्रस्तावनामें पृ० ३३ पर लिखा है—

'अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी दसवी शताब्दीका उत्तरार्ध है। पट्टावलीमें उनके पट्टारोहण का समय जो वि० सं० ९६२ दिया है वह ठीक जान पड़ता है, क्योंकि सं० १०५५ में बनकर समाप्त हुए धर्मरत्नाकर ग्रन्थमें अमृतचन्द्राचार्यके पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे कोई ६० पद्य उद्धृत पाये जाते हैं, जिसकी सूचना पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष ९ की संयुक्त किरण ४-५ में की है। इससे अमृतचन्द्र उक्त सम्वत् १०५५ से पूर्वकालिक विद्वान् हैं यह सुनिश्चित है। उपासकाचारके कर्ता अमितगति (सं० १०५०) से भी वे पूर्वके विद्वान् हैं जिनके उपासकाचारमें पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कितना ही अनुसरण पाया जाता है जिसे पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने जैन सन्देशके शोधाङ्क नं० ५ मे प्रकट किया है। इन अमितगति (द्वितीय) से दो पीढ़ी पूर्वके विद्वान् अमितगति प्रथमके योगसार प्राभृतपर भी अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओंका प्रभाव लक्षित होता है जिनका समय अमितगति द्वितीयसे कोई ४०-५० वर्ष पूर्वका जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमे अमृतचन्द्रसूरिका समय विक्रमकी १०वी शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण और तत्त्वानुशासनके कर्ता रामसेनाचार्यका समय १०वी शतीका प्रायः चतुर्थचरण निश्चिय होता है तथा अमितगति प्रथम विक्रमकी ११वीं शतीके प्रायः प्रथम चरणके विद्वान् ठहरते हैं। ये तीनों ही अध्यात्म विषयके प्रायः समसामयिक प्रौढ विद्वान् हुए हैं और तीनोकी कथन शैली एक दूसरेसे मिलती जुलती है जिनमे वृद्धताका श्रेय अमृतचन्द्राचार्यको प्राप्त जान पड़ता है।'

स्वर्गीय मुख्तार साहबके उक्त निष्कर्षके प्रकाशमें कुछ कहनेको शेष नही रहेगा। उनके समर्थनमे हमें एक अन्य भी प्रमाण उपलब्ध हुआ है—

धर्मरत्नाकरमे डड्ढारचित पंचसंग्रहका भी एक पद्य उद्धृत है। यथा—तदुक्तम्—

> वचनैर्हेतुभिर्युक्तैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।
> जुगुप्साभिश्च वीभत्सैर्नैवं क्षायिकदृक् चलम् ॥

तथा डड्ढाके पचसंग्रहके द्वितीय अधिकारमे तत्त्वार्थसारका पद्य उद्धृत है—उक्तञ्च—

> 'षोडशैव कषाया स्युर्नोकषाया नवेरिताः।
> ईषद् भेदो न भेदोऽस्य कषायाः पञ्चविंशतिः ॥'

अतः अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी दसवी शताब्दीसे आगे नही जाता। इस विक्रमकी दसवीं शताब्दीके ग्रन्थकार देवसेनने अपने दर्शनसारमे पद्मनन्दी आचार्य कुन्दकुन्दके सीमन्धर स्वामीके समवसरणमे जानेका उद्घोष किया है। इसीके समकालमे रचित श्रुतावतारमे इन्द्रनन्दीने कुन्दकुन्द अमरनाम पद्मनन्दीको सिद्धान्त ग्रन्थोंका टीकाकार लिखा है। इसीके उत्तरकालमे नेमिचन्द्र सिद्धान्तीने द्रव्यसंग्रहकी रचना की। टीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसग्रह और परमात्मप्रकाशकी टीकाएँ रची। और कुन्दकुन्दाम्नाय प्रकाशमे आया। इस सबका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको है। उन्हीका अनुगमन द्वितीय टीकाकार जयसेनने तथा पद्मप्रभ मलधारीदेवने किया। इस प्रकार अमृतचन्द्र एक अध्यात्मयुग प्रवर्तक आचार्य हुए हैं। उन्होंने मुमुक्षुके लिये

स्याद्वादमें कुशलताके साथ सुनिश्चल संयमकी उपयोगिता बतलाकर ज्ञाननय और क्रियानयमें तीव्र मैत्रीकी आवश्यकता बतलाई है। यथा—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥

अर्थात्—जो पुरुष स्याद्वादमें प्रवीणता और निश्चल संयमके द्वारा आत्मामे उपयोग लगाता हुआ उसे निरन्तर भाता है वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानयकी पारस्परिक तीव्र मैत्रीका पात्र होकर इस निज भावभूमि भूमिकाको पाता है।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

आचार्य अमृतचन्द्र रचित

लघु-तत्त्व-स्फोट

(शक्तिगणितकोश)

ॐ नमः परमात्मने । नमोऽनेकान्ताय

स्वयम्भुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे
येनादिदेव भगवानभवत् स्वयम्भूः ।
ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूप-
मात्मप्रमातृ परमातृ न मातृ मातृ ॥१॥

अन्वयार्थ—(आदिदेव) हे आदि जिनेन्द्र ! (येन) जिसके द्वारा आप (स्वयम्भूः) स्वयम्भू (भगवान्) भगवान् (अभवत्) हुए है, मै (इह) इस लोकमे (उच्छलत्) छलकते हुए—अतिशय प्रकट (अच्छं) निर्मल (स्वायंभुवं) आत्म-सम्बन्धी (तत् महः) उस तेज—ज्ञानज्योतिकी (ईडे) स्तुति करता हूँ। जो तेज (ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूप) ॐ भूर्भुवः आदि शान्तिमन्त्रके समीचीन अद्वितीय मननस्वरूप है। (आत्मप्रमातृ) स्वप्रकाशक है (परमातृ) परप्रकाशक है और न (नमातृ मातृ) न मात्र ज्ञायक—आत्माको जाननेवाला है किन्तु ज्ञायक अज्ञायक—चेतनाचेतनात्मक समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है।

भावार्थ—यहाँ भगवान् आदिनाथका स्तवन करते हुए उनके उस असाधारण ज्ञानगुणकी गरिमाकी स्तुति की गई है जिसके प्रकट होते ही वे साधारण छद्मस्थसे स्वयंभू-सर्वज्ञ हो गये। उनका वह ज्ञान गुण त्रैकालिकज्ञायक स्वभाव होनेसे आत्मामे स्वतः विद्यमान रहता है, राग-द्वेषादिकके समान आत्मामे किन्ही बाह्य निमित्तोंसे प्रकट नही होता है। वही ज्ञानगुण केवलज्ञान-रूप पर्यायसे तन्मय हो लोकालोकका ज्ञाता हो जाता है, रागादि विकारी भावोंसे सर्वथा रहित होनेके कारण वीतराग विज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान, 'चतुर्गतिके जीव अपाय—दुःखसे किस प्रकार छूटें' इस अपायविचयधर्म्यध्यानके समीचीन मननस्वरूप होता है। ज्ञान, स्वपरप्रकाशक होनेसे जहाँ आत्ममातृ—स्वको जानता है, वहाँ परमातृ—परको भी जानता है और न केवल माता—ज्ञायक आत्माको जानता है किन्तु ससारके समस्त चेतना चेतनात्मक पदार्थोंको जानता है ॥ १ ॥

मातासि मानमसि मेयमसीशमासि
मानस्य चासि फलमित्यजितासि सर्वम् ।
नास्यैव (नास्यैव) किञ्चिदुत नासि तथापि किञ्चि-
दस्येव चिच्चकचकायितचुञ्चुरुच्चैः ॥२॥

अन्वयार्थ—(अजित) हे अजितनाथ ! आप (माता असि) ज्ञायक हो (मानम् असि) ज्ञान हो (मेयम् असि) ज्ञेय हो (ईशमा असि) अनन्तचतुष्टय लक्ष्मीरूप हो (च मानस्य फलम्

असि) और ज्ञानके फल हो, (इति सर्वम् असि) इस प्रकार सबरूप हो। [अस्य] (किञ्चिदेव नास्ति) इस ज्ञानका कुछ भी नही है (उत) और आप भी यद्यपि (किञ्चित् न असि) किसी अन्यरूप नही है (तथापि) तो भी आप (उच्चै) उत्कृष्टरूपसे (चिच्चकचकागितचुञ्चुः) चैतन्य चमत्काररूपसे प्रसिद्ध हो।

भावार्थ—जो पदार्थको जानता है उसे माता कहते हैं, आत्मा जिसके द्वारा जानता है उसे मान कहते है, जिसे जानता है उसे मेय कहते हैं और अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मामे जो ज्ञान प्रकट होता है वह मानका फल कहलाता है। यहाँ गुण गुणीका अभेद दृष्टिकी अपेक्षा कथन करते हुए कहा गया है कि हे अजितनाथ भगवान्! आप ही माता, मान, मेय और मानके फल हो—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानके फल हो। न केवल, ज्ञान गुणकी अपेक्षा यह कथन है किन्तु अर्हन्त की लक्ष्मीस्वरूप जो ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य है उनरूप भी आप हैं। यद्यपि ज्ञायक स्वभावके कारण अजितनाथ भगवान् अनन्त ज्ञेयोको जानते है ऐसा व्यवहार होता है। तथापि एक भी ज्ञेय उनका नही होता है और न वे किसी ज्ञेयके होते है। वीतराग विज्ञानका दर्पण तलके समान यही स्वभाव है कि वह जानता तो सबको है परन्तु किसीको आत्मीय मान कर अपने आपमे रोकता नही है। यह सब होने पर भी आप चैतन्य चमत्कारसे तन्मय है॥ २॥

एको न भासयति देव न भासतेऽस्मि-
न्नन्यस्तु भासयति किञ्चन भासते च।
तौ द्वौ तु भासयसि शम्भव भाससे च
विश्वं च भासयसि भा असि भासको न ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! संसार मे (एक) एक पदार्थ—जड़ पदार्थ (न भासयति) किसीको भासित—प्रकाशित नही करता और (अस्मिन्) इस जड पदार्थमे कोई पदार्थ (न भासते) प्रकाशित नही होता है (तु) किन्तु (अन्य) जडसे भिन्न—चेतन द्रव्य (भासयति) किसीको भासित करता है। (च) तथा (किञ्चन) अन्य द्रव्य इसमे (भासते) प्रकाशित होता है। (तु) किन्तु (शम्भव) हे शम्भवनाथ! आप (तौ द्वौ) उन दोनो-अचेतन और चेतन पदार्थोंको (भासयति) प्रकाशित करते है और स्वयं भी (भाससे) प्रकाशित होते है। इस तरह आप (विश्वं च भासयसि) लोकालोकरूप विश्वको प्रकाशित करते है अत (भा. असि) दीप्तिरूप हो, (भासक न असि) भासक[1]—दीप्तिका निराकरण करनेवाले नही हो।

भावार्थ—यह विश्व चेतनाचेतनात्मक पदार्थोंसे भरा हुआ है। इनमे अचेतन पदार्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल चेतनासे शून्य होनेके कारण न किसीको प्रकाशित करते है और न कोई पदार्थ इनमे प्रकाशित होता है। उपर्युक्त पाँच अचेतन पदार्थोंके सिवाय विश्वमे एक चेतन द्रव्य भी है। यह चेतन द्रव्य चेतनासे तन्मय होनेके कारण संसारके पदार्थोंको प्रतिभासित करता है और ससारके पदार्थ इसमे प्रतिभासित होते हैं। हे शम्भवनाथ! जिनेन्द्र! आप उपर्युक्त चेतन अचेतन पदार्थोंको प्रतिभासित करते हैं और स्वय भी प्रतिभासित होते है। इस तरह आप

---

१ अस्यति प्रक्षिपति इति आसक 'असु प्रक्षेपणे' इति धातो ण्वुल् प्रत्यये रूपं। भायाः (दीप्तेः) (आसक.) प्रक्षेपक इति भासक. तथाभूत. स्वं न भवसि।

विश्वको प्रतिभासित करते है। जब गुण और गुणीका अभेदविवक्षासे कथन होता है तब गुणको गुणी और गुणीको गुण कह दिया जाता है। यहाँ भी अभेद विवक्षासे शम्भवनाथ जिनेन्द्रको भा अर्थात् ज्ञानरूप दीप्तिसे तन्मय कहा है। और भासकपनेका निषेध किया है। परन्तु विना आधार-के गुणका अस्तित्व रह नही सकता इसलिये शम्भव जिनेन्द्रमे भासकपनेका सर्वथा निषेध भी नही किया जा सकता अतः 'भासको न' का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि हे भगवन्! आप ज्ञानरूप दीप्तिका निराकरण करने वाले नही है ॥ ३ ॥

यद्भाति [1]भाति तदिहाथ च (न) भात्य[2]भाति
[3]नाभाति भाति स च भाति न यो [4]नभाति।
भा (या)भाति [5]भात्यपि च [6]भाति न भात्यभाति[7]
सा चाभिनन्दन विभा[8]न्त्यभिनन्दति त्वाम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो ज्ञान (भाति) ज्ञानगुणसे तन्मय रहनेके कारण देदीप्यमान होनेवाले (इह) इस आत्मामे (भाति) सुशोभित रहता है (अथ) और (अभाति) ज्ञान गुणसे अतन्मय होनेके कारण देदीप्यमान न रहनेवाले अन्य पदार्थमे (न भाति) सुशोभित नही होता। इसी प्रकार (य) जो ज्ञायक (नाभाति 'इह') अतिशय सुशोभित रहनेवाले आत्मामे (भाति) सुशोभित रहता है और (नभाति सुशोभित न रहनेवाले अन्य पदार्थमे (न भाति) सुशोभित नही होता। इसी प्रकार (या भा) जो ज्ञानरूप दीप्ति (भाति 'इह') देदीप्यमान आत्मामे (अति आभाति) अत्यन्त सुशोभित होती है और (अभाति) अदेदीप्यमान—ज्ञानसे रहित अन्य पदार्थमे (न भाति) सुशोभित नही होती (अभिनन्दन) हे अभिनन्दन जिनेन्द्र! (विभान्ती) विशिष्टरूपसे सुशोभित होनेवाली (सा च) वह भा—ज्ञानदीप्ति (त्वाम्) आपका (अभिनन्दति) अभिनन्दन करती है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञान गुण, ज्ञायकस्वभाव और ज्ञप्तिक्रिया इन तीन विशेषताओंका अस्ति ओर नास्ति पक्षसे एक आत्मामे समावेश करते हुए अभिनन्दन जिनेन्द्रकी स्तुति की गई है। यह ज्ञान गुण अस्ति पक्षसे आत्मामे रहता है नास्ति पक्षसे आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यमे नही रहता। ज्ञायकस्वभाव भी ज्ञान गुणसे सुशोभित आत्मामे रहता है, अन्य जड़ पदार्थोंमे नही। इसी प्रकार ज्ञप्ति क्रिया भी आत्मामें ही रहती है अन्य जड़ पदार्थोमे नही। 'यत् तत्' इन नपुसकलिङ्ग पदोसे ज्ञान गुणका, 'य स.' इन पुलिङ्ग पदोसे ज्ञायक स्वभावका और 'या सा' इन स्त्रीलिङ्ग पदोसे ज्ञप्ति क्रियाका समावेश किया गया है। भेद विवक्षासे इन तीनोमे भेद होता है परन्तु अभेद विवक्षासे तीनो एक आत्माकी ही परिणति है ॥ ४ ॥

लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा यो
वस्तुप्रमित्यभिमुखः सहजप्रकाशः।

---

१. भाति शोभते इति भान् तस्मिन्, 'भा दीप्तौ' इत्यस्य शतृप्रत्ययान्तप्रयोग। २ न भाति इति अभान् तस्मिन्। ३ न भातीति अभान्, न भान् इति नाभान् तस्मिन् 'नाश्व' इतिवत् समास। ४. न भातीति नभान् तस्मिन्। ५. भातीति भान् तस्मिन्। ६. भा + अति इति पदच्छेद। ७ न भातीति अभान् तस्मिन्। ८ विशेषेण भाति शोभते इति विभान्ती शोभमानेत्यर्थं भा इत्यस्य विशेषणम्।

सोऽयं तवोल्लसति कारकचक्रचर्चा-
चित्रोऽप्यकर्बुररसप्रसरः सुबुद्धे ॥५॥

अन्वयार्थ—(सुबुद्धे) हे सुमति जिनेन्द्र (सवितु यथा) सूर्यके प्रकाशकी तरह जो प्रकाश बाह्य दृष्टिसे (लोकप्रकाशनपर) समस्त लोकको प्रकाशित करनेमें समर्थ है तथा (वस्तु-प्रमित्यभिमुख:) अन्तर्दृष्टिसे आत्मतत्त्वके जाननेके सम्मुख है (सोऽयं) ऐसा यह (तव) आपका (सहजप्रकाशः) सहज ज्ञानस्वभावरूप प्रकाश (कारकचक्रचर्चाचित्रोऽपि) षट्कारक समूहकी चर्चासे चित्ररूप होता हुआ भी (अकर्बुररसप्रसर:) अचित्रित—एकरसरूप प्रसारसे सहित (उल्लसति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका त्रैकालिक ज्ञायक स्वभावरूप प्रकाश जब केवलज्ञानरूप पर्यायसे सुशोभित होता है तब वह यद्यपि लोकालोकको प्रकाशित करता है तथापि निश्चयसे आत्मस्वरूपको ही प्रकाशित करता है, इसीलिये कहा जाता है कि केवली भगवान् व्यवहारनयसे लोकालोकके ज्ञाता है पर निश्चयनयसे आत्माके ही ज्ञाता है। यद्यपि व्यवहारकी दृष्टिसे आपका वह ज्ञानस्वरूप प्रकाश, कर्ता कर्म करण सप्रदान अपादान और अधिकरण इन छह कारकोके समूह-की चर्चासे चित्रित होता है उसमें इन सब कारकोका विकल्प आता है तथापि सामान्यग्राही निश्चय-नयकी अपेक्षा वह सकल कारक चक्रसे उत्तीर्ण होनेके कारण एकरूप ही प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य-
मन्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम्।
त्वं न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्यः
पद्मप्रभ! स्वयमसि प्रकटः प्रकाशः ॥६॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! लोग (एक) किसी एकको (प्रकाशकं) प्रकाशक (अपरं) किसी अन्यको (प्रकाश्य) प्रकाश करने योग्य (तथा) और (अन्यत्) किसीको (प्रकाशकं) प्रकाशक तथा (प्रकाश्यं) प्रकाश्य दोनो रूप (उशन्ति) मानते है, परन्तु (त्व) आप (इह) इस जगत्मे (न प्रकाशक) न प्रकाशक है (च न प्रकाश्य:) और न प्रकाश्य है (पद्मप्रभ) हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आप (स्वय प्रकट. प्रकाश: असि) स्वय भासमान प्रकाश-रूप है।

भावार्थ—हे भगवन्! आत्मामे सुख, वीर्य तथा ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुण विद्यमान है। इनमे सुख गुण आह्लादकी अनुभूतिरूप होनेसे आत्माके अस्तित्वका प्रख्यापक है अत. प्रकाशक है और वीर्य आदि गुण ज्ञानके माध्यमसे अनुभवमे आते है अत. प्रकाश्य है, परन्तु ज्ञान-दर्शन गुण स्वपरप्रकाशक होनेसे प्रकाशक और प्रकाश्य-दोनोरूप है। यह गुण और गुणीका भेद व्यवहार-नयसे होता है, इसलिये कौन गुण कैसा है? इसकी चर्चा उसी नयसे सगत होती है। कारक चक्रकी प्रक्रिया भी व्यवहारनयसे ही घटित होती है, इसलिये जब आत्मामे प्रकाशन क्रियाके कर्ताकी अपेक्षा विचार होता है तब आत्मा प्रकाशक होता है और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा जब प्रकाशन क्रिया-के कर्मकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब आत्मा प्रकाश्य कहलाता है। निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मा कारकचक्रके विकल्पसे उत्तीर्ण है अतः वह न कर्ता है और न कर्म है—न प्रकाशक है

और न प्रकाश्य है, किन्तु एक सहज प्रकाशरूप हैं। हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आप इसी सहज प्रकाश-रूप हैं। निश्चयनयसे आत्मवस्तुका कथन कभी गुणीरूपसे होता है और कभी गुणरूपसे। जैसे आत्मा ज्ञायक है अथवा आत्मा ज्ञानमात्र है। यहाँ गुणरूपसे कथन करते हुए पद्मप्रभ जिनेन्द्रको प्रकट प्रकाशरूप कहा गया है। उनका यह प्रकट प्रकाश स्वयं सिद्ध है राग-द्वेषादिक विकारीभाव के समान परसापेक्ष नहीं है॥ ६॥

अन्योन्यमापिबति वाचकवाच्यसद्यत्
सत्प्रत्ययस्तदुभयं पिबति प्रसह्य।
सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत्
पीतः समग्रममृतं भगवान् सुपार्श्वः ॥७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (वाचकवाच्यसत्) वाचक—शब्द और वाच्य—अर्थरूप सत् (अन्योन्यम् आपिबति) एक दूसरेको ग्रहण करता है अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर है (तदुभयं) उस दोनो प्रकारके सत्को (सत्प्रत्यय·) सत्का ज्ञान (प्रसह्य) बलपूर्वक (पिबति) ग्रहण करता है, परन्तु (तदुभयेन) वाचक और वाच्यरूप सत्के द्वारा (सत्प्रत्ययः) सत्का ज्ञान (न पीयते) ग्रहण नही किया जाता है (चेत्) यदि (समग्र अमृतं) उस वाचक, वाच्य और सत् ज्ञानको यदि (पीत·) ग्रहण किया है तो (भगवान् सुपार्श्वः) भगवान् सुपार्श्वनाथने ग्रहण किया है।

भावार्थ—शब्दको वाचक और अर्थको वाच्य कहते हैं जैसे मुखके द्वारा उच्चरित और कानोके द्वारा श्रूयमाण घट शब्द वाचक है और घट शब्दके द्वारा ग्रहणमे आनेवाला बना हुआ (कम्बुग्रीवादिमान्) पदार्थ-घट वाच्य है। ये दोनों ही सत् एक दूसरके ऊपर निर्भर हैं। घट शब्द उच्चरित होता है तो उसका कोई ग्राह्य अर्थ अवश्य होता है और कोई ग्राह्य पदार्थ है तो वह किसी न किसी शब्दके द्वारा गृहीत अवश्य होता है। इन दो प्रकारके सतोंके अतिरिक्त एक ज्ञानरूप सत् भी होता है "इस उदाहरणमे" जैसे घटका ज्ञान इस प्रकार घट शब्द, कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ और घट ज्ञानके भेदसे सत् तीन प्रकारका होता है। इनमे शब्द और अर्थरूप सत् जड पदार्थ है, अत· वे परस्पर सापेक्ष होने पर भी ज्ञानसे रहित है और इसी कारण वे ज्ञानरूप सत्को ग्रहण नही कर पाते। परन्तु ज्ञानरूप सत् उन दोनो—शब्द और अर्थरूप सतोको अपनी स्वच्छताके कारण नियमपूर्वक ग्रहण करता है। यह रही वाचक सत् वाच्य सत् और ज्ञान सत्की बात। भगवान् सुपार्श्वनाथ इन तीनो प्रकारके सत्को ग्रहण करते है। वाचक और वाच्य ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय ही है परन्तु ज्ञान, स्वपर प्रकाशक होनेसे वह ज्ञान और ज्ञेय दोनोंरूप होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् सुपार्श्वनाथ शब्दसत् अर्थसत् और ज्ञानसत् इन तीनोंके ज्ञाता हैं॥ ७॥

उन्मज्जतीति परितः(परतो) विनिमज्जतीति
मग्नः प्रसह्य पुनरुत्प्लवते तथापि।
अन्तर्निमग्न इति भाति न [1]भाति भाति
चन्द्रप्रभस्य विशदश्चितिचन्द्रिकौघः ॥८॥

---

१. भातीति भान् तस्मिन्, अन्यस्मिन् पदार्थे भाति सति न भाति न शोभते इत्यर्थ·।

अन्वयार्थ—संसारके अन्य जीवोंका ज्ञान, (परतः) ज्ञानकी उत्पत्तिमें साधकस्वरूप इन्द्रिय तथा प्रकाश आदि परकी सहायतासे (उन्मज्जति) उत्पन्न होता है और ज्ञानकी उत्पत्ति मे बाधक स्वरूप इन्द्रिय विकार तथा अन्धकार आदि प्रतिबन्धक कारणोंसे यद्यपि (प्रसह्य) हठात् (विनिमज्जति) विनिमग्न हो जाता है तथापि (मग्नः सत्) मग्न होने पर भी प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव होने पर (पुनः) फिरसे (उत्प्लवते) उत्पन्न हो जाता है। परन्तु (चन्द्रप्रभस्य) चन्द्रप्रभ भगवान्का (विशद) निर्मल (चितिचन्द्रिकौघ.) चैतन्यरूप-ज्ञानरूप चाँदनीका समूह (अन्तर्निमग्न) बाह्य कारणोसे निरपेक्ष होकर अन्तरङ्गमे ही निमग्न है, अन्तरङ्ग कारणसे उत्पन्न होता है [अन्यस्मिन्] भाति सति न भाति) अन्य पदार्थके भासित रहते हुए नही भासता है (इति भाति) इसलिये सदा भासित रहता है।

भावार्थ—यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायिक ज्ञानकी विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि ससारी जीवोका क्षायोपशमिक ज्ञान परनिमित्त सापेक्ष होनेसे उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान्का क्षायिक ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष होनेसे सदा भासमान रहता है। अर्थात् क्षायिक ज्ञानकी उत्पत्तिमे ज्ञानावरण कर्मका क्षयरूप अन्तरङ्ग कारण ही अपेक्षित रहता है प्रकाश आदि बाह्य कारण नही ॥ ८ ॥

यस्मिन्नवस्थितिमुपैत्यनवस्थितं तत्
तत्स्थः स्वयं सुविधिरप्यनवस्थ एव ।
देवोऽनवस्थितिमितोऽपि स एव नान्यः
सोऽप्यन्य एवमतथापि स एव नान्यः ॥९॥

अन्वयार्थ—यह जगत् (यस्मिन्) जिस इन्द्रिय सुखमे (अवस्थितिम्) स्थिरताको (उपैति) प्राप्त होता है (तत्) वह इन्द्रियसुख (अनवस्थित) अस्थिर है। जगत् ही नही, (तत्स्थ.) उस इन्द्रियसुखमे स्थिर रहनेवाले (स्वयं सुविधि अपि) स्वयं सुविधिनाथ भगवान् भी (अनवस्थ एव) अस्थिर ही रहे। (देव.) सुविधि जिनेन्द्र पर्याय दृष्टिसे (अनवस्थितिम् इतोऽपि) अनित्यता को प्राप्त होकर भी, द्रव्यदृष्टिसे (स एव) वही थे। (अन्यो न) अन्य नही थे और (सोऽपि) वह अन्य पदार्थ भी (अन्य·) अन्य ही रहा। (एवं) इस प्रकार वे (अतथापि) तद्रूप न होकर भी (स एव) तद्रूप रहे (अन्यो न) अन्यरूप नही हुए।

भावार्थ—संसारके प्राणी इन्द्रिय सुखको स्थायी मानकर उसमे अपना अभिप्राय लगाते है पर वह इन्द्रियसुख स्थायी नही है, अस्थायी है—देखते देखते नष्ट हो जाता है। और की बात जाने दो सुविधिनाथ भगवान् भी गृहस्थ अवस्थामे जब तक उस इन्द्रियसुखमे स्थिर रहे तब तक वे स्वय अस्थिर रहे। अस्थिरताका प्रमाण यही है कि वे अन्ततः उस इन्द्रियसुखको छोड़कर आत्मसुखमे ही स्थिर हुए। संसारके प्रत्येक पदार्थ पर्याय दृष्टिसे अस्थिर है, अत भगवान् सुविधिनाथ भी पर्यायदृष्टिसे यद्यपि अस्थिर थे तथापि द्रव्यदृष्टिसे वह वही थे, अन्य नही थे अर्थात् स्थिर—नित्य थे। इस तरह द्रव्य और पर्यायदृष्टिसे भगवान् सुविधिनाथ नित्यानित्यात्मक थे। जिसमे 'तद्वेदं भाव'—यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता रहे वह नित्य कहलाता है और जिसमे 'अतद्भाव'—अन्य भाव हो वह अनित्य कहलाता है। सामान्य-तीर्थंकरत्वकी अपेक्षा सुविधिनाथ नित्य थे परन्तु सराग और वीतराग अथवा छद्मस्थ और सर्वज्ञकी अपेक्षा वे अनित्य थे ॥ ९ ॥

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽपि चान्य-
शून्योऽन्यशून्यविभवोऽप्यसि नैकपूर्णः।
त्वं नैकपूर्णमहिमाऽपि सदैक एव
कः शीतलेति चरितं तव मातुमीष्टे ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप (शून्योऽपि) काम-क्रोधादिविकारी भावोंसे शून्य होकर भी (निर्भरभृत असि) ज्ञान-दर्शनादि स्वकीय गुणोसे अतिशय पूर्ण हैं, (भृतोऽपि) स्वकीय गुण-पर्यायोसे (भृतोऽपि) परिपूर्ण होकर भी (अन्यशून्यः) अन्य द्रव्यके गुण-पर्यायोसे (शून्य.) शून्य हैं, (अन्यशून्यविभवः अपि) अन्य द्रव्योंसे शून्यविभव होकर भी (नैकपूर्णः) ज्ञेयरूपताको प्राप्त हुए अनेक द्रव्योसे पूर्ण है और (नैकपूर्णमहिमापि) अनेक अतिशयोसे परिपूर्ण महिमासे युक्त होकर भी (सदा एक एव) सदा एक ही हैं (इति) इस तरह (शीतल) हे शीतल जिनेन्द्र! (तव चरितं) आपके चरितको (मातु) जाननेके लिये (क ईष्टे) कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—यहाँ शून्यत्व-अशून्यत्व और एकत्व-अनेकत्व भङ्गोंकी अपेक्षा शीतलनाथ जिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप विकारी भावोसे रहित होनेके कारण शून्य है तथा स्वकीय ज्ञान दर्शनादि गुणोंसे सहित होनेके कारण शून्य नही हैं। अथवा अन्य द्रव्योके गुण पर्यायोंसे रहित होनेके कारण शून्य है और ज्ञेय बनकर आत्मामे प्रतिफलित होनेवाले अनेक द्रव्यो तथा उनके गुण पर्यायोसे पूर्ण होनेके कारण शून्य नही है। इसी तरह आप स्वरूपकी अपेक्षा अद्वितीय होनेके कारण एक है और अनेक अतिशयोंसे परिपूर्ण महिमासे युक्त होनेके कारण अनेक है। यहाँ परस्पर विरोधी भङ्गोंका समन्वय स्याद्वादसे होता है ॥ १० ॥

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं
नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि
श्रेयःप्रभोऽद्भुतनिधान किमेतदीदृक् ॥११॥

अन्वयार्थ—(अद्भुतनिधान. श्रेय प्रभो) हे आश्चर्यके निधानभूत श्रेयोनाथ। आप (नित्योऽपि) त्रैकालिक-अनाद्यनन्त ज्ञायकस्वभावकी अपेक्षा नित्य होकर भी (नाशम् उपयासि) पर्यायकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होते है। और द्रव्यकी अपेक्षा (नाश न यासि) नाशको प्राप्त नही होते है। (नष्टोऽपि) जीवन्मुक्त अरहत अवस्थाकी अपेक्षा नष्ट होकर भी (पुनः) फिरसे (प्रसह्य) हठात् (सम्भवम्) मुक्तावस्थारूप जन्मको (उपैषि) प्राप्त होते है। इसी प्रकार (जातोऽपि) संयोगी पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न होकर भी (अजातः) शुद्ध आत्मद्रव्यकी अपेक्षा उत्पन्न नही हैं (इति) ऐसा (तर्कयताम्) चिन्तन करनेवालोके लिये आप (विभासि) विभासित होते है। हे प्रभो! (एतद् ईदृक् किम्) यह ऐसा क्यों है?

भावार्थ—यहाँ नित्यानित्य नयकी अपेक्षा श्रेयान्सनाथ भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप नित्य होकर भी नाशको प्राप्त होते है और नाशको प्राप्त होकर भी नाशको प्राप्त नही होते हैं। तात्पर्य यह है कि आप अपने ज्ञायकस्वभावकी अपेक्षा नित्य है

और पर्यायकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होकर भी द्रव्यकी अपेक्षा नाशको प्राप्त नहीं हैं। नष्ट होकर भी पुनः उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर भी उत्पन्न नही होते हैं। फलितार्थ यह है कि आप कारण समयसार अथवा जीवन्मुक्त अवस्था की अपेक्षा नष्ट होकर भी मुक्तावस्थाकी अपेक्षा पुनः उत्पन्न होते है और मुक्तावस्थारूप उत्पन्न होकर भी पुनः अवस्थान्तरको प्राप्त नही होते। इस तरह तर्कणा करनेवाले जीवोंके लिए आपका समस्त स्वरूप आश्चर्यका भाण्डार मालूम होता है ॥ ११ ॥

सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि संश्च भासि
सन्मांश्च सत्त्वसमवायमितो न भासि।
सत्त्वं स्वयंविभव भासि न चासि सत्त्वं
सन्मात्रवस्त्वसि गुणोऽसि न वासुपूज्य ॥१२॥

अन्वयार्थ—(वासुपूज्य) हे वासुपूज्य भगवन्! आप (सन्नपि) सत्रूप होकर भी (स्फुटम्) स्पष्ट ही (असन्) असद् रूप हैं। और (असन्नपि) असद्रूप होकर भी (संश्च) सद्रूप (भासि) प्रतीत होते है। आप (सन्मान्) सत् सत्तासे युक्त होकर भी (सत्त्वसमवाय-मित) सत्त्वके साथ समवायको प्राप्त (न भासि) नही मालूम होते है। (विभव[१]) हे जन्म-रहित! आप (स्वयं) स्वयं (सत्त्वं भासि) सत्त्वरूप मालूम होते हैं परन्तु (सत्त्व न चासि) सत्त्वरूप नही है। (सन्मात्रवस्तु असि) आप सत्तामात्र वस्तु है (गुणो नासि) गुणरूप नही है।

भावार्थ—यहाँ वासुपूज्य भगवान्की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप सत् होकर भी सत् नही है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सत् हैं और पर्यायदृष्टिसे सत् नही है। इसी तरह पर्यायदृष्टिसे असत् होकर भी द्रव्यदृष्टिसे सत् हैं। आप सत्तासे युक्त होकर भी न्यायदर्शनसम्मत समवायके अनुसार सत्ताके साथ समवायको प्राप्त नही है। न्यायदर्शन गुण और गुणीको पृथक् मानकर उनके समवायको स्वीकृत करता है, परन्तु जैनदर्शन गुण और गुणीको प्रदेशोंकी अपेक्षा पृथक् न मानकर उनके त्रैकालिक तन्मयीभावको स्वीकृत करता है। सत् गुणी है और सत्त्व गुण है, चूँकि इनमे प्रदेश भेद नही है इसलिये कभी मात्र गुणके द्वारा गुणीका कथन होता है और कभी गुणीके द्वारा गुणका उल्लेख होता है। यहाँ गुणके द्वारा गुणीका कथन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप सत्त्व—सत्तागुणरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु मात्र सत्त्व—सत्तागुण नही है। अपितु सत्तागुणसे युक्त है। [२]एक विवक्षासे गुण और गुणीके विकल्पको समाप्त कर गुणको ही वस्तु कहा जाता है इस विवक्षामे आप सन्मात्र वस्तु है, गुण नही है, ऐसा कहा गया है ॥ १२ ॥

भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो
भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम्।
यो वा भविष्यसि स खल्वसि वर्तमानो
यो वर्तसे विमलदेव स एव भूतः ॥१३॥

---

१ विगतो भवो जन्म यस्य स विभव' तत्सम्बुद्धौ हे विभव। २ 'तत्त्व सल्लक्षणक सन्मात्रं वा यत स्वतःसिद्धम्'—पञ्चाध्यायी १।८।

अन्वयार्थ—(विमलदेव) हे विमल जिनेन्द्र ! यद्यपि आप (अधुना) इस समय (भूतो नैव भवसि) भूत नहीं हैं (वर्तमानो न) वर्तमान नही है और (भूयो न भविष्यसि) पुनः भविष्यमे नहीं होगे, तथापि (त्वं भविष्यसि) आप भविष्यत्मे होगे। (वा) अथवा आप (यो भविष्यसि) जो होंगे (खलु) निश्चयसे (सः) वह (वर्तमान असि) वर्तमान है और (यो वर्तसे) जो वर्तमान है (स एव भूत.) वही भूत है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप द्रव्य और पर्यायरूप हैं। इनमे द्रव्य सामान्यरूप है और पर्याय विशेषरूप। द्रव्य अपरिवर्तनीय है, पर्याय परिवर्तनीय है। अपरिवर्तनीय वस्तुमे कालचक्रका व्यवहार नहीं होता, अतः जब द्रव्यरूपसे आपका विचार किया जाता है तब आप भूत, वर्तमान और भविष्यत्के व्यवहारसे रहित सिद्ध होते है। परन्तु जब पर्यायरूपसे आपका विचार करते हैं तब परिवर्तनीय होनेके कारण भविष्यमें आप अवश्य होगे। आज भी आप अरहन्त है, भविष्यमे सिद्ध होंगे, परन्तु सिद्ध अवस्थामे जो आपका ज्ञायक स्वभाव होगा वह अभी वर्तमानमे भी है और भूतकालमे भी था। इस तरह ज्ञायकस्वभावकी अपेक्षा भी आप कालत्रयके व्यवहारसे परे है ॥१३॥

एकं प्रपीतविषमापरिमेयमेय-
वैचित्र्यचित्रमनुभूयत एव देव।
द्वैतं प्रसाधयदिदं तदनन्तशान्त-
मद्वैतमेव महयामि महन्महस्ते ॥१४॥

अन्वयार्थ—(अनन्तदेव) हे अनन्तनाथ जिनेन्द्र ! जो (एकं) एक होकर भी (प्रपीतविषमापरिमेयवैचित्र्यचित्रं) ग्रहणमे आये हुए छोटे-बड़े अपरिमित पदार्थोंकी विचित्रतासे नानारूप (एव) ही (अनुभूयते) अनुभवमे आता है। इस तरह प्रमेयकी अपेक्षा जो (द्वैतं प्रसाधयत्) नानारूपताको सिद्ध करता है, रागद्वेषादिसे रहित होनेके कारण (शान्त) शान्त है, क्षायिकज्ञान—केवलज्ञानरूप पर्यायसे युक्त होनेके कारण (अद्वैतमेव) एक ही है और लोकालोकमे व्यापक होनेसे (महत्) महत् रूप है (ते इद तत् मह) आपके इस सम्यग्ज्ञानरूप तेजकी मै (महयामि) पूजा करता हूँ।

भावार्थ—भगवान् अनन्त जिनेन्द्र, वीतराग विज्ञानरूप केवलज्ञानको धारण करते है। उनका यह केवलज्ञान, ज्ञानपर्यायकी अपेक्षा यद्यपि एक है, अद्वैतरूप है, तथापि उसमे प्रतिभासित होनेवाले नाना पदार्थोंकी अपेक्षा वह द्वैतरूप भी है। उनका यह ज्ञान, रागादि विकारी भावोसे रहित होनेके कारण शान्तस्वरूप है, अनन्त सुखसे सम्पन्न है तथा लोकालोककी बात जाननेकी अपेक्षा महत्रूप भी है। इसके अतिरिक्त अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भी केवलज्ञान उत्कृष्ट अनन्तानन्तरूप होनेसे महत्रूप है। अनन्तनाथ भगवान्के इस ज्ञानरूप तेजकी मै आराधना करता हूँ ॥१४॥

सर्वात्मकोऽसि[1] न च जातु परात्मकोऽसि[2]
स्वात्मात्मकोऽसि न तवास्त्यपरः स्व आत्मा।
आत्मा त्वमस्य न च धर्मनिरात्मता ते
न च्छिन्नदृक्प्रसररूपतयास्ति सापि ॥१५॥

१. सर्वाणि आत्मानि यस्य स सर्वात्मक.। २. पर आत्मा यस्य स परात्मक. पररूप पक्षे उत्कृष्टात्मा परमात्मेत्यर्थः।

अन्वयार्थ—(धर्म) हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आप (सर्वात्मकः असि) सर्वात्मक हैं—समस्त पदार्थ आपकी आत्मामे प्रतिबिम्बित हैं, तो भी आप (परात्मकः) पररूप (जातु न असि) कभी नही है। (स्वात्मात्मकः असि) स्वकीय आत्मस्वरूप हैं, (अपरः) अन्य कोई (तव) आपका (स्व आत्मा) निज आत्मा (नास्ति) नही है। (अस्य आत्मा त्वं) इस आत्माका स्वरूप तुम्ही हो, (निरात्मता) स्वरूपहीनता आपके मतमे नही है और (सापि) वह स्वरूप सहितता भी (छिन्न-दृक्स्वरूपप्रसररूपतया) सीमित दर्शनज्ञानरूपसे नही है।

भावार्थ—विरोधाभास अलंकारका आश्रय लेकर धर्मनाथ भगवान्का स्तवन करते हुए कहा है कि आप सर्वात्मक—सर्वरूप होकर भी परात्मक-पररूप कभी नही हैं। जो सर्वरूप होगा उसे पररूप होना ही पड़ेगा, यह विरोध है परन्तु 'सर्वाणि आत्मनि यस्य स सर्वात्मकः' ऐसा समास करनेसे यह अर्थ निकलता है कि आपकी आत्मामे सर्व पदार्थ है अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं। इसी तरह 'परात्मक.' इस पदका भी 'पर उत्कष्ट आत्मा यस्य सः' ऐसा समास करनेसे यह अर्थ निकलता है कि आप परात्मा हैं। परमार्थसे एक द्रव्य अन्यरूप परिणमन नही करता, इसलिए कहा गया है कि आप स्वकीय आत्मस्वरूप ही हैं, अन्य-परद्रव्य आपका निज आत्मा नही है। आत्माका एक अर्थ स्वरूप भी होता है अत. आत्माका स्वरूप जो ज्ञानदर्शन है तद्रूप आप है। आत्मामे निरात्मता-स्वरूपहीनता नही है अर्थात् स्वरूपसहितता है। परन्तु आत्माकी वह स्वरूपसहितता सीमित दर्शन-ज्ञानरूप नही है अपितु अनन्तदर्शन-ज्ञानरूप है ॥१५॥

अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तु-
स्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरोऽसि ।
एकप्रभाभरसुसंभृत शान्त शान्ते
चित्सत्त्वमात्रमिति भास्यथ च स्वचित्ते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(एकप्रभाभरसुसंभृत) जो अद्वितीय कान्तिके समूहमे परिपूर्ण है तथा (शान्त) सातिशय प्रशम गुणसे युक्त है ऐसे (शान्ते) हे शान्ति जिनेन्द्र ! आप (अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्व-तन्तुस्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरः असि) पारस्परिक वैरभावमे रस लेनेवाले जीवोको आश्चर्य-जनक देदीप्यमान किरणरूप कुड्मलोंसे सहित है अर्थात् आपके शरीरसे निकलनेवाली किरणोके प्रभावसे परस्पर विरोधी जीव भी वैरभाव छोड़कर आपसमे मिल जाते हैं (अथ च) इसके सिवाय आप (चित्सत्त्वमात्रम्) ज्ञानके अस्तित्त्वमात्र हैं, (इति) इस तरह (स्वचित्ते) मेरे चित्तमे (भासि) प्रतिभासित हो रहे है।

भावार्थ—यहाँ शान्तिनाथ भगवान्का स्तवन करते हुए कहा गया है कि उनके शरीरसे निकलनेवाली किरणोके प्रभावसे परस्परविरोधी जीव भी अपना वैरभाव भूल जाते थे। वे शान्त थे, और रागादिकका विकल्प समाप्त हो जानेसे ज्ञानमात्र थे अर्थात् उनका ज्ञान ज्ञानमे-ही प्रतिष्ठित हो गया था ॥१६॥

यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद-
मापद्य चित्रमपि चारचयन्त्यचित्रे ।
कुन्थो ! स्फुटन्ति घनसंघटितानि [ता हि] नित्यं
विज्ञानधातुपरमाणव एव नैव ॥१७॥

अन्वयार्थ—(कुन्थो !) हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! (विज्ञानधातुपरमाणवः) आपके केवलज्ञानरूप धातुके अविभागी प्रतिच्छेद यद्यपि अगुरुलघु गुणके कारण (क्षणक्षयं यान्ति) क्षण-क्षणमें नश्वरता-को प्राप्त हो रहे हैं (च) और (अचित्रे) विविधरूपतासे रहित अपने आपमे (उपाधिवशेन) ज्ञेयरूप उपाधिके कारण (भेदम् आपद्य) भेद प्राप्त कराकर (चित्रमपि आरचयन्ति) विविधरूपताको भी उत्पन्न कर रहे हैं तथापि (हि) निश्चयसे (नित्यं) निरन्तर (घनसंघटितानि [ता हि] एव) अत्यन्त संघटित रूप ही होनेसे (नैव स्फुटन्ति) पृथक्-पृथक् नही होते हैं।

भावार्थ—असंख्यात प्रदेशी आत्माका केवलज्ञान गुण भी असंख्यात प्रदेशी है और एक-एक प्रदेशगत केवलज्ञानके अनन्त अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। यद्यपि केवलज्ञानके वे अविभाग प्रतिच्छेद सामान्यरूपसे अविनाशी हैं तथापि अगुरुलघु गुणके कारण षड्गुणी हानि-वृद्धि होते रहनेसे समय-समयमे क्षयको प्राप्त हो रहे है। सामान्यतया केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद ज्ञेयसे रहित होने के कारण अचित्र है—एक रूप है तो भी घटपटादि ज्ञेयरूप उपाधिके कारण वे अनेक मालूम होते हैं। जैसे दर्पण अपने स्वच्छस्वरूपसे एकरूप होकर भी घटपटादि नाना पदार्थोंके प्रतिबिम्ब से नानारूप मालूम होने लगता है। केवलज्ञानके वे प्रदेश परस्पर सघटित ही रहते है अत. बालूदार पत्थरके कणोके समान कभी भी बिखरकर अलग-अलग नही होते हैं। गुण और गुणीका त्रैकालिक अखण्ड तादात्म्य सम्बन्ध रहता है ॥१७॥

एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक
एकोऽस्यनेकसमुदायमयः सदैव ।
नानेकसञ्चयमयोऽस्यसि चैक एक—
स्त्वं चिच्चमत्कृतिमयः परमेश्वरार ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अर परमेश्वर !) हे अर जिनेन्द्र ! आप (एकः अपि) द्रव्यदृष्टिसे एक हो कभी (अनेक इति भासि) पर्यायदृष्टिसे अनेक मालूम होते हैं परन्तु (अनेक न च असि) परमार्थसे अनेक नही हैं। (सदैव) हमेशा ही अनेक (समुदायमयः) अनेक पर्यायोंके समुदायरूप (एक. असि) एक हैं। (अनेकसंचयमयः न असि) अनेक पर्यायोके सग्रहरूप भी नही है, किन्तु (एकः) एक ही हैं। इस प्रकार (त्वम्) आप (एकः चिच्चमत्कृतिमय. असि) चैतन्य चमत्कारसे तन्मय एक है।

भावार्थ—यहाँ अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है कि आप आत्मद्रव्यकी अपेक्षा यद्यपि एक हैं तथापि ऊर्ध्वता सामान्यके कारण कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है। परन्तु परमार्थसे वे अनेक पर्यायें क्या द्रव्यमे सदा विद्यमान रहती है ? नही रहती, एक कालमे द्रव्य एक ही पर्यायसे युक्त होता है, अतः वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा आप एक है, इतना अवश्य है कि आप वह एक आत्मद्रव्य है जो अनेक पर्यायोंके समुदायरूप है। एकद्रव्यको अनेक पर्यायोंके समुदायरूप कहना शक्तिकी अपेक्षा ही बनता है अर्थात् द्रव्य, अपनी शक्तिसे भूत-कालमे अनन्त पर्याय धारण कर चुका है और भविष्यत्कालमे अनन्त पर्याय धारण करेगा, परन्तु

व्यक्तिरूपसे द्रव्य, अनेक पर्यायोंके संचयरूप न होकर एक पर्यायरूप ही होता है। इस दृष्टिसे आप एक ही हैं। पर्यायें, एक अनेक भूत वर्तमान तथा भविष्यत् कालका विकल्प उत्पन्न करती है अतः उनकी ओरसे दृष्टि हटाकर जब त्रैकालिक—अनाद्यनन्त ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आप एक चैतन्य चमत्कारसे तन्मय ही हैं ॥१८॥

निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं
प्राप्नोषि दारणमितोऽप्यसि निर्विभागः ।
भागोज्झितोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागै-
र्निभाग एव च चिता प्रतिभासि मल्ले ॥१९॥

अन्वयार्थ—(मल्ले !) हे मल्लिनाथ जिनेन्द्र ! आप (निर्दारितोऽपि) गुण-गुणीकी अपेक्षा भेदरूप होकर भी (घटसे) प्रदेशभेद न होनेसे अभेदरूप है, (घटितोऽपि) अभेदरूप होकर भी (दार प्राप्नोषि) भेदको प्राप्त होते है—गुणकी अपेक्षा अभेदरूप होकर भी गुणाशोकी अपेक्षा भेदरूप है तथा गुणाशोकी अपेक्षा (दारणम् इतोऽपि) भेदको प्राप्त होकर भी (निर्विभाग असि) विभाग रहित है—आपके वे गुणाश पृथक्त्वसे रहित हैं। (भागोज्झितोऽपि) भागसे रहित होकर भी (भागैः परिपूर्तिम् उपैषि) भागोके द्वारा ही पूर्णताको प्राप्त होते है, (च चिता निर्विभाग एव प्रतिभासि) और चैतन्य ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा निर्भाग—भागरहित ही प्रतिभासित होते है।

भावार्थ—देश, देशांश, गुण और गुणांश ये चार तत्त्व है। द्रव्यको देश, उसके प्रदेशोको देशाश, द्रव्यके गुणोको गुण और उनके अविभागी प्रतिच्छेदोको गुणाश कहते है। आत्मा एक देश-द्रव्य है, उसके असख्यात देशाश-प्रदेश हैं, उसमे ज्ञान-दर्शनादि अनेक गुण है और उन गुणोके अनन्त गुणाश-अविभाग प्रतिच्छेद है। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, अत वह अपने असख्य प्रदेशोसे कभी भी खण्डरूप नही होता। समुद्घातके समय भी उसके समस्त प्रदेश परस्पर सम्बद्ध ही रहते है, वालूके कणोके समान पृथक्-पृथक् नही होते। हे मल्लि जिनेन्द्र ! यद्यपि प्रदेश और प्रदेशवान्‌की अपेक्षा आप भेदको प्राप्त है तथापि उनमे पृथक्त्व न होनेसे आप अभेदरूप ही है। गुण और गुणीमे प्रदेशभेद नही है, इसलिये आप अभेदरूप होकर भी सज्ञा, सख्या, लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे भेदरूप है। गुणोकी अपेक्षा भेदरूपताको प्राप्त होकर भी आप गुणाशोकी अविवक्षामे अभेदरूप है, परन्तु एक एक गुणके अनन्त-अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा जब विचार करते है तब आप उन अनन्त-अविभागी प्रतिच्छेदोके द्वारा ही पूर्णताको प्राप्त होते है, ऐसा अनुभवमे आता है। परमार्थसे देश, देशाश, गुण और गुणाशोका विकल्प आत्मामे नही है अत. आप एक चैतन्य गुणसे ही तन्मय है, यह कहना उपयुक्त है ॥ १९ ॥

उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितस्त्व-
मारोऽपितोऽप्यसि समुद्धृत एव नैव ।
नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपाद-
व्यानद्धकृत्स्नभुवनोऽनिशमच्युतोऽसि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(मुनिसुव्रत) हे मुनि सुव्रतनाथ ! (त्वम्) आप अशुभोपयोगसे (उत्पाटितोऽपि) दूर हटाये जानेपर भी शुभोपयोगमे (रोपितः) अधिरूढ हुए, परन्तु शुभोपयोगमें (आरोऽपितोऽपि) आरूढ होनेपर भी (समुद्धृत एव न असि) संसार सागरसे समुद्धृत नही हो सके। जब आप (अनिशं) निरन्तर (नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपादव्यानद्धकृत्स्नभुवनः) नित्य ही उपयोगरूपसे उल्लसित अनन्त केवलज्ञानकी किरणोंसे समस्त लोकको व्याप्त करनेवाले हुए तभी (अच्युत.) परमधामसे अच्युत (असि) हुए हैं।

भावार्थ—जिनागममे उपयोगके तीन भेद बतलाये है—(१) अशुभोपयोग, (२) शुभोपयोग और (३) शुद्धोपयोग। विषयप्राप्तिके अभिप्रायको लिए हुए कषायकी जो तीव्र परिणति है उसे अशुभोपयोग कहते है। विषय कषायकी निवृत्तिके अभिप्रायको लिये हुए देवपूजा, पात्रदान आदि शुभ कार्यामे प्रवृत्ति करानेवाली जो मन्दकषायरूप परिणति है उसे शुभोपयोग कहते है और शुभ तथा अशुभके विकल्पसे निवृत्त आत्माकी जो अत्यन्त मन्दकषायरूप अथवा कषायके अभाव-रूप जो परिणति है उसे शुद्धोपयोग कहते है। करणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार प्रथमसे लेकर तृतीय गुणस्थान तक तारतम्यसे घटता हुआ अशुभोपयोग होता है। चतुर्थसे लेकर षष्ठ गुणस्थान तक तारतम्यसे बढता हुआ शुभोपयोग होता है और सप्तमादि गुणस्थानोमे शुद्धोपयोग होता है। यह जीव जब मिथ्यात्वसे हटकर सम्यक्त्व अवस्थामे आता है तब अशुभोपयोगसे उत्पाटित होकर शुभोपयोगमे रोपित कहलाता है परन्तु शुभोपयोगरूप परिणाम मुक्तिका साक्षात् कारण नही है अतः देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियोके बन्धमे पड जानेसे यह जीव समुद्धृत-ससार सागरसे पार नही हो पाता। शुभोपयोगरूप परिणामके अनन्तर यह जीव मोहनीय कर्मकी सत्ताको लिए हुए यदि उपशम-श्रेणीपर आरूढ होता है तो वहाँसे च्युत होकर नीचे आता है और इसी बीचमे यदि मृत्यु हो गयी तो सागरो-पर्यन्तके लिये देवशरीरमे रुक जाता है। जब क्षपकश्रेणीपर आरूढ होकर दशम-गुणस्थानके अन्ततक मोहनीय कर्मकी सत्ताका नाश करता हुआ बारहवें गुणस्थानमे पहुँचता है और शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभावसे ६३ कर्म-प्रकृतियोका क्षय कर तेरहवें गुणस्थानमे आरूढ होता है तब लोकालोकावभासी केवलज्ञानके द्वारा समस्त जगत्को व्याप्त करता हुआ—जानता हुआ सचमुच ही अच्युत होता है—वहाँसे च्युत होकर नीचे नही आता तथा कम-से-कम अन्त-र्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्वके बाद नियमसे मोक्षमहलमे आरूढ होता है। इस श्लोकमे श्री मुनि सुव्रतनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवान्! आप अशुभयोगसे हटकर शुभोपयोगमे अधिरूढ हुए, पर उतने मात्रसे ससार सागरसे पार नही हो सके। जब शुद्धोपयोगमे आरूढ होकर यथाक्रमसे केवलज्ञानको प्राप्त हुए तभी परमार्थसे अच्युत हो सके ॥२०॥

विष्वक्कृततोऽपि न ततोऽस्यततोऽपि नित्य-
मन्तःकृतत्रिभुवनोऽसि तदंशगोऽसि।
लोकैकदेशनिभृतोऽपि नमे त्रिलोकी-
माप्लावयस्यमलबोधसुधारसेन ॥२१॥

१. तत असि अतत. इति पदच्छेद.

अन्वयार्थ—(नमे) हे नमिनाथ जिनेन्द्र आप केवलज्ञानकी अपेक्षा (विष्वक् ततोऽपि) समस्त लोकालोकमे व्याप्त होकर भी (ततः न असि) आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा व्याप्त नही हैं और (अततोऽपि) व्याप्त न होकर भी (नित्यं) निरन्तर (अन्त कृतत्रिभुवनः असि) ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धसे तीनो लोकोंको अन्तर्गत करनेवाले हैं। आप (तदंशगः असि) लोकके एक अंश—असंख्येयभाग मे स्थित हैं और (लोकैकदेशनिभृतः अपि) लोकके एक देशमें स्थित होकर भी (अमलबोध-सुधारसेन) निर्मल केवलज्ञानरूप अमृतरसके द्वारा (इमां त्रिलोकीम्) इस लोकत्रयको (आप्लावयसि) आप्लुत करते हैं।

भावार्थ—नमिनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि आप केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानते है, इसलिए 'णाण णेयपमाणं'–'ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण है' इस सिद्धान्तके अनुसार आप सर्वत्र व्याप्त है परन्तु आपके आत्मप्रदेश लोकके असंख्येयभागमे ही स्थित है, सर्वत्र व्याप्त नही है तथापि आपके केवलज्ञानमे तीनो लोक अन्त प्रतिफलित हो रहे हैं। अरहन्त अवस्थामे आप मध्य लोकमे और सिद्ध अवस्थामे लोकान्त शिखरपर स्थित है, तो भी केवलज्ञानरूप सुधाके द्वारा आप लोकत्रितयको तर करते रहते है। फलितार्थ यह है कि आप व्याप्ताव्याप्त विरोधी धर्मोंसे सहित है अर्थात् व्याप्त भी है और अव्याप्त भी है। ज्ञान-की अपेक्षा व्याप्त है और आत्मप्रदेशोकी अपेक्षा अव्याप्त हैं ॥२१॥

बद्धोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तो
बद्धोऽसि बद्धमहिमापि सदासि मुक्तः।
नो बद्धमुक्तपरतोऽस्यसि मोक्ष एव
मोक्षोऽपि नासि चिदसि त्वमरिष्टनेमे ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अरिष्टनेमे !) हे अरिष्टनेमि जिनेन्द्र ! आप (बद्धोऽपि मुक्त इति भासि) बद्ध होकर भी मुक्त प्रतिभासित होते है, परन्तु (मुक्त न च असि) मुक्त नही है। यद्यपि (बद्धोऽसि) शरीरसे बद्ध हैं और (बद्धमहिमापि) अष्टप्रातिहार्यरूप महिमासे भी बद्ध है तथापि (सदा मुक्तः असि) सदा मुक्त है, इस तरह (बद्धमुक्तपरतो नो असि) बद्ध और मुक्तसे परे नही है अर्थात् बद्ध भी है और मुक्त भी हैं। अथवा आप (मोक्ष एव असि) मोक्षरूप ही है परन्तु परमार्थसे (मोक्षोऽपि नासि) मोक्षरूप भी नही हैं (त्वम्) आप तो (चिद् असि) एक चैतन्यरूप है।

भावार्थ—मुक्त चार प्रकारके कहे गये है—१ दृष्टिमुक्त, २. मोहमुक्त, ३ जीवन्मुक्त और ४ कर्ममुक्त। जो जीव, दर्शन मोहोदयजनित मिथ्यादृष्टि अवस्थासे मुक्त होकर सम्यग्दृष्टि अवस्थाको प्राप्त होता है वह दृष्टिमुक्त कहलाता है। जो दशम गुणस्थानके अन्त तक मोहनीय-कर्मकी समस्त प्रकृतियोका क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानको प्राप्त हुआ है वह मोहमुक्त कहलाता है। जो ६३ कर्मप्रकृतियोसे रहित होकर अरहन्त अवस्थाको प्राप्त हुआ है वह तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमे रहनेवाला जीव जीवन्मुक्त कहलाता है और जो समस्त कर्मप्रकृतियोकी सत्तासे छूट जाता है वह कर्ममुक्त कहलाता है। यहाँ अरिष्टनेमि जिनेन्द्रका स्तवन करते हुए

कहा गया है कि यद्यपि आप मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी-चतुष्क इन सात प्रकृतियोंके अतिरिक्त १४१ प्रकृतियोंसे बद्ध हैं तथापि दृष्टिमुक्तकी अपेक्षा मुक्त हैं। इस तरह आप मुक्त तो हैं पर मोहनीयकर्मकी शेष प्रकृतियोंसे युक्त होनेके कारण आप परमार्थसे मुक्त नहीं हैं। आगे चलकर आप मोहमुक्त होनेपर भी अन्य कर्मप्रकृतियोंसे बद्ध है तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप बाह्य महिमासे बद्ध है इसलिए परमार्थसे बद्ध ही है मुक्त नहीं, तथापि ६३ कर्मप्रकृतियोंसे मुक्त हो जानेके कारण आप जीवन्मुक्त कहलाते हैं। इस तरह आप बन्ध और मोक्षसे परे नहीं हैं, अरहन्त अवस्था तक बद्ध और मुक्त दोनों हैं। सिद्धावस्थामें समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेसे आप परमार्थसे सदाके लिए मुक्त होते हैं। यह बद्ध और मुक्तका विभाग व्यवहारनयके आश्रित है। निश्चयनय सब द्रव्योंको स्वतन्त्र स्वीकृत करता है इसलिये उसकी दृष्टिमें बन्धतत्त्व नहीं है। जब बन्धतत्त्व ही नहीं है तब मोक्षतत्त्व कहाँसे आवेगा? इस प्रकार आप बन्ध और मोक्ष, इन दोनोंसे रहित है। एक सामान्य चित्स्वरूप हैं[1] ॥२२॥

भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोऽपि
साक्षाद् भ्रमोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि।
विद्यासि साप्यसि न पार्श्व जडोऽसि नैवं
चिद्भारभास्वररसातिशयोऽसि कश्चित् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(पार्श्व) हे पार्श्वजिनेन्द्र! आप (भ्रान्तोऽपि अविभ्रममय. असि) भ्रान्त होकर भी अविभ्रममय है और (सदा अविभ्रमोऽपि सन्) सदा भ्रमरहित होकर भी (साक्षाद् भ्रमः असि) साक्षात् भ्रमरूप है। (यदि वा) अथवा (भ्रम एव नासि) वस्तुस्वभावकी अपेक्षा आप भ्रमरूप नहीं ही है। आप तो (विद्या असि) केवलज्ञानरूप है। अथवा (सापि न असि) अनादि-अनन्त न होनेके कारण आप केवलज्ञान भी नहीं है। तो क्या जड हैं? (जड न असि) जड—अज्ञानरूप नहीं है, (एव) इस प्रकार (चिद्भारभास्वररसातिशय. कश्चित् असि) चैतन्यसमूहके देदीप्यमान-उपयोगात्मक रसके अतिशयसे परिपूर्ण कोई चेतन द्रव्य हैं।

भावार्थ—हे पार्श्वनाथ भगवन्! यद्यपि चारित्रमोहके उदयमे होनेवाले रागादिभावोंकी अपेक्षा आप भ्रान्त है, दीक्षाग्रहणके पूर्व गृहस्थावस्थाके चक्रमे पड़े हुए है तथापि दर्शनमोह-जनित विकारके निकल जानेसे आप विभ्रम रहित है—रागादि विकार यद्यपि आपकी पर्यायमे विद्यमान हैं तथापि श्रद्धापेक्षया उनका स्वामित्व आपमे नहीं है। इस तरह दर्शन मोहजनित भ्रमका अभाव हो जाने तथा साथ ही अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी विकारसे निवृत्त हो जानेपर भी आप संज्वलन चतुष्कके उदयमे होनेवाले विकारी भावोंसे प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थाके कालमे हिंडोलामे झूलते हुए यद्यपि भ्रमरूप रहते है तथापि उस भ्रमके प्रति आपका स्वामित्व नहीं है और आपकी आत्मामे इसी बातका पुरुषार्थ चलता है कि मै इस सराग-परिणतिसे मुक्ति प्राप्त करूँ। इस पुरुषार्थकी ओर दृष्टि देनेपर आप भ्रमरूप नहीं है यह निश्चय होता है। क्रमसे पुरुषार्थके सफल होनेपर आप वीतराग होते है तथा इस वीतरागताके

१. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुर्बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ —स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य

फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं। इस तरह आप केवलज्ञानरूप हैं। परन्तु अहो! जब इस ओर दृष्टि जाती है कि केवलज्ञान तो ज्ञानगुणकी एक पर्याय है, वह शुद्धज्ञान अवश्य है परन्तु त्रैकालिक अनादि अनन्त नही है, इसके विपरीत सादि अनन्त है, तब आप उस केवलज्ञानरूप नही हैं। क्षायोपशमिक ज्ञानसे बारहवें गुणस्थान तक पहुँच चुके, तेरहवें गुणस्थानमे केवलज्ञान प्रकट हुआ। प्रतीत होता है उसे स्वीकृत नही किया जा रहा है तो क्या जडरूप है? नही भाई, अनादि अनन्त जो चैतन्य ज्ञायकस्वभाव है, तद्रूप आप है। इस प्रकार आप वचनागोचर कोई अद्भुत पुरुष है ॥२३॥

आत्मीकृताचलितचित्परिणाममात्र-
विश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ कर्तृ।
नो कर्तृ बोद्धृ न च बोदयि बोधमात्रं
तद्वर्धमान तव धाम किमद्भुतं नः ॥२४॥

अन्वयार्थ—जिसने (आत्मीकृताचलितचित्) अविनाशी चैतन्यज्योतिको आत्माधीन किया है, जो (परिणाममात्रविश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ) परिणमन मात्रकी अपेक्षा समस्त वस्तुओके उत्पाद व्यय, और ध्रौव्यको करनेवाला है, जो (कर्तृ) ज्ञप्ति क्रियाका कर्त्ता है अथवा जो (नोकर्तृ न च बोद्धृ) न कर्त्ता है, न बोद्धा है, किन्तु (उदयि बोधमात्रं) अभ्युदयसे युक्त ज्ञानमात्र है, (वर्धमान) हे वर्धमान जिनेन्द्र! (तव) आपका (तद् धाम) वह सम्यग्ज्ञानरूप तेज (किम्) क्या है? यह (नः अद्भुत) हमारे लिये आश्चर्यकी वस्तु है।

भावार्थ—यहाँ भगवान् वर्धमान स्वामीके उस ज्ञानरूप तेजको आश्चर्यकारक बतलाया गया है जिसने अविनाशी चैतन्य ज्योतिको आत्मरूप कर लिया है। उस चैतन्य ज्योतिके पूर्व जो क्षायोपशमिक चैतन्य ज्योति प्राप्त थी वह चलित थी—विनश्वर थी परन्तु केवलज्ञानरूप ज्योति अविनाशी है—अनन्त काल तक विद्यमान रहने वाली है। संसारके समस्त पदार्थोमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन होता है, उस परिणमनको केवलज्ञान जानता है इसलिये उपचारसे वह उनका कर्ता कहलाता है। केवलज्ञान पदार्थको जानता है इस तरह जब करण कारकमे कर्तृकारक-की विवक्षा की जाती है तब उस ज्ञप्ति क्रियाका कर्ता केवलज्ञान होता है। परन्तु जब आत्मा केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोको जानता है तब आत्मामे कर्तृकारक और केवलज्ञानमे करण कारकको विवक्षा की जाती है तब केवलज्ञान ज्ञप्ति क्रियाका कर्ता नही है, इसके विपरीत आत्मा कर्ता है और केवलज्ञान करण। इसी विवक्षाके अनुसार केवलज्ञान बोद्धा—जानने वाला नही है किन्तु उसके स्थानपर आत्मा बोद्धा है। वह केवलज्ञानरूप धाम अष्ट प्रातिहार्यरूप अभ्युदयमे सहित है तथा अष्ट प्रातिहार्योके अतिरिक्त केवलज्ञानके समय प्रकट होनेवाले दश अतिशयोसे परिपूर्ण है। केवलज्ञान, ज्ञानगुणकी एक पर्याय है जो कि सादि अनन्त है। जब इस पर्यायरूप विशेषसे दृष्टि हटाकर सामान्यकी ओर ले जाते है तब केवलज्ञान, केवलज्ञान न कहला कर सामान्य ज्ञान कहलाता है। हे वर्धमान जिनेन्द्र! आपका यह तेज क्या है? यह हम छद्मस्थोके लिये आश्चर्यकी वस्तु है ॥२४॥

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां
नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम् ।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलयैव
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण ॥२५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो भव्य जीव (अमृतचन्द्रचिदेकपीता) अमृतचन्द्रसूरिके ज्ञानके द्वारा गृहीत (अविकलार्थवती) परिपूर्ण अर्थसे युक्त (जिनाना) ऋषभादि तीर्थंकरोंकी (नामावली) नामावली-रूप इस स्तुतिका (भावयन्ति) चिन्तन करते है वे (किल) निश्चयसे (लीलया एव) अनायास ही (सकलं विश्वं पिबन्ति) समस्त विश्वको ग्रहण करते है—सर्वज्ञ हो जाते है और (ते) वे (कदाचन) किसी भी समय (परेण) कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्यके द्वारा (नैव पीयन्ते) नही ग्रहण किये जाते अर्थात् कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं।

भावार्थ—वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रोकी स्तुतिका फल स्वयं वीतराग और सर्वज्ञ बन जाना है। इस स्तोत्रमे ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंके नामका उल्लेख करते हुए स्तवन किया गया है इसलिए इसे 'नामावली' स्तोत्र कहते है। जो भव्य जीव इसकी भावना करते है—इसमे प्रतिपादित जिनेन्द्र गुणोका नयविवक्षाके अनुसार चिन्तन करते है वे स्वय सर्वज्ञ बन कर समस्त पदार्थोंको अनायास जानने लगते है और रागादि विकारी भावोसे रहित होकर वीतराग बन जाते है। वीतराग बननेपर कर्मबन्धनसे छूट जाते है ॥ २५ ॥

■

ॐ

(२)

तेजः स्पृशामि तव तद् दृशिबोधमात्र-
मन्तर्बहिर्ज्वलदनाकुलमप्रमेयम् ।
चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य-
मप्यत्यजत् सहजमूर्जितमेकरूपम् ।।१।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! मै (तव) आपके (अन्तर्बहिर्ज्वलत्) अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशमान (अनाकुलम्) आकुलतासे रहित तथा (अप्रमेयम्) अपरिमित-अनन्त (तत्) उस (दृशि-बोधमात्रम्) दर्शन और ज्ञानरूप (तेज) तेजका (स्पृशामि) स्पर्श करता हूँ—उसकी श्रद्धा करता हूँ, जो (चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्यम्) जानने देखनेरूप चैतन्य तत्त्वके कारण प्राप्त विविधरूपता-को (अत्यजत् अपि) नही छोडता हुआ भी (एकरूपम्) एकरूप है, (सहजम्) स्वाभाविक है और (ऊर्जितम्) अनन्त बलसे सम्पन्न है।

भावार्थ—यहाँ अनन्त गुणोके पुञ्जस्वरूप अरहन्त भगवान्के ज्ञान दर्शन गुणोका स्तवन किया गया है, क्योकि स्वपरप्रकाशक होनेसे ये दो गुण समस्त गुणोमे प्रमुख है। अन्तर्मुख चित् प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहते है। प्रारम्भसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोंका ज्ञान-दर्शन रागका सद्भाव होनेसे आकुलतासे परिपूर्ण रहता है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवका ज्ञान-दर्शन यद्यपि रागादिसे रहित होनेके कारण आकुलतासे परिपूर्ण नही है तथापि ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उदय होनेसे पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शनके अभावमे आकुलतासे पूर्ण है—अनन्त सुखका कारण नही है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंका ज्ञान दर्शन अपरिमित और अनन्त होता है तथा पूर्णताको प्राप्त हो जानेके कारण अनाकुलरूप होता है। इन गुणस्थानोमे अनन्त सुख भी प्रकट हो जाता है, इसलिए इन गुण-स्थानवर्ती जीवोका ज्ञान दर्शन अनन्त सुखसे सम्पन्न होता है। ज्ञान और दर्शन, चेतना गुणके परिणमन है। अपनी स्वच्छताके कारण चेतना गुणमे लोक अलोकके अनन्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है अर्थात् आत्माके ज्ञायक स्वभावके कारण वे ज्ञेय बनकर आते है। उन अनन्त ज्ञेयोकी अपेक्षा जब विचार होता है तब वे ज्ञान दर्शन अनन्तरूप प्रतीत होते है परन्तु जब सामान्य चेतना गुणको अपेक्षा विचार होता है तब एकरूप प्रतीत होते हैं। अरहन्त भगवान्के ज्ञान दर्शन सहज-स्वाभाविक है और अर्जित-अनन्त बलसे सम्पन्न है।

ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते
सम्भावयन्ति विशदं दृशिबोधमात्रम् ।
विश्वं स्पृशन्त इव ते पुरुषं पुराणं
विश्वाद्विभक्तमुदितं जिन निर्विशन्ति ।।२।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (ये) जो मनुष्य (निर्विकल्पसविकल्पं) विकल्परहित और विकल्पसहित (विशदं) निर्मल (दृशिबोधमाप्त्रम्) दर्शन और ज्ञानरूप (ते) आपके (इदं) इस (महः) तेजकी (सम्भावयन्ति) श्रद्धा करते हैं (ते) वे (विश्व स्पृशन्त इव) मानों समस्त लोक-आलोकरूप विश्वका स्पर्श करते हुए (विश्वाद् विभक्तं) समस्त विश्वसे पृथक् (उदितं) परमात्म अवस्थाको प्राप्त (पुराण) अनाद्यनन्त (पुरुष) शुद्ध आत्माको (निर्विशन्ति) प्राप्त होते है।

भावार्थ—आगममे दर्शनको निर्विकल्प-घटपटादिके विकल्पसे रहित और ज्ञानको सविकल्प-घटपटादिके विकल्पसे सहित माना गया है। ज्ञान और दर्शन दोनों ही क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारके होते है। इनमे क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन क्रमवर्ती होनेसे पूर्ण विशद नही है परन्तु क्षायिक ज्ञान और दर्शन केवलज्ञान और केवलदर्शन अक्रमवर्ती होनेसे पूर्ण विशद है। हे भगवन् ! आप इन्ही पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शनको प्राप्त हुए हैं। जो भव्य जीव आपके इस ज्ञान-दर्शनरूप स्वभावकी श्रद्धा करते है वे स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए समस्त विश्वको जानते देखते है। समस्त विश्वको जानना देखना मानो समस्त विश्वका स्पर्श करना है। लोक और अलोकको विश्व कहते हैं, जहाँ षड्द्रव्योका समूह रहता है उसे लोक कहते है और जहाँ मात्र आकाश रहता है उसे आलोक कहते है। ज्ञानकी अपेक्षा यद्यपि यह जीव समस्त विश्वको जानना है और उसी अपेक्षासे लोकालोकमे व्यापक कहलाता है तथापि आत्मप्रदेशोकी अपेक्षा विश्वसे पृथक् है—अपना अस्तित्व अलग रखता है। जो परमात्मपदको प्राप्त हो चुकता है उसे उदित कहते है। परमात्मा अनाद्यनन्त होता है। आपके ज्ञान दर्शन स्वभावके प्रति श्रद्धा प्रकट करता हुआ जब यह जीव अपने स्वभावकी ओर लक्ष्य करता है तथा तदनुरूप आचरण करता हुआ अपने विकारी भावोको नष्ट करता है तब स्वय परमात्मा बन जाता है। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि जो अरहंतको जानना है वह आत्माको जानता है और जो आत्माको जानता है उसका मोह विलीन हो जाता है।[1] मोहके विलीन होने और सर्वज्ञ दशाके प्रकट होनेपर यह जीव परमात्मा बन जाता है ॥ २ ॥

प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशङ्कु-
खातान्तरङ्गजगतीजनितै रजोभिः।
एतावतैव पशवो न विभो भवन्त-
मालोकयन्ति निकटप्रकटं निधानम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (यत्) जिस कारण (पशव) अज्ञानी जीव (अनेक-विकल्पशङ्कुखातान्तरङ्गजगतीजनितैः) अनेक विकल्परूपी कीलोसे खोदी हुई मनोभूमिमे समुत्पन्न (रजोभिः) रागादि मोहतर्कके द्वारा निजस्वरूपको (प्रच्छादयन्ति) आच्छादित कर रहे है (एतावता एव) इसीलिए वे (निकटप्रकटं) निकट ही प्रकाशमान (निधान) निधान—कोषस्वरूप (भवन्त) आपको (न आलोकयन्ति) नही देख पाते है।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव परपदार्थोको सुख दु खका कारण मानकर उनकी अनुकूल प्रतिकूल परिणतियोंमे रागद्वेष करता है। रागद्वेषकी भूमिका मन है। रागद्वेषके कारण

---

१ जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥ प्रवचनसार

यह जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध करता है। जिस प्रकार बहुत धूलि एकत्रित होकर किसी पदार्थको आच्छादित कर लेती है इसी प्रकार यह कर्मरूपी धूलि जीवके ज्ञान स्वभावको आच्छादित कर देती है। इसी कर्मजनित आच्छादनाके कारण यह जीव पशुओंके समान अज्ञानी हो रहा है और अपने ही निकट प्रकाशमान आपको नही देख पा रहा है ॥ ३ ॥

यत्रास्तमेति बहिरर्थतमस्यगाधे
तत्रैव नूनमयमेवमुदीयते त्वम् ।
व्योम्नीव नीलिमतते सवितुः प्रकाशः
प्रच्छन्न एव परितः प्रकटश्चकास्ति ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस (अगाधे) बहुत भारी (बहिरर्थतमसि) बाह्य पदार्थरूप अन्धकारमे (अय) यह विश्व (अस्तम् एति) अस्तको प्राप्त हो रहा है (तत्रैव) उसीमे (नूनम्) निश्चित ही (त्वम्) आप (एव) इस प्रकार (उदीयसे) उदयको प्राप्त होते है जिस प्रकार कि (नीलिमतते व्योम्नि) नीलिमासे व्याप्त आकाशमे (सवितु प्रकाश) सूर्यका प्रकाश (परित प्रच्छन्न) सब ओर छाकर (प्रकट·) प्रकट होता हुआ (चकास्ति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—साधकके लिए बाह्य पदार्थोका आवरण आत्मसाधनामे बाधक होता है, परन्तु सिद्ध पुरुषके लिए बाधक नही होता। यही कारण है कि देवनिर्मित समवसरणमे बाह्य पदार्थोंका प्रपञ्च अत्यधिक होनेपर भी अर्हन्तकी आत्मसाधनामे वह कुछ भी बाधक नही होता। हे भगवन्! संसारके अन्य अनेक मनुष्य बाह्य परिकरमे निमग्न होकर अस्त होते है परन्तु आप समवसरणके भारी परिकरमे भी उदित रहते है—आत्मसाधनामे जागरूक रहते है। यह ठीक ही है क्योकि नीलिमासे व्याप्त आकाशमे अन्य वस्तुएँ तिरोहित भले ही होती रहे परन्तु सूर्यका प्रकाश उसमे चारो ओर व्याप्त होकर प्रकाशमान होता है। तात्पर्य यह है कि यह जीव रागद्वेषके कारण ही परपदार्थोमे आत्मबुद्धि कर स्वरूपसे च्युत होता है। यतश्च आप राग-द्वेषसे रहित है अत परपदार्थोके बीच भी निर्लिप्त रहनेसे आप परमात्मपदको प्राप्त हो रहे हैं ॥४॥

नावस्थितिं जिन ददासि न चानवस्था-
मुत्थापयस्यनिशनात्ममहिम्नि नित्यम् ।
येनायमद्भुतचिदुद्गमचुञ्चुरुच्चै-
रेकोऽपि ते विधिनिषेधमयः स्वभावः ॥५॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! आप (अनिशं) निरन्तर (अवस्थिति न ददासि) पदार्थकी स्थिरताका उपदेश नही देते है (च) और (नित्य) सदा (आत्ममहिम्नि) आत्मस्वरूपकी महिमामे (अनवस्था) अस्थिरताको (न च) नही (उत्थापयसि) उठाते है—दूर करते है (येन) यही कारण है कि जिससे (ते) आपका (अद्भुतचिदुद्गमचुञ्चु) आश्चर्यकारक चैतन्य ज्योतिसे प्रसिद्ध (अय) यह (उच्चै) उत्कृष्ट (स्वभाव.) स्वभाव (एकोऽपि) एक होनेपर भी (विधिनिषेधमयः) अस्ति नास्तिरूप है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका उपदेश है कि ससारके प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य हैं। आत्माका जो ज्ञानस्वभाव है उसमें भी मतिज्ञान आदि अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा परिणमन होता रहता है। अरहन्त सिद्ध अवस्थामे प्रकट होनेवाले केवलज्ञानमे भी अगुरुलघुगुणके कारण अवान्तर परिणमन प्रति समय होता है। ससारका कोई पदार्थ सदा अवस्थित-कूटस्थ नित्य रहता है ऐसा उपदेश आपका नहीं है और आत्मस्वभावमे अनवस्था-सर्वथा अनित्यता है, इसे भी आप स्वीकृत नही करते। इस तरह आपका ज्ञायकस्वभाव सामान्यकी अपेक्षा एक होनेपर भी उभय नयकी अपेक्षा विधि और निषेध स्वभावको लिये हुए है। तात्पर्य यह है कि आत्माका ज्ञायक स्वभाव स्व द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा विधि-अस्तिरूप है और पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा निषेध-नास्तिरूप है ॥५॥

यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति
निर्माणमेव सहजप्रविजृम्भितं ते ।
तस्मात्सदा सदसदादिविकल्पजालं
त्वय्युद्विलासमिदमुत्प्लवते न चित्रम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) जिस कारण (ते) आपका (इद) यह (सहजप्रविजृम्भितं) सहज स्वभावोत्पन्न (निर्माणमेव) निर्माण ही (विधिनिषेधमय) विधि और निषेधरूप (चकास्ति) शोभायमान हो रहा है (तस्मात्) इसलिए (त्वयि) आपमे (इद) यह (उद्विलास) प्रकट रूपसे अनुभवमे आनेवाला (सदसदादिविकल्पजाल) सत् असत् आदि विकल्पोका समूह (उत्प्लवते) उच्छलित हो रहा है यह (न चित्रम्) आश्चर्यकी बात नही है।

भावार्थ—आत्माका जो ज्ञायक स्वभाव है वह स्वत. स्वभावसे समुत्पन्न है क्योकि पदार्थका स्वभाव परनिरपेक्ष होता है मात्र उसका विभाव परसापेक्ष रहता है, जैसे जीवका ज्ञान-स्वभाव किसी अन्य पदार्थोके निमित्तसे उत्पन्न नही है परन्तु उसका रागादिक विभाव चारित्र-मोह कर्मके उदयसे समुत्पन्न है। इस प्रकार सहज स्वभावसे समुत्पन्न जीवका ज्ञायक स्वभाव विधि और निषेधरूप है—सामान्य विशेषकी अपेक्षा नित्यानित्यात्मक, एकानेक तथा स्वपर-चतुष्टयकी अपेक्षा तदतद्रूप है। जब सहज-स्वभाव ही इस प्रकारका है तब उसमे जो सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य अनित्य तथा तद् अतद् आदिके विकल्प उछल रहे है उसमे आश्चर्य ही किस बातका है ? ॥६॥

भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना
शून्यः परस्य विभवेन भवस्यभावः ।
यातोऽप्यभावमयतां प्रतिभासि भावो
भावोऽपि देव ! बहिरर्थतयास्यभावः ॥७॥[1]

---

१. 'बहिरर्थतया असि अभाव.' इति पदच्छेद ।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (सहजेन धाम्ना अतिभृतः) सहज तेजसे अत्यन्त भरे हुए होनेसे आप (भावो भवसि) भावरूप हैं—सत्तारूप हैं और (परस्य विभवेन शून्यः) पर पदार्थके विभवसे शून्य होनेके कारण आप (अभावः भवसि) अभावरूप है। इस तरह आप (अभावमयता यातोऽपि) अभावरूपताको प्राप्त होकर भी (भावः प्रतिभासि) भावरूप प्रतिभासित होते हैं और (भावोऽपि) भावरूप होकर भी (बहिरर्थतया) बाह्य पदार्थकी अपेक्षा (अभावः अस्ति) अभावरूप हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌का अस्ति-नास्तिरूप धर्मोसे स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे देव ! आप स्वकीय तेजसे अत्यन्त भरे हुए होनेसे अस्तिरूप है और पर द्रव्यके स्वभावसे शून्य होनेके कारण नास्तिरूप है इस तरह अनेकान्तकी दृष्टिसे आप भावाभावरूप है। अर्थात् अस्ति-नास्ति या विधि-निषेधरूप है।

तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव
स्वामिन्नमी सहभुवः प्रतिभान्ति भावाः ।
तैरेव कालकलनेव कृतोर्ध्वखण्डै-
रेको भवान् क्रमविभूत्यनुभूतिमेति ॥८॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे भगवन् ! (तिर्यग्विभक्तवपुषः) काल क्रमसे पृथक्-पृथक् शरीर धारण करनेवाले (भवतः) आपके (ये एव अमी) जो ये (सहभुवः भावाः) सहभावी गुण (प्रतिभान्ति) सुशोभित हो रहे है (कालकलनेव) कालक्रमकी अपेक्षासे (कृतोर्ध्वखण्डै) ऊर्ध्वद्रव्यरूप उत्तर विभागोसे सहित (तै एव) उन्ही सहभावी—गुणोकी अपेक्षा (भवान्) आप (एक) एक होते हुए (क्रमविभूत्यनुभूति) क्रमवर्तित्वकी अनुभूतिको (एति) प्राप्त होते है।

भावार्थ—यहाँ भगवान् का एकत्व और अनेकत्व धर्मोसे स्तवन किया गया है। भगवान्‌ने अतीत अनेक पर्यायोमे पृथक्-पृथक् शरीर धारण किये हैं अतः उन पर्यायोकी अपेक्षा वे अनेक रूप है, परन्तु उन समस्त पर्यायोमे जो ज्ञानादिक गुण साथ-साथ रहे है, उन गुणोकी अपेक्षा वे एकरूप है। यद्यपि काल द्रव्यकी सहायतासे उन ज्ञानादिक गुणोमे भी परिणमन होता है परन्तु उस परिणमनकी विवक्षा नही की गयी है। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप शरीरसम्बन्धी भवोंकी अपेक्षा अनेक है और गुणोकी अपेक्षा एक है ॥ ८ ॥

एवं क्रमाक्रमविवर्त्तिविवर्त्तगुप्तं
चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्तः ।
एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारा-
भ्रिस्सारमद्य हृदयं जिन दीर्यतीव ॥९॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (एव) इस प्रकार (क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तगुप्त) क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तों—परिणतियोसे सुरक्षित (चिन्मात्रमेव) चैतन्यमात्र ही (तव) आपका (तत्त्वं) स्वरूप है ऐसा (अतर्कयन्तः) नही समझनेवाले अज्ञानी जन (एतज्जगति) इस संसारमे (निस्सारं) व्यर्थ ही (उभयतः) दोनों पक्षोका (अतिरसप्रसारात्) अत्यधिक आग्रहके प्रसारसे (भ्रमन्ति) भ्रमण करते रहते हैं। यह जानकर (अद्य) इस समय (हृदयं) हृदय (दीर्यतीव) विदीर्ण-सा हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! रागद्वेषादि विकारी भावोंसे रहित शुद्ध चैतन्य ज्योति—ज्ञाता-द्रष्टापन ही आपका स्वरूप है और यह स्वरूप भी क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती—पर्याय और गुण-रूप परिणतियोंसे युक्त है। इस ज्ञान दर्शनरूप चैतन्य ज्योतिमे भी ज्ञान दर्शनकी अवान्तर परिणतियाँ निरन्तर होती रहती है। परन्तु अज्ञानी जन आपके इस स्वाश्रित तत्त्वको न समझ-कर देहादि परद्रव्याश्रित विभावको अपना स्वरूप समझते हैं, इसी कारण वे अपने एकान्त कदाग्रहसे भ्रमण करते हैं। वास्तविक स्वरूपके अश्रद्धानका इतना भारी कुफल उन्हे भोगना पडता है यह ज्ञान कर हृदयमे बड़ी पीड़ा होती है ॥ ९ ॥

आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्भुतश्रीः
सद्यः प्रणश्यति सदा सकलः सपत्नः ।
वीर्ये विशीर्यति पुनस्त्वयि दृष्टनष्टे
नात्मा चकास्ति विलसत्यहितः सपत्नः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (इह) इस ससारमे (अद्भुतश्रीः) अनन्त चतुष्टयरूप आश्चर्यकारक लक्ष्मीसे युक्त (त्वम्) आप (यदा) जिस समय (आलोक्यसे) दृष्टिगोचर होते है—प्राणियोकी श्रद्धाके भाजन होते है (तदा) उस समय (सद्य) शीघ्र ही उनके (सकलः सपत्नः) समस्त—अन्तर बाह्य शत्रु (प्रणश्यति) नष्ट हो जाते है। और (वीर्ये विशीर्यति) सम्यक्त्वरूप बलके नष्ट होनेपर (पुन) फिर जब (त्वयि) आप (दृष्टनष्टे) श्रद्धासे हट जाते है—वे आपकी श्रद्धा छोड़ देते है तब उनको (आत्मा) आत्मा (न चकास्ति) प्रतिभासित नही होता अर्थात् स्वानुभूति नही होती, किन्तु (अहित सपत्न) अहितकारी शत्रु रागादि (विलसति) उच्छलित होने लगते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब यह जीव, अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे युक्त आपकी श्रद्धा करते है तब उनके मिथ्यादर्शन आदि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते है, परन्तु जब उनका सम्यक्त्वरूपी बल विशीर्ण हो जाता है—तो वे फिरसे मिथ्यादृष्टि होकर आपकी श्रद्धासे च्युत हो जाते है तब वे फिर ससार भ्रमणके पात्र हो जाते है। मिथ्यादृष्टि अवस्थामे उन्हे पुनः अहितकारी रागादि शत्रु घेर लेते है ॥ १० ॥

नित्योदिते निजमहिम्नि विमग्नविश्वे
विश्वातिशायिमहसि प्रकटप्रतापे ।
सम्भाव्यते त्वयि न संशय एव देव
दैवात् पशोर्यदि परं चिदुपप्लवः स्यात् ॥११॥

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्र ! (निमग्नविश्वे) जिसमे समस्त ससार निमग्न है—ज्ञेय बनकर प्रतिबिम्बित हो रहा है, (विश्वातिशायि महसि) जिसका तेज सबको अतिक्रान्त करनेवाला है (प्रकटप्रतापे) जिसका प्रभाव प्रकट है जो (निजमहिम्नि) आत्मतत्त्वकी महिमासे युक्त है तथा (नित्योदिते) जो निरन्तर उदित हैं ऐसे (त्वयि) आपके विषयमें (संशय एव) संशय ही (सभाव्यते न) संभव नही है (दैवात्) दुर्भाग्यसे (यदि) यदि किसीके (चिदुपप्लवः) चैतन्यमे भ्रान्ति होती है तो (परं) केवल (पशोः स्यात्) अज्ञानी जीवके ही होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके सर्वज्ञ स्वभावमे संशयका अवकाश नही है, अर्थात् आपकी अश्रद्धा हो ही नहीं सकती। दुर्भाग्यवश मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आनेसे यदि किसीके चित्स्वरूप-मे भ्रान्ति होती है तो वह अज्ञानी ही है ऐसा समझना चाहिए ॥११॥

विश्वावलेहिभिरनाकुलचिद्विलासैः
प्रत्यक्षमेव लिखितो न विलोकयसे यत् ।
बाह्यार्थसक्तमनसः स्वपतस्त्वयीश
नून पशोरयमनध्यवसाय एव ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (विश्वावलेहिभि·) समस्त पदार्थोंको जाननेवाले (अनाकुल-चिद्विलासै) आकुलता रहित चैतन्यविलास-वीतराग विज्ञानके द्वारा आप (प्रत्यक्षमेव लिखित.) प्रत्यक्ष ही प्रकट है फिर भी (न विलोकयसे यत्) किसी अज्ञानी जीवको जो आपका दर्शन नही हो रहा है—आपकी श्रद्धा नही हो रही है सो (बाह्यार्थसक्तमनस·) बाह्य पदार्थोमे जिसका मन लग रहा है तथा (त्वयि) आपके विषयमे जो (स्वपत:) सो रहा है उस (पशो:) अज्ञानी जीवका (नून) निश्चयसे (अयं) यह (अनध्यवसाय एव) अज्ञान ही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जो सर्वज्ञ तथा वीतराग विज्ञान स्वभाव है उसीसे आपकी सत्ता समस्त संसारसे पृथक् सिद्ध हो रही है इतने पर भी यदि किसी प्रमादी जीवको आपका दर्शन न हो—आपकी श्रद्धा न हो तो उसे उसका ही अपराध समझना चाहिए। जिसे मध्याह्नका देदीप्यमान सूर्य दिखाई नही देता उसकी दृष्टिमें ही विकार समझना चाहिए ॥ १२ ॥

रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरिवार्था-
नेकैकमेष जिन चर्वति किं वराकः ।
त्वामेककालतुलितातुलविश्वसारं
सुस्वैकशक्तिमचलं विचिनोति किन्न ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र (ननु) निश्चयसे (रोमन्थमन्थरमुखो गौरिव) जिस प्रकार जुगाली करनेवाला बैल ग्रासके एक-एक अशको निकाल कर चबाता है उसी प्रकार (एष वराक) यह बेचारा प्राणी (अर्थान्) पदार्थोंको (एकैक) एक-एक कर (कि चर्वति) क्यो चबाता है—क्यो जानता है ? (एककालतुलितातुलविश्वसार) एक ही साथ समस्त विश्वको जाननेवाले (सुस्वैक-शक्ति) श्रेष्ठ आत्मबलसे युक्त (अचल) अचल-अविनाशी (त्वा) आपका (कि न विचिनोति) क्यों नही आश्रय करता ?

भावार्थ—जिस प्रकार रोमन्थ करनेवाला बैल, खाये हुए पदार्थोंको क्रम-क्रमसे निकाल कर चबाता है, सबको एक साथ नही चबा सकता उसी प्रकार यह जीव क्षायोपशमिक ज्ञानकी प्रक्रिया-के कारण एक-एक पदार्थको क्रम-क्रमसे जान पाता है। आचार्यको जीवकी इस विवशतापर करुणा-भाव होता है अत· वे कहते है कि यह बेचारा प्राणी ऐसा क्यो करता है। ससारके समस्त पदार्थों-को एक साथ जाननेवाले आपका चिन्तन वह क्यों नही करता है, क्योंकि आपका चिन्तन-मनन-

श्रद्धान उसे सर्वज्ञ तथा सर्व द्रष्टा बना देगा। ऐसा होनेसे वह भी आपके ही समान समस्त पदार्थोंको एक साथ जानने देखने लगेगा ॥१३॥

स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं
गण्डूष एव विहितः किल बोधसिन्धुः।
यस्योर्मयो निजभरेण निपीतविश्वा
नैवोच्छ्वसन्तिः हठकुड्मलिताऽस्फुरन्त्यः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (स्वस्मिन् निरुद्धमहिमा) अपने आपमे जिसकी महिमा समायी—रुकी हुई है ऐसा (अयं) यह (बोधसिन्धुः) ज्ञानरूपी सागर (किल) निश्चयसे (त्वया) आपके द्वारा (गण्डूष एव विहित.) एक घूंट—चुल्लूभररूप ही कर लिया गया है। (निजभरेण) अपने विस्तारसे (निपीतविश्वाः) विश्वको व्याप्त करनेवाली (यस्य) जिसकी (स्फुरन्त्य) प्रकट (ऊर्मय·) लहरे (हठकुड्मलिता) बलात् सकोचित होनेके कारण (नैव उच्छ्वसन्ति) सर्वत्र फैल नही पाती।

भावार्थ—अन्यत्र प्रसिद्ध है कि एक बार अगस्त्य ऋषिने समुद्रको चुल्लूमे भरकर पी लिया था जिससे समुद्रकी समस्त लहरे उन्हीके उदरमे सकोचित होकर रह गई थी। यहाँ ऐसी ही कल्पना करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आपने ज्ञानरूपी सागरको अपने आपमे निरुद्ध कर लिया है। एक चुल्लूभर पानीके समान उसे अपने आपमे विलीन कर लिया है, इसीलिए उसकी लहरे अपने आपमे केन्द्रित हो गयी है। फलितार्थ यह है कि आप निश्चयसे आत्मज्ञ है और व्यवहारसे लोकालोकज्ञ[1] ॥१४॥

त्वद्वैभवैककणवीक्षण(विस्मयोत्थ)विश्वयोत्थ-
सौस्थित्यमन्थरदृशः किमुदासतेऽमी।
तावच्चरित्रकरपत्रमिदं स्वमूर्ध्नि
व्यापारयन्तु सकलस्त्वमुदेषि यावत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वद्वैभवैककणवीक्षणविस्मयोत्थसौस्थित्यमन्थरदृश.) आपके वैभवके एक अंशके देखनेमे उत्पन्न आश्चर्यसे समुद्भूत सुखसे जिनके नेत्र कुछ निमीलित हो रहे है ऐसे (अमी) ये भव्य जीव (किम् उदासते) क्यो उदासीन हो रहे है? ये (स्वमूर्ध्नि) अपने मस्तक-पर—अहकारपर (इद) इस (चरित्रकरपत्र) चारित्ररूपी करोतको (तावत्) तबतक (व्यापारयन्तु) चलावें (यावत्) जबतक (सकल त्वम्) समस्त कलाओसे युक्त (त्वम्) आप (उदेषि) उदित होते है।

भावार्थ—यहाँ भगवान्के बाह्य वैभवके देखनेमात्रसे सन्तुष्ट हो जानेवाले भव्य प्राणीसे कहा गया है कि तुम इतने मात्रसे संतुष्ट होकर आगे बढनेके लिए उदासीन क्यो हो रहे हो। अपने मस्तकपर चारित्ररूपी करोत चलाओ अर्थात् चारित्र धारणकर अपने अहंकारको नष्ट करो। ऐसा

---

१ जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥ नियमसार

करनेसे सकल परमात्माका अपने आप स्वयं साक्षात्कार हो जावेगा अथवा तुम स्वतः सकल परमात्मा बन जाओगे। जैनेतर पुराणोमे एक कथा है कि एकबार दशानन-रावण शंकरजीको प्रसन्न करनेके लिए अपने मस्तक काटकर अग्निकुण्डमे होम करने लगा इस तरह वह जब नौ मस्तक काट चुका और दशवाँ मस्तक काटनेके लिए उसपर शस्त्र चलाने लगा तब शंकरजीने प्रकट होकर उसे वरदान दे दिया कि तूँ देवोके द्वारा अजय होगा—तुझे कोई देव जीत नही सकेगा। मनुष्यको रावण कुछ समझता ही नही था, इसलिए उसने मात्र देवोंसे अपने आपको अजेय होनेका वरदान माँगा था। इसी लौकिक कथाको दृष्टिमे रखते हुए कहा गया है कि हे प्राणी ! तूँ अपने मस्तकपर—अपने अहंकारपर चारित्ररूपी शस्त्र चला। ऐसा करनेसे ही तुझे शुद्धात्मरूप भगवान्‌के दर्शन हो सकेंगे और तूँ लोकमे अजेय हो सकेगा। जबतक अहकार विद्यमान रहता है तबतक न परमात्माके दर्शन होते है और न यह जीव स्वय परमात्मा बन सकता है। अहंकारको नष्ट करनेके लिए चारित्र ही परम सहायक है ॥ १५ ॥

ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं
तीव्रैस्तपोभिरभितस्त इमे रमन्ताम् ।
ज्यायन्न कोऽपि जिन साधयतीह कार्यं
कार्यं हि साधनविधिप्रतिबद्धमेव ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (ये) जो (तीव्रै: तपोभि:) कठिन तपके द्वारा (तव) आपके (सिद्धरूपं) सिद्धस्वरूपको (साधयन्ति) साधते है—प्राप्त करनेका प्रयत्न करते है (त इमे) वे ये (अभित.) सब ओर इसी संसारमे (रमन्ताम्) रमण करें—उनका मात्र कठिन तप आपके सिद्ध—शाश्वत शुद्ध स्वभावको प्राप्त करानेवाला नही है। (ज्यायन् जिन) हे श्रेष्ठतम जिनेन्द्र। (इह) इस ससारमे (कोऽपि) कोई भी व्यक्ति (कार्यं न साधयति) कार्यको नही साधता है (हि) क्योकि (कार्यं) कार्य (साधनविधिप्रतिबद्धमेव) साधनकी विधिसे स्वय हो सबद्ध होता है।

भावार्थ—यहाँ कहा गया है कि आत्मज्ञानके बिना कठिनमे कठिन तप भी सिद्धस्वरूपको प्राप्त करानेमे समर्थ नही है। उस तपके समय जो कषायमे मन्दता होती है उसके फलस्वरूप यह जीव पुण्य बन्ध कर स्वर्गादिक रम्य स्थानोको ही प्राप्त होता है, शाश्वत सुखदायक सिद्धपदको नही। साथ ही इस जीवके कर्तृत्व विषयक अहकारको नष्ट करनेके लिए कहा गया है कि इस ससारमे अन्तरङ्ग कारणकी अनुकूलताके बिना मात्र बाह्य कारणसे कार्यको सिद्ध करनेके लिए कोई समर्थ नही है। ससारका प्रत्येक कार्य अपने अन्तरङ्ग कारणसे सबद्ध रहता है। उस अन्तरङ्ग कारणके अनुरूप बहिरङ्ग कारण कार्यकी सिद्धिमे सहायक होता है ॥१६॥

विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते ।
अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (यदि) यदि (इमे विज्ञानतन्तव) ये विज्ञानरूपी तन्तु (स्वरसप्रवृत्ता:) स्वकीय स्वभावमे प्रवृत्त होते हुए (द्रव्यान्तरस्य) अन्य द्रव्यकी (संघटनात्) रचनासे

(च्यवन्ते) च्युत होते हैं—अन्य द्रव्यके कर्तृत्वके अहंकारसे निवृत्त होते है तो (पुष्कलमलाकुल-कश्मला) बहुत भारी मलसे परिपूर्ण तथा मलिन (इयं) यह (अखिलैव) सबकी सब (कषायकन्था) कषायरूपी कथरी (अद्यैव) आज ही (विघटेत) विघटित हो जावे ।

भावार्थ—उपादान कारणकी अपेक्षा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही होता, क्योकि कर्ता स्वय ही कार्यरूप परिणत होता है । अत वह कर्तृकर्मभाव एक द्रव्यमे ही घटित होता है, दो द्रव्योमे नही, परन्तु यह जीव, मात्र निमित्त कारणकी ओर दृष्टि देकर अपने आपको पर द्रव्यका कर्ता मान रहा है । इसी कर्तृत्व बुद्धिके कारण यह जीव जिस पर द्रव्यको अपने द्वारा किया हुआ मानता है उसके विषयमे ममता भाव करता है और उसी ममता भावके कारण उसकी इष्ट अनिष्ट परिणतिमे राग-द्वेषरूप कषाय करता है । जीवकी यह कषाय एक कन्था—कथरीके समान है, जिस प्रकार कन्था अनेक जीर्ण वस्त्रोको धागासे सीकर बनाई जाती है तथा धीरे-धीरे वह अत्यन्त मैली और ग्लानिजनक हो जाती है उसी प्रकार यह कषाय भी कर्तृत्व बुद्धिरूपी धागेसे सीकर अनेक पर भावोके द्वारा उत्पन्न होती है । यदि इस जीवके सम्यग्ज्ञानरूपी तन्तु अपने ही आत्मद्रव्यमे रमण कर पर द्रव्य विषयक कर्तृत्वसे च्युत हो जावें तो इस कषायरूपी कन्थाके विघटित होनेमे बिलम्ब न लगे ॥१७॥

अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा
विज्ञानमुर्मुरकणा विचरन्त एते ।
शक्यन्त एव सपदि स्वपदे विधातुं
संपश्यता तव विभो विभवं महिम्नः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ ! (तव) आपकी (महिम्न.) महिमाके (विभवं) वैभवको (सपश्यता) देखनेवाले पुरुषके द्वारा (अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा:) अज्ञानरूपी वायुके वेगसे बिखिर कर (विचरन्त') इधर-उधर विचरते हुए (एते) ये (विज्ञानमुर्मुरकणा) विज्ञानरूपी तुषाग्निके कण (स्वपदे) आत्मपदमे (सपदि एव) शीघ्र ही (विधातुं शक्यन्ते) सुस्थिर किये जा सकते है ।

भावार्थ—यहा जीवके क्षायोपशमिक ज्ञानको तुषाग्निकी उपमा दी गई है और अज्ञान—मिथ्यादर्शन तथा कषायको वायुकी उपमा प्रदान की गई है । जिस प्रकार वायुके तीव्र वेगसे तुषाग्निके कण (तिलगे) बिखरकर इधर-उधर उडने लगते हैं उसी प्रकार इस जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान मिथ्यात्व और कषायसे प्रेरित हो इधर-उधर पञ्चेन्द्रियोके विषयोमे प्रवृत्त हो रहा है । हे भगवन् ! जो भव्य प्राणी आपके अनन्त चतुष्टयरूप वैभवकी ओर लक्ष्यकर इस प्रकारका विचार करता है कि जिस प्रकार इन्होने मिथ्यात्व और कषाय जनित चञ्चलताको दूरकर अपने ज्ञानोपयोगको अपनी ही आत्मामे केन्द्रितकर अनन्तचतुष्टयरूप ऐश्वर्यको प्राप्त किया है उसी प्रकार मै भी मिथ्यात्व और कषायजनित चञ्चलताको दूर कर अपने ज्ञानोपयोगको यदि अपनी ही आत्मामे केन्द्रित करूँ तो मै भी अनन्त चतुष्टयरूप वैभवको प्राप्त कर सकता हूँ । इस तरह स्वरूपकी ओर लक्ष्य करनेसे जो अपने ज्ञानको एक आत्मामे ही केन्द्रित करता है वह शुक्ल-ध्यानको प्राप्त कर कर्मक्षय करनेमे समर्थ होता है ॥१८॥

बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामाः
कस्माद् वहन्ति पशवो विषयाभिलाषम् ।
प्रागेव विश्वविषयानभिभूय तान्न (जान्)
किं बोधमेव विनियम्य न धारयन्ति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(बोधातिरिक्त) ज्ञानसे भिन्न (इतरत्) अन्य (फल) फलको (आप्तुकामा:) प्राप्त करनेके इच्छुक (पशव:) अज्ञानी जीव (विषयाभिलाष) विषयोकी इच्छाको (कस्मात्) क्यों (वहन्ति) धारण करते है (प्रागेव) पहले ही (विश्वविषयान्) समस्त विषयोको (अभिभूय) उपेक्षित कर (तान् विनियम्य) इन्द्रियोको रोककर—इन्द्रियोकी प्रवृत्तिको नियन्त्रित कर (बोधमेव) ज्ञानको ही (किं न धारयन्ति) क्यों नहीं धारण करते है ।

भावार्थ—जीवका स्वभाव मात्र ज्ञाता द्रष्टा है परन्तु मोहोदयजनित विकार भावके कारण ये जीव अपने स्वभावको भूलकर पञ्चेन्द्रियोके विषयोमे सलग्न हो रहे है। उन्हीकी प्राप्तिमे इतना ज्ञान लग रहा है तथा शरीरकी प्रवृत्ति भी उसी ओर सलग्न है। जब यह वस्तुस्थिति है कि जीव अपने ज्ञानस्वभावको छोडकर अन्य पदार्थोके स्वामी नही बन सकते तब वे अन्य पदार्थोकी अभिलाषा क्यो करते है ? क्यो नही पहले ही समस्त विषयोकी उपेक्षा कर अपने ज्ञानस्वभावको धारण करते है। यदि स्वस्वभावकी ओर इन जीवोका लक्ष्य बनता है तो बाह्य प्रवृत्तिसे इसकी निवृत्ति अनायास हो सकती है ॥१९॥

यैरेव देव पशवोऽशुभिरस्तबोधा
विष्वक्कषायकणकर्बुरतां वहन्ते ।
विश्वावबोधकुशलस्य महार्णवोऽभूत्
तैरेव ते शमसुधारसशीकरौघः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (अस्तबोधा) सम्यग्ज्ञानसे रहित (पशव) अज्ञानी जीव (यैरेव अंशुभि) जिन ज्ञानरूप किरणोके द्वारा (विष्वक्) सब ओरसे (कषायकणकर्वुरता) कषायांशजनित विचित्रताको (वहन्ते) धारण करते है (तैरेव) उन्ही ज्ञानरूप किरणोके द्वारा (विश्वावबोधकुशलस्य ते) समस्त पदार्थोके जाननेमे निपुण आपका (शमसुधारसशीकरौघ) प्रशमभावरूप सुधारसके कणोका समूह (महार्णव) महासागर (अभूत्) बन गया है ।

भावार्थ—अज्ञानी जीवोका ज्ञान, मिथ्यात्व तथा कषायसे दूषित रहता है अत वे उस ज्ञानके द्वारा निरन्तर कषायजनित विचित्रताको धारण करते है और उस विचित्रताके कारण ही निरन्तर दु खी रहते है। जो ज्ञान सुखका कारण है वही अज्ञानी जनोके कषायजनित विकारी भावोसे दु खका कारण बन रहा है, परन्तु हे भगवन् ! आपका ज्ञान कषायजनित विकारोसे रहित होनेके कारण अनन्त सुखका निमित्त है। इसीलिए आपका आकुलतारहित अल्प सुख आपके सर्वज्ञ होते ही अनन्तसुखका सागर बन जाता है ॥२०॥

ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूत-
कर्तृत्वशान्तमहसि प्रकटप्रतापे।
संविद्विशेषविषमेऽपि कषायजन्मा
कृत्स्नोऽपि नास्ति भवतीश विकारभारः॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूतकर्तृत्वशान्तमहसि) ज्ञाता द्रष्टा शक्तिके कारण जिनके कर्तृत्वका भाव बलपूर्वक नष्ट हो गया है (प्रकटप्रतापे) जिनका प्रताप अत्यन्त प्रकट है तथा जो यद्यपि (संविद्विशेषविषमेऽपि) विशिष्ट ज्ञानसे विषम है तथापि (भवति) आपमें (कषायजन्मा) कषाय जनित (कृत्स्न अपि) सभी (विकारभारः) विकारोंके समूह (नास्ति) नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें अच्छी तरह स्थिर हो चुके हैं, इसलिए आपका परद्रव्य विषयक कर्तृत्वका भाव बिलकुल शान्त हो चुका है। आपका लोकोत्तर प्रभाव प्रकट है इसीलिए सौ इन्द्र आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं। यद्यपि आपका सामान्य ज्ञान, केवलज्ञान नामक विशिष्ट ज्ञानरूप परिणत हो रहा है और उसकी स्वच्छताके कारण उसमें अनन्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं फिर भी उन ज्ञेयोंसे समुत्पन्न कोई व्यग्रता आपमें नहीं है। इस तरह आपके वीतराग विज्ञानमें कषायजनित विकारोंका अंश भी शेष नहीं है। आप पूर्णतया निर्विकार ज्ञानके धारक हैं॥२१॥

संप्रत्यसङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्र-
प्रौढप्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्।
सम्भाव्यते सहजनिर्मलचिद्विलासै-
र्नीराजयन्निव महस्तव विश्वमेतत्॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (संप्रति) इस समय (असङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्रप्रौढप्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्) विस्तृत तथा पूर्ण शक्ति समूहके प्रौढ प्रकाशके वेगसे सुप्रभातको प्रकट करनेवाला (तव) आपका (एतत्) यह (महः) तेज (सहजनिर्मलचिद्विलासैः) स्वाभाविक तथा निर्मल चैतन्यके चमत्कारसे (विश्वं नीराजयन्निव) समस्त विश्वकी आरती करता हुआ-सा (सम्भाव्यते) जान पड़ता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी आत्मामें अनन्त शक्तियोंका समूह विद्यमान है। यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामें उन शक्तियोंका पूर्ण विकास नहीं था परन्तु अब सर्वज्ञ दशामें वे सभी शक्तियाँ अपने स्वभावानुसार विस्तार और पूर्णताको प्राप्त हो रही हैं। उन सभी शक्तियोंमें ज्ञातृत्वशक्ति प्रमुख शक्ति है, क्योंकि इस शक्तिसे प्रकट हुआ ज्ञान स्वपरावभासी होनेसे अपने आपको तथा साथ ही विद्यमान अन्य शक्तियोंको प्रकट करता है। इस ज्ञातृत्व शक्तिका पूर्ण विकास होते ही अन्य सभी शक्तियोंका पूर्ण विकास हो जाता है। ज्ञातृत्व शक्तिका पूर्ण विकास केवलज्ञान होनेपर होता है। उस केवलज्ञानके समय समस्त विश्व आत्मामें अन्त प्रतिफलित होने लगता है। आपका यह केवलज्ञान अपने चैतन्य चमत्कारसे समस्त विश्वकी आरती करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा है॥२२॥

चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः
शुम्भत्स्वभावरसवीचिभिरुद्धुराभिः ।
उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः
प्रत्यक्षमेव हि महस्तव तर्कयामः ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः) चैतन्यके भारसे उत्कट तेज-समूहसे परिपूर्ण (उद्धुराभिः) बहुत विशाल (स्वभावरसवीचिभिः) स्वाभाविक सुख रसकी तरङ्गोसे (शुम्भत्) सुशोभित होनेवाला (तव) आपका यह (महः) तेज (हि) निश्चयसे (प्रत्यक्षमेव) प्रत्यक्ष ही प्रकट हो रहा है ऐसा हम (तर्कयामः) समझते है, क्योकि (उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः) उस तेजके प्रकाशसे हमारे कातर नेत्र हठात् निमीलित हो रहे है।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण आपका स्वाभाविक तेज सबके प्रत्यक्ष है, उस तेजकी चकाचौधसे ही हमारे नेत्र निमीलित हो रहे है। तात्पर्य यह है कि हम अपने क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा आपके पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावकी महिमाके आँकनेमे असमर्थ है ॥२३॥

विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते
नित्योदितैकमहिमन्युदिते त्वयीति ।
एकैकमर्थमवलम्ब्य किलोपभोग्य-
मद्याप्युपप्लवधियः कथमुत्प्लवन्ते ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इति) इस प्रकार ज्ञानके द्वारा (विश्वैकभोक्तरि) समस्त विश्वके एक भोक्ता (विभौ) सामर्थ्यवन्त (भगवति) ऐश्वर्यवन्त (अनन्ते) अन्तरहित और (नित्योदितैक-महिमनि) निरन्तर उदित अद्वितीय महिमासे युक्त (त्वयि) आपके (उदिते) उदित रहते हुए (अद्यापि) आज भी (किल) निश्चयसे (उपभोग्य एकैकमर्थं) अपने भोगके योग्य—अपने स्वार्थको सिद्ध करनेवाले एक-एक अर्थका (अवलम्ब्य) आश्रय ले कर (उपप्लवधियः) विरुद्ध बुद्धिके धारक मिथ्यादृष्टि पुरुष (कथं) क्यो (उत्प्लवन्ते) उछल-कूँद कर रहे है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जैसे सर्वशक्तिसम्पन्न त्रिलोकीनाथके रहते हुए भी अज्ञानी जन, अपने भौतिक प्रयोजनकी सिद्धिका अभिप्राय रख एकान्तवादका आश्रय ले उछल-कूँद करते है यह आश्चर्यकी बात है ॥ २४ ॥

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि[1] ॥ २५ ॥

---

[1] एष श्लोक समयसारकलशे २७० क्रमाङ्कितो वर्तते ।

अन्वयार्थ—(चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः) नाना आत्मशक्तियोंके समुदायरूप (अयं) यह (आत्मा) आत्मा (नयेक्षणखण्ड्यमानः) नय दृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ (सद्यः) शीघ्र ही प्रण श्यति) नष्ट हो जाता है (तस्मात्) इसलिये (अहम्) मै (अखण्डं) खण्डरहित (अनिराकृत-खण्डं) खण्डोंका सर्वथा निराकरण न करनेवाला (एक) एक (एकान्तशान्तं) अत्यन्त शान्त (अचलं) अविनाशी (चिद्) चैतन्य (महः अस्मि) तेजरूप हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! यह आत्मा अभेददृष्टिसे नाना शक्तियोंके समुदायरूप एक अखण्ड द्रव्य है परन्तु जब इसका भेद दृष्टिसे विचार करते हैं तब यह खण्डित होता हुआ नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अनेक तन्तुओके ताना-बानासे निर्मित वस्त्र एक स्वतन्त्र पदार्थ दिखता है परन्तु जब उसके एक-एक तन्तुको पृथक्-पृथक् कर विचार किया जाता है तब तन्तु ही सामने रह जाता है वस्त्र समाप्त हो जाता है। इसलिये हे नाथ ! मै इस भेद दृष्टिको गौण कर अभेद दृष्टिका आश्रय लेता हुआ अनुभव करता हूँ कि मै तो एक अखण्ड आत्मद्रव्य हूँ, गुण और गुणीका भी भेद मुझमे नही है, यद्यपि किसी दृष्टिसे उसमे खण्डकी कल्पना होती है तथापि मै इसे गौण कर अखण्डत्वका ही अनुभव करता हूँ, मैं सामान्य दृष्टिसे एक हूँ, क्रोधादि कषायजनित वैश्वरूप्य मेरा स्वभाव नही है, अत्यन्त शान्त हूँ, अपने त्रैकालिक ज्ञायक स्वभावसे कभी विचलित होनेवाला नही हूँ और चैतन्यसे तन्मय हूँ। इसी विधिसे मै आत्माका अस्तित्व सुरक्षित रख सकता हूँ ॥ २५ ॥

●

ॐ

(३)

मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य
योऽभूत् तवाविरतमुत्कलिकाविकासः ।
तस्य प्रभोऽद्भुतविभूतिपिपासिताना-
मस्माकमेककलयापि कुरु प्रसादम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अविरत) निरन्तर (मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य) मोक्षमार्गकी प्राप्तिसे उत्पन्न होनेवाले अलौकिक आनन्दसे अत्यन्त भरे हुए (तव) आपके (यः) जो (उत्कलिका-विकास) उत्कण्ठाका विकास (अभूत्) हुआ था (प्रभो) हे प्रभो ! (अद्भुतविभूतिपिपासिताना) आश्चर्यकारक विभूतिकी प्याससे युक्त (अस्माक) हम लोगोंके ऊपर (तस्य) उस उत्कण्ठा रसकी (एककलयापि) एक कलाके द्वारा भी (प्रसाद कुरु) प्रसन्नता कीजिये ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताको मोक्षमार्ग कहते है। इस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होते ही जब आपकी आत्मा, आत्मीय आनन्दसे परिपूर्ण हो गई तब साक्षात् मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए आपके हृदयमे जो उत्कण्ठा होती थी वह भी बहुत आनन्ददायक हुआ करती थी। गृहस्थीके बन्धनसे निर्मुक्त होकर मैने निराकुलताके पथको यद्यपि प्राप्त कर लिया है तथापि इस शरीररूप बन्धनको भी छोड़कर मोक्ष प्राप्ति कब करूंगा, ऐसी उत्कण्ठा रहती थी। हे भगवन् ! आपकी आश्चर्यकारक अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग विभूति देखकर हम लोगोको भी उसकी आकाक्षा उत्पन्न हो रही है। हे प्रभो ! अपनी उस उत्कण्ठाकी एक कला प्रदान कर हम लोगोपर भी प्रसन्नता कीजिये। हृदय-मे मोक्ष प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो जाना ही कल्याणपथका प्रारम्भ है अतः हे भगवन् ! आपके प्रसादसे इतना भाव तो मेरा प्रकट हो कि जिससे भोगाकाक्षा दूर होकर मेरे हृदयमे मोक्ष-की आकाक्षा उत्पन्न होने लगे ॥१॥

दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहाय मोह-
व्यूहं प्रसह्य समये भवनं भवंस्त्वम् ।
सामायिकं स्वयमभूर्भगवन्समग्र-
सावद्ययोगपरिहारवतः समन्तात् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे स्वामिन् ! (प्रसह्य) बलपूर्वक (मोहव्यूह) मोहके व्यूहको (अपहाय) छोड़कर (दृग्बोधमात्रमहिमनि) ज्ञानदर्शनमात्र महिमासे युक्त (समये) स्वकीय आत्मद्रव्यमें (समग्र-सावद्यपरिहारवतः) समस्त पापयोगके त्यागी पुरुषका (भवनं) लीन होना (सामायिकं) सामायिक है (समन्तात्) सब ओरसे (समये) स्वकीय आत्मद्रव्यमे (भवन्) लीन होते हुए (त्वम्) आप (स्वयं) स्वयं (सामायिकम्) सामायिक (अभूः) हुए थे ।

भावार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञानदर्शनरूप है इसीको स्वसमय कहते है। इस स्वसमयके प्रकट होनेमें मोहचक्र प्रबल शत्रुके रूपमे सामने आता है, परन्तु मोक्षका अभिलाषी जीव उन सब चमत्कारोंसे विमुख होकर स्वरूपमे ही रमण करता है उसका स्वरूपरमण ही वास्तविक सामायिक है। यह सामायिक, उसी जोवके निर्दोष होता है जो सावद्ययोगका पूर्णरूपसे त्यागी होता है। और हे भगवन्! इस उपर्युक्त सामायिक स्वरूप आप स्वयं है ॥२॥

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
त्वं द्रव्यभावमहिमानमबाधमानः।
स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्ययुङ्क्थाः॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभव: अपि) स्वतन्त्र—स्वाधीन भावसंयमके वैभवसे युक्त होनेपर भी (त्वं) आपने (अत्यन्तं) अत्यन्तरूपसे (इतरेतरसव्यपेक्षं) परस्पर सापेक्ष (द्रव्यभाव-महिमानम्) द्रव्य और भावकी महिमासे युक्त (एतं) इस सयमको (अबाधमान) बाधा न पहुँचाते हुए (प्रथम) पहले (स्व) अपने आपको (द्रव्यसयमपथे) द्रव्यसंयमके मार्गमे (न्ययुङ्क्था) नियुक्त किया था।

भावार्थ—द्रव्यसंयम और भावसंयमके भेदसे संयमके दो भेद है। चरणानुयोगमे प्रतिपादित पद्धतिके अनुसार निर्ग्रन्थमुद्रा धारण कर महाव्रतादिका आचरण करना द्रव्यसंयम है और सयमको घातनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षयोपशम होनेपर आत्मामे जो विरक्तिका भाव होता है उसे भावसंयम कहते है। ये दोनों ही संयम परस्पर अत्यन्त सापेक्ष है। द्रव्यसयमके बिना भावसंयम नही होता और भावसयमके बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नही होता। इन दोनोंकी अपनी-अपनी महिमा है। इन दोनोमे यद्यपि भावसंयम आत्माकी स्वाधीन परिणतिरूप है तथापि वह बाह्य आचरणरूप द्रव्यसयमकी अपेक्षा रखता है। उसके बिना भावसंयमकी उत्पत्ति और विकास नही हो सकता, इसलिए आपने भावसयमसे युक्त होते हुए भी अपने आपको प्रथम द्रव्य-संयमके मार्गमे नियुक्त किया था ॥३॥

विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा-
दन्तर्बहिः समतया तव भावितस्य।
आसीद् बहिर्द्वयमिदं सदृश प्रमेय-
मन्तर्द्वयोः परिचरः सदृशः प्रमाता॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(तपोनुभावात्) तपकी महिमासे (विश्रान्तरागरुषितस्य) जिनके राग और द्वेष विश्रान्त हो चुके है तथा (अन्तर्बहि) अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमे जो (समतया भावितस्य) समता-भावसे युक्त हैं ऐसे (तव) आपके लिए (इदं द्वयं) यह दोनो राग-द्वेष (बहि:) बाह्यमे (सदृशं) एक समान (प्रमेयं) प्रमाणके विषयभूत ज्ञेय (आसीत्) थे और (अन्त:) अन्तरङ्गमे आप (द्वयो:) दोनोंके (सदृशः परिचरः प्रमाता) एक समान व्यापक ज्ञाता थे।

भावार्थ—चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले राग-द्वेष आत्माकी विकारी परिणति हैं। जब प्रतिपक्षी कषायका अभाव होनेपर यह जीव तपश्चरणमे प्रवृत्त होता है तब तपके प्रभावसे उसके राग-द्वेष विश्रामको प्राप्त हो जाते है अर्थात् इष्ट पदार्थमे राग और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेषका भाव समाप्त हो जाता है। तपस्वी जीवकी आत्मा समताभावसे विभूषित हो जाती है। जैसे-जैसे यह जीव आगे बढता जाता है वैसे-वैसे इसकी रागद्वेषकी अनुभूति कम होती जाती है। दशम गुणस्थान तक रागद्वेष, सत्तामे अवश्य विद्यमान रहते हैं पर यह जीव उन्हे अनुभूतिका विषय न बनाकर ज्ञानका ज्ञेय बनाता है अर्थात् उन्हे जानता तो है पर अपने आपमे उनके स्वामित्वका भाव लाकर उनका अनुभविता नही बनता। ज्ञेय बनाता है, इस पक्षमे भी वह उन्हे बाह्य ज्ञेय ही बनाता है अन्तर्ज्ञेय नही, क्योकि अन्तर्ज्ञेय तो वह आत्माकी शुद्ध परिणतिको ही बनाता है। हे भगवन्! इस तरह राग-द्वेषको नष्ट कर आपने वीतराग परिणतिको प्राप्त किया है ॥४॥

मोहोदयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमिः
पश्यन् जनो यदिह नित्यबहिर्मुखोऽयम् ।
शुद्धोपयोगदृढभूमिमितः समन्ता-
दन्तर्मुखस्त्वमभवः कलयंस्तदेव ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(मोहोदयस्खलितबुद्धि:) मोहके उदयसे जिसकी बुद्धि स्खलित हो रही है और इसी कारण जिसे (अलब्धभूमि:) उपरितन गुणस्थानोकी भूमि प्राप्त नही हुई है ऐसा (अयं जन) यह पुरुष (इह) इस लोकमे (यत् पश्यन्) जिस तत्त्वको जानता हुआ (नित्यबहिर्मुख) निरन्तर बहिर्मुख रहता है (तदेव) उसी तत्त्वको (कलयन्) जानते हुए (त्वम्) आप (शुद्धोपयोगभूमिम् इत:) शुद्धोपयोगकी भूमिको प्राप्त होकर (समन्तात्) सब ओरसे (अन्तर्मुख:) अन्तर्मुख (अभव:) हुए।

भावार्थ—दर्शनमोहके उदयसे जिसका उपयोग दूषित हो रहा है और उसीके कारण जो मिथ्यात्व सम्बन्धी गुणस्थानोमे ही विद्यमान है ऐसा जीव ससारके अन्य पदार्थोके साथ यद्यपि जीव पदार्थको भी जानता है तथापि वह सदा बहिर्मुख ही रहता है, मोहोदयमे दूषित होनेके कारण शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर उसका झुकाव नही होता। शुभोपयोगके कालमे यद्यपि आत्म-रुचि प्रकट हो जाती है तथापि कषायजनित चञ्चलताके कारण उसकी आत्मस्वरूपमे स्थिरता नही हो पाती। परन्तु हे भगवन्! आप शुद्धोपयोगको प्राप्त हो चुके है, इसलिये उस आत्मतत्त्वको जानते हुए उसीमे निरन्तर अन्तर्मुख लीन रहते है ॥ ५ ॥

शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः
साक्षाद् भवन्नपि विचित्रतपोऽवगूर्णः ।
बिभ्रत् क्षयोपशमजाश्चरणस्य शक्तीः
स्वादान्तरं त्वमगमः प्रगलत्कषायः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (साक्षात्) साक्षात् (शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्य:) शुद्धो-पयोगसम्बन्धी आनन्दमें अत्यन्त बद्धलक्ष्य (भवन्) होते हुए भी जो (विचित्रतपोऽवगूर्ण:) नाना

प्रकारके तपश्चरण करनेमे उद्यत रहते थे, जो (क्षयोपशमजाः) चारित्र मोहनीयकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले (चरणस्य शक्ती) चारित्रबलको (बिभ्रत्) धारण करते थे तथा (प्रगलत्कषायः) जिनकी कषाय गल चुकी थी ऐसे (त्वम्) आप (स्वादान्तरम्) कषायजन्य रससे भिन्न आत्मरसको (अगमः) प्राप्त हुए।

भावार्थ—हे भगवन्! षष्ठ गुणस्थानमे यद्यपि आप अनशन, ऊनोदर आदि नाना तपोके करनेमे उद्यत रहते थे तथापि आपका लक्ष्य शुद्धोपयोगकी ओर ही संलग्न रहता था। आप प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभके क्षयोपशममे होनेवाले महाव्रतादि संयमाचरणको पालन करते थे। उस समय यद्यपि संज्वलनके उदयमे होनेवाली कषाय विद्यमान थी तथापि वह उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती थी। कषाय ही इस जीवके उपयोगको शुद्धात्मस्वरूपसे हटाकर अन्य विषयोंमे ले जाती है। चूँकि उस समय आपकी कषाय अत्यन्त क्षीण हो रही थी इसलिये स्वकीय शुद्धात्मरसको आप अच्छी तरह प्राप्त हुए—उसमे आपका उपयोग संलग्न रहता था॥ ६॥

वेद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्ती-
र्मत्वोल्लसन् द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः।
गाढं परीषहनिपातमनेकवारं
प्राप्तोऽपि मोहमगमो न न कातरोऽन्तः॥ ७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (वेद्यस्य) वेदनीयकर्मकी (उदयावलिकाः) उदयावलियोको (विष्वक्) सब ओर से (स्खलन्ती) स्खलित होती हुई (मत्वा) मानकर जो (उल्लसन्) स्वयं उल्लिसित होते हुए आप तथा (द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः) जिनका आश्चर्यकारी ज्ञान और आत्मबल दूना हो गया था ऐसे आप यद्यपि (अनेकबार) अनेकबार (गाढ) बहुत भारी (परीषहनिपातं अपि) परीषहके आक्रमणको भी (प्राप्त) प्राप्त हुए तथापि (मोहं) मोह-ममताको (न अगमः) प्राप्त नही हुए और (न अन्त कातर) न अन्तरङ्गमे भयभीत ही हुए।

भावार्थ—षष्ठ गुणस्थानकी भूमिकामे यदि कदाचित् परीषहोंका समूह उपस्थित हुआ तो आपने यही विचार किया कि इस समय असाता वेदनीदकर्मके निषेक उदयावलीमे आकर खिर रहे है। खिर चुकनेपर परीषहोंकी बाधा स्वय समाप्त हो जावेगी। अन्तरङ्गके इस विचारसे आपके आत्मिक उल्लासमे कोई कमी नही आयी। इसके विपरीत आपका ज्ञान और आत्मबल पहलेकी अपेक्षा दूना हो गया। इस प्रकार कर्म परिणतिका विचार कर आप कभी भी मोह-ममताको प्राप्त नही हुए और न अन्तरङ्गमे कभी आपने कायरता उत्पन्न होने दी॥ ७॥

अश्नन् भवान्निजनिकाचितकर्मपाक-
मेकोऽपि धैर्यबलबृद्धित(बृंहित)तुङ्गचित्तः[1]।
आसीन्न काहल इहास्खलितोपयोग-
गाढग्रहादगणयन् गुरुदुःखभारम्॥ ८॥

---

[1] धैर्यबलवृद् + हिततुङ्गचित्त इति पदच्छेद ।

अन्वयार्थ—(निजनिकाचितकर्मपाकम्) जो अपने निकाचित—फल दिये बिना न छूटनेवाले कर्मोंके उदयका (एकोऽपि) अकेले ही (अश्नन्) फल भोगते थे (धैर्यबलवृद्) जो अपने धैर्यबलकी वृद्धि करते थे (हितंतुङ्गचित्त.) जिन्होने उदात्त चित्तको धारण किया था (अस्खलितोपयोगगाढग्रहात्) शुद्धात्मस्वरूपसे विचलित न होनेवाले उपयोगकी सुदृढ पकड़से जो (गुरुदुःखभारम्) बहुत भारी दु खके समूहको (अगणयन्) कुछ भी नही गिनते थे ऐसे (भवान्) आप (इह) इस लोकमे (काहलः) कातर (न आसीत्) नही हुए थे।

भावार्थ—जो कर्म अपना फल दिये बिना नही छूटते है उन्हे निकाचित कर्म कहते है। हे भगवन् ! पूर्व भवमे जिन निकाचित कर्मोंका बन्ध पड गया था उनका फल आपने अकेले ही भोगा है। इससे प्रतीत होता है कि आप अनुपम धैर्यबलके धारक है तथा उदात्त चित्तसे युक्त है। कर्मोदयके फलस्वरूप जो बहुत भारी दु ख प्राप्त हुआ उसे आपने कुछ भी नही समझा। उस दु खानुभवके कालमे भी आपका उपयोग आपके शुद्ध स्वरूपसे स्खलित नही हुआ। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आप काहल-कातर नही हुए—समताभावसे कर्मफलको भोगनेवाले थे ॥८॥

उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्नः
संनह्य दुर्जयकषायजयार्थमेकः ।
बोधस्तु(बोधास्त्र)तैक्ष्ण्यकरणाय सदैव जाग्रद्
देवश्रुतस्य(देव श्रुतस्य)विषयं सकलं व्यचैषीः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! जो (उद्दामसयमभरोद्वहनेऽपि अखिन्नः) बहुत भारी संयमका भार धारण करनेपर भी खिन्न नही हुए थे, जो (दुर्जयकषायजयार्थं) दुर्जेय कषायको जीतनेके लिये (एक) अकेले ही (संनह्य) सनद्ध रहकर (बोधास्त्रतैक्ष्ण्यकरणाय) ज्ञानरूपी शस्त्रको तीक्ष्ण करनेके लिये (सदैव जाग्रद्) सदा जागृत रहते थे ऐसे आपने (श्रुतस्य सकल विषयं) द्वादशाङ्गरूप शास्त्रके समस्त विषयोका (व्यचैषी.) विचार किया है—मनन किया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! दुर्जेय कषायको जीतनेके लिये आपने तैयार होकर अकेले ही उत्कृष्ट सयमका भार धारण किया फिर भी खेदका अनुभव नही किया। आप छद्मस्थ अवस्थामे अपने ज्ञानास्त्रका तीक्ष्ण बनाये रखनेके लिये सदा सावधान रहते थे और शास्त्र प्रतिपादित समस्त विषयोंका निरन्तर चिन्तन करते रहते थे ॥ ९ ॥

यद्द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या-
तीक्ष्णो(मीक्ष्णो)पयोगमयमूर्तिरतर्कयँस्त्वम् ।
आक्रम्यतावदपवादभराधिरूढ-
शुद्धैकबोधसुभगं स्वयमन्वभूः स्वम्॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(आक्रम्यतावदपवादभराधिरूढ) निरस्त करने योग्य समस्त अपवाद समूहके ऊपर अधिरूढ—उनपर विजय प्राप्त करनेवाले हे जिनेन्द्र ! (अभीक्ष्णोपयोगमयमूर्तिः) निरन्तर

१ हितं धृत तुङ्गचित्त येन स ।

२. 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमर ।

ज्ञानमय उपयोग रखनेवाले (त्वम्) आपने (श्रुतबोधशक्त्या) छद्मस्थ कालमें होनेवाले श्रुतज्ञानकी शक्तिसे (द्रव्यपर्ययगतं यत्) द्रव्य और पर्यायरूप जिस आत्मद्रव्यको (अतर्कयः) जाना था, (शुद्धैक-बोधसुभगं) शुद्ध क्षायिक ज्ञानसे सुशोभित (तत्) उस (स्वम्) आत्मद्रव्यका (स्वयं) स्वयं अनुभव किया।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपने छद्मास्थावस्थामे श्रुतज्ञानके द्वारा आत्मद्रव्यको जैसा जाना था अब सर्वज्ञदशामे उसका वैसा ही अनुभव कर रहे हैं। वस्तुतः श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमे परोक्ष और प्रत्यक्षका अन्तर है, वस्तुस्वरूपका नही ॥ १० ॥

तीव्रैस्तपोभिरभितस्तव देव नित्यं
दूरान्तरं रचयतः पुरुषप्रकृत्योः ।
प्राप्तः क्रमात् कुशलिनः परमप्रकर्षं
ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण विवेकपाकः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (नित्यं) निरन्तर (अभित) दोनो प्रकारके (तीव्रैः) कठिन (तपोभिः) तपोंके द्वारा (पुरुषप्रकृत्योः) आत्मा और कर्ममे (दूरान्तरं) बहुतभारी अन्तर (रचयतः) करनेवाले (तव कुशलिनः) आप कुशल महानुभावका (विवेकपाक.) भेदज्ञानसम्बन्धी परिपाक (ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण) ज्ञान और चारित्रके व्यतिकरसे (क्रमात्) क्रमपूर्वक (परमप्रकर्षं प्राप्त.) चरम सीमाको प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—आत्मा और कर्मका अनादिकालसे दूध और पानीके समान एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध चला आ रहा है। आत्मा चेतन द्रव्य है और कर्म अचेतन—पुद्गल द्रव्य है। इन दोनोमे अवनि और अन्तरिक्षके समान महान् अन्तर है, परन्तु अनादिकालीन एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध देखकर अज्ञानी जीव दोनोंके बीचका अन्तर भूल जाते है। परन्तु हे भगवन् ! आपने अपने ज्ञानके द्वारा सर्वप्रथम उन दोनोकी सत्ताका पृथक्-पृथक् अनुभव किया और फिर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तप तथा ज्ञान और चारित्रके उभय सयोगसे उन दोनोको अलग-अलग किया है। इस प्रकार आपका भेद-विज्ञान चरमावस्थाको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

श्रेणीप्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं
कुर्वन् मनाक् करणमिष्टविशिष्टशुद्धिः ।
आरूढ एव दृढवीर्यचपेटितानि
निर्लोठयन् प्रबलमोहबलानि विष्वक् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (मनाक् इष्टविशिष्टशुद्धिः) जिन्हे परिणामोकी कुछ विशिष्ट शुद्धता अभीष्ट है ऐसे (त्वं) आप (श्रेणीप्रवेशसमये) श्रेणी प्रवेशके समय (अथाप्रवृत्तं करणं कुर्वन्) अधःप्रवृत्तकरणको करते हुए (आरूढ एव) आरूढ हुए और आरूढ होते ही आपने अपने (दृढवीर्यचपेटितानि) प्रबल पराक्रमसे चपेटे हुए (प्रबलमोहबलानि) मोह राजाके सबल सैनिकोंको (विष्वक्) चारो ओर (निर्लोठयन्) भूलुण्ठित (कुर्वन्) कर दिया।

भावार्थ—सातवें अप्रमत्तगुणस्थानके स्वस्थान और सातिशयकी अपेक्षा दो भेद हैं। सातिशय अप्रमत्तवाला जीव अथाप्रवृत्त अथवा अधःप्रवृत्तकरणको करता हुआ श्रेणीपर आरूढ होता है और परिणामोंकी विशुद्धतासे मोहकर्मकी प्रकृतियोको छिन्न-भिन्न करता है। हे भगवन्! इसी आगमोक्त पद्धतिसे आप भी श्रेणीपर आरूढ हुए और आपने भी अपने प्रबल पराक्रमसे मोह-कर्मकी प्रकृतियोको छिन्न-भिन्न किया ॥ १२ ॥

कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्धया
पूर्वादनन्तगुणया परिवर्तमानः ।
उत्तेजयन्नविरतं निजवीर्यसारं
प्राप्तोऽसि देव परमं क्षपणोपयोगम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ--(देव) हे देव! (पूर्वात्) पहलेकी अपेक्षा (अनन्तगुणया) अनन्तगुणी (परिणाम-शुद्धया) परिणमोकी शुद्धिसे (परिवर्तमान) परिवर्तन करते हुए आपने (अपूर्वकरण कुर्वन्) अपूर्व-करण नामक अष्टम गुणस्थानको प्राप्त किया और (अविरत) निरन्तर (निजवीर्यसारं) आत्माकी श्रेष्ठशक्तिको (उत्तेजयन्) उत्तेजित करते हुए आप (परम) उत्कृष्ट (क्षपणोपयोग) क्षपणाविधिको (प्राप्तोऽसि) प्राप्त हुए।

भावार्थ—हे भगवन्! अथाप्रवृत्तकरणके बाद, आप अपूर्वकरणको प्राप्त हुए। वहा पूर्वकी अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धतासे आप कर्मोंकी क्षपणाविधिमे अग्रसर हुए ॥ १३ ॥

प्राप्यानिवृत्तिकरणं करणानुभावा-
न्निर्गालयन् झगिति बादरकर्मकिट्टम् ।
अन्तर्विशुद्धिविकसत्सहजाच्छभावो
जातः क्वचित् क्वचिदपि प्रकटप्रकाशः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अनिवृत्तिकरणं प्राप्य) अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त कर वहा आपने (करणानुभावात्) अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोके प्रभावसे (झगिति) शीघ्र ही (बादरकर्मकिट्टम्) बादरकर्मरूप कीटको (निर्गालयन्) निर्लुप्त किया। तदनन्तर (क्वचित्) कही किन्ही भागोमे (अन्तर्विशुद्धिविकसत्सहजाच्छभाव) अन्तरङ्गकी विशुद्धतासे विकसित होनेवाला सहज निर्मल भाव (जात) प्राप्त हुआ और (क्वचिदपि) कही (प्रकटप्रकाश) प्रकट प्रकाश—मोह क्षयके अभिमुख विशुद्धिका उत्कर्ष प्रकट हुआ।

भावार्थ—अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोके द्वारा कर्मोंकी अनुभागशक्तिको क्षीण करते हुए आप सहजस्वभावके प्राप्त करनेमे अग्रसर हुए ॥ १४ ॥

त्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयाऽवशिष्ट-
लोभाणुकैककणचिक्कणमुत्कर्षयंस्त्वम् ।
आलम्ब्य किञ्चिदपि सूक्ष्मकषायभावं
जातः क्षणात् क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनया) सूक्ष्म कीटको भी हठात् नष्ट करनेसे (अवशिष्टलोभाणुकैककणचिक्कणं) जिसमे मात्र संज्वलन लोभसम्बन्धी एक सूक्ष्म कणकी चिक्कणता शेष रह गई थी ऐसे (स्वं) अपने आपको (उत्कयन् त्वम्) उत्कण्ठित करते हुए आप (सूक्ष्मकषायभाव किञ्चिदपि आलम्ब्य) सूक्ष्म कषायभावका कुछ आलम्बन लेकर दशम गुणस्थानको प्राप्त हुए और वहाँ (क्षणात्) क्षणभरमे (क्षपितकृत्स्नकषायबन्ध· जात) समस्त कषायबन्धको नष्ट करनेवाले हो गये ।

भावार्थ—नवम गुणस्थानके अन्तमें जो कषायकी सूक्ष्म कीट शेष रह गई थी उसे भी नष्ट करनेका प्रयत्न करते हुए जब आपके सज्वलन लोभसम्बन्धी सूक्ष्मतम राग रह गया तब आप सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानको प्राप्त हुए । वहाँ आपने समस्त कषायोके बधका अभाव कर दिया ॥१५॥

उद्वम्य मांसलमशेषकषायकिट्ट-
मालम्ब्य निर्भरमनन्तगुणा विशुद्धीः ।
जातोऽस्यसंख्यशुभसंयमलब्धिधाम-
सोपानपङ्क्तिशिखरैकशिखामणिस्त्वम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आपने (अनन्तगुणाः विशुद्धी) अनन्तगुणी विशुद्धताओका (निर्भरम्) अतिशय (आलम्ब्य) आलम्बन लेकर (मासल) सुदृढ (अशेषकषायकिट्टं) समस्त कषायरूपी कीटको (उद्वम्य) वमन किया और उसके फलस्वरूप आप (असख्यशुभसयमलब्धिधामसोपानपङ्क्तिशिखरैकशिखामणि.) असंख्यात शुभसयमकी प्राप्तिरूप स्थानको प्राप्त करानेवाली सोपानपङ्क्तिसम्बन्धी शिखरके अद्वितीय शिखामणि (जातः असि) हो गये ।

भावार्थ—समस्त कषायभावको नष्ट कर आप यथाख्यात चारित्रके धारक हुए ॥१६॥

शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव-
स्पृष्टया तदास्थितमनास्त्वमसंक्रमोऽभूः ।
एकाग्ररुद्धमनस्तव तत्र चित्त-
ग्रन्थौ स्फुटत्युदितमेतदनन्ततेजः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (शब्दार्थसक्रमवितर्कं) शब्द और अर्थके सक्रमणसे युक्त श्रुतका (अनेकधावस्पृष्टया) अनेक प्रकार आलम्बन लेनेसे जो पृथक्त्ववीचार नामका शुक्लध्यान है (तदास्थितमना) उसीमे आपका मन स्थित रहा, परन्तु कषायका निरोध हो जानेसे यहाँ (त्वम् असंक्रमः अभूः) आप संक्रमणसे रहित हो गये । (एकाग्ररुद्धमनस·) एकाग्र पदार्थमे मनको रोकनेवाले (तव) आपकी (चित्तग्रन्थौ स्फुटति सति) मनकी गाँठ खुलते ही (तत्र) उस क्षीणमोहगुणस्थानके अन्तमे (एतत्) यह आगे कहा जानेवाला (अनन्ततेजः) अनन्ततेज (उदित) उदित हुआ है ।

भावार्थ—शुक्लध्यानके प्रथम पाद—पृथक्त्ववितर्कवीचारमे अर्थ, व्यञ्जन और योगकी सक्रान्ति होती रहती है, परन्तु द्वितीय पाद-एकत्ववितर्कमे वह सक्रान्ति समाप्त हो जाती है ।

बारहवें क्षीणमोहगुणस्थानके अन्तमे एकत्ववितर्क नामका द्वितीय शुक्लध्यान प्रकट होता है उसके फलस्वरूप यहाँ अनन्त तेज प्रकट होता है ॥१७॥

साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणस्रजस्त्व-
मन्ते भवन् क्षपितसंहतघातिकर्मा ।
उन्मीलयन्नखिलमात्मकलाकलाप-
मासीरनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(साक्षात् असंख्यगुणनिर्जरणस्रजः) साक्षात् असख्यात गुणश्रेणी निर्जरारूप मालाके (अन्ते भवन्) अन्तिम स्थानमे रहते हुए जिन्होने (क्षपितसंहतघातिकर्मा) समस्त घातिया-कर्मोका क्षय कर दिया है तथा जो (अखिलम् आत्मकलाकलापं) सम्पूर्ण आत्मकलाओंके समूहको (उन्मीलयन्) प्रकट कर रहे है ऐसे (त्वं) आप (अनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः) अनन्तगुणी शुद्धिसे आत्मतत्त्वको विशुद्ध करनेवाले (आसी.) हुए है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आदि गुणश्रेणी निर्जराके दश स्थानोंमे जिनका अन्तिम स्थान है अर्थात् जिनके सबसे अधिक निर्जरा होती है उस निर्जराके फलस्वरूप उनके घातियाकर्म तो नष्ट हो ही जाते है प्रत्येक समय असख्य कर्मस्कन्धोकी भी निर्जरा होती रहती है। उस समय उनके समस्त आत्मगुणोका विकास हो जाता है और उनका आत्मतत्त्व अनन्तगुणी विशुद्धिसे निर्मल हो जाता है ॥१८॥

एतत्ततः प्रभृति शान्तमनन्ततेज
उत्तेजितं सहजवीर्यगुणोदयेन ।
यस्यान्तरुन्मिषदनन्तमनन्तरूप-
संकीर्णपूर्णमहिम प्रतिभाति विश्वम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(तत. प्रभृति) उसी समय (सहजवीर्यगुणोदयेन) सहज-स्वाभाविक वीर्य गुणके प्रकट होनेसे (एतत्) यह (शान्तं) शान्त (अनन्ततेज.) अनन्त तेज (उत्तेजित) प्रकट होता है (यस्य अन्त) जिसके भीतर (उन्मिषदनन्तं) प्रकटित होते हुए अनन्त पदार्थोसे युक्त तथा (अनन्त-रूपसंकीर्णपूर्णमहिम) अनन्तरूपोसे संकीर्ण एव पूर्ण महिमावाला (विश्वम्) लोकालोक (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—इसी गुण स्थानमे अनन्तवीर्यके साथ सहज शान्त, केवलज्ञानरूप, वह अनन्त तेज प्रकट होता है जिसमे अनन्तानन्त पदार्थोंसे व्याप्त समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है ॥१९॥

योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः
शेषस्य कर्मरजसः प्रसभं क्षयाय ।
आस्फोटयन्नतिभरेण निजप्रदेशाँ-
स्त्वं लोकपूरमकरोः क्रमजृम्भमाणः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(योगान् जिघांसुः अपि) जो योगोंको नष्ट करनेकी इच्छा करते हुए भी (योगफलं जिघृक्षु.) योगोंका फल ग्रहण करना चाहते थे तथा जो (क्रमजृम्भमाणः) क्रमसे विस्तार-को प्राप्त हो रहे थे ऐसे (त्वं) आपने (शेषस्य कर्मरजसः) शेष कर्मरूपी रजका (प्रसभं) हठात् (क्षयाय) क्षय करनेके लिये (अतिभरेण) बहुत वेगसे (निजप्रदेशान्) आत्म प्रदेशोंको (आस्फोटयन्) फैलाते हुए (लोकपूरं) लोकपूरण समुद्घात (अकरोः) किया था।

भावार्थ—जिन केवलियोंकी आयु कर्मकी स्थिति अल्प हो तथा शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति अधिक हो वे उन अघातिया कर्मोंकी स्थिति घटाकर आयुके बराबर करनेके लिये लोकपूरण समुद्घात करते हैं। इस समुद्घातके दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके भेदसे चार भेद हैं और उसके करनेमे आठ समय लगते हैं। हे प्रभो! शेष अघातिया कर्मोंका क्षय करनेके लिये आपने भी यह लोकपूरण समुद्घात किया था ॥ २० ॥

पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः
शीलेशितां त्वमधिगम्य निरुद्धयोगः ।
स्तोकं विवृत्य परिवर्त्य झगित्यनादि-
संसारपर्ययमभूज्जिन सादिसिद्धः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (पश्चात्) उस लोकपूरण समुद्घातके बाद (अशेषगुण-शीलभरोपपन्न.) जो समस्त अर्थात् चौरासीलाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलके भेदोंसे सहित है, तथा (शीलेशिताम् अधिगम्य) शीलोके ऐश्वर्यको प्राप्तकर (निरुद्धयोग.) जिन्होंने योगनिरोध किया है ऐसे (त्वम्) आप (स्तोकं) कुछ काल तक (विवृत्य) चौदहवें गुणस्थानमे रहकर (झगिति) शीघ्र ही (अनादि ससारपर्ययम्) अनादि संसार पर्यायको (परिवर्त्य) परिवर्तित-कर (सादिसिद्ध) सादिसिद्ध (अभूत्) हो गये।

भावार्थ—लोकपूरण समुद्घातके पश्चात् जो अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए है तथा यहाँ आनेपर जिनके चौरासी लाख उत्तर गुणो और अठारह हजार शीलके भेदोकी पूर्णता हुई है, जिन्होने योगनिरोध कर अयोग अवस्थाको प्राप्त किया है, ऐसे आपने 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाँच लघुस्वरोंके उच्चारणमे जितना काल लगता है उतने कालतक इस अयोगकेवली गुणस्थानमे रहकर अनादि कालीन ससारपर्यायका नाश किया तथा सादि सिद्ध-पर्यायको प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्य-
संभारनिर्भरभृतामृतसारमूर्तिः ।
अत्यन्तमायततमं गमयन्नुदर्क-
मेको भवान् विजयतेऽस्खलितप्रतापः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(सम्प्रति) इस समय—सिद्धपर्यायमें (अनन्तसुखदर्शनबोधवीर्यसंभारनिर्भर-भृतामृतसारमूर्तिः) जिनकी अविनाशी श्रेष्ठ मूर्ति अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्यके संभारसे अत्यन्त परिपूर्ण है और (अस्खलितप्रतापः) जिनका प्रताप कभी काल-

त्रयमें भी स्खलित नही होता ऐसे (एको भवान्) भाव-द्रव्य कर्म नो कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके संपर्कसे रहित एक, आप (अत्यन्तम् आयततमं) अनन्त तथा अत्यन्त दीर्घ (उदर्क) भविष्यत्कालको (गमयन्) व्यतीत करते हुए (विजयते) जयवन्त प्रवर्तते हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌की सिद्धावस्थाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इस अनन्त चतुष्टयसे युक्त रहते हुए अनन्त भविष्यकालमें भी इसी सिद्धपर्यायमे अवस्थित रहेंगे। आपकी यह सिद्धपर्याय सादि अनन्त है॥ २२॥

कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान-
सौहित्यनित्यमुदिताद्भुतबोधदृष्टिः।
उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्तिः
शश्वद् भवाननुपमं सुखमेव भुङ्क्ते॥ २३॥

अन्वयार्थ—(कालत्रयोपचितविश्वरसातिपानसौहित्यनित्यमुदिताद्भुतबोधदृष्टि.) त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थोके रसातिपानसे समुत्पन्न तृप्तिसे जिनकी आश्चर्यकारक ज्ञानरूप दृष्टि निरन्तर उदित रहती है तथा (उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्ति.) जिनके वीर्यकी विशाल शक्ति सदा क्रियाशील और स्वकीय कार्यसे अविचलित रहती है ऐसे (भवान्) आप (शश्वत्) निरन्तर (अनुपम) उपमारहित (सुखमेव) सुख ही (भुङ्क्ते) भोगते हैं।

भावार्थ—सिद्ध भगवान्‌के आत्मीक अनन्त सुखका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पदार्थोको जानते देखते है इसलिये अज्ञान और अदर्शन जनित दुःखसे रहित है तथा आपका अनन्त बल सदा उत्तेजित—क्रियाशील और स्वकार्यसे कभी विचलित नही होता, अत. अशक्ति सम्बन्धी दुःखसे रहित है इस तरह आप निरन्तर अनुपम सुख ही भोगते हैं। सांसारिक जीवोका सुख विषयेच्छाकी पूर्तिसे समुत्पन्न है और आपका सुख विषयेच्छाकी निवृत्तिसे समुत्पन्न है, अतः उसे सासारिक जीवोके सुखकी उपमा नही दी जा सकती॥ २३॥

संक्रामसीव लिखसीव विकर्षसीव
(संरक्षसीव) पिबसीव बलेन विश्वम्।
उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश-
लीलायितैर्दिशि दिशि स्फुटसीव देव॥ २४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! ऐसा जान पड़ता है मानों आप (विश्वं) समस्त लोकालोकको (बलेन) बलपूर्वक (संक्रामसि इव) केवलज्ञानमे प्रतिबिम्बित होनेके कारण अपने आपमें संक्रान्त कर रहे हो (लिखसि इव) लिखसे रहे हों (विकर्षसि इव) आकृष्ट-सा कर रहे हों (संरक्षसि इव) संरक्षित-सा कर रहे हों (पिवसि इव) पी-सा रहे हों और (उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश-लीलायितैः) उत्कट—अनन्त वीर्य-बलसे गर्वित, दृष्टिविकासकी लीलाओसे (दिशि दिशि)-प्रत्येक दिशामे मानो (स्फुटसि इव) स्वयं प्रकट हो रहे हो।

भावार्थ—ज्ञानगुणकी स्वच्छताके कारण आप समस्त विश्वके ज्ञायक हैं, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्वको आप हठात् अपने आपमें संक्रान्त कर रहे हों, अपने आपमे लिख रहे हों अपनी ओर खीच रहे हो, अपने आपमे संरक्षित कर रहे हों और उसका पान कर रहे हों। साथ ही अनन्त बलसे परिपूर्ण दृष्टिके विकाससे ऐसा जान पड़ता है कि आप मानो समस्त दिशाओमें स्वयं ही स्फुटित हो रहे हों॥ २४॥

देव स्फुटं स्वयमिमं मम चित्तकोशं
प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव।
एष प्रभो सं (?) प्रसभजृम्भितचिद्विकाश-
हासैर्भवामि किल सर्वमयोऽहमेव॥ २५॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (स्वय स्फुटं मम इम चित्तकोशम्) स्वयं विकसित मेरे इस हृदयरूपी कुड्मलको (प्रस्फोटय) अतिशय विकसित करें तथा (अशेषमेव विश्व) समस्त विश्वको (स्फुटय) विकसित करें। जिससे (प्रभो) हे नाथ! (किल) निश्चय पूर्वक (एष अहमेव) यह मै ही (स(?)प्रसभविजृम्भितचिद्विकाशहासैः) बलपूर्वक वृद्धिको प्राप्त चैतन्यगुणके विकासरूप हास्यके द्वारा (सर्वमयः) सर्वमय (भवामि) हो जाऊँ।

भावार्थ—यहाँ ग्रन्थकर्ता आकाड्क्षा प्रकट करते है कि हे भगवन्! आपके अनुग्रहसे मेरा हृदयरूपी कुड्मल खिल जावे जिसके फलस्वरूप ससारके समस्त पदार्थ मुझमे प्रतिभासित होने लगें और मैं सर्वमय—सर्वज्ञ हो जाऊँ॥ २५॥

■

ॐ

(४)

वंशस्थवृत्तम्

सदोदितानन्तविभूतितेजसे स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि दीप्यते ।
विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते नमोऽस्तु तुभ्यं जिन विश्वभासिने ।। १ ।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (सदोदितानन्तविभूतितेजसे) सदाके लिये प्रकट हुए अनन्त-चतुष्टयरूप विभूतिके तेजसे सहित (स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि) स्वरूपसे गुप्त—रक्षित आत्माकी महिमामे ([1]दीप्यते) देदीप्यमान (विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते) विशुद्ध दर्शन और ज्ञानरूप चेतनाको धारण करनेवाले तथा (विश्वभासिने) समस्त लोकालोकको जाननेवाले (तुभ्यं) आपके लिये (नमोऽस्तु) नमस्कार हो ।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर 'जिन' संज्ञा प्राप्त होती है। 'जयति स्म कर्मशत्रून् इति जिनः' जो कर्मरूप शत्रुको जीत चुकते है वे जिन कहलाते है। उपर्युक्त चार घातिया कर्म नष्ट होनेपर आत्मामे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य यह अनन्त चतुष्टयरूप विभूति उत्पन्न होती है। उनकी यह विभूति अनन्त रहती है—उसका कभी नाश नही होता है तथा इस विभूतिके कारण ही उनका तेज अपरमित हो जाता है। उसी तेजसे आकृष्ट होकर सौ इन्द्र निरन्तर उनकी वन्दना करते हैं। वे अपने चैतन्यस्वरूपसे सुरक्षित आत्माकी महिमामे देदीप्यमान रहते है। मोहजनित विकारी भावोसे रहित दर्शन और ज्ञान चेतनाको धारण करते है और केवलज्ञानके प्रकट हो जानेसे लोक अलोकको स्पष्ट जानते है। ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्यसे युक्त जिनेन्द्र भगवान्‌के लिये यहाँ नमस्कार किया है ।। १ ।।

अनादिनष्टं तव धाम य(म)द्बहिस्तदद्य दृष्टं त्वयि संप्रसीदति ।
अनेन नृत्याम्यहमेष हर्षतश्चिदङ्गहारैः स्फुटयन् महारसम् ।। २ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपका जो (धाम) तेज (मद् बहिः, अनादिनष्ट) अनादि-कालसे—मेरे अनुभवसे दूर हो रहा था (तद्) वह तेज (अद्य) आज (त्वयि सप्रसीदति) आपके प्रसन्न होनेपर (दृष्ट) दिखाई देने लगा है—मेरे अनुभवमे आने लगा है। (अनेन) इस कारण (एषोऽहम्) यह मै (चिदङ्गहारै) चैतन्यरूप अङ्गविक्षेपके द्वारा (महारसं स्फुटयन्) महान्-अद्वितीय रसको प्रकट करता हुआ (हर्षतः) हर्षसे (नृत्यामि) नृत्य करता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मिथ्यात्व कर्मके तीव्रोदयके कारण मेरी दृष्टि अब तक आपके दिव्य-ज्ञान—तेजपर गई नही। आप अनन्त-चतुष्टयरूप तेजसे विभूषित हैं। यह बात आज तक मेरी

१ आत्मनेपदधातोरपि क्वचित् शतृप्रत्ययो दृश्यते ।

श्रद्धामें नही आई, परन्तु आज आपके प्रसादसे मेरा वह मिथ्यात्व कर्म क्षीण हो गया है, अतः आपका वह दिव्य तेज मेरे अनुभवमें आने लगा है इसलिए मैं आनन्दविभोर हर्षसे नृत्य करता हूँ। जिस प्रकार कोई मनुष्य चिरकालसे खोयी हुई अपनी वस्तुको प्राप्त कर हर्षसे नृत्य करने लगता है उसी प्रकार मैं भी चिर कालसे भूले हुए आपके दिव्य तेजको प्राप्त कर हर्षसे नृत्य कर रहा हूँ। अर्थात् हे भगवन् ! मै अपने जिस आत्मतेजको अनादिकालसे भूला हुआ था वह आज आपके प्रसादसे मेरी दृष्टिमे आ गया। मेरी श्रद्धा हो गई कि जो वीतराग स्वरूप आपका है वही मेरा स्वरूप है, हमारे और आपके आत्मद्रव्यमें कोई अन्तर नही है। अन्तर मात्र पर्यायमे है, आपकी वीतराग पर्याय है और मेरी सराग पर्याय है। मेरी सराग पर्याय मोह जनित है, अतः मैं अपने पुरुषार्थसे मोहको नष्ट कर आपके ही समान वीतराग बन सकता हूँ। अपनी इस निधिका बोध होनेके कारण मै अपने चिदङ्गहार—चैतन्यके विकल्पोसे महान् रसको प्रकट करता हुआ हर्षसे नृत्य करता हूँ ॥२॥

इदं तवोदेति दुरासदं महः प्रकाशयद्विश्वविसारि वैभवम् ।
उदञ्च्यमानं सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावैर्निजतत्त्ववेदिभिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावै:) जिनका स्वभावभाव सरलीकृत—मायारहित तथा अस्खलित—अविचलित है ऐसे (निजतत्त्ववेदिभिः) आत्मतत्त्वके ज्ञाता पुरुषोके द्वारा जो (उदञ्च्यमानं) उत्कृष्टरूपसे पूजित हो रहा है तथा जो (विश्वविसारि) विश्वव्यापी (वैभवं) वैभवको (प्रकाशयत्) प्रकट कर रहा है ऐसा (इद) यह (तव) आपका (दुरासद) दुर्लभ (महः) तेज (उदेति) प्रकट हो रहा है—हमारे अनुभवमें आ रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! अरहन्त अवस्था प्रकट होते ही आपका वह दिव्य तेज प्रकट हो जाता है जो अन्य ससारी जीवोंके लिए दुर्भभ रहता है, जो विश्वव्यापी सामर्थ्यको प्रकट करता है और सरल एव अस्खलित स्वभावभावसे युक्त आत्मतत्त्वके ज्ञाता पुरुष जिसकी सदा स्तुति करते है ॥३॥

इमाः स्वतत्त्वप्रतिबद्धसंहृताः समुन्मिषन्त्यश्चिति शक्तयः स्फुटाः ।
स्वयं त्वयानन्त्यमुपेत्य धारिता न कस्य विश्वेश दिशन्ति विस्मयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(विश्वेश) हे विश्वेश्वर—हे त्रिलोकीनाथ ! जो (स्वतत्त्वप्रतिबद्धसहृता.) आत्मतत्त्वसे सम्बद्ध है तथा आत्मतत्त्वमे ही जिनका समावेश होता है (चिति समुन्मिषन्त्य.) जो चेतन—ज्ञानस्वरूप आत्मामें (समुन्मिषन्त्य.) प्रकट हो रही है, (स्फुटा) अत्यन्त स्पष्टरूपसे जिनका अनुभव हो रहा है और (स्वयं) स्वयं (आनन्त्यं) अनन्तरूपताको (उपेत्य) प्राप्त होकर जो (त्वया) आपके द्वारा (धारिताः) धारण की गई हैं ऐसी (इमाः) ये (शक्तयः) शक्तियाँ (कस्य) किसे (विस्मयं) आश्चर्य (न दिशन्ति) उत्पन्न नही करती ?

भावार्थ—आत्मा चैतन्यस्वरूप है। भेदनयसे गुण-गुणीका भेद स्वीकृत करनेपर उस आत्मामे अनन्त शक्तियाँ प्रकट होती हैं। वे सब शक्तियाँ आत्मासे ही उत्पन्न होती है और आत्मामे ही समावेशको प्राप्त होती हैं जिस प्रकार लहरें समुद्रसे ही उत्पन्न होती है और समुद्रमे ही समाविष्ट होती है उसी प्रकार ये शक्तियाँ आत्मासे ही उत्पन्न होती है और आत्मामे ही समाविष्ट हो जाती हैं। यद्यपि आप एक हैं तथापि अनन्त शक्तियोके धारक होनेसे अनन्तरूप

प्रतीत होते हैं[1]। हे भगवन् ! आपकी ये अनन्त शक्तियां किसे आश्चर्य उत्पन्न नहीं करतीं ? अर्थात् सभीको आश्चर्य उत्पन्न करती हैं ॥४॥

स्ववैभवस्य ह्यनभिज्ञतेजसो य एव नुः स प्रतिभाससे पशोः ।
स एव विज्ञानघनस्य कस्यचित् प्रकाशमेकोऽपि वहस्यनन्तताम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (स्ववैभवस्य अनभिज्ञतेजसः) आत्मसामर्थ्यसे अपरिचित तेज-वाले (पशोः नुः) अज्ञानी पुरुषके लिए आप (यः एव) जो ही हैं—एक शक्तिके स्वामी हैं (स एव) वही (प्रतिभाससे) प्रतिभासित होते है, परन्तु (विज्ञानघनस्य कस्यचित्) वीतराग विज्ञानसे परिपूर्ण किसी ज्ञानी जीवकी दृष्टिमे आप (प्रकाशं) स्पष्ट ही (एकोऽपि) एक होकर भी (अनन्ततां) अनन्तपनेको (वहसि) धारण करते है।

भावार्थ—पूर्व श्लोकमे इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया गया था कि आप एक होकर भी अनन्त शक्तियोंको कैसे धारण करते हैं ? उसके उत्तरमें वही कहा गया था कि आप शक्तियोंकी अनन्तताके कारण स्वयं अनन्तरूपताको प्राप्त है अर्थात् आप अनन्त होकर अनन्त शक्तियोको धारण करते हैं। इस श्लोकमे इस बातको स्पष्ट किया जा रहा है कि एक व्यक्ति अनन्तपनेको किस प्रकार प्राप्त होता है ? स्ववैभव—आत्माकी अनन्त सामर्थ्यसे अपरिचित अज्ञानी पुरुषका तो यह एकान्त अभिप्राय रहता है कि जो आत्मा एक शक्तिका स्वामी है वही दूसरी शक्तिका स्वामी है, इस प्रकार एक आत्मा अनन्त शक्तियोका धारक होता है। यह आश्चर्यकी बात है, परन्तु जो विज्ञानघन होनेसे आत्माके वैभवसे परिचित है उसका अभिप्राय रहता है कि आत्मा प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, अतः वह प्रदेशोकी अपेक्षा एक होकर भी शक्तियोकी अपेक्षा अनन्तरूपताको धारण करता है।

बात यह है कि यहाँ आचार्य 'एक और अनेक' इन दो विरोधी धर्मोंका समन्वय करते हुए जिनेन्द्रकी स्तुति कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन् ! आप एक होकर भी अनेक है। एक तो इसलिये हैं कि आपके प्रदेश भिन्न-भिन्न शक्तियोके प्रति भिन्न-भिन्न नही है और अनेक इसलिये हैं कि आपकी वे अनन्त शक्तियाँ भिन्न-भिन्न कार्य करती है तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोसे उनका विवेचन होता है। जैसे एक तोला मिश्रीमे स्पर्श रस गन्ध और वर्ण ये चार गुण है। यहाँ कोई पूछता है कि चार गुण कितने-कितने हैं ? क्या चार-चार आने भर है ? उत्तर मिलता है कि नही, चारो गुण एक-एक तोला है। तो क्या मिश्री चार तोला है ? नही, एक तोला ही है। फिर इसकी संगति कैसे बैठती है ? स्पर्श रस गन्ध और वर्णके प्रदेश जुदे-जुदे नही है इसलिये सब मिलकर भी एक ही तोला हैं। तो यह कहना चाहिए कि मिश्री एक अखण्ड पदार्थ है उसमे स्पर्श रस गन्ध और वर्णका विकल्प नही है। हाँ, प्रदेशभेद न होनेसे मिश्री स्पर्शादि चाररूप नही है एकरूप है। परन्तु जब स्पर्श रस गन्ध और वर्ण इन चारोके स्वभाव और उन चारोंको जाननेके साधन स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियोको दृष्टिमें रखकर विचार करते हैं तो मिश्री स्पर्शादिके भेदसे चाररूप दिखती है।

प्रकृतमें विभिन्न शक्तियोंके प्रति आत्माके प्रदेश जुदे-जुदे नही है। इसलिये आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है और विभिन्न शक्तियोके कार्य जुदे-जुदे है, अतः आत्मा उन शक्तियोके कारण अनेकरूप है। द्रव्यकी एकता और अनेकताका समन्वय गुण और पर्यायोकी अपेक्षा किया

---

१. इतो गतमनेकतां दधत्—२७३ समयसार कलश।

जाता है। यहाँ आचार्यने शक्तिरूप गुणोंकी अपेक्षा आत्माकी एक और अनेकताका वर्णन किया है ॥५॥

वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्वया अमी अनन्ता व्यतिरेककेलयः ।
त्वमेकचित्पूरचमत्कृतैः स्फुरँस्तथापि देवैक इवावभाससे ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! यद्यपि (तव) आपके (अमी) ये (अन्वया.) गुण (अनन्तत्वम्) अनन्तपनेको (वहन्ति) धारण करते हैं और (अमी) ये (व्यतिरेककेलयः) पर्यायोंकी सन्ततियाँ (अनन्ताः) अनन्त हैं (तथापि) तो भी (एकचित्पूरचमत्कृतैः) एक चैतन्यके चमत्कारसे (स्फुरन्) स्फुरित होते हुए (त्वम्) आप (एक इव) एकके समान (अवभाससे) जान पड़ते है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायोका समूह है। जो अन्वयरूपसे समस्त पर्यायोमें द्रव्यके साथ रहते हैं उन्हे गुण अथवा अन्वय कहते हैं और जो क्रम-क्रमसे होती हैं उन्हे पर्याय अथवा व्यतिरेक कहते है। एक द्रव्यमे एक साथ अनेक गुणोका सद्भाव रहता है परन्तु पर्याय एक-कालमे एक ही रहती है। इस प्रकार एक द्रव्यमे रहनेवाले गुण अनन्त हैं तथा कालक्रमसे होनेवाली पर्यायें भी अनन्त है। हे भगवन् ! जब इन अनन्त गुणो और अनन्त पर्यायोकी ओर दृष्टि देकर आपका विचार करता हूँ तब आप अनन्तरूप प्रतीत होते है परन्तु जब इस ओर दृष्टि जाती है कि आप इन अनन्त गुणो और पर्यायोंसे युक्त होकर भी एक चैतन्य चमत्कारसे ही देदीप्यमान हो रहे है तब ऐसा जान पड़ता है कि आप एक है, अनन्त नही है ॥६॥

असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य तवोल्लसन्त्यमी ।
प्रकाममन्तर्मुखक्लृप्तपल्लवाः स्वभावभावोच्छलनैककेलयः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य) सीमारहित वृद्धिको प्राप्त हुई केवलज्ञानरूपी लताके द्वारा जिन्होने समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है ऐसे (तव) आपकी (अमी) यह (अन्तर्मुखक्लृप्तपल्लवाः) आत्मस्वभावकी ओर समुद्यत है पत्र जिसके (स्वभाव-भावोच्छलनैककेलयः) तथा उनमे स्वकीय शुद्ध स्वभावको प्राप्त करनेकी अद्वितीय क्रीड़ाएँ (प्रकाम) अत्यन्त (उल्लसन्ति) सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! व्यवहार नयसे आप अनन्त ज्ञानके धारक हैं—आपने अपने इस अनन्त ज्ञानका ज्ञेय समस्त विश्व-लोक और अलोकको बनाया है। परन्तु निश्चयनयसे आपका वह अनन्त ज्ञान बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है अतएव आप लोकालोकके ज्ञाता न होकर आत्मज्ञ हैं—एक आत्माको जानते हैं। यहाँ लोकालोकके जाननेका निषेध नही है किन्तु उसे आत्मज्ञतामे ही गतार्थ किया गया है। ज्ञानगुणका विभाव और स्वभावरूप परिणमन होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान, ज्ञानगुणके विभाव परिणमन हैं और केवलज्ञान स्वभाव परिणमन है। कारण समयसारकी दशामे बारहवें गुणस्थान तक आपका पूर्ण पुरुषार्थ इसी केवलज्ञानरूप स्वभाव परिणमनको प्राप्त करनेमे संलग्न रहा और अब कार्यसमयसारकी दशामें उसकी प्राप्ति हो चुकनेपर उसीमे छलक रहा है—व्यवहारनयसे अनन्तानन्त ज्ञेयोको और निश्चयनयसे आत्मस्वभावको ज्ञेय बना रहा है ॥७॥

अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं समूलमुन्मूलयतोऽखिलं जगत् ।
तवेदमूर्जस्वलमात्मखेलितं निकाममान्दोलयतीव मे मनः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं) अनन्त ज्ञानरूपी वायुकी क्रीड़ासे कम्पित, (अखिलं जगत्) समस्त जगत्—स्वकीय संसार स्थितिको (समूलं 'यथा स्यात्तथा') मूल सहित (उन्मूलयत) उन्मूलित करनेवाले—नष्ट करनेवाले (तव) आपकी (इदम्) यह (ऊर्जस्वलं) सबल (आत्मखेलितं) आत्मक्रीडा (मे मनः) मेरे मनको (निकामं) अत्यन्त (आन्दोलयतीव) हिला-सी रही है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य वायुके प्रबल आघातसे कम्पित समस्त वृक्षावलीको जड सहित उखाड कर दूर फेंक रहा हो तो उसकी उस प्रबल शक्ति सम्पन्न क्रीडाको देख, दर्शकका मन आश्चर्यान्वित जैसा हो जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञानरूप प्रबल वायुके द्वारा कम्पित समस्त जगत्—स्वकीय संसारस्थितिको जड़-मूलसे नष्ट कर रहे हैं। अतः आपकी यह आत्मक्रीडा मेरे मनको आश्चर्यसे चकित कर रही है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष प्राप्त करनेके पहले आपने केवलज्ञान प्राप्त किया तथा उसके द्वारा अपने अतीत अनन्त भवोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया ॥८॥

अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्तरङ्गयन् वल्गसि बोधसागरम् ।
यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं त्रिकालमालार्पितमीक्ष्यते जगत् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्रिकालमालार्पितं) तीनों कालसम्बन्धी अनन्त पर्यायोसे सहित यह (जगत्) लोक, (यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुत) जिसकी एक तरङ्ग सम्बन्धी महापूरमे डूबा हुआ (ईक्ष्यते) दिखाई देता है उस (अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरम्) अगाध, धीर, उद्धत और दुर्धर (बोधसागरम्) सम्यग्ज्ञानरूपी सागरको (भरात्) बड़े जोरसे (तरङ्गयन्) तरङ्गित करते हुए आप (वल्गसि) चलते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका केवलज्ञानरूपी सागर अगाध है—उसकी सीमाको कोई प्राप्त नही कर सकता है, क्योकि उसके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण है। रागादि-जनित चञ्चलतासे रहित होनेके कारण वह धीर है—क्षोभ रहित है। उद्धत—एक साथ लोक-अलोकको जाननेमे समर्थ है तथा दुर्द्धर है—मेघपटल तथा पर्वत आदि उसके प्रकाशको रोकनेमे असमर्थ है। यही नही, त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायोसे सहित यह जगत् उस केवलज्ञानरूपी सागरकी एक तरङ्गसम्बन्धी महाप्रवाहमे निमग्न है। तात्पर्य यह है कि वह केवलज्ञान ज्ञेयके प्रमाणसे बहुत बड़ा है। समस्त लोकालोकरूप ज्ञेय उसके एक कोणमे बबूलेके समान जान पडते है ॥९॥

विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो मिथः स्खलन्तोऽपि परात्मसीमनि ।
अमी पदार्थाः प्रविशन्ति धाम ते चिदग्निनीराजनपावनीकृताः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(परात्मसीमनि) उत्कृष्ट आत्माकी सीमामे (मिथ) परस्पर (स्खलन्तोऽपि) स्खलित होते हुए भी (विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदः) जिनकी सम्पदा-सामर्थ्य अपने-अपने विशिष्ट

वस्तुत्वसे विविक्त है—पृथक्-पृथक् है जो (चिदाग्निनीराजनपावनीकृताः) चैतन्यरूप अग्निकी आरतीसे पवित्र हैं ऐसे (अमी) ये (पदार्थाः) चेतन-अचेतन पदार्थ (ते) आपके (धाम) केवलज्ञानरूप तेजमें (प्रविशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारके समस्त पदार्थ यद्यपि आपके ज्ञानमे एकसाथ प्रतिबिम्बित होनेसे परस्पर व्याघातको प्राप्त हो रहे हैं तथापि वे अपने-अपने पृथक्-पृथक् विशिष्ट वस्तुत्वसे सहित हैं—सब अपने-अपने गुण पर्यायोसे भिन्न-भिन्न हैं। सराग जीवके ज्ञानमें आये हुए पदार्थ उसकी राग परिणतिसे दूषित जान पडते हैं, परन्तु आप पूर्ण वीतराग हैं अतः आपके ज्ञानमें आये हुए पदार्थ मात्र चैतन्यरूपी अग्निकी आरतीसे पवित्र हैं। तात्पर्य यह है कि आप उन पदार्थोंको जानते भर हैं उनमे इष्ट-अनिष्टकी कल्पना नही करते। इष्ट-अनिष्टकी कल्पना मोहके विकारसे होती है और यतश्च आपका मोहविकार नष्ट हो चुका है अतः जाननामात्र रह गया है। इस तरह ये पदार्थ आपके केवलज्ञानरूपी तेजमे उस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं जिस प्रकार कि किसी दर्पणमें घट-पटादि पदार्थ ॥१०॥

परस्परं संवलितेन दीप्यता समुन्मिषन् भूतिभरेण भूयसा।
त्वमेकधर्मावहिताचलेक्षणैरनेकधर्मा कथमीक्ष्यसेऽक्षरः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—जो (परस्पर) परस्पर (संवलितेन) मिले हुए (दीप्यता) देदीप्यमान तथा (भूयसा) बहुत भारी (भूतिभरेण) अनन्तचतुष्टयरूप सम्पत्तिके समूहसे (समुन्मिषन्) प्रकाशमान हो रहे हैं (अनेकधर्मा) नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि अनेक धर्मोंसे सहित हैं और (अक्षर) अविनाशी हैं, ऐसे (त्वम्) आप (एकधर्मावहिताचलेक्षणैः) एक धर्ममे स्थिर दृष्टि रखनेवाले पुरुषोके द्वारा (कथम्) किस प्रकार (ईक्ष्यसे) देखे जा सकते हैं ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जिस अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे प्रकाशमान हो रहे हैं वह लक्ष्मी परस्पर मिली हुई है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके प्रदेश पृथक्-पृथक् न होनेसे सब एक दूसरेमे मिल रहे है। आप परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंसे सहित हैं और अक्षर—अविनाशी हैं। आपके इस स्वरूपको देखनेके लिए द्रष्टाकी दृष्टि भी अनेक धर्ममय होना चाहिए, इसके विपरीत जिनकी दृष्टि एक ही धर्ममें स्थिर हो रही है ऐसे द्रष्टा आपको कैसे देख सकते हैं ? ॥११॥

अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः समस्तवस्तुश्रियमभ्युदीयते।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदना भवान् पुनस्तां विचिनोति कात्स्न्यर्तः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(स्वतोऽन्यतः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंसे (समस्तवस्तुश्रियम् अभि) समस्त वस्तुओमे (अनन्तभावावलिका) अनन्त पर्यायोंकी सन्तति (उदीयते) उदित होती है। (जडात्मनः) अज्ञानी जीवको (तत्र) उनमें (जातु) कभी भी (वेदना) ज्ञान (न) नही होता है (पुनः) किन्तु (भवान्) आप (तां) उन पर्यायोंकी सन्ततिको (कात्स्न्यर्तः) सम्पूर्णरूपसे (विचिनोति) जानते हैं।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थोमे निज और पर कारणोसे अर्थात् उपादान और निमित्त-कारणोंसे अनन्त पर्यायोंकी सन्तति उत्पन्न होती है। अज्ञानी जीव उन्हे जानता नही है पर सर्वज्ञ होनेसे आप उन अनन्त पर्यायोंकी सन्ततिको संपूर्णरूपसे जानते है। केवलज्ञानका विषय

सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंमें है, अतः आप उन सबको जानते हैं जबकि अज्ञानी जीवको उनका ज्ञान नही होता है ।।१२।।

न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी मिथो विभक्ताऽप्यवादसंहतिः ।
सुसंहितद्रव्यमहिम्नि पुष्कले महोर्मिमालेव निलीयतेऽम्बुधौ ।। १३ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भूयसी) बहुत भारी (अपवादसंहृतिः) अपकृष्ट—हीन शब्दोकी सन्तति (मिथो) परस्पर (विभक्तापि) विभक्त होनेपर भी (ते) आपके (विभक्ति) पृथक्करणको (न विदधाति) नही करती है । वह (पुष्कले) परिपूर्ण (सुसंहितद्रव्यमहिम्नि) गुण-पर्यायोसे संगत द्रव्यकी महिमामे उस प्रकार (निलीयते) निलीन हो जाती है जिस प्रकार (अम्बुधौ) समुद्रमे (महोर्मिमालेव) महान् तरङ्गोकी माला ।

भावार्थ—हे भगवन् ! असंख्य शब्दावली भी आपकी महिमाका पूर्ण वर्णन करनेके लिए समर्थ नही है । जिस प्रकार समुद्रमे बड़ी-बड़ी तरङ्गोंकी माला उठती है और उसीमे विलीन हो जाती है उसी प्रकार कवि लोग आपकी गुणवर्णनाके लिए शब्दयोजना करते हैं पर उनकी वह शब्दयोजना आपकी महिमामे विलीन हो जाती है ।।१३।।

विभो विधानप्रतिषेधनिर्मितां स्वभावसीमानमभूमलङ्घयन् ।
त्वमेवमेकोऽयमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्वयात्मकतामपोहसि ।। १४ ।।

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (विधानप्रतिषेधनिर्मिता) विधि और निषेधसे रची हुई (अभूम्) इस (स्वभावसीमानम्) स्वभावकी मर्यादाका (अलङ्घयन्) उल्लङ्घन न करते हुए (अयम् एकः त्वमेव) यह एक आप ही (अशुक्लशुक्लवत्) कृष्ण और शुक्लके समान (जात्वपि) कभी भी (द्वयात्मकताम्) द्विरूपताको (न अपोहसि) नही छोड़ते है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कृष्ण और शुक्ल ये दोनो गुण, परस्पर विरोधी है उसी प्रकार विधि और निषेध ये दोनों पक्ष परस्पर विरोधी हैं, परन्तु जिस प्रकार एक ही पदार्थ अपनेसे अधिक श्वेत पदार्थकी अपेक्षा कृष्ण और अपनेसे अधिक कृष्ण पदार्थकी अपेक्षा शुक्ल कहा जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपकी स्वभाव सीमा भी विधि—अस्ति और निषेध—नास्ति पक्षसे सहित है अर्थात् स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वह विधि—अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा निषेध—नास्तिरूप है । द्रव्यकी अपेक्षा एक है और गुण तथा पर्यायकी अपेक्षा अनेक है । इन विरोधी धर्मोकी सगति स्याद्वादसे ही हो सकती है एकान्तवादसे नही । यह विशेषता एक आपमे ही है अन्य देवोमे नही है ।।१४।।

भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथाऽभवत्सु प्रतिभाति नास्तिता ।
त्वमस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन नः प्रकाशमानो न तनोषि विस्मयम् ।। १५ ।।

अन्वयार्थ—(भवत्सु भावेषु) हो रहे पदार्थोंमें (अस्तिता) अस्तिपना (विभाव्यते) प्रतीत होता है (तथा) तथा (अभवत्सु) नही हो रहे पदार्थोंमे (नास्तिता) नास्तिपना (प्रतिभाति) प्रतीत होता है, परन्तु (त्वम्) आप (अस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन) अस्तिपना और नास्तिपनाके समुच्चय—युगपत्प्रवृत्तिसे (प्रकाशमानः) प्रकाशित होते हुए (न) हम स्याद्वादियोको (विस्मयम्) आश्चर्य (न तनोषि) नही करते है ।

भावार्थ—अस्ति और नास्ति ये दो धर्म परस्पर विरोधी हैं। जो पदार्थ वर्तमानमें हो रहे हैं उनमें अस्तिधर्म रहता है और जो वर्तमानमें नही हो रहे हैं किन्तु पहले हो चुके हैं या आगे होनेवाले हैं उनमे नास्तिधर्म रहता है। परन्तु हे भगवन् ! आप अस्ति और नास्ति दोनों रूप हैं। आपकी इस द्विरूपतासे हमें कोई आश्चर्य नही हो रहा है क्योकि हम जानते है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे सदा नित्य रहता है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य। जब हम आपके ज्ञायक-स्वभाव चेतनद्रव्यकी अपेक्षा विचार करते है तब आप नित्य प्रतीत होते हैं क्योंकि आपका यह ज्ञायकस्वभाववाला चेतन द्रव्य अनादि अनन्त है—कभी नष्ट नही होनेवाला है और जब नर नारकादि स्थूल पर्यायों अथवा समय-समयवर्ती सूक्ष्म पर्यायोकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आप अनित्य प्रतीत होते है, क्योकि आपकी वह पर्याय सादिसान्त है। वर्तमान पर्यायके सद्भावकालमे आप अस्तिरूप हैं और अतीत एव अनागत पर्यायके कालमे नास्तिरूप है ॥१५॥

उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवन्नभावतां यासि परात्मनाऽभवन् ।
अभावभावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुणः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इह) इस जगत्मे (त्वम्) आप (आत्मना भवन्) स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे होते हुए (भाव) सद्भाव—अस्तिरूपताको (उपैषि) प्राप्त हो रहे हे और (परात्मना) परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे (अभवन्) न होते हुए (अभावतां) असद्भाव नास्तिरूपताको (यासि) प्राप्त हो रहे है। सो (अभावभावोपचित) अभाव—नास्तिधर्म और भाव—अस्तिधर्मसे सहित (अयम्) यह (ते) आपका (स्वभाव एव) स्वभाव ही है। आपका यह स्वभाव (प्रतिपत्तिदारुणः) प्रतीतिकी अपेक्षा कठिन है—स्याद्वादविज्ञानसे अपरिचित लोगोकी बुद्धिके बाह्य है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व स्वचतुष्टयकी अपेक्षा होता है परचतुष्टयकी अपेक्षा नही, इसलिये स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वह भावरूप होता है और परचतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप। इन दोनो विवक्षाओंके कारण आप भी भाव और अभाव—अस्तिनास्तिरूपताको प्राप्त हो रहे है। हे भगवन् ! इन दो विरोधी धर्मोका एकत्र समन्वय स्याद्वादसे ही संभव है, एकान्तवाद-से नही। एकान्तवादियोके लिए तो इसकी प्रतीति करना भयावह ही है ॥१६॥

सदैक एवायमनेक एव वा त्वमप्यगच्छन्नवधारणामिति ।
अबाधितं धारयसि स्वमञ्जसा विचारणार्हा न हि वस्तुवृत्तयः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(अयम्) यह पदार्थ (सदा) सर्वदा (एक एव) एक ही है (वा) अथवा (अनेक एव) अनेक ही है (इति) इस प्रकारकी (अवधारणाम्) एकान्त प्रतीतिको (अगच्छन्) प्राप्त न होते हुए (त्वमपि) आप भी (अबाधित) बाधारहित (स्वम्) अपने आपको (धारयसि) धारण करते है यह ठीक ही है (हि) क्योकि (अञ्जसा) वास्तवमे (वस्तुवृत्तयः) पदार्थकी परिणतियाँ—स्वभाव (विचारणार्हा) विचार करनेके योग्य—तर्कके विषयभूत (न) नही है।

भावार्थ—यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मोका समन्वय करते हुए भगवान्का स्तवन किया गया है। हे भगवन् ! द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा आप एक है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनेक हैं। वस्तुका ऐसा स्वभाव ही है। ऐसा क्यो है ? यह तर्कका विषय नहीं ॥१७॥

त्वमेकनित्यत्वनिखातचेतसा क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि च ।
न वीक्ष्यसे संकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभवः ।। १८ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (संकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभव.) क्रमप्रवृत्त—पर्याय और अक्रमप्रवृत्त—गुण, इन दोनों भावोंको धारण करनेवाले वैभवसे युक्त (त्वम्) आप, (एकनित्यत्वनिखातचेतसा) मात्र नित्यत्वमें जिसका चित्त संलग्न है ऐसे पुरुषके द्वारा (च) और (क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि) क्षणक्षयसे जिसका चित्त क्षोभित हो रहा है ऐसे पुरुषके द्वारा भी (न वीक्ष्यसे) नहीं देखे जाते हैं ।

भावार्थ—जिनागममे द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा गया है—जो गुण और पर्यायोसे सहित हो वह द्रव्य है । इनमे गुण अक्रमवर्ती हैं—एक साथ सब पर्यायोंमे द्रव्यके साथ रहते है और पर्याय क्रमवर्ती है—एकके अनन्तर दूसरी पर्याय आती है । ऐसा कोई समय नही है जब कि द्रव्य पर्यायसे रहित और पर्याय द्रव्यसे रहित होता हो । हे भगवन् ! आप ज्ञायकस्वभावसे युक्त, परसे भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायोसे अभिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य है अत आप भी गुण-पर्यायात्मक दोनों भावोसे सहित है । सब पर्यायोंमे व्यापक रहनेसे गुण नित्य माने जाते है और पर्याय क्रमवर्ती होनेसे अनित्य माने जाते हैं । जो द्रष्टा, मात्र नित्यपक्षको ग्रहण करता है वह केवल आपके गुणोकी ओर दृष्टि देता है और जो क्षणक्षयीपक्ष—अनित्यपक्षको ग्रहण करता है वह केवल पर्यायकी ओर दृष्टि देता है । इन दोनो एकान्तवादियोके द्वारा आपका पूर्ण स्वरूप नही जाना जा सकता, उसे तो वही जान सकता है जो नित्य और अनित्य इन दोनों पक्षोको स्वीकृत करता हो । यह नित्य और अनित्यधर्मको लिए हुए भगवान्‌का स्तवन है ।।१८।।

अपेलवः केवलबोधसम्पदा सदोदितज्योतिरजय्यविक्रमः ।
असौ स्वतत्त्वप्रतिपत्त्यवस्थितस्त्वमेकसाक्षी क्षणभङ्गसङ्गिनाम् ।। १९ ।।

अन्वयार्थ—जो (केवलबोधसम्पदा) केवलज्ञानरूप सम्पदाके द्वारा (अपेलव:) परिपूर्ण है (सदोदितज्योति:) वह केवलज्ञान ज्योति सदा उदित रहती है जिनकी (अजय्यविक्रम:) जिनका अनन्त वीर्य अजय्य है—जीता नही जा सकता है तथा जो (स्वतत्त्वप्रतिपत्त्यवस्थित:) आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमे सम्यक् प्रकारसे अवस्थित है ऐसे (असौ त्वम्) वह आप ही (क्षणभङ्गसङ्गिनाम्) एकान्त क्षणिकवादियोके लिए (एकसाक्षी) अद्वितीय साक्षी हैं । अर्थात् आपके सन्मुख रहते हुए उनका क्षणभङ्गवाद ध्वस्त हो जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञान और अनन्त बलसे युक्त है तथा निश्चयसे आत्म-तत्त्वमे अवस्थित है अर्थात् आत्मतत्त्वको जानते है । आपकी इस नित्यरूपतासे एकान्त क्षणिकवादियो-की मान्यता खण्डित हो जाती है । अर्थात् आप उनकी मान्यताके विरुद्ध उदाहरण स्वरूप है ।।१९।।

प्रकाशयन्नप्यतिशायिधामभिर्जगत् समग्रं निजविद्धयलङ्कृतैः ।
विविच्यमानः प्रतिभासते भवान् प्रभो परस्पर्शपराङ्मुखः सदा ।। २० ।।

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे नाथ ! (निजविद्धयलङ्कृतै:) आत्मज्ञानसे सुशोभित (अतिशयधामभि:) लोकोत्तर तेजसे (समग्रं) सम्पूर्ण (जगत्) जगत्‌को (प्रकाशयन् अपि) प्रकाशित करते हुए भी

(भवान्) आप (सदा) सर्वदा (परस्पर्शपराङ्मुखः) परके स्पर्शसे पराङ्मुख रहते हैं तथा (विविच्यमानः) परसे पृथक् (प्रतिभासते) प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌के वीतराग विज्ञानको हृदयमे रख आचार्य स्तुति करते हुए कहते है कि हे प्रभो! यद्यपि आप अपने वीतरागविज्ञान—केवलज्ञानके द्वारा समस्त जगत्‌को जानते हैं तथापि परपदार्थोंके स्पर्शसे रहित हैं। जिस प्रकार दर्पण बाह्य पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करता हुआ भी उनसे दूर रहता है उसी प्रकार आप भी लोकालोकको जानते हुए भी उनके स्पर्शसे सदा दूर रहते हैं। वीतराग विज्ञानकी कैसी अद्भुत महिमा है कि वह यद्यपि समस्त पदार्थोंको जानता है तो भी उनके स्पर्शसे दूर रहता है—कभी भी उनमे आत्मबुद्धि नही करता है। उस केवलज्ञानके द्वारा आप संसारके समस्त पदार्थोंसे पृथक् अनुभवमें आते है। हे भगवन्! आपका वह केवलज्ञान जहाँ परपदार्थोंके बोधसे सहित है वहाँ निजबोध—आत्मतत्त्वके बोधसे भी अलकृत रहता है॥२०॥

परात्पराङ्‌वृत्तचिदात्मनोऽपि ते स्पृशन्ति भावा महिमानमद्‌भुतम्।
न तावता दुष्यति तावकी चितिर्यतश्चितिर्या चितिरेव सा सदा॥ २१॥

अन्वयार्थ—(भावाः) पदार्थ (परात्) परपदार्थोंसे (परावृत्तचिदात्मनः अपि ते) पराङ्मुख है चिदात्मा जिनकी, ऐसे होनेपर भी आपकी (अद्भुतम्) आश्चर्यकारी (महिमानम्) महिमाको (स्पृशन्ति) स्पर्श करते हैं अर्थात् आपके ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते है परन्तु (तावता) उतने मात्रसे—परपदार्थोंको जानने मात्रसे (तावकी) आपकी (चितिः) चेतना—ज्ञातृत्वशक्ति (न दुष्यति) दोषयुक्त नही होती है। (यतः) क्योकि (या चितिः) जो चेतना है (सा) वह (सदा) सदा (चितिः एव) चेतना ही रहती है।

भावार्थ—स्व-परपदार्थोंको जाननेवाली आत्माकी जो शक्ति है उसे चिति या चेतना कहते हैं। अध्यात्मभाषामे यही आत्माका ज्ञायक स्वभाव कहलाता है। रागी जीव इच्छापूर्वक पदार्थोंको जानता है इसलिये उसका ज्ञायकस्वभाव पराभिमुख होता है, परन्तु वीतराग जीव इच्छापूर्वक पदार्थोंको नही जानता, इसलिये उसका ज्ञायकस्वभाव परसे पराङ्मुख होता है। हे भगवन्! यतः आप वीतराग है अतः आपका ज्ञायकस्वभाव परसे पराङ्मुख है। परन्तु पराङ्मुख होनेपर भी उसमे परपदार्थोंका प्रतिफलन होता ही है। जिस प्रकार दर्पणमे यह इच्छा नही है कि मुझमे घट-पटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होवें परन्तु उसकी स्वच्छताके कारण वे उसमे प्रतिबिम्बित होते ही है इसी प्रकार आपकी ऐसी इच्छा नही है कि हम पदार्थोंको जाने, फिर भी ज्ञानगुणकी निर्मलताके कारण उसमे पदार्थ प्रतिबिम्बित होते ही है। आचार्य कहते हैं कि इतने मात्रसे आपके ज्ञायकस्वभावमे कोई दोष उत्पन्न नही होता क्योंकि जो ज्ञायकस्वभाव है वह सदा ज्ञायकस्वभाव ही रहता है, पदार्थरूप नही होता है। यहाँ ज्ञेयसे ज्ञायकस्वभावकी भिन्नता बतलाते हुए जिनेन्द्रका स्तवन किया गया है॥२१॥

अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां वहन्ति भावास्त्वयि बोधरूपताम्।
अनन्तविज्ञानघनस्ततो भवान्न मुह्यति द्वेष्टि न रज्यते च न॥ २२॥

अन्वयार्थ—यतः जिस कारण (बहिरर्थरूपताम्) घट-पटादिके भेदसे बाह्य पदार्थोंकी आकृतिको (वहन्तः) धारण करनेवाले (अमी भावाः) ये पदार्थ (त्वयि) आपमे (बोधरूपताम्) ज्ञानरूपताको

(वहन्ति) धारण करते हैं (ततः) उस कारण (भवान्) आप (अनन्तविज्ञानघनः) अनन्तविज्ञान—केवलज्ञानसे घन—परिपूर्ण रहते हैं और (न मुह्यति) न मोह करते हैं (न द्वेष्टि) न द्वेष करते हैं (च) और (न रज्यते) न राग करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पदार्थके निमित्तसे दर्पणका पदार्थाकार परिणमन वास्तवमे दर्पणकी ही अवस्था है उसी प्रकार आपके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित—ज्ञेयाकार होकर आये हुए घट-पटादि पदार्थ वास्तवमे ज्ञानकी पर्याय होनेसे ज्ञान ही है। इस प्रकार यद्यपि आपमे ज्ञेय आते हैं पर वे परमार्थसे ज्ञेय नही किन्तु ज्ञानके ही परिणमन हैं, अतः आप अनन्त ज्ञानसे घन—सान्द्र-परिपूर्ण है। जिस प्रकार दर्पणमे, इष्ट-अनिष्ट पदार्थ प्रतिबिम्बित होनेपर भी उसमे मोह राग और द्वेष नही होता उसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट पदार्थ, ज्ञानमे आनेपर भी आपमे मोह राग और द्वेष उत्पन्न नही होते। यहाँ अभेदनयसे ज्ञेय और ज्ञानमे अभेदरूपताका वर्णन करते हुए वीतराग विज्ञानके माध्यमसे भगवान्‌का स्तवन किया गया है॥ २२॥

यदेव बाह्यार्थघनावघट्टनं तवेदमुत्तेजनमीश तेजसः।
तदेव निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजैकचित्कुड्मलहासशालिनः॥ २३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! (यदेव इदम्) जो यह (बाह्यार्थघनावघट्टनं) बाह्य पदार्थों-का अत्यधिक अवघट्टन—सस्पर्श है (तदेव) वही (निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजचित्कुड्मलहास-शालिन) तीव्र आघातसे अत्यधिक विकसित होनेवाले अपने अद्वितीय चैतन्यरूप कलीके विकाससे सुशोभित (तव) आपके (तेजस.) तेज—ज्ञानज्योतिका (उत्तेजनम्) उत्तेजन—संवर्धन है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार अङ्गुली आदिके संस्पर्शसे फूलकी कली खिल उठती है उसी प्रकार घट-पटादि बाह्य पदार्थोंके संस्पर्शसे आपकी चेतनारूप कली खिल उठती है। इस तरह जो बाह्य पदार्थोंका अत्यधिक आघात है वह आपके ज्ञानरूप तेजको उत्तेजित करनेवाला है। ज्ञान ज्योतिका यह उत्तेजन उसे केवलज्ञानरूपमे परिवर्धित करना है। केवलज्ञान सदा उपयोग-रूप रहता है तथा उसमे समस्त पदार्थ निरन्तर प्रस्फुरित होते रहते हे। यहाँ ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान विकसित होता है यह बतलाते हुए भगवान्‌का स्तवन किया गया है॥ २३॥

प्रमेयवैशद्यमुदेति यद्बहिः प्रमातृवैशद्यमिदं तदन्तरे।
तथापि बाह्यार्थरतैर्न दृश्यते स्फुटः प्रकाशो जिनदेव तावकः॥ २४॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (बहि) बाहर (यत्) जो (प्रमेयवैशद्यम्) पदार्थोंकी विशदता (उदेति) प्रकट होती है (तत् इदम्) वही यह (अन्तरे) भीतर (प्रमातृवैशद्यम्) ज्ञाताकी विशदता है (तथापि) तथापि (बाह्यार्थरतैः) बाह्य पदार्थोमे लीन पुरुषोके द्वारा (जिनदेव) हे जिनेन्द्र भगवन्! (तावकः) आपका (स्फुट.) स्पष्ट (प्रकाशः) प्रकाश (न दृश्यते) नही देखा जाता है।

भावार्थ—बाहरमे जो पदार्थगत स्पष्टताकी प्रतीति होती है वह प्रमाताके अन्तर्गत वैशद्य-से होती है अर्थात् प्रमाताका अन्तर्गत वैशद्य ही पदार्थकी स्पष्टताका कारण है। हे भगवन्! इस प्रकार आपके अन्तरङ्गकी ज्ञान गरिमा यद्यपि स्पष्ट है तथापि बाह्य पदार्थोमे लीन रहनेवाले मनुष्य उसे देख नही पाते है यह आश्चर्यकी बात है। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्गकी निर्मलताकी अनु-

भूति अन्तरङ्गमें लीन रहनेवाले मनुष्योंको ही हो सकती है बाह्य पदार्थोंमें लीन रहनेवाले मनुष्यों-को नहीं ॥ २४ ॥

तथा सदोऽन्ते जित(जिन)वीर्यसम्पदा प्रपञ्चयन् वैभवमस्मि तावकम् ।
यथा विचित्राः परिकर्मकौशलात् प्रपद्यसे स्वादपरम्परा स्वयम् ॥ २५॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार आप (परिकर्मकौशलात्) आत्म-पुरुषार्थकी कुशलतासे (स्वयम्) अपने आप (विचित्राः) नाना प्रकारके (स्वादपरम्पराः) सुख समूहको (प्रपद्यसे) प्राप्त हो रहे है (तथा) उस प्रकार (सदोऽन्ते) समवसरण सभामे (तावकं) आपका जो (वैभवम्) वैभव है उसे (प्रपञ्चयन् अस्मि) विस्तृत कर रहा हूँ ।

भावार्थ—यतः आप अनन्त सुखसे सम्पन्न है अत अपनी सामर्थ्यके अनुसार समवसरणमे स्थित आपके वैभवका विस्तार कर रहा हूँ ॥ २५ ॥

■

ॐ

(५)

वंशस्थवृत्तम्

न वर्द्धसे यासि च सर्वतुङ्गतामसीमनिम्नोऽसि विभोऽनमन्नपि ।
अवस्थितोऽप्यात्ममहोभिरद्भुतैः समन्तविस्तारततोऽवभाससे ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! आप (न वर्द्धसे) वृद्धिको प्राप्त नही हो रहे हैं (च) फिर भी (सर्वतुङ्गता) सबसे अधिक उन्नतिको (यासि) प्राप्त हो रहे है। (अनमन् अपि) नम्रीभूत न होते हुए भी (असीमनिम्न: असि) अत्यन्त नम्र है और (अवस्थितोऽपि) अवस्थित—एकरूप होते हुए भी (अद्भुतै. आत्ममहोभिः) आश्चर्यकारक आत्मतेजके द्वारा (समन्तविस्तारततः) सब ओर विस्तारसे व्याप्त (अवभाससे) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—यहाँ विरोधाभास अलकारके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप यद्यपि वृद्धिको प्राप्त नही हो रहे हैं फिर भी सबसे अधिक उन्नत है, लोकमे उन्नत वही होता है जो वृद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु आप वृद्धिके विना ही सबसे अधिक उन्नत है। यह विरुद्ध बात है, इसका परिहार यह है कि केवलज्ञान होते ही शरीरकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिए कहा गया है कि आप वृद्धिको प्राप्त नही होते फिर भी सबसे अधिक उन्नत है अर्थात् सबसे अधिक श्रेष्ठ है। तुङ्गका अर्थ उन्नत और श्रेष्ठ दोनो होते हैं, अतः परिहार पक्षमे श्रेष्ठ अर्थ लेना चाहिए। दूसरा विरोध यह है कि आप किसीको नमन नही करते फिर भी अत्यन्त निम्न—नीचे हैं। नमन किये विना निम्न—नीचे कैसे हुआ जा सकता है ? पर आप नमन किये बिना ही नीचे है। परिहार इस प्रकार है कि आप उस उच्चतम भूमिकामे पहुँच गये है जहाँ आराध्य और आराधकका विकल्प समाप्त हो जाता है, अतः आप किसीको नमस्कार नही करते है। निम्नका अर्थ गम्भीर होता है अतः आप अनन्त गाम्भीर्यगुणसे सहित हैं अर्थात् अनेक बाधक कारण उपस्थित होनेपर भी मोक्षको प्राप्त नही होते। तीसरा विरोध यह है कि आप अवस्थित है—अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे एकरूप हैं न घटते है न बढते है फिर भी आप आश्चर्यकारक तेजके द्वारा सब ओर विस्तारसे व्याप्त हैं, जो अवस्थित होता है उसका विस्तार रुक जाता है, परन्तु आप अवस्थित होनेपर भी अत्यधिक विस्तारसे व्याप्त है। विरोधका परिहार यह है कि आप अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीकी अपेक्षा अवस्थित है फिर भी आपका तेज—प्रभाव समस्त लोकमे फैल रहा है। उसी तेजके कारण आप शत इन्द्रोके द्वारा वन्दनीय है ॥ १ ॥

अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः ।
अयं निजद्रव्यगरिम्णि पुष्कले सुनिश्चलो भासि सनातनोदयः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः) अनादि अनन्त क्रमसे युक्त वैभवके प्रभावसे जिन्होंने समस्त कालके विस्तारको रोक रक्खा है, जो (पुष्कले) परिपूर्ण (निजद्रव्यगरिम्णि) आत्मद्रव्यकी गरिमामे (सुनिश्चलः) अच्छी तरह निश्चल है और (सनातनो-

दयः) जिनका अभ्युदय सनातन—नित्य है—कभी नष्ट होनेवाला नहीं है अथवा अनादिकालीन है, ऐसे (अयं) यह आप (भासि) सुशोभित हो रहे है ।

भावार्थ—अपने-अपने उपादान और कालद्रव्यरूप सामान्य प्रत्ययके कारण प्रत्येक द्रव्यमें अनादि अनन्त पर्यायोका चक्र क्रमसे परिवर्तित होता रहता है। द्रव्यका ऐसा स्वभाव है उसी स्वभावके कारण आपका वैभव भी क्रमसे ही विकसित हुआ है। वर्तमानमे जो वीतरागता और सर्वज्ञतासे युक्त आपकी अरहंत पर्याय है यह अनादि नहीं है। आप क्रम-क्रमसे ही इस पर्यायको प्राप्त हुए है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अन्य दर्शनकार ईश्वरको अनादि-अनन्त शुद्ध मानते हैं उस प्रकार जैन दर्शन स्वीकृत नही करता। उसकी मान्यता है कि संसारका अशुद्ध प्राणी ही अपनी साधनाके बलसे विकारोको नष्ट कर शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता हुआ ईश्वर बनता है। इस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे विचार करनेपर आपका यह परमार्हन्त्यरूप वैभव क्रमसे प्रकट हुआ है, परन्तु द्रव्यकी त्रैकालिक योग्यताको विषय करनेवाले निश्चयनयसे विचार करनेपर आपका यह परमार्हन्त्यरूप परम वैभव सनातन है—सदासे आपमे विद्यमान है। तथा आप परिपूर्णताको प्राप्त आत्मद्रव्यकी गरिमामे अत्यन्त निश्चल है। वस्तुतः स्वभाव दृष्टिसे संसारका प्रत्येक द्रव्य अपने आपमे परिपूर्ण होता है, उसका कोई भी गुण कही बाहरसे—अन्य द्रव्यसे आकर उसमे नही मिलता है। हे भगवन् ! आप अपने इस स्वभावमे सुनिश्चल हैं, अतः सुशोभित हो रहे है ॥२॥

इदं तव प्रत्ययमात्रसत्तया समन्ततः स्यूतमपास्तविक्रियम् ।
अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं समग्रमेव श्रयते चिदच्छताम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! जो (समन्ततः) सब ओरसे (प्रत्ययमात्रसत्तया) ज्ञानमात्रसत्ताके द्वारा (स्यूतम्) युक्त है तथा (अपास्तविक्रियम्) जिसका समस्त विकार नष्ट हो गया है ऐसा (इदं) यह (तव) आपका (अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं) आदि मध्य और अन्तके भेदसे रहित वैभव (समग्रमेव) सम्पूर्णरूपसे (चिदच्छताम्) चेतन-आत्माकी स्वच्छताको (श्रयते) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—आत्माका ज्ञायकस्वभाव त्रैकालिक होनेके कारण आदि मध्य और अन्तसे रहित है। सब ओरसे एक ज्ञानकी सत्तासे ओतप्रोत है—तन्मय है। रागादिक विकारी भावोके नष्ट हो जानेके कारण वीतराग विज्ञानताको प्राप्त है। हे भगवन् ! यही ज्ञायकस्वभाव आपका निज वैभव है। अष्ट प्रातिहार्यरूप वैभव, परसापेक्ष होनेके कारण निज वैभव नही कहा जा सकता। यह ज्ञायकस्वभावरूप वैभव आत्माकी स्वच्छतासे सम्बद्ध है ॥ ३ ॥

भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वती किलार्थसत्ता भवतो गरीयसी ।
तथापि सालं विदि तज्जतीह ते यतोऽस्ति बोधाविषयो न किञ्चन ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (किल) निश्चयसे (भवन्तमपि) आपको भी (आत्ममहिम्नि) अपनी महिमामे (कुर्वती) गर्भित करती हुई (अर्थसत्ता) पदार्थोंकी सत्ता—महासत्ता (भवतः) आपसे (गरीयसी) गुरुतर है—बहुत भारी है (तथापि) तो भी (सा) वह सत्ता (इह) इस जगत्में (ते) आपके (विदि) ज्ञानमे (अलं) अच्छी तरह समाई हुई ([1]तज्जति) उस ज्ञानसे ही उत्पन्न हुईके

१. तस्माज्जाता तज्जा, तज्जा इव आचरति तज्जति, आचारार्थे क्विप् ।

समान जान पड़ती है। (यतः) क्योंकि (ते) आपके (बोधाविषयः) ज्ञानका अविषय (किञ्चन न) कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! महासत्ताका विस्तार इतना अधिक है कि उसने आपको भी अपनी महिमा में गतार्थ कर लिया, इस प्रकार वह महासत्ता आपसे भी बड़ी है, परन्तु वह महासत्ता आपके अनन्त ज्ञानके एक कोणमे ही विलीन है और इस प्रकार विलीन है कि जिससे ऐसी जान पडती है मानों उसी ज्ञानसे उत्पन्न हुई हो। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञानका विस्तार महा-सत्तासे भी अधिक है, क्योंकि जो महासत्ता ससारके समस्त पदार्थोमे व्याप्त है वह आपके ज्ञान-सागरके एक कोनेमे ही स्थित है। लोकालोकके भीतर ऐसा कोई पदार्थ नही है जो आपके ज्ञान-का विषय न हो अथवा यहाँ एकभाव यह भी हो सकता है कि संसारमे अर्थ, शब्द और प्रत्ययके भेदसे तीन सत्ताएँ है। अर्थसत्ता पदार्थको विषय करती है जैसे जलधारणादि कार्यसे युक्त कम्बुग्रीवादिमान्—घटपदार्थ ! शब्दसत्ता उस पदार्थको घट, कुम्भ, कलश आदि शब्दोके द्वारा प्रतिपादित करती है और प्रत्ययसत्ता, उन घटपदार्थ और घटादि शब्दोसे होनेवाले ज्ञानको विषय करती है। इस पद्यमे तथा आगेके पाँचवें और छठे पद्यमे क्रमसे इन तीन सत्ताओंके द्वारा जिनेन्द्रदेवका स्तवन किया गया है ॥ ४ ॥

समग्रशब्दानुगमाद्गभीरया जगद्ग्रसित्वाऽप्यभिधानसत्तया।
त्वदच्छबोधस्थितया विडम्ब्यते नभस्तलप्रस्फुरितैकतारका ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—हे विभो ! जो (समग्रशब्दानुगमात् गभीरया) समस्त शब्दोका अनुगम—विषय करनेसे गम्भीर है तथा (जगद् ग्रसित्वापि) समस्त संसारको ग्रस कर भी—व्याप्त करके भी (त्वदच्छबोधस्थितया) आपके निर्मल ज्ञानमे स्थित है ऐसी (अभिधानसत्तया) शब्दसत्ताके द्वारा (नभस्तलप्रस्फुरिता एकतारका) आकाशतलमे चमकती हुई एक तारा (विडम्ब्यते) विडम्बित होती है—तिरस्कृत होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जगत्के समस्त पदार्थोको ग्रहण करनेवाली शब्दसत्ता यद्यपि बहुत भारी है तथापि वह आपके ज्ञानसागरके एक कोनेमे स्थित है। अनन्त ज्ञानके एक कोनेमे प्रति-भासित शब्दसत्ता ऐसी जान पड़ती है जैसे अनन्त आकाशमे एक तारा चमक रही हो। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञानके सामने शब्दसत्ताकी स्थिति अतितुच्छ है ॥ ५ ॥

विनैव विश्वं निजवस्तुगौरवाद्विभो भवन्मात्रतया प्रवृत्तया।
न जातुचित् प्रत्ययसत्तया परः करम्ब्यते भाति तथापि चिन्मयः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! जो (निजवस्तुगौरवात्) आत्मवस्तुके गौरवसे (विश्वं विनैव) विश्वके बिना ही—समस्त पदार्थोकी अपेक्षाके बिना ही (भवन्मात्रतया प्रवृत्तया) आपके बराबर प्रवृत्त है अर्थात् आपके ऐसी (प्रत्ययसत्तया) ज्ञानसत्ताके द्वारा यद्यपि (परः) परपदार्थ (जातुचित्) कभी भी (न करम्ब्यते) व्याप्त नही किया जाता (तथापि) तो भी वह परपदार्थ (चिन्मयः) चैतन्यरूप (भाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे नाथ ! संसारके अनन्तानन्त पदार्थोके विषय करनेवाली—जाननेवाली जो आपकी ज्ञानसत्ता है वह किसी पदार्थके कारण विकसित हुई हो यह बात नही है, क्योंकि वह

अपनी ज्ञायकशक्तिसे स्वयं ही उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनकार अर्थ और आलोक—पदार्थ और प्रकाश आदिके कारण ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हैं उस प्रकार जैन दर्शन नही मानता है। उसकी मान्यता है कि आत्माका वह ज्ञान स्वत: स्वभावसे सिद्ध हैं यह बात जुदी है कि वह पदार्थ और आलोक आदिसे विकसित होता है। हे भगवन्! आपकी यह ज्ञानसत्ता आपके ही बराबर है अर्थात् आपके असंख्यात प्रदेशोंमेसे प्रत्येक प्रदेशमें व्याप्त है। ऐसा नही है कि वह अणुके बराबर हो और अलातचक्रके समान शीघ्रतासे भ्रमण करती हुई सब प्रदेशोमे व्याप्तके समान दिखती हो। आप अपनी इस ज्ञानसत्ताके द्वारा परपदार्थोंको जानते तो है परन्तु वह उनरूप कदापि नही होती अर्थात् अपने गुण-पर्यायको छोड़कर परपदार्थोंके गुणपर्यायको कभी भी ग्रहण नही करती। उसके ज्ञायक स्वभावके कारण यद्यपि परपदार्थ ज्ञेय होकर उसमे प्रतिभासित होते अवश्य है, परन्तु वे त्रिकालमे पर ही रहते है। ज्ञान और ज्ञेयका ऐसा ही विचित्र सम्बन्ध है कि वे परस्पर एक-दूसरेके संपर्कमे रहकर भी एक-दूसरेरूप परिणमन नही करते। जिस प्रकार दर्पणमे घट-पटादि पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पडता है उसी प्रकार ज्ञानमे पदार्थोका प्रतिबिम्ब (विकल्प) आता है, परन्तु जिस प्रकार घट-पटादिका प्रतिबिम्ब परमार्थसे दर्पणका ही परिणमन है उसी प्रकार ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होनेवाले परज्ञेयोका प्रतिबिम्ब परमार्थसे ज्ञानका ही परिणमन है, ज्ञेयोका नही। इस स्थितिमे ज्ञानमे जो ज्ञेयोका आकार झलकता है वह एक चैतन्यरूप आत्माका ही परिणमन है इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! जो परपदार्थ आपकी ज्ञानसत्तामे आता है वह चिन्मयरूप ही है ॥ ६ ॥

न वार्थसत्ता पृथगर्थमण्डलीं विलङ्घ्य विस्फूर्जति कापि केवला ।
भवान् स्वयं सन्नखिलार्थमालिकां सदैव साक्षात्कुरुते चिदात्मना ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (कापि) कोई (केवला) मात्र (अर्थसत्ता) पदार्थोकी सत्ता (अर्थमण्डली) अर्थसमूहको (विलङ्घ्य) उलंघनकर (पृथक्) जुदी (न विस्फूर्जति) प्रकट नही है। (भवान्) आप (स्वयं) अपने आप (अखिलार्थमालिका) समस्त पदार्थोंके समूहको (सन्) तद्रूप होते हुए (चिदात्मना) चैतन्यस्वभावसे (सदैव) सदा ही (साक्षात्कुरुते) प्रत्यक्ष करते है—प्रत्यक्ष देखते है।

भावार्थ—पदार्थोंमे जो सत्ता नामका गुण है वह उनसे पृथक् नही है, क्योकि गुण और गुणीमे प्रदेशभेद न होनेसे अभेद माना जाता है। भेद विवक्षामे सत्ताको लक्षण और तत्त्व-पदार्थको लक्ष्य कहा जाता है, परन्तु अभेदविवक्षामे सत्ताको ही पदार्थ कहा जाता है।[१] इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि अर्थसत्ता, पदार्थसे पृथक् नही है। 'ज्ञेयको जानते समय ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन होता है' इस सिद्धान्तको हृदयमे रखकर कहा गया है कि हे भगवन्! आप समस्त पदार्थरूप होते हुए अर्थात् उन्हे अपना ज्ञेय बनाते हुए चैतन्यस्वरूपसे उनका सदा साक्षात्कार करते हैं। परमार्थसे ज्ञानमे प्रतिबिम्बित ज्ञेय, ज्ञान ही है, इसलिये उन्हे चित्स्वरूप कहनेमे आपत्ति नही है ॥ ७ ॥

न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैर्विलङ्घयेत् पुद्गलतां कदाचन ।
तथापि तद्वाचकशक्तिरञ्जसा चिदेककोणे तव देव वल्गति ॥ ८ ॥

१. 'तत्त्वं सल्लक्षणकं सन्मात्रं वा यत स्वत. सिद्धम्' पञ्चाध्यायी।

अन्वयार्थ—यद्यपि (शब्दसत्ता) शब्दोकी सत्ता (सर्ववाचकैः सह) समस्त वाचकोके साथ (कदाचन) कभी भी (पुद्गलतां) पुद्गलपनेका (न विलङ्घयेत्) उल्लंघन नही करती है अर्थात् समस्त शब्द सदा पुद्गलद्रव्यकी ही पर्यायरूप है (तथापि) तो भी (देव) हे देव ! (तद्वाचकशक्तिः) उन शब्दोंकी वाचकशक्ति (अञ्जसा) परमार्थसे (तव) आपके (चिदेककोणे) चैतन्यके एक कोनेमे (वल्गति) सचार करती है ।

भावार्थ—शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है अतः उनकी सत्ता और उनकी वाचकशक्ति भी पुद्गलद्रव्य ही है। इस प्रकार आपके चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा विजातीय द्रव्य होनेपर भी वे शब्द आपके ज्ञानमे ज्ञेय बनकर आते है और आपके अनन्त ज्ञानके एक कोणमे ही विलीन हो जाते है। परमार्थसे केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त है, अत. उनमे संसारके समस्त पदार्थ एक कोणमे ही प्रतिबिम्बित हुए से जान पड़ते हैं ॥ ८ ॥

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे विनान्तरर्थाद्बहिरर्थ एव न ।
प्रमेयशून्यस्य न हि प्रमाणता प्रमाणशून्यस्य न हि प्रमेयता ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(बहिरर्थनिह्नवे) बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेपर (अन्तरर्थ) अन्तर्वर्ती पदार्थ (कुतः) कैसे हो सकता है और (अन्तरर्थात् विना) अन्तर्ज्ञेयके बिना (बहिरर्थ) बाह्य अर्थ (न एव) नही हो सकता है। (हि) निश्चयसे (प्रमेयशून्यस्य) प्रमेय—बाह्य पदार्थसे रहित ज्ञानमे (प्रमाणता न) प्रमाणता नही हो सकती और (प्रमाणशून्यस्य) प्रमाणसे रहित वस्तुमे (प्रमेयता न हि) प्रमेयता नही रह सकती।

भावार्थ—शून्याद्वैतवादी जैसे कुछ दर्शनकार बाह्य पदार्थोका सर्वथा अभाव मान कर एक ज्ञानका ही अद्वैत सिद्ध करते है और चार्वाक् जैसे कुछ दर्शनकार ज्ञानदर्शनके आधारभूत आत्मतत्त्वके अस्तित्वको अस्वीकृत कर ज्ञानदर्शनका भी अस्तित्व नही मानते है। उन दर्शनकारोंकी मान्यताका प्रतिषेध करते हुए आचार्यने कहा है कि यदि बाह्य पदार्थोका निह्नव किया जाता है—उनके अस्तित्वको अस्वीकृत किया जाता है तो अन्तर्ज्ञेयका अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है? इसी प्रकार अन्तर्ज्ञेयके विना बाह्य अर्थका अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? क्योकि प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। प्रमाणके विना पदार्थमे प्रमेयका व्यवहार नही हो सकता है और प्रमेयके बिना प्रमाणमे प्रमाणका व्यवहार नही हो सकता। इस श्लोकमे आचार्यने अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेयकी चर्चा की है। बाह्य पदार्थोका ज्ञानमे जो विकल्प आता है वह अन्तर्ज्ञेय कहलाता है और उस विकल्पमे कारणभूत जो पदार्थ है वह बहिर्ज्ञेय कहलाता है। जैन सिद्धान्त दोनो ज्ञेयोको स्वीकृत करता है क्योकि बहिर्ज्ञेयके बिना अन्तर्ज्ञेयकी और अन्तर्ज्ञेयके बिना बहिर्ज्ञेयकी सत्ता सिद्ध नही होती है। दोनो ही परस्पर सापेक्ष है ॥ ९ ॥

न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनी प्रसह्य बाह्यार्थनिषेधनक्षमा ।
वदन्ति बोधाकृतयः परिस्फुटं विनैव वाचा बहिरर्थमञ्जसा ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(आत्मचुम्बिनी) आत्मामे स्थित (मानमेयस्थितिः) प्रमाण और प्रमेय अथवा ज्ञान और ज्ञेयकी स्थिति (प्रसह्य) हठात् (बाह्यार्थनिषेधनक्षमा) बाह्य पदार्थोका निषेध करनेमे

समर्थ नहीं है, क्योंकि (बोधाकृतय:) ज्ञानमे जो पदार्थोंकी आकृतियाँ अंकित हो रही है वे (वाचा विना एव) वचनोंके बिना ही (परिस्फुटं) स्पष्टरूपसे (अञ्जसा) वास्तविक (बहिरर्थम्) बाह्य अर्थको (वदन्ति) कहती हैं—सूचित करती हैं।

भावार्थ—जो एकान्तवादी अन्तर्ज्ञेयको ही स्वीकृत कर बाह्य ज्ञेयका सर्वथा निषेध करते है उनकी उस मान्यताका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मामे जो ज्ञानज्ञेयकी स्थिति है वह हठपूर्वक बाह्य पदार्थोंका निषेध नही कर सकती, क्योंकि ज्ञानमे जो ज्ञेयकी आकृतियाँ पड़ रही हैं वे बाह्य ज्ञेयके अस्तित्वको स्पष्टरूपसे सूचित करती हैं। जिसप्रकार दर्पणमें पडनेवाली पदार्थोंकी प्रतिकृतियाँ सामने स्थित पदार्थोके अस्तित्वको सूचित करती हैं उसीप्रकार ज्ञानमें पडनेवाली प्रतिकृतियाँ बाह्य पदार्थोंके अस्तित्वको सूचित करती है। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप अनेकान्तदृष्टिसे अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनोके अस्तित्वको स्वीकृत करते है ॥ १० ॥

विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः स्ववस्तुनिर्मग्न गुणैर्विभावितः ।
त्वमेकतामेषि समग्रवाचकं यथा विना वाचकवाच्यभावतः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(उपयोगस्फुरितं बिना) इच्छाजन्य उपयोगके बिना, (सुखादिभि. स्ववस्तुनिर्मग्न-गुणै·) आत्मतत्त्वमे निमग्न सुखादि गुणोंके द्वारा (विभावित·) प्रसिद्धिको प्राप्त हुए (त्वम्) आप (वाचकवाच्यभावत बिना) वाचकवाच्यभावके बिना (समग्रवाचक यथा) समस्त अर्थोंके वाचक सत्‌के समान (एकताम् एषि) एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे आपको किसी प्रकारकी इच्छा नही होती, अत. आपको सुख आदि गुणोंका कोई बाह्यरूप दृष्टिमें नही आता, इससे सिद्ध होता है कि आपके समस्त गुण स्वकीय वस्तुतत्त्वमे निर्मग्न है। उन्ही गुणोके साथ आप एकत्वको प्राप्त हो रहे है, क्योकि निश्चयनय गुण-गुणीमे भेदको स्वीकृत न कर उन्हे एक अखण्ड द्रव्य मानता है। जिस प्रकार समस्त पदार्थोंका वाचक 'सत्' शब्द एकरूपताको प्राप्त है, क्योंकि उसमे वाचक-वाच्यका भेद नही है और अखण्डरूपसे वह समस्त पदार्थोंका संग्रह करता है उसी प्रकार आप भी एकरूपताको प्राप्त है ॥ ११ ॥

क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि स्वभाव एव स्फुरतस्तवानिशम् ।
समं समग्रं सहभाविवैभवं विवर्तमानं परितः प्रकाशते ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि) क्रमसे आनेवाली बहुत भारी विभूतिके धारक (स्वभावे एव) स्वभावमे ही (अनिशं) निरन्तर (स्फुरत:) संलीन रहनेवाले (तव) आपका यह (विवर्तमानं) परिवर्तनशील—षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणमनसे युक्त (समग्रं) सम्पूर्ण (सहभाविवैभवं) गुणोंका वैभव (परित.) सब ओर (समं) एक साथ (प्रकाशते) प्रकाशित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जो स्वभाव, क्रमसे प्रकट होनेवाली अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप उत्कृष्ट विभूतिसे सम्पन्न है, उसी स्वभावमे आप निरन्तर लीन हैं। हे प्रभो ! आपके समस्त गुणोंका वैभव एक साथ सभी ओरसे प्रकाशित है तथा वह गुणोका वैभव अगुरुलघु गुणके कारण निरन्तर परिणमन करता है ॥ १२ ॥

क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवादनंशमेकं सहजं सनातनम् ।
सदैव सन्मात्रमिदं निरङ्कुशं समन्ततस्त्वं स्फुटमीश पश्यसि ।। १३ ।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (त्वम्) आप (क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवात्) क्रम और अक्रमसे प्राप्त होनेवाले पर्याय और गुणरूप विशेषोंके गौण करनेसे (अनंश) अखण्ड (एक) एक (सहज) सहज (सनातनं) अनाद्यनन्त (निरङ्कुशं) निर्बाध (इदं) इस (सन्मात्र) सत्मात्र तत्त्वको (स्फुटम्) स्पष्टरूपसे (समन्तत.) सब ओरसे (सदैव) सदा ही (पश्यसि) देखते हैं।

भावार्थ—पर्याय क्रमवर्ती और गुण अक्रमवर्ती है। सत्मे जब इनकी विवक्षा रहती है तब वह अनेक तथा खण्डरूप अनुभवमे आता है, परन्तु जब इनकी विवक्षाको गौण कर देते है तब वह एक अखण्ड, सहज और अनाद्यनन्त अनुभवमे आता है। हे भगवन् ! आप इसी एक, अखण्ड, सहज तथा सनातन सन्मात्र तत्त्वको स्पष्टरूपसे देखते-जानते है ।। १३ ।।

प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं समग्रमन्तश्च बहिश्च पश्यतः ।
समन्ततः केवलमुच्छलन्त्यमी अमूर्तमूर्ताः क्षणिकास्तवाणवः ।। १४ ।।

अन्वयार्थ—(प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डित) प्रदेशभेद और क्षणभेदसे विभक्त—तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वताप्रचयको लिए हुए (समग्र) समस्त (अन्तश्च बहिश्च) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग पदार्थोंको (समन्तत) सब ओरसे (पश्यत) देखनेवाले (तव) आपके ज्ञानमे (अमी) ये (अमूर्तमूर्ता') अमूर्तिक, मूर्तिक तथा (क्षणिका) क्षण-क्षणमे परिवर्तित होनेवाले (अणव) प्रदेश (केवल) मात्र (उच्छलन्ति) छलकते भर है अर्थात् उनके प्रति ममत्वभाव नही है।

भावार्थ—संसारमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य माने गये है। इनमे पुद्गलद्रव्य मूर्त है और शेष पाँच द्रव्य अमूर्त है। इन द्रव्योंमे एक जीव तथा धर्म और अधर्म-द्रव्यके असख्यात असख्यात प्रदेश है। पुद्गल सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश है, आकाशके अनन्त प्रदेश है तथा कालद्रव्यका एकप्रदेश है। इन प्रदेशोंका जो विस्तार है वह तिर्यक् प्रचय है और कालक्रमसे जो उनकी समयव्यापी पर्यायें प्रकट होती है उनका समूह ऊर्ध्वताप्रचय है। ये सब द्रव्य जब ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते है—इनका विकल्प ज्ञानमे आता है तब अन्तर्ज्ञेय कहलाते है और बाह्यमे स्थित है, अत बहिर्ज्ञेय या बाह्यप्रमेय कहलाते है। आप इन दोनो ज्ञेयोको सम्पूर्ण-रूपसे जानते है। जानते समय इन द्रव्योके मूर्तिक और अमूर्तिक प्रदेश तथा उनकी क्षण-क्षणवर्ती पर्याय आपके ज्ञानमे सब ओरसे छलकते हैं—प्रतिभासित होते है। इनका छलकना भी दर्पणमे पडनेवाले प्रतिबिम्बके समान है अर्थात् जिसप्रकार दर्पणमे अपने भीतर प्रतिबिम्बित पदार्थोंके प्रति किसी प्रकारका ममताभाव नही होता है उसीप्रकार आपके ज्ञानमे छलकनेवाले इन ज्ञेयोंके प्रति आपका कोई ममताभाव नही रहता। इसी अभिप्रायको यहाँ 'केवल' शब्दसे प्रकट किया गया है ।। १४ ।।

सतो निरंशात् क्रमशोऽशकल्पनाद्विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तरः ।
यथोत्तरं सौक्ष्म्यमुपागताः सदा स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभक्तयः ।। १५ ।।

अन्वयार्थ—(निरंशात्) स्वयं निरंश—अखण्ड होनेपर भी जिसमे (क्रमशः) क्रमसे (अंश-

कल्पनात्) अंशोंकी कल्पना की जाती है ऐसे (सतः) सत्से (विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तराः) जिनका अन्तिम अंशकी अवधितक विस्तार है तथा जो (यथोत्तरं) आगे-आगे (सौक्ष्म्यम् उपागताः) सूक्ष्मताको प्राप्त है ऐसे (अनन्ताः) अनन्त (तत्त्वभक्तयः) तत्त्वविभाग (सदा) सर्वदा (तव) आपके ज्ञानमे (स्फुरन्ति) प्रकाशमान होते हैं।

भावार्थ—सग्रहनयके द्वारा प्रतिपादित सामान्य दृष्टिसे सत् निरश है उसमें किसी अंशका विभाग नही है, परन्तु जब उसमें व्यवहारनय प्रतिपादित दृष्टिसे क्रमशः अशकी कल्पना की जाती है तब उसके द्रव्य गुण पर्याय आदि अनेक अश होते जाते है और यह अंश तबतक होते रहते हैं जब-तक कि हो सकते है। ये सभी तत्त्व उत्तरोत्तर सूक्ष्मताको प्राप्त होते जाते है। जैसे सत्की अपेक्षा द्रव्य सूक्ष्म है और द्रव्यकी अपेक्षा जीवद्रव्य सूक्ष्म है। सूक्ष्मताको प्राप्त होनेका कारण यह है कि वे उत्तरोत्तर महासत्तासे निवृत्त होकर अवान्तर सत्ताको प्राप्त होते जाते है। इस प्रकार संग्रह-नयने जिसे एक कहा था व्यवहारनयने उसे अनन्त भेदोमे विभक्त कर दिया। तत्त्वोके ऐसे अनन्त विभाग आपके ज्ञानमे सदा प्रतिभासित होते रहते है ॥१८॥

अखण्डसत्ताप्रभृतीनि कार्त्स्न्यतो बहून्यपि द्रव्यविखण्डितानि ते ।
विशन्ति तान्येव रतानि तैर्विना प्रदेशशून्यानि पृथक् चकासति ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(अखण्डसत्ताप्रभृतीनि) अखण्ड सत्ताको आदि लेकर जो (बहून्यपि) बहुतसे (द्रव्यविखण्डितानि) द्रव्यखण्ड—द्रव्याश है (तानि कार्त्स्न्यतः एव) वे सब सम्पूर्णरूपसे ही (ते) आपके ज्ञानमे (विशन्ति) प्रवेश करते है और वहीं (रतानि) रत हो जाते है। ज्ञानमे प्रतिभासित वे द्रव्य-खण्ड (तैः विना) ज्ञानकी परिणति होनेके कारण यद्यपि उन द्रव्योके बिना (प्रदेशशून्यानि) प्रदेशो-से शून्य है तथापि (पृथक्) पृथक्-पृथक् (चकासति) सुशोभित होते है—प्रतिफलित रहते है।

भावार्थ—अखण्ड महासत्ता एक है, परन्तु जब उसमे अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा खण्ड-कल्पना की जाती है तब उसके द्रव्य-गुण आदि अनेक भेद हो जाते हैं। भगवान्के केवलज्ञानमे उन सब अनेक भेदोका प्रतिबिम्ब पड़ता है और केवलज्ञानके क्षायिक होनेसे वह प्रतिबिम्ब उसमे सदा पडता रहता है, इसलिये ऐसा जान पड़ता है मानो वे द्रव्यके अनेक भेद उसीमे रत हो गये हो—लीन हो गये हो। क्षायोपशमिकज्ञान क्रमवर्ती होता है, अतः उसमे प्रतिबिम्बित पदार्थ सदाके लिए लीन नही होता, परन्तु क्षायिकज्ञान अक्रमवर्ती है—एक साथ समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है इसलिए जो भी पदार्थ उसमे प्रतिबिम्बित होते है वे उसीमे लीन हो जाते है। केवलज्ञानमे जो पदार्थ आये है वे अन्तर्ज्ञेय बनकर आये है, अतः परमार्थसे वे प्रदेशोसे शून्य है, क्योकि प्रदेशोका विभाग बहिर्ज्ञेयमे ही रहता है अन्तर्ज्ञेयमे नही। एतावता वे अन्तर्ज्ञेय यद्यपि बहिर्ज्ञेयके प्रदेशोसे शून्य हैं तो भी भगवान्के ज्ञानमे पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित होते है ॥१६॥

कृतावतारानितरेतरं सदा सतश्च सत्तां च चकाशतः समम् ।
विचिन्वतस्ते परितः सनातनं विभाति सामान्यविशेषसौहृदम् ॥ १७ ॥

---

१. भावे क्तः प्रत्ययः द्रव्यस्य विखण्डितानि द्रव्यविखण्डितानि द्रव्याशा इति यावत् ।

अन्वयार्थ—(इतरेतरं) परस्पर सापेक्षरूपसे (कृतावतारान्) जिन्होंने ज्ञानमे अवतरण किया है (च) और जो (सदा) निरन्तर (सत्तां चकाशत) अपनी-अपनी पृथक् सत्ताको प्रकाशित करते हैं ऐसे (सतः) पदार्थोंको (समं) एकसाथ (परितः) सब ओरसे (विचिन्वतः) संचित करनेवाले-जाननेवाले (ते) आपका (सनातन) शाश्वत (सामान्यविशेषसौहृदम्) सामान्य और विशेषका मैत्रीभाव (विभाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके केवलज्ञान और केवलदर्शन गुण अपनी-अपनी पृथक् सत्ता रखनेवाले समस्त पदार्थोंको सामान्य तथा विशेषरूपसे एक साथ ग्रहण करते है इसलिये आपका यह सामान्य और विशेष सम्बन्धका मैत्रीभाव सदा सुशोभित रहता है। सामान्य विशेषकी अपेक्षा रखता है और विशेष सामान्यकी अपेक्षा रखता है, इस प्रकार दोनोको आप सापेक्षरूपसे विषय करते है ॥ १७ ॥

मुहुर्मिथः कारणकार्यभावतो विचित्ररूपं परिणाममिभ्रतः।
समग्रभावास्तव देव पश्यतो व्रजत्यनन्ताः पुनरप्यनन्तताम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (मिथः) परस्पर (कारणकार्यभावतः) कारणकार्यभावसे (मुहुः) बार-बार (विचित्ररूप) नाना प्रकारके (परिणामं) परिणमनको (इभ्रत) प्राप्त करनेवाले (समग्रभावा.) समग्र पदार्थ (तव पश्यत) आप द्रष्टाके ज्ञानमे (अनन्ताः अपि) अनन्त होकर भी (पुनः अनन्तता) फिरसे अनन्तपनेको (व्रजन्ति) प्राप्त होते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थ यद्यपि स्वयं अनन्त है तथापि वे प्रतिसमय होनेवाले परिणमनोकी अपेक्षा और भी अधिक अनन्त हो जाते है। यह परिणमन कार्यकारणभावसे होता है। उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमे पूर्वपर्याय कारण है और उत्तरपर्याय कार्य। कार्यकारणकी यह शृङ्खला सदा चलती रहती है। 'अनन्त पदार्थ फिर भी अनन्तताको प्राप्त होते है' इसकी एक विवक्षा यह भी जान पडती है कि आपके ज्ञानमे आये हुए पदार्थ कालकी अपेक्षा अनन्तताको प्राप्त है, क्योकि आपके ज्ञानमे आये हुए पदार्थ अनन्त काल तक यथावत् प्रतिभासित होते रहते है। तात्पर्य यह है कि आप अनन्त पदर्थोंकी अनन्त पर्यायोको एक साथ जानते है ॥ १८ ॥

अनन्तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययैर्विदारितं व्यञ्जनपर्ययैरपि।
स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं सम समग्रं स्फुटतामुपैति ते ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इह) इस लोकमें जो (अर्थपर्ययैः) अर्थपर्यायों (अपि) और (व्यञ्जनपर्ययै) व्यञ्जनपर्यायोके द्वारा (अनन्तशः) अनन्तबार (विदारितं) भेदको प्राप्त है तथा (स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं) स्वरूपकी सत्ताके समूहसे अत्यन्त युक्त है अर्थात् अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायोंसे अनन्तबार विदीर्ण होनेपर भी जो अपने अस्तित्वको नही छोड़ता है ऐसा (समग्रं द्रव्यं) सम्पूर्ण द्रव्य (ते) आपके ज्ञानमे (सम) एक साथ (स्फुटतां) स्पष्टताको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—द्रव्यके गुणांशोमे जो परिणमन होता है उसे अर्थपर्याय कहते हैं और द्रव्यके प्रदेशोमे जो परिणमन होता है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। संसारका प्रत्येक द्रव्य, इन अनन्त

अर्थपर्यायों तथा व्यञ्जनपर्यायोंका पुञ्ज है। हे भगवन्! इन दोनो प्रकारकी पर्यायोंसे युक्त द्रव्य आपके ज्ञानमे स्पष्ट झलक रहा है। यद्यपि द्रव्यमे उक्त पर्यायोकी अपेक्षा प्रतिसमय भेद होता रहता है तथापि वह अपने स्वरूपकी सत्तासे कभी च्युत नही होता है ॥ १९ ॥

व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया न पर्ययान्द्रव्यमपि व्यपोहते।
त्यजेद् भिदां स्कन्धगतो न पुद्गलो न सत्पृथग्द्रव्यगमेकतां त्यजेत् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(पर्यया·) पर्यायें (द्रव्यं) द्रव्यको (व्यपोहितुं) छोडनेके लिए (अलं न) समर्थ नही है और (द्रव्यमपि) द्रव्य भी (पर्ययान्) पर्यायोंको (न व्यपोहते) नही छोडता है। (स्कन्धगतः) स्कन्धरूपताको प्राप्त हुआ पुद्गल (भिदा) भेदको (न त्यजेत्) नही छोड़ता है और (पृथक्द्रव्यग सत्) पृथक्-पृथक् द्रव्योमे रहनेवाला सत् (एकता) एकरूपताको (न त्यजेत्) नही छोडता है।[1]

भावार्थ—यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, पर्यायसे रहित और पर्याय, द्रव्यसे रहित नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय किसी न किसी पर्यायसे युक्त रहता है और उस समय उस पर्यायसे तन्मय रहता है। पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। इनमे अणु द्रव्य है और स्कन्ध उसकी पर्याय है। दो या दोसे अधिक मिले हुए अणुओंको स्कन्ध कहते है। यतश्च स्कन्ध पर्याय है अत वह अणुरूप द्रव्यको छोडनेमे असमर्थ है। यही कारण है कि पुद्गल स्कन्धरूप होता हुआ भी अणुरूप होनेसे भेदको नही छोड़ता है और सत् स्वभावसे अभेदको विषय करनेवाला होनेसे एक है। वह यद्यपि पृथक्-पृथक् द्रव्योमे व्याप्त होनेसे अनेकरूप प्रतीत होता है, परन्तु स्वकीय सामान्यग्राही स्वभावसे एकरूप है। यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मोंका अनेकान्तकी पद्धतिसे समन्वय किया गया है ॥ २० ॥

अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे महत्यगाधाद्भुततत्त्ववर्त्मनि।
समग्रसीमास्खलनादनाकुलास्तवैव विष्वग् विचरन्ति दृष्टयः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे) अभेद और भेदज्ञानसे दुर्गम (महति) बहुत भारी (अगाधाद्भुततत्त्ववर्त्मनि) अगाध तथा आश्चर्यकारी तत्त्वके मार्गमे (समग्रसीमास्खलनात्) समस्त सीमामे स्खलित न होनेसे (अनाकुला·) आकुलतारहित—निर्बाध (तव एव) आपकी ही (दृष्टय·) दृष्टियां (विष्वग्) सब ओर (विचरन्ति) विचरण करती है।

भावार्थ—सामान्यकी अपेक्षा तत्त्व अभेदरूप है और विशेषकी अपेक्षा भेदरूप है। अथवा गुण और गुणीमे प्रदेशभेद न होनेसे अभेदरूप है और संज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेदरूप है। भेद और अभेद इन दो विरोधी धर्मोंके कारण तत्त्वका मार्ग अन्य लोगोके लिए दुर्गम हो गया है, परन्तु हे भगवन्! आपकी अनेकान्तदृष्टियाँ वस्तुतत्त्वकी समस्त सीमाओमे निर्बाध होकर विचरती हैं ॥ २१ ॥

अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं समक्षमालोकयतः सदाऽखिलम्।
स्फुटस्तवात्मायमभिन्नसन्मयोऽप्यनन्तपर्यायविभिन्नवैभवः ॥ २२ ॥

१. पज्जयविजुदं दव्व दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्ह अणण्णभूद भाव समया परूविति ॥ १२ ॥—पचास्तिकाय

अन्वयार्थ—(अभिन्नभिन्नस्थितं) अभिन्न और भिन्नरूपसे स्थित (अखिलं) समस्त (अर्थ-मण्डलं) पदार्थ समूहका (सदा) सर्वदा (समक्षम्) प्रत्यक्षरूपसे (आलोकयतः) अवलोकन करनेवाले (तव) आपका (अयम् आत्मा) यह आत्मा (स्फुटः) स्पष्ट अनुभवमे आनेवाला (अभिन्नसन्मयः) अपि) अभेद सद्रूप होता हुआ भी (अनन्तपर्यायविभिन्नवैभवः) अनन्त पर्यायोंके भेदरूप वैभवसे सम्पन्न है।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारके समस्त पदार्थ लोकाकाशमे एकक्षेत्रावगाहरूपसे स्थित होनेके कारण अथवा गुण गुणीमे अभेद होनेसे यद्यपि अभिन्न स्थित कहे जाते हैं तथापि अपनी-अपनी पृथक्सत्तासे युक्त होनेके कारण अथवा गुण गुणीमे भेद होनेसे सब भिन्न-भिन्न स्थित भी हैं। इन सब पदार्थोंको आप सदा प्रत्यक्ष देखते हैं। अन्य पदार्थ ही नही, आपकी आत्मा भी अभिन्न और भिन्नरूपसे स्थित है। अभिन्न तो इसलिए है कि वह अपनेसे अभिन्न रहनेवाले सत्ता गुणसे तन्मय है और भिन्न इसलिए है कि वह काल क्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंके वैभवसे सहित है। तात्पर्य यह है कि सत्तासामान्यकी अपेक्षा अभिन्न है और पर्यायदृष्टिसे भिन्न है। यहाँ भिन्न और अभिन्न इन दो परस्पर विरोधी दृष्टियोंका समन्वय किया गया है ॥ २२ ॥

अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षणैः सुखादिरूपा निजवस्तुहेतवः ।
तवैककालं विलसन्ति पुष्कलाः प्रगल्भबोधज्वलिता विभूतयः ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—जो (अनाकुलत्वादिभिः) अनाकुलता आदि (आत्मलक्षणैः) अपने लक्षणोसे (सुखादिरूपा) सुखादिरूप हैं, (निजवस्तुहेतव) आत्मोपलब्धिके कारण है, (पुष्कल) अपने आपमे परिपूर्ण है तथा (प्रगल्भबोधज्वलिता) पूर्णज्ञान—केवलज्ञानसे प्रकाशमान है ऐसी (तव) आपकी (विभूतय) अनन्त चतुष्टयरूप विभूतियाँ (एककाल) एक कालमे—एकसाथ (विलसन्ति) सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—अनाकुलता सुखका लक्षण है, स्वपरावभासनता—निजपरको प्रकाशित करना ज्ञानका लक्षण है, आत्माका अवलोकन होना दर्शनका लक्षण है और समस्त गुणोको स्वस्वरूपमे स्थिर रखना वीर्यका लक्षण है। इस प्रकार अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य आपकी प्रमुख विभूतियाँ है। ये सब विभूतियाँ आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमे कारण है अर्थात् इनके माध्यमसे ही अन्य जीव आत्माका अस्तित्व स्वीकृत करते है। इन उपर्युक्त विभूतियोमे अनन्त ज्ञान ही एक ऐसी विभूति है जो दीपकके समान स्वपरप्रकाशी होनेसे अपने साथ अन्य विभूतियोके अस्तित्वको भी प्रकाशित करती है ॥ २३ ॥

समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं निमग्नमुन्मग्नमिदं विभासयन् ।
त्वमुच्छलन्नैव पिधीयसे परैरनन्तविज्ञानघनौघघस्मर ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(निमग्नं) आत्माश्रित होनेसे स्वरूपमे निमग्न और (उन्मग्नं) पराश्रित होनेसे समवसरणमे स्थित (इदं) इस (समस्तम्) सम्पूर्ण (अन्तश्च बहिश्च वैभव) अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग वैभवको (विभासयन्) प्रकाशित करनेवाले तथा (अनन्तविज्ञानघनौघघस्मर) अनन्त विज्ञानके द्वारा मेघसमूहरूप आवरकको नष्ट करनेवाले (त्वम्) आप (उच्छलन्) उदित होते हुए (परैः) अन्य पदार्थोंके द्वारा (नैव पिधीयसे) आच्छादित नही होते है।

भावार्थ—जिस प्रकार उदित होते हुए सूर्य चन्द्रमा आदिको मेघ आदि आच्छादित कर लेते है उस तरह आपको कोई भी परपदार्थ आच्छादित नही कर सकता है। उसका कारण भी यह है कि आपने अपने अनन्त ज्ञानके द्वारा समस्त आवरण करनेवाले पदार्थोंको प्रभावहीन कर दिया हैं। परपदार्थोंका प्रभाव क्षायोपशमिक ज्ञानपर ही पड़ता है क्षायिक अनन्त ज्ञानपर नही। आप अनन्त चतुष्टयरूप जिस अन्तरङ्ग वैभवको प्रकट कर रहे है वह एक आत्माश्रित होनेसे निमग्न कहा जाता है और अष्ट प्रातिहार्यरूप जिस बहिरङ्ग वैभवको प्रकट कर रहे है वह समवसरणमे स्थित होने तथा सबकी दृष्टिमे आनेसे उन्मग्न कहलाता है ॥ २४ ॥

नितान्तमिद्धेन तपोविशोषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।
यथैप मां त्वां सकलं चराचरं प्रघर्ष्य विष्वग् ज्वलयन् ज्वलाम्यहम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे स्वामिन्! (तपोविशोषितं) तपके द्वारा सुखाये हुए (मां) मुझे (नितान्तम्) अत्यन्त (इद्धेन) देदीप्यमान (तेजसा) तेजके द्वारा (तथा) उस प्रकार (ज्वलयस्व) प्रज्वलित करो (यथा) जिस प्रकार (एषोऽहं) यह मै (मां) अपने आपको (त्वां) आपको और (सकलं) समस्त (चराचरं) चराचर विश्वको (प्रधर्ष्य) रगडकर (ज्वलयन्) प्रज्वलित करता हुआ (विष्वग्) सब ओरसे (ज्वलामि) प्रज्वलित होने लगूं।

भावार्थ—हे भगवन्! तपश्चरणके द्वारा मैने अपने आपको खूब सुखाया है, राग-द्वेषादिकी आर्द्रताको नष्टकर उसे एकदम शुष्क कर दिया है अत इसे आप केवलज्ञानरूप देदीप्यमान तेजके द्वारा प्रज्वलित कर दीजिये जिससे मै स्वयं प्रज्वलित हो जाऊँ और अपनी ज्वालासे सकल विश्वको प्रज्वलित कर सकूं ॥ २५ ॥

■

ॐ

(६)

वंशस्थवृत्तम्

क्रियैकमूलं भवमूलमुल्वणं क्रियामयेन क्रियथैव निघ्नता ।
क्रियाकलापः सकलः किल त्वया समुच्छलच्छीलभरेण शीलितः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(क्रियैकमूल) जो मिथ्याप्रवृत्तिरूप क्रियाका प्रधान—मूल कारण है ऐसे (उल्वणं) बहुत भारी (भवमूलं) ससारके मूलकारणरूप मिथ्याभावको (क्रियथैव) सम्यक्त्वपूर्वक होनेवाली चारित्ररूप क्रियाके द्वारा ही (निघ्नता) नष्ट करनेवाले, (क्रियामयेन) सम्यक्चारित्ररूप क्रियासे तन्मय तथा (समुच्छलच्छीलभरेण) बढते हुए शीलसमूहसे युक्त (त्वया) आपके द्वारा (किल) निश्चयसे (सकल·) सम्पूर्ण (क्रियाकलापः) क्रियाओका समूह (शीलित.) उत्तम शील—सत्स्वभावसे युक्त किया गया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! ससारका मूलकारण मिथ्याभाव है क्योकि नवीन कर्मबन्ध होनेके जितने प्रत्यय कारण आगममे बतलाये गये है उनमे मिथ्यात्वकी ही प्रधानता है, सबसे प्रथम कारण वही है तथा यह मिथ्याभाव ही मिथ्याक्रियाओका—हिंसादिरूप पापपरिणतिका कारण है। मिथ्यात्वके कालमे इस जीवकी रुचि शुद्ध आत्मतत्त्वसे हटकर विषयोकी ओर प्रवृत्त होती है। ऐसे इस मिथ्याभावको आपने तपश्चरणरूप क्रियाके द्वारा ही नष्ट किया है। तपश्चरणरूप क्रियासे आप तन्मय हैं तथा आपका शुद्धात्मस्वरूप शीलका समूह निरन्तर छलकता रहता है। निश्चयसे आपने समस्त क्रियाओके समूहको शीलसे युक्त किया है अर्थात् आपकी जितनी क्रियाएँ है उन सबको आपने शुद्धात्मस्वरूपकी रमणतारूप शीलसे युक्त किया है ॥१॥

अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा समग्रभोगान् प्रविहाय निःस्पृहः ।
तपोऽनले जुह्वदिह स्वजीवितं बभौ भवभ्रंशकुतूहली भवान् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अमन्दनिर्वेदभरेण) उत्कट वैराग्यमे तत्पर (चेतसा) चित्तके द्वारा (समग्रभोगान्) समस्त भोगोको (प्रविहाय) अच्छी तरह छोडकर जो (निःस्पृह) निःस्पृह—निदानकी आकाक्षासे रहित थे, जो (इह) इस जगत्मे (स्वजीवित) अपने जीवनको (तपोऽनले) तपरूपी अग्निमे (जुह्वत्) होम रहे थे तथा जो (भवभ्रशकुतूहली) ससारको नष्ट करनेकी उत्सुकतासे युक्त थे ऐसे (भवान्) आप (बभौ) अत्यन्त सुशोभित हुए थे।

भावार्थ—संवेग—ससारसे भय और निर्वेद—वैराग्यसे युक्त होकर आपने समस्त भोगोका पूर्ण त्याग किया और उस त्यागके फलस्वरूप किसी सासारिक पदार्थकी इच्छा नही की। आपने अपना समस्त जीवन तपकी आगमे होम दिया क्योकि आप ससारको नष्ट करनेके लिए उत्सुक थे। परमार्थसे ससारका नाश नही कर सकता है जो नि स्पृह होकर तपश्चरण करता है। संसारके अन्य तपस्वी, संतान, धन तथा परलोककी साधनाके लिए तपश्चरण करते है परन्तु हे जिनेन्द्र ! आपका तपश्चरण जन्मजरारूपी रोगोंको छोडनेकी भावनासे हुआ ॥ २ ॥

भवस्य पन्थानमनादिवाहितं विहाय सद्यः शिववर्त्म वाहयन् ।
विभो परावृत्य विदूरमन्तरं कथंचनाध्वानमवाप्तवानसि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ ! (अनादिवाहितं) जिसपर अनादिकालसे चलते आये ऐसे (भवस्य पन्थानं) संसारके मार्गको (सद्य) शीघ्र ही (विहाय) छोडकर जो (शिववर्त्म वाहयन्) मोक्षमार्गको चलाने लगे ऐसे आप (विदूरं अन्तरं) बहुत भारी दूरीको पारकर (कथचन) किसी तरह (अध्वानं) मार्गको (अवाप्तवान् असि) प्राप्त हुए है।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये संसारके मार्ग हैं इस मार्गपर यह जीव अनादिकालसे चला आ रहा है। जब संसार सागरका तट अत्यन्त निकट रह जाता है तब यह जीव रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। हे भगवन् ! आपने अपने अनन्त पुरुषार्थसे ससारभ्रमणका लम्बा मार्ग पार कर किसी तरह मोक्षमार्गको प्राप्त किया है और मोक्षमार्गके प्राप्त होते ही आप परीतससार हो गये है ॥३॥

अधृष्यधैर्यं विरहन्तमेकक महीयसि ब्रह्मपथे निराकुलम् ।
अधर्षयन्नेव (न्नैव) भवन्तमुद्धता मनागपि क्रूरकषायदस्यवः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अधृष्यधैर्यं) जिनका धैर्य अधृष्य था—तिरस्कारके अयोग्य था, जो (महीयसि) अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्मपथे) मोक्षमार्गमे (एककं) अकेले ही (विहरन्त) विहार कर रहे थे तथा जो (निराकुलम्) आकुलतासे रहित थे ऐसे (भवन्तम्) आपको (उद्धता) अत्यन्त उद्दण्ड (क्रूरकषाय-दस्यव) दुष्ट कषायरूपी चोर (मनागपि) किंचिद् भी (नैव अधर्षयन्) तिरस्कृत नही कर सके थे धौस नही दिखा सके थे।

भावार्थ—मार्गमे एकाकी चलनेवाले व्यक्तिको दुष्ट चोर पीडित करते है परन्तु श्रेष्ठतम मोक्षमार्गमे आप निराकुलतासे सहित एकाकी ही चले, कषायरूपी उद्दण्ड चोर आपका कुछ भी विघात करनेमे समर्थ नही हुए ॥४॥

[1]तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः प्रसह्य कर्माणि भरेण पाचयन् ।
मुहुर्मुहुः पूरितरेचितान्तरा भवानकर्षीत् प्रबलोदयावलीः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(भवान्) आपने (अध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः) अन्तरङ्गकी विशुद्धिको बढानेवाले (तपोभि) तपोके द्वारा (प्रसह्य) हठपूर्वक (भरेण) अधिकमात्रामे (कर्माणि) अशुभ कर्मोंको (पाचयन्) निर्जीर्ण करते हुए (प्रबलोदयावलीः) कर्मोंकी प्रबल उदयावलियोको (मुहुर्मुहु) बार-बार उदयावलीसे बाह्य कर्मनिषेकोंसे पूरित करके निर्जीर्ण (अकार्षीत्) किया।

भावार्थ—जिनागममे तपके बाह्य और अन्तरङ्ग इस प्रकार दो भेद कहे है। अनशन-ऊनोदर आदि बाह्य तप कहलाते हैं और प्रायश्चित्त विनय आदि अन्तरङ्ग तप कहलाते है। बाह्य तपका प्रयोजन अन्तरङ्गकी शुद्धिको बढ़ाना है।[2] तपश्चरणके कालमे जबतक शुभ रागका

---

१ अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विन केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयी प्रवृत्ति समधीरवारुणत् ॥—स्वयभूस्तोत्र

२. बाह्य तपो दुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपस परिबृंहणार्थम् ।
ध्यान निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥—स्वयंभूस्तोत्र

जोर रहता है तबतक उससे शुभास्रव और शुभ बन्ध होता है। परन्तु विशुद्धिका वेग बढते हुए जब शुभ रागका अश समाप्त होकर शुद्धोपयोगकी दशामें वृद्धि होने लगती है तब वह तप संवर और निर्जराका कारण हो जाता है। कु तपश्चरण अविपाक निर्जराका प्रमुख कारण है। हे भगवन्! मुनि अवस्थामे आपने यह सब बार-बार किया था। अविपाक निर्जराके समय आपने उदयावलीसे बाह्य निषेकोंको उदयमे लाकर निर्जीर्ण किया था।

त्वमुच्छिखाप्रस्खलितैकधारया रजः क्षयश्रेणिकृताधिरोहणः।
अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः कषायवर्ष्माक्षपयः प्रतिक्षणम्॥ ६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (क्षयश्रेणिकृताधिरोहणः) क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेवाले (त्वम्) आपने (उच्छिखाप्रस्खलितैकधारया) अत्यन्त तीक्ष्ण तथा कभी स्खलित न होनेवाली धारासे (अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः) अखण्ड उत्साहसे युक्त सुदृढ प्रहारोके द्वारा (कषायवर्ष्म रज.) कषायरूप कर्मरजको (प्रतिक्षणम्) प्रत्येक क्षण—प्रति समय (अक्षपयः) नष्ट किया था।

भावार्थ—हे नाथ! मुनि अवस्थामे आपने क्षपकश्रेणी माढकर शुक्लध्यानरूपी खड्गकी तीक्ष्णधाराके प्रबल प्रहारोसे कषायरूप कर्मरजका प्रतिसमय क्षय किया था। सप्तम गुणस्थानके बाद दो श्रेणियाँ होती हैं, एक उपशमश्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणीवाला जीव शुक्लध्यानके प्रभावसे चारित्र मोहनीयकर्मके भेदस्वरूप सञ्ज्वलन क्रोध मान माया और लोभ कषायका उपशम करता है और क्षपकश्रेणीवाला उपर्युक्त कषायोका क्षय करता है। उपशम-श्रेणीवाला दशम गुणस्थानके अन्तमे सपूर्ण चारित्र मोहका उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थानमे जाता है और अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर वहाँसे गिरकर पुन. नीचे आता है, परन्तु क्षपकश्रेणीवाला जीव, दशम गुणस्थानके अन्तमे समस्त मोह कर्मका क्षय कर बारहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है तथा वहाँ शुक्लध्यानके द्वितीय भेदसे ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय तथा नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। अब वह पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ दशाको प्राप्त होता है॥६॥

उपर्युपर्यध्यवसायमालया विशुध्य वैराग्यविभूतिसम्मुखः।
कषायसंघट्टननिष्ठुरो भवानपातयद्बादरसूक्ष्मकिट्टिकाः॥ ७॥

अन्वयार्थ—(उपर्युपरि) ऊपर-ऊपर बढती हुई (अध्यवसायमालया) ध्यानकी सन्ततिसे (विशुध्य) निर्मल होकर जो (वैराग्यविभूतिसम्मुख) वैराग्यरूपी विभूतिके सम्मुख है तथा (कषाय-संघट्टननिष्ठुर) कषायके नष्ट करनेमे अत्यन्त निर्दय है ऐसे (भवान्) आपने (बादरसूक्ष्मकिट्टिका.) बादर कृष्टि और सूक्ष्म कृष्टियोको (अपातयत्) नष्ट किया था।

भावार्थ—सञ्ज्वलनलोभके जो स्पर्धक अपेक्षाकृत तीव्र अनुभागशक्तिको रखते है वे बादर कृष्टि कहलाते है और जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मरूपताको प्राप्त हो चुकते है वे सूक्ष्म कृष्टि कहे जाते है। नवम गुणस्थान तक इनकी बादर अवस्था रहती है और दशम गुणस्थानमे सूक्ष्म अवस्था रहती है। हे भगवन्! आपने इन दोनो कृष्टियोंको नष्ट किया था और नष्ट करनेका कारण यह था कि आप पूर्ण वीतरागदशारूप विभूतिको प्राप्त करनेके लिए उत्सुक थे॥७॥

समन्ततोऽनन्तगुणाभिरद्भुतः प्रकाशशाली परिणम्य शुद्धिभिः ।
नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनो जिन क्षणात् क्षीणकषायतां गतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (समन्तत) सब ओरसे (अनन्तगुणाभि.) अनन्त गुणी (शुद्धिभिः) शुद्धियोसे (परिणम्य) परिणमन कर जो (अद्भुत) अतिशय पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुए है (प्रकाशशाली) अन्त प्रकाश—वीतराग ज्ञानसे सुशोभित हैं तथा (नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जन) जिन्होने सज्वलनसम्बन्धी रागको अत्यन्त सूक्ष्म कर दिया है ऐसे आप (क्षणात्) क्षण भरमे (क्षीणकषायता गत.) क्षीणकषाय अवस्थाको प्राप्त हुए थे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप दशम गुणस्थानमे सूक्ष्मसाम्पराय अवस्थाको प्राप्त हो बारहवें गुणस्थानमे आकर क्षीणकषाय अवस्थाको प्राप्त हुए । उस समय आप छद्मस्थ वीतराग दशासे सुशोभित थे और आपका ज्ञान रागकी लालिमासे रहित हो गया था ॥८॥

कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवो व्यतीत (व्यतीत्य) काष्ठां जिन साम्परायिकीम् ।
स्पृशन्नपीर्यापथमन्तमुज्ज्वलस्त्वमस्खलः स्थित्यनुभागबन्धनः ॥ ९ ।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठव') कषायके सर्वथा नष्ट हो जानेसे जिन्हे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त हुई है, (साम्परायिकीम्) साम्परायिक आस्रव सम्बन्धी (काष्ठा) सीमाको (व्यतीत्य) व्यतीत कर जो (अन्त ईर्यापथम्) अन्तिम ईर्यापथ आस्रवको (स्पृशन्) प्राप्त हुए है तथा जो कषाय सम्बन्धी कलुषताके नष्ट हो जानेसे (उज्वल) निर्मल हुए है ऐसे (त्वम्) आप (स्थित्यनुभागबन्धत') स्थिति और अनुभाग बन्धसे (अस्खल) रहित हुए थे ।

भावार्थ—आस्रवके दो भेद है—एक साम्परायिक और दूसरा ईर्यापथ । जिस आस्रवसे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चारो बन्ध होते है उसे साम्परायिक आस्रव कहते है और जिस आस्रवसे स्थिति और अनुभागबन्ध छूटकर मात्र प्रकृति तथा प्रदेशबन्ध होते है उसे ईर्यापथ आस्रव कहते है । योगके निमित्तसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते है तथा कषायके निमित्तसे स्थिति और अनुभागबन्ध होते हैं । दशम गुणस्थान तक योग और कषाय दोनो रहते हैं इसलिये वहाँ तक साम्परायिक आस्रव होता है तथा ग्यारहवेंसे तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योग रहता है इसलिए इन गुणस्थानोमे ईर्यापथ आस्रव होता है । हे भगवन् ! क्षीणकषाय गुणस्थानमे आनेपर आपका साम्परायिक आस्रव तो छूट गया मात्र सातावेदनीयका ईर्यापथ आस्रव शेष रह गया ॥९॥

शनैः समृद्धव्यवसायसम्पदा क्रमात् समासन्नशिवस्य ते सतः ।
बभूवुरुन्मृष्टकलङ्ककश्मलाः प्रफुल्लहर्षोत्कलिका मनोभुवः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(शनै) धीरे-धीरे (क्रमात्) क्रमसे (समृद्धव्यवसायसम्पदा) पूर्ण उद्योगरूप सम्पत्तिके द्वारा (समासन्नशिवस्य) जिन्होंने मुक्तिको निकट कर लिया है तथा जो (सत) अतिशय प्रशस्त हैं ऐसे (ते) आपकी (मनोभुव) चित्तरूपी भूमियाँ (उन्मृष्टकलङ्ककश्मला') जिनकी पाप-रूपी कालिमा नष्ट हो गई थी और (प्रफुल्लहर्षोत्कलिका') जिनमे हर्षरूप उत्कृष्ट कलियाँ खिल रही थी ऐसी (बभूवु:) हो गई थी ।

भावार्थ—हे भगवन् ! क्षीणकषाय गुणस्थानमें पहुँचनेपर आपने एकत्ववितर्क शुक्ल-ध्यानरूप पुरुषार्थसे मोक्षपर्यायको अत्यन्त निकट कर लिया। क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थानके बाद जीवन्मुक्त अवस्था—अरहन्त अवस्था प्राप्त करनेमे अन्तर्मुहूर्तसे अधिक विलम्ब नही लगता और पूर्ण मुक्त अवस्था प्राप्त करनेमे देशोनकोटिवर्षपूर्वसे अधिक समय नही लगता। उस समय आप अन्तरात्माकी उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो चुकते है तथा अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर नियमसे परमात्मा पदको प्राप्त करते है। आपके हृदयकी समस्त कालिमा—राग-द्वेषजनित मलिनता नष्ट हो जाती है और वह वीतराग परमानन्दकी प्रफुल्ल कलियोंसे सुवासित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षणभरमे अनन्त सुखका पात्र हो जाता है॥ १०॥

समामृतानन्दभरेण पीडिते भवन्मनःकुड्मलके स्फुटत्यति।
विगाह्य लीलामुदियाय केवलं स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः॥ ११॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवन्मनःकुड्मलके) आपके मनरूपी कलीके (समामृतानन्दभरेण) समतासुधारूप आनन्दके भारसे (पीडिते) पीडित होकर (अतिस्फुटति) अत्यन्त विकसित होनेपर (स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः) लोकालोकरूप समस्त विश्वके मध्यमे प्रज्वलित दीपक सम्बन्धी ज्वालाकी (लीलाम्) लीला—शोभाको (विगाह्य) प्राप्त कर (केवलम्) केवलज्ञान (उदियाय) उत्पन्न हुआ।

भावार्थ—जिस प्रकार पराग या केसर आदिके भारसे पीडित होनेपर कमलकी कली खिल उठती है उसी प्रकार समतामृतरूप आनन्दके भारसे आपके हृदयकमलकी कली खिल उठी तथा उसी समय आपके वह केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जो कि समस्त लोकालोकरूप घरके मध्यमे प्रज्वलित होनेवाले दीपककी ज्वालाके समान जान पड़ता था॥ ११॥

स्वयं प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुको भवन्।
चिदेकधातूपचयप्रपञ्चितः समस्तविज्ञानघनो भवानभूत्॥ १२॥

अन्वयार्थ—उस समय (भवान्) आप (स्वयं) अपने आप (प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः) जिन्होने समस्त पदार्थोंकी वास्तविक स्थितिको जान लिया है तथा जो (समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुकः) समस्त पदार्थोके कर्तृत्वसे निरुत्सुक—उदासीन है ऐसे (भवन्) होते हुए (चिदेकधातूपचयप्रपञ्चितः) एक चैतन्यरूप धातुकी वृद्धिसे विस्तृत और (समस्तविज्ञानघनः) सब ओरसे विज्ञानघन—केवल-ज्ञानसे परिपूर्ण (अभूत्) थे।

भावार्थ—हे भगवन् ! केवलज्ञान होनेपर आप स्वयं किसी अन्य पदार्थकी सहायताके बिना ही समस्त पदार्थोके वास्तविक स्वरूपको जानने लगे थे। मोहके निकल जानेके कारण आप किन्ही अन्य पदार्थोके कर्तृत्वके प्रति निरुत्सुक हो गये थे अर्थात् 'मै किसी पदार्थको करूँ' इस प्रकारके कर्तृत्वभावसे छूट गये थे। राग-द्वेषादि विकारोसे रहित एक चैतन्य—ज्ञानदर्शनस्वभावसे परिपूर्ण और अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंसे सहित केवलज्ञानसे तन्मय थे। तात्पर्य यह है कि आप कर्म और कर्मफलचेतनासे रहित होकर एक ज्ञान-चेतनारूप ही हुए थे॥ १२॥

ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं स्खलद्बहिःशेषमशेषयन् भवान्।
अवाप सिद्धत्वमनन्तमद्भुतं विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि निश्चलः॥ १३॥

अन्वयार्थ—(ततः) तदन्तर (आयुषि गलति) आयु कर्मके क्षीण होनेपर (स्खलद्बहिः-शेष) निर्जीर्ण होनेसे बाकी बचे हुए (पेलवं) शक्तिहीन (कर्म) कर्मोंको (अशेषयन्) समाप्त करते हुए (भवान्) आप (अनन्तं) कभी नष्ट न होनेवाले तथा (अद्भुतं) आश्चर्यकारक (सिद्धत्वम्) सिद्धपदको (अवाप) प्राप्त हुए और (विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि) विशुद्ध ज्ञानरूपी उत्तुङ्ग भवनमे (निश्चलः) स्थिर (अभूत्) हो गये।

भावार्थ—अनादि कालसे यद्यपि आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध हो रहा है तथापि आत्माका एक भी प्रदेश, न कर्मरूप हुआ है और न कर्म, आत्मारूप हुआ है। तात्पर्य यह है कि अनादि संयोग होनेपर भी दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। तेरहवें गुणस्थानमे पहुँचनेके बाद आपने केवलज्ञानको प्राप्त किया, उस केवलज्ञानके द्वारा लोकालोकको जाना। पश्चात् जब आयु समाप्त होनेको हुई तब अयोग केवलीनामक चौदहवें गुणस्थानमे प्रवेश कर आपने व्युपरत क्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा उपान्त समयमे बहत्तर और अन्त समयमे तेरह इस प्रकार पचासी कर्म प्रकृतियोंका क्षय कर आश्चर्यकारक सिद्धपद प्राप्त किया और अनन्तानन्त कालके लिये निर्मल ज्ञानरूपी उत्तुङ्ग भवनमें स्थित हो गये॥ १३॥

चिदेकधातोरपि ते समग्रतामनन्तवीर्यादिगुणाः प्रचक्रिरे।
न जातुचिद्द्रव्यमिहैकपर्ययं बिभर्ति वस्तुत्वमृतेऽन्यपर्ययैः॥ १४॥

अन्वयार्थ—(चिदेकधातोः अपि ते) एक चैतन्य धातुरूप होनेपर भी आपकी (समग्रतां) पूर्णताको (अनन्तवीर्यादिगुणाः) अनन्त वीर्य आदि गुणोने किया था, क्योंकि (इह) इस जगत्मे (द्रव्यं) द्रव्य (वस्तुत्व ऋते) अपने वस्तुत्वको छोडकर (अन्यपर्ययैः) अन्य द्रव्यकी पर्यायोके साथ (जातुचित्) कभी भी (एकपर्ययं) एकरूपताको (न बिभर्ति) नही धारण करता है।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप एक चैतन्य धातुमात्र है, उसके साथ लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप अन्य पदार्थ सदाके लिए नष्ट हो गये हैं तथापि अनन्तवीर्य आदि गुणोसे आप परिपूर्ण है। क्योंकि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्यकी पर्यायोके साथ कभी एकरूपताको धारण नही करता। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि संसारमें सब पदार्थ एक दूसरेसे मिले रहनेपर भी अपने-अपने गुण और पर्यायोंको धारण करते हैं, अन्य द्रव्यसम्बन्धी गुण और पर्यायोके साथ एकरूपताको कभी प्राप्त नहीं होते॥१४॥

स्ववीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसीं स्वधर्ममालामखिलां विलोकयन्।
अनन्तधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणीं जगत्त्रयीमेव भवानलोकयत्॥ १५॥

अन्वयार्थ—(स्ववीर्यसाचिव्यबलात्) अपने वीर्यकी सहायताके बलसे (गरीयसीम्) अत्यन्त श्रेष्ठ तथा (अखिलां) सम्पूर्ण (स्वधर्ममाला) स्वकीय धर्मोंकी सन्ततिको (विलोकयन्) देखते हुए (भवान्) आपने (अनन्तधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणी) अनन्त धर्मोंकी उत्कृष्ट मालाको धारण करनेवाले (जगत्त्रयी) तीनो लोकोंको ही (अलोकयत्) देख लिया।

भावार्थ—सिद्ध भगवान्में जो अनन्त वीर्य नामका गुण है उसकी सहायतासे वे ज्ञान दर्शन आदि अनन्तगुणोकी सन्ततिको धारण करते है तथा केवलज्ञानके द्वारा अपने अनन्त गुणोंको

जानते हुए वे अनन्त धर्मोंसे युक्त तीनों लोकोंको ही जानते हैं, यहाँ आपकी आत्मज्ञतामें ही सर्वज्ञताका समावेश किया गया है ॥ १५ ॥

त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः ।
स्वयं समव्यक्ति किलैककेवलं भवन्ननन्तत्वमुपागतो भवान् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभि.) कालत्रयमे उत्पन्न होनेवाली अनन्त पर्यायोके समूहसे युक्त समस्त वस्तुओंके साथ (समव्यक्ति) एक साथ व्यक्त हुए (एककेवलं) एक केवलज्ञानरूप (भवन्) होते हुए (भवान्) आप (किल) निश्चयसे (अनन्तत्वम्) अनन्तरूपताको (स्वय उपागतः) स्वयं प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थ अपनी तीन काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायोंके समूहसे व्याप्त है। वही पदार्थ केवलज्ञानमे उसकी स्वच्छता गुणके कारण एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः जिस प्रकार एक ही दर्पण, अपने उदरमे प्रतिबिम्बित नाना पदार्थोके कारण अनेकरूपताको प्राप्त होना है उसी प्रकार आपका केवलज्ञान भी अपने भीतर प्रतिबिम्बित अनन्त ज्ञेयोकी अपेक्षा अनन्तरूपताको प्राप्त हुआ है। हे भगवन्! यतः आप अनन्तरूपताको प्राप्त हुए केवलज्ञानसे तन्मय है अतः आप भी अनन्तरूपताको प्राप्त हुए है। यहाँ अनन्त ज्ञेयोकी अपेक्षा एक केवलज्ञानकी अनन्तरूपता और उससे तन्मय होनेके कारण भगवान्की अनन्तरूपताका वर्णन किया गया है ॥१६॥

यदत्र किञ्चित्सकलेऽर्थमण्डले विवर्तते वर्त्स्यति वृत्तमेव वा ।
समग्रमप्येकपदे तदुद्गतं त्वयि स्वयं ज्योतिषि देव भासते ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (अत्र) इस (सकले) समस्त (अर्थमण्डले) पदार्थसमूहमे (यत् किञ्चित्) जो कुछ (विवर्तते) हो रहा है (वर्त्स्यति) आगे होगा (वा) अथवा (वृत्तमेव) पहले हो चुका हे (तत्समग्रं अपि) वह सभी (ज्योतिषि) ज्योतिः—केवलज्ञान स्वरूप (त्वयि) आपमे (स्वय) अपने आप (एकपदे) एक साथ (उद्गतं) प्रतिबिम्बित होता हुआ (भासते) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे देव! गुण गुणीमे अभेद विवक्षाके कारण आप स्वयं केवलज्ञानरूप है। केवलज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि उसमे तीन लोक और तीन कालसम्बन्धी पदार्थोका परिणमन दर्पणके समान एक साथ प्रतिबिम्बित होता है। यह भगवान्के सर्वज्ञस्वभावका वर्णन है ॥१७॥

निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं व्यवस्यतस्तेऽस्खलदात्मविक्रमम् ।
परात्परावृत्य चिदंशवस्त्वयि स्वभावसौहित्यभराद् झडन्त्यमी ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(अस्खलदात्मविक्रमम्) जिस प्रकार स्वयं निजका पराक्रम स्खलित नही हो उस प्रकार (चराचर) चर अचररूप समस्त (जगत्) जगत्को (निवृत्ततृष्णस्य) तृष्णा रहित होकर (व्यवस्यत) जाननेवाले (ते) आपकी (अमी) ये (चिदशवः) चैतन्यकी किरणें (स्वभावसौहित्यभरात्) स्वाभाविक तृप्तिके समूहसे (परात्) पर पदार्थोंसे (परावृत्य) दूर हटकर (त्वयि) आपमे (झडन्ति) झलझला रही है—सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आप निवृत्ततृष्ण हैं—किसी अन्य पदार्थको जाननेकी आपकी इच्छा नहीं है तथापि ज्ञानगुणकी निर्मलताके कारण आप चराचर विश्वको जानते है। समस्त विश्वको जानते समय आप अपने अनन्तवीर्यसे सम्पन्न रहते हैं—उसे किसी प्रकार छोड़ते नही है। आपकी ये चैतन्य स्वभावकी किरणें पर पदार्थोंसे हटकर अन्तरात्मामे ही सुशोभित हो रही हैं और उसका कारण यह है कि उन ज्ञानरश्मियोंको बाहरकी ओर ले जानेवाला आपका मोहजन्य विकार नष्ट हो चुका है अतः वे स्वभावमे ही स्थिर हो रही है। यहाँ 'बहिर्ज्ञेयके ज्ञानत्वको गौण कर' अन्तर्ज्ञेयके ज्ञातृत्वको प्रकट किया गया है ॥१८॥

अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण सिञ्चन् स्वविशेषवीरुधः ।
त्वमात्मनात्मानमनन्यगोचरं समग्रमेवान्वभवस्त्रिकालगम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण) अनन्त सामान्य केवलदर्शनरूपी गहरी नहरके समूहसे (स्वविशेषवीरुधः) अपने विशेषरूप—केवलज्ञानरूप लताओको (सिञ्चन्) सीचनेवाले (त्वम्) आपने (अनन्यगोचरं) जो दूसरेके द्वारा न जाना जा सके ऐसे (त्रिकालग) तीन कालसम्बन्धी (समग्रमेव) सम्पूर्ण ही (आत्मान) आत्माको (आत्मना) अपने आपके द्वारा (अन्वभव.) अनुभूत किया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! अरहन्त अवस्थामे आप, अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानके स्वामी हो गये। यद्यपि चेतना गुणका दर्शन और ज्ञानरूप परिणमन अनादिसे चला आ रहा था पर वह क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक ज्ञानरूप रहता था। अरहन्त अवस्थाके प्रकट होते ही उसका क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानरूप परिणमन हो जाता है। क्षायिक दर्शनको केवलदर्शन और क्षायिक ज्ञानको केवलज्ञान कहते है। क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक ज्ञानकी प्रवृत्ति क्रमसे होती थी पर क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानकी प्रवृत्ति युगपत् होती है। आप इन दोनो परिणतियोंके द्वारा त्रिकाल सम्बन्धी अनन्तानन्त पर्यायोंसे सहित अपनी आत्माको स्वयं जानने देखने लगते है। तात्पर्य यह है कि आप अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानके स्वामी है तथा उनका ज्ञेय आपने अपनी आत्माको ही बनाया है। आपकी इस आत्मज्ञतामे ही व्यवहारनयकी विषयभूत सर्वज्ञता अन्तर्निहित है ॥१९॥

अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः प्रपिण्डयन्नात्ममहिम्नि निर्भरम् ।
त्वमात्मनि व्यापृतशक्तिरुन्मिषन्ननेकधात्मानमिमं विपश्यसि ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—जो अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा (अनन्तशः) अनन्त भेदोमे (खण्डित) विभक्त (आत्मनो महः) आत्मज्योतिरूप केवलज्ञानको (निर्भरम्) पूर्णरूपसे (आत्ममहिम्नि) आत्माकी महिमामे (प्रपिण्डयन्) सकोचित कर रहे है तथा (आत्मनि) अपने आपमे (व्यापृतशक्ति) जिनका अनन्तबल व्यापार कर रहा है ऐसे (त्वम्) आप (इम) इस (उन्मिषन्ननेकधात्मान) अनेकरूपताको प्राप्त आत्माको (विपश्यसि) विशिष्टरूपसे देखते हैं—जानते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनयसे अनन्त ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा जो केवलज्ञान अनन्तरूपताको प्राप्त हो रहा था निश्चयनयसे वही केवलज्ञान एक आत्माको जाननेके कारण एकरूपताको प्राप्त

हो जाता है। इसी प्रकार व्यवहारनयसे जो अनन्त वीर्य अनन्त गुणोंका धारक होनेसे अनन्तरूपता-को प्राप्त हो रहा था वही एक अखण्ड आत्माके आश्रित होनेसे एकरूपताको प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार व्यवहारनयसे यह आत्मा यद्यपि अनेकरूप है तथापि निश्चयनयसे एक अखण्ड द्रव्य है। हे भगवन्! आपने अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनका लक्ष्य इसी एक अखण्ड आत्माको बनाया है ॥ २० ॥

प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं प्रमैकमात्रं जिन भावमाश्रितः ।
अगाधगम्भीरनिजांशुमालिनीं मनागपि स्वां न जहासि तीक्ष्णताम् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे कर्मशत्रुओके विजेता (अगाधगम्भीर) हे अगाध गाम्भीर्यसे युक्त! (प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं) प्रमाता और प्रमेय आदिके भेदसे जिसका वैभव अखण्डित है ऐसे (प्रमैकमात्रं) प्रमितिमात्र (भाव) भावको (आश्रित.) प्राप्त हुए (त्वम्) आप (निजांशुमालिनी) आत्मकिरणोंसे युक्त (स्वा) स्वकीय (तीक्ष्णताम्) तीक्ष्णताको पदार्थ ग्रहणकी पटुताको (मनागपि) रञ्चमात्र भी (न जहासि) नही छोडते है।

भावार्थ—जाननेवालेको प्रमाता, जानने योग्य पदार्थको मेय अथवा प्रमेय और जाननेरूप क्रियाको प्रमा या प्रमिति कहते है। प्रारम्भिक अवस्थामे इन तीनोका विकल्प रहता है, परन्तु निर्विकल्प दशामे पहुँचनेपर यह सब विकल्प समाप्त होकर एक प्रमा या प्रमिति ही शेष रह जाती है। हे जिनेन्द्र! आप इसी निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। आपका ज्ञान अगाध है तथा कषायजन्य चञ्चलताका अभाव हो जानेसे आप अत्यन्त गम्भीर है अर्थात् आपको यह इच्छा नही है कि हम अमुक पदार्थको जानें, परन्तु फिर भी पदार्थोंको ग्रहण करनेमे जो आपकी तीक्ष्णता—पटुता है उसका आप रञ्चमात्र भी त्याग नही करते है पूर्ण तत्परताके साथ समस्त पदार्थोंको ग्रहण करते हैं—जानते हैं। आपकी इस पटुताका कारण यह है कि वह स्वय आत्मज्ञानरूप किरणोंसे सुयुक्त है ॥२१॥

अनन्तरूपस्पृशि शान्ततेजसि स्फुटौजसि प्रस्फुटतस्तवात्मनि ।
चिदेकतासङ्कलिताः स्फुरन्त्यमूः समन्ततीक्ष्णानुभवाः स्वशक्तयः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरूपस्पृशि) अनन्त पदार्थोंको स्पर्श करनेवाले-जाननेवाले, (शान्ततेजसि) शान्त तेजसे युक्त और (स्फुटौजसि) प्रकट प्रभावसे सहित (आत्मनि) शुद्ध आत्मतत्त्वके विषयमे (प्रस्फुटत तव) अत्यन्त स्पष्टताको प्राप्त होनेवाले आपकी (चिदेकतासङ्कलिता) चैतन्यकी एकतासे सहित तथा (समन्ततीक्ष्णानुभवा) सब ओरसे तीक्ष्ण अनुभवसे युक्त (अमू) ये (स्वशक्तय:) अपनी शक्तियाँ (स्फुरन्ति) प्रकट हो रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! लोकालोकावभासी केवलज्ञानके हो जानेसे आपकी आत्मा अनन्त-पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाली है, कषायजनित कलुषता और चञ्चलताके नष्ट हो जानेसे उसका तेज अत्यन्त शान्त है तथा उसका प्रताप इतना लोकोत्तर है कि शत इन्द्रोंका समूह उसकी वन्दना करता है। इस उपर्युक्त आत्मा विषयमे ज्यों ही आप प्रकटताको प्राप्त हुए अर्थात् आपकी ऐसी परिणति हुई त्यो ही आपमे ऐसी अनन्त शक्तियाँ प्रकट हो गईं जो चैतन्यतत्त्वकी एकतासे सङ्कलिता हैं—एक चैतन्यरूप हैं तथा जिनका सब ओर स्पष्ट अनुभव होता रहता है ॥२२॥

अनन्तविज्ञानमिहात्मना भवाननन्तमात्मानमिमं विघट्टयन् ।
प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्फुटस्वशक्तिचक्रः स्वयमीश भासते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! जो (इह) इस जगत्मे (अनन्तविज्ञानं) अनन्त-केवलज्ञानसे सहित (इमम्) इस (अनन्तं) अन्तातीत—अविनाशी (आत्मान) आत्माको (आत्मना) अपने आपके द्वारा (विघट्टयन्) विघट्टित कर रहे है—पुन-पुनः उसी एकका अवलम्बन ले रहे हैं तथा इसके फलस्वरूप (प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्वशक्तिचक्र) उस तीव्र सघट्टन-स्वरूपावलम्बनके कारण जिनकी आत्म शक्तियोंका समूह हठपूर्वक प्रकट हो रहा है ऐसे आप (स्वयं) अपने आप (भासतें) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—परमार्थसे आत्मा अनन्त शक्तियोका पुञ्ज है, परन्तु कर्माच्छादित होनेके कारण उसकी वे अनन्त शक्तियाँ अनुभवमे नही आती हैं। जब उसमे आत्म पुरुषार्थसे अनन्त-केवलज्ञान प्रकट होता है तब उसकी वे शक्तियाँ हठ पूर्वक स्वय प्रकट हो जाती हैं। हे स्वामिन् ! आपकी ये सब शक्तियाँ हठात् प्रकट हो गई है अत आप अतिशयरूपसे सुशोभित हो रहे हैं॥ २३॥

स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः परानपेक्षस्य तवोल्लसन्त्यमूः ।
सुनिर्भरस्वानुभवैकगोचरा निरन्तरानन्दपरम्परास्रजः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (स्वरूपगुप्तस्य) आत्मस्वरूपसे सुरक्षित, (निराकुलात्मनः) आकुलतासे रहित तथा (परानपेक्षस्य) परकी अपेक्षासे शून्य (तव) आपकी (अमू:) ये (सुनिर्भर-स्वानुभवैकगोचरा) अत्यन्त उत्कट आत्मानुभवके अद्वितीय विषयभूत (निरन्तरानन्दपरम्परास्रज:) निरन्तर सुख सन्ततिकी मालाएँ (उल्लसन्ति) उल्लसित होती है—सुशोभित होती है।

भावार्थ—ससारदशामे यह जीव आत्माकी अनन्त सामर्थ्यसे अपरिचित होनेके कारण आत्मरक्षाके लिए बाह्य पदार्थोंका संयोग मिलानेका उद्यम करता है और उसके न मिलनेपर आकुल रहता है—दुःखी होता है कि मेरे पास रक्षाके कुछ भी साधन नही है। इस प्रकार निरन्तर पर सापेक्ष रहता है—अन्य पदार्थोंकी आकाङ्क्षा करता रहता है परन्तु हे भगवन् ! आप आत्माकी अनन्त सामर्थ्यसे सुपरिचित है अत स्वरूपगुप्त हैं अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपको ही अपनी सुरक्षाका साधन मानते है इसीलिए आपकी सब आकुलताएँ नष्ट हो गई है तथा आप पूर्णरूपसे पर निरपेक्ष हो चुके है। ससारी जीवका इन्द्रियजन्य आनन्द, पर सापेक्ष होनेके कारण पराधीन, बाधासहित और बीच-बीचमे व्युच्छिन्न—नष्ट होता रहता है,[1] परन्तु आपका आत्मोत्थ आनन्द निरन्तर है—व्यवधानसे रहित है, एक बार प्रकट होनेपर उसमे कभी अन्तर—व्यवधान नही पड़ता है तथा उसका आपको निरन्तर अनुभव होता रहता है। यहाँ अनन्त सुखको लक्ष्य कर भगवान्का स्तवन किया गया है ॥२४॥

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान् विशन्नयःपिण्डमिवाग्निरुत्कटः ।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अय:पिण्डं विशन्) लोहपिण्डके भीतर प्रवेश करनेवाली (उत्कटः

1. 'सपर बाधासहियं विच्छिण्ण इंदियेहिं ज लद्ध'—प्रवचनसार।

अग्निरिव) प्रचण्ड अग्निके समान (भवान्) आप (अनया भावनया) इस भावनाके द्वारा (प्रसह्य) हठात्-बलपूर्वक (मां विशन्) मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मुझे (अद्यापि) आज भी (यत्) जो (एकचिन्मयं) एक चैतन्यरूप (न करोति) नहीं कर रहे हैं (अयं) यह (ममैव) मेरा ही (सः) वह (निज. जडिमागुणः) निजी जड़ता—अज्ञानतारूप गुण है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि लोहपिण्डके भीतर प्रवेश कर उसे अग्निरूप कर लेती है उसी प्रकार इस भावना—स्तुतिके माध्यमसे आपको भी मेरे भीतर प्रवेश कर मुझे अपनेरूप एक-चिन्मय—ज्ञाता द्रष्टा स्वभावसे तन्मय कर लेना चाहिए था पर आपने आज तक मुझे अपनेरूप नही किया है इसमे आपकी उपेक्षा नही किन्तु मेरी जडता ही कारण है। आपकी स्तुतिका निमित्त मिलनेपर भी मै आपके समान वीतराग—सर्वज्ञ नही बन सका, इसमे मेरे उपादानकी अनुकूलताका न होना ही प्रमुख कारण है ॥२५॥

●

ॐ

(७)

वंशस्थवृत्तम्

असीमसंसारमहिम्नि पञ्चधा व्रजन् परावृत्तिमनन्तशोऽवशः ।
लगाम्ययं देव बलाच्चिदञ्चले स्वधाम्नि विश्रान्तिविधायिनस्तव ।। १ ।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (असीमसंसारमहिम्नि) अनन्त ससारकी महिमामे (अवश:) विवश हो (अनन्तशः) अनन्तबार (पञ्चधा परावृत्ति) पाँच प्रकारके परावर्तनोंको (व्रजन्) प्राप्त होता हुआ (अयम्) यह मै (स्वधाम्नि) आत्मगृहमे (विश्रान्तिविधायिन:) विश्राम करनेवाले (तव) आपके (चिदञ्चले) चैतन्यरूप अञ्चलके नीचे (बलात्) हठपूर्वक (लगामि) सलग्न होता हूँ—शरण पानेके लिए आपके ज्ञान स्वभावकी छायामे स्थिर हो रहा हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मै अनादि कालसे ससाररूपी महा अटवीमे भ्रमण करता हुआ विवश हो अनन्तों बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परावर्तनोको प्राप्त हो रहा हूँ। परन्तु आप अपने घरमे—चिदानन्द स्वभावमे विश्राम कर रहे है। परावर्तनोके दुर्दान्त चक्रसे आप पार हो चुके है, अतः पुरुषार्थ करके मै भी आपके चिदानन्द स्वभावके अञ्चलमे संलग्न हो रहा हूँ—उसकी शरणमे आ रहा हूँ। आप इस चित्‌रूप अञ्चलको पसार कर उसकी छायामे मेरी रक्षा कीजिये। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! अनन्त कालमे वीतराग सर्वज्ञ देवकी शरण प्राप्त हुई है अतः उनके माध्यमसे मै भी अपने ज्ञानानन्द स्वभावको प्राप्त कर पाँच परावर्तनोके चक्रसे बहिर्भूत होना चाहता हूँ ॥१॥

कषायसंघट्टनघृष्टशेषया ममैकया चित्कलया व्यवस्यतः ।
क्रियात्(कियान्)प्रकाशस्तव भूतिभासने भवत्यलातं दिनकृन्न जातुचित् ।। २ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (कषायसघट्टनघृष्टशेषया) कषाय समूहके सघर्षणसे शेष बची हुई (एकया) एक (चित्कलया) अल्पमात्र ज्ञानकी कलाके द्वारा (व्यवस्यत:) उद्युक्त (मम) मेरा (तव) आपकी (भूतिभासने) विभूतिके प्रकाशनमे (कियान्) कितना (प्रकाश:) प्रकाश है ? अर्थात् कुछ भी नही है। क्योकि (अलातं) अधजली लकड़ीका प्रकाश (जातुचित्) कभी भी (दिनकृत्) दिवस-को करनेवाला (न) नही होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! मेरा ज्ञान अत्यन्त अल्प है उसके द्वारा मै आपकी विभूतिका वर्णन करनेके लिए समर्थ नही हूँ क्योकि जिस प्रकार अधजली लकड़ीका अल्पतम प्रकाश कभी भी दिनके करनेमें समर्थ नही है उसी प्रकार अपने अल्पतम ज्ञानके द्वारा मै आपकी विभूतिका वर्णन करनेमे समर्थ नही हूँ ॥ २ ॥

कियत्स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृतं कियज्ज्वलत् किञ्चिदतीव निर्वृतम् ।
क्रियत् स्पृशत् किञ्चिदसंस्पृशन्मम त्वयीश तेजः करुणं विषीदति ।। ३ ।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (कियत् स्फुटं) जो कितना ही प्रकट है (किञ्चित् अनादि-संवृतम्) कितना ही अनादिकालसे आच्छादित है (कियज्ज्वलत्) कितना ही प्रकाशमान है (किञ्चित् अतीवनिर्वृतम्) कितना ही अत्यन्त बुझा हुआ है—अप्रकाशमान है (कियत् स्पृशत्) कितना ही स्पर्श कर रहा है—पदार्थोंको जान रहा है और (किञ्चित् असंस्पृशन्) कितना ही नही स्पर्श कर रहा है—पदार्थोंको नही जान रहा है ऐसा (मम) मेरा (तेजः) तेज-ज्ञान (त्वयि) आपके विषयमे (करुणं 'यथा स्यात् तथा') करुणरूपसे (विषीदति) विषाद युक्त हो रहा है।

भावार्थ—हे नाथ ! आपका स्तवन करनेके लिये उद्यत अपने ज्ञानकी सामर्थ्यका जब विचार करता हूँ तब मुझे बहुत विषाद होता है, क्योकि मेरा यह ज्ञान ससारवर्धक विषयकषायके कार्योमे कुछ प्रकट है परन्तु ससारसागरसे पार करानेवाले वीतरागतावर्धक कार्योमे अनादिसे आच्छादित हो रहा है—उनकी ओर उसका लक्ष्य भी नही जाता है, भोगोपभोगकी सामग्रीके सचित करनेमे कुछ देदीप्यमान है परन्तु त्यागमार्गमें अत्यन्त बुझा हुआ है—निश्चेष्ट है, पूर्वबद्ध कर्मोंका मन्दोदय होनेपर कुछ पदार्थोंका आस्रव और बन्धमार्गका स्पर्श करता है—उन्हे जानता है, परन्तु आत्मकल्याणकारी सवर और निर्जराके मार्गको स्पर्श नही करता—उन्हे जानता भी नही है। इस प्रकार मेरा यह ज्ञान बहुत करुणापूर्ण स्थितिमे है—आपकी करुणाका पात्र है अतः आप मेरे ज्ञानको केवलज्ञानरूपमे परिणत कीजिये, जिससे उस अनन्त ज्ञानके माध्यमसे मै आपके अनन्त गुणोका स्तवन कर सकूं ॥ ३ ॥

प्रलाप(प्रहाय)विश्वं सकलं बलाद् भवान्मम स्वयं प्रक्षरितोऽतिवत्सलः ।
पिपासितोऽत्यन्तमबोधदुर्बलः क्षमेत पातुं कियदीश मादृशः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (अतिवत्सल) अत्यन्त स्नेहसे परिपूर्ण (भवान्) आप (बलात्) बलपूर्वक (सकल विश्व प्रलाप [प्रहाय]) सकल विश्वको छोडकर (स्वयं) अपने आप (मम) मेरे ऊपर (प्रक्षरित) अमृत वर्षा कर रहे है परन्तु (अबोधदुर्बलः) अज्ञानसे दुर्बलताको प्राप्त हुआ (मादृश) मेरे समान प्राणी (अत्यन्तं पिपासितोऽपि सन्) अत्यन्त प्यासा होनेपर भी (कियत्) कितना (पातु) पीनेके लिए (क्षमेत) समर्थ हो सकता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप स्वयं—किसीकी प्रेरणाके बिना ही अत्यन्त वत्सल होनेके कारण मुझ पामरपर अमृत वर्षा कर रहे है परन्तु मैं अनादि अज्ञानसे इतना दुर्बल हो रहा हूँ कि पिपासातुर होनेपर भी उस अमृतको ग्रहण करनेमे समर्थ नही हो सक रहा हूँ। जिस प्रकार स्वच्छ जलसे भरी हुई नदी बह रही हो, परन्तु कोई अज्ञानी प्याससे पीड़ित होनेपर भी अज्ञानवश नदीके जलको ग्रहण न कर रहा हो तो इसमे नदीका अपराध नही है किन्तु उसी अज्ञानीका अपराध है। इसी प्रकार आपके उपदेशामृतकी धारा प्रवाहित हो रही है, परन्तु मै अज्ञानवश उस धारामे अवगाहन नही कर पा रहा हूँ यह विषादका विषय है ॥४॥

अयं भवद्बोधसुधैकसीकरो ममाद्य मात्रा परिणामकाङ्क्षिणः ।
क्रमेण सधुक्षितबोधतेजसा ममैव पेयस्य (पेयस्स-) कलो भवानपि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अयं) यह (भवद्बोधसुधैकसीकर.) आपके ज्ञानामृतका एक कण (परिणामकाङ्क्षिण:) किसी अच्छे परिपाककी इच्छा करनेवाले (मम) मेरे लिए (अद्य) आज (मात्रा) औषधिकी मात्राके समान है। इस मात्राके द्वारा (क्रमेण) क्रमसे (सधुक्षितबोधतेजसा) जिसका ज्ञानरूप तेज वृद्धिको प्राप्त हुआ है ऐसे (ममैव) मेरे ही द्वारा (सकलोऽपि भवान्) आप सपूर्णरूपसे (पेय:) पान करने योग्य हो रहे है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई निर्बल मनुष्य उत्कृष्ट औषधिकी मात्राका सेवनकर क्रम-क्रम से अपनी शक्तिको बढाता हुआ बहुत अधिक पदार्थोंका सेवन करनेमे समर्थ हो जाता है उसी प्रकार मै भी ससार भ्रमणरूपी रोगसे अत्यन्त निर्बल होकर उसकी निवृत्तिरूपी परिणामकी इच्छा करता था। निरन्तर मेरी इच्छा रहती थी कि इस रोगसे किसी प्रकार निवृत्त हो सकू। अन्तिम अवस्थामे मुझे आपके ज्ञानामृतका एक कण मिल गया अर्थात् श्रुतज्ञानके द्वारा मुझे यह बोध हो गया कि वीतराग जिनेन्द्रदेवकी शरण ग्रहण करनेसे यह भवभ्रमणरूपी रोग नष्ट हो सकता है। इस ज्ञानामृतके एक कणने मेरे लिए वही कार्य किया जो मरणोन्मुख मनुष्यके लिये किसी उत्तम औषधकी मात्रा करती है। इस मात्राके प्रभावमे मेरे ज्ञानकी सामर्थ्य क्रमश बढने लगी और आज इस स्थितिमे हू कि आप सपूर्णरूपसे मेरे अनुभवके विषय हो रहे है— आपका स्वरूप जाननेकी सामर्थ्य मुझमे आ गई है॥ ५ ॥

अनारतं बोधरसायनं पिबन्नखण्डितान्तर्बहिरङ्गसंयमः ।
ध्रुव भविष्यामि समः स्वयं त्वया न साध्यते किं हि गृहीतसयमैः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो ! जो (अनारत) निरन्तर (बोधरसायन) सम्यग्ज्ञानरूपी रसायनका (पिबन्) पान करता है तथा जिसका (अखण्डितान्तर्बहिरङ्गसयम.) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग संयम खण्डित नही हुआ है ऐसा मै (ध्रुव) निश्चित ही (स्वय) अपने आप (त्वया समः) आपके समान (भविष्यामि) हो जाऊगा। सो ठीक ही है (हि) क्योकि (गृहीतसयमै.) सयमको धारण करनेवाले मनुष्योके द्वारा (किं न साध्यते) क्या नही सिद्ध कर लिया जाता ? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध कर लिया जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम रसायनका सेवन करनेवाला और कुपथ्य सेवनसे दूरवर्ती मनुष्य निश्चय ही नीरोग हो जाता है उसी प्रकार निरन्तर ज्ञानरूपी रसायनका सेवन करनेवाला तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग संयमकी निर्दोष साधनासे विषय कषायरूप कुपथ्यसे दूरवर्ती मै निश्चित ही नीरोग हो जाऊंगा। हे भगवन् ! मै आपके ही समान भवभ्रमणरूपी रोगसे निर्मुक्त हो जाऊगा। वास्तवमे संयमकी महिमा अद्भुत है॥ ६ ॥

व्यतीतसंख्येष्वपि शक्त्यरक्षया स्थितस्य मे संयमलब्धिधामसु ।
सदा गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं विभो कियद्दूरमिदं पदं तव ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवान् ! (शक्त्यरक्षया) अपनी शक्तिकी न्यूनतासे (व्यतीतसख्येषु सयमलब्धिधामसु) असंख्यात संयमलब्धिके स्थानोमे (स्थितस्य मे) स्थित रहनेवाले मेरे लिये

(सदा) सर्वदा[1] (गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं) गुणस्थानोंकी श्रेणीके श्रेष्ठ स्थान-त्रयोदश गुणस्थान-सम्बन्धी (तव) आपका (इद पदम्) यह स्थान (कियद् दूरम्) कितना दूर है।

भावार्थ—यह भावनापरक स्तवन है। स्तवनकर्ता आत्माकी अनन्त शक्तिकी ओर लक्ष्य कर रहा है कि हे भगवन्! मैं अभी अपनी शक्तिकी न्यूनतासे सयमके असंख्य लब्धिस्थानोमे ही स्थित हूँ उनके द्वारा साध्य पदमे स्थित नही हो सका हूँ, परन्तु आपकी शरण प्राप्त होनेसे मुझे यह विश्वास हो गया है कि मेरे लिये भी आपका पद प्राप्त हो सकता है। अब वह मेरे लिये दूर नही है ॥ ७ ॥

उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा विभो विभिन्दंस्तव तत्त्वमस्म्यहम्।
अलब्धविज्ञानघनस्य योगिनो न बोधसौहित्यमुपैति मानसम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ! (अहम्) मै (उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा) ऊपर ऊपर वृद्धि को प्राप्त हुई शक्तिरूप सम्पदाके द्वारा (तव) आपके (तत्व) यथार्थ स्वरूपका (विभिन्दन्) विश्लेषण करनेवाला (अस्मि) हूँ, सो ठीक ही है क्योकि (अलब्धविज्ञानघनस्य) जिसे विज्ञानघन आत्माकी उपलब्धि नही हुई है ऐसे (योगिन.) साधुका (मानसम्) मन (बोधसौहित्य) ज्ञान विषयक तृप्तिको (न उपैति) प्राप्त नही होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! मै अबतक अज्ञानके कारण क्षीण शक्ति होनेसे आपके परमार्थ स्वरूपको नही समझ सका था, परन्तु जैसे जैसे मेरी आत्मशक्ति बढती जाती है वैसे वैसे ही आपके परमार्थ स्वरूपको समझता जाता हूँ। परमार्थसे जिसने विज्ञान घन-आत्मा प्राप्त नही किया है उसका मन ज्ञानके आश्रयसे होनेवाली तृप्तिको प्राप्त नही होता ॥ ८ ॥

अजस्रमश्रान्तविवेकधारया सुदारुणं देव मम व्यवस्यतः।
स्वयं जयन्त्युल्लसिताद्भुतोदयाः क्षणप्रहीणावरणा मनोभुवः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव (अजस्र) निरन्तर (अश्रान्तविवेकधारया) अविराम विवेककी धारासे (सुदारुणं) अत्यन्त कठिन (व्यवस्य॰) उद्योग करनेवाले (मम) मेरी (मनोभुव.) मनरूपी भूमियाँ (स्वयं) अपने आप (क्षणप्रहीणावरणा) जिनके आवरण क्षणभरमे नष्ट हो गये है तथा (उल्लसितादभुतोदया॰) जिनमे आश्चर्यकारक अभ्युदय प्रकट हुए है ऐसी होती हुई (जयन्ति) जयवन्त प्रवर्तती है—उत्कृष्टताको प्राप्त होती हैं।

---

१ 'असख्येयानि सयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयो॰, तौ युगपदसख्येयानि स्थानानि गच्छत, तत॰ पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसख्येयानीष्टस्थानानि गच्छति एकाकी। तत॰ कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा युगपदसख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसख्ययानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थ प्रतिपद्यते। सोऽप्यसख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेक स्थान गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाण प्राप्नोत्येतेषा सयमलब्धिरचना गुणा भवन्तीति'। राजवार्तिक ९।४७।

भावार्थ—हे भगवन् ! औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनके कालमे जो विवेक-धारा—भेद विज्ञानकी सन्तति उत्पन्न होती है वह तो अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होनेपर नष्ट हो जाती है, परन्तु अब मुझे जो क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ है वह कभी नष्ट होनेवाला नही है, अतः उसके कालमे जो भेद विज्ञानकी धारा प्रकट हुई है वह निरन्तर विद्यमान रहनेवाली है। उस विज्ञानकी धारासे मैने निश्चयकर लिया है कि मै एक ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाला स्वतन्त्र आत्मद्रव्य हूँ, नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म मेरी आत्मासे पृथक् है। अनादि कालसे इनका मेरी आत्माके साथ सयोग अथवा भावकर्मकी अपेक्षा क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध बन रहा है पर यह निश्चित है कि वह सदा रहनेवाला नही है। इस भेद विज्ञानसे मैं शरीरादि पर पदार्थोंको छोड़नेके लिये पूर्ण कटिबद्ध हुआ हूँ—घोर तपश्चरणके द्वारा इस कार्यके लिये उद्यम कर रहा हूँ। तथा क्षपकश्रेणीमें आरूढ होकर कर्मोके मेनानी मोहकर्मको जड-मूलसे नष्ट कर चुका हूँ। मोहकर्मके नष्ट होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी क्षणभरमे प्रक्षीण—सदाके लिये नष्ट हो चुके है। इनके नष्ट होते ही मेरी मनोभूमि—मेरी आत्मामे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य ये आश्चर्यकारक आत्माश्रित अतिशय प्रकट हुए है। तात्पर्य यह है कि आपकी स्तुति करनेवाला भक्त आपके सदृश हो जाता है। आर्हत दर्शनकी ही यह विशेषता है कि वह भक्तको भी भगवान् बननेका अवसर देता है ॥९॥

समामृतक्षालनगाढकर्मणा कषायकालुष्यमपास्य तत्समम् ।
ममाद्य सद्यः स्फुटबोधमण्डलं प्रसह्य साक्षाद् भवतीश ते महः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (समामृतक्षालनगाढकर्मणा) समताभावरूप अमृतके द्वारा अच्छी तरह प्रक्षालित करनेसे (कषायकालुष्यं) कषायसम्बन्धी कलुषताको (अपास्य) नष्ट कर (तत्समम्) उसके नष्ट होनेके साथ ही (मम) मेरे (अद्य) आज (सद्य) शीघ्र ही (स्फुटबोधमण्डल) स्पष्ट केवलज्ञानका समूह प्रकट हुआ है और उसके फलस्वरूप (प्रसह्य) बलपूर्वक (ते मह साक्षात् भवति) आपके तेजका साक्षात्कार हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेसे मेरा ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया था तथापि चारित्रमोहके उदयमे होनेवाली कषायरूप कलुषतासे वह मलिन हो रहा था—उसमे इष्ट-अनिष्टका भाव उत्पन्न हो रहा था। परन्तु अब मै समताभावरूपी जलसे उस कलुषताको बिल्कुल दूर कर चुका हूँ और उसके दूर करते ही अन्तर्मुहूर्तके भीतर मेरा वह ज्ञान केवल ज्ञानरूपमे परिणत हो गया है, केवलज्ञानरूप परिणत होते ही मुझे आपके तेजका अनुभव होने लगा है।

त्वमात्मसात्म्यज्ञ चिदेकवृत्तितामशिश्रियः शोषितरागदुर्गदः ।
परे तु रागज्वरसात्म्यलालसा विशन्ति बाला विषयान्विषोपमान् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(आत्मसात्म्यज्ञ) हे आत्मस्वभावके ज्ञाता भगवन् ! (शोषितरागदुर्गद) जिन्होने रागरूपी दुष्ट रोगोका शोषण कर दिया है ऐसे (त्वम्) आपने (चिदेकवृत्तिताम्) एक ज्ञानस्वभाव मे लीनताको (अशिश्रियः) प्राप्त किया है (तु) किन्तु (रागज्वरसात्म्यलालसा) रागरूपी ज्वरके

साथ तादात्म्यकी इच्छा रखनेवाले (बाला.) अज्ञानी (परे) अन्य देव (विषोपमान्) विषतुल्य (विषयान् विशन्ति) विषयोमे प्रवेश करते है।

भावार्थ—'राग, आत्माका विकारी भाव है' ऐसी दृढ श्रद्धा कर उसे नष्ट करनेका आपने प्रबल पुरुषार्थ किया और उस पुरुषार्थके फलस्वरूप उस रागरूपी दु.खदायक रोगको नष्ट कर आप पूर्ण वीतराग अवस्थाको प्राप्त हुए है। रागके सद्भावमे कदाचित् आपका उपयोग आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थोमे भी जाता था पर अब रागके नष्ट हो जानेपर वह एक चैतन्यपुञ्ज आत्मामे ही लीन हो रहा है। यह तो आप वीतरागकी बात रही, परन्तु जो रागरूपी ज्वरके साथ तादात्म्यका अनुभव कर रहे है, जिनकी यह श्रद्धा नही हुई है कि राग आत्माका विकारी भाव होनेसे हेय है वे अज्ञानी हरिहरादिक देव, विषतुल्य पञ्चेन्द्रियोके विषयोमे लीन हो रहे है। यहाँ सराग और वीतराग दशाके फलका वर्णन करते हुए आचार्योने जिनेन्द्रदेवका स्तवन किया है ॥११॥

कियत्कियत् संयमसीमवर्त्मनि क्रियारतेनाप्यपराः क्रिया घ्नता।
त्वयेदमुच्चण्डचिदेकविक्रमैः समस्तकर्तृत्वमपाकृतं हठात् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(सयमसीमवर्त्मनि) सयमसम्बन्धी सीमाके मार्ग मे (कियत् कियत्) कुछ कुछ (क्रियारतेनापि) शुभ क्रियाओमे रत होनेपर (अपरा क्रिया घ्नता) पापास्रवसम्बन्धी अन्य क्रियाओको (घ्नता) नष्ट करनेवाले (त्वया) आपने (उच्चण्डचिदेकविक्रमै) अत्यधिक एक चैतन्यमात्र आत्माके आलम्बनसे (हठात्) हठपूर्वक (इद समस्तकर्तृत्व) इस समस्त कर्तृत्वभावको (अपाकृतम्) दूर किया है—नष्ट किया है।

भावार्थ—सयम धारण करनेपर यद्यपि आप चरणानुयोगमे प्रतिपादित सामायिक, स्वाध्याय, समिति आदि शुभ क्रियाओको करते थे तथापि पापवर्धक क्रियाओसे सदा विमुख रहते थे। और शुभ क्रियाओको करते हुए भी आपका उपयोग एक आत्मस्वरूपमे ही स्थिर होता था। जैसे सामायिककी क्रिया करते समय आपका उपयोग अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावमे ही स्थिर होता था। हे भगवन्! इस आत्माश्रयी प्रवृत्तिके कारण आपने सब प्रकारका कर्तृत्व छोड दिया था। अर्थात् छठवें गुणस्थानमे प्रतिपादित शुभ क्रियाओके कदाचित् कर्ता होनेपर भी आप परमार्थसे उनके कर्ता नही थे, क्योकि आपकी प्रवृत्ति अन्य क्रियाओसे हटकर एक चैतन्यस्वरूपमे ही लीन रहती थी ॥१२॥

अकर्तृसंवेदनधाम्नि सुस्थितः प्रसह्य पीत्वा सकलं चराचरम्।
त्वमेष्ट(त्वमेव)पश्यस्यनिशं निरुत्सुकः स्वधातुपोषोपचितं निजं वपुः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—जो (सकल चराचर) समस्त चर-अचर विश्वको (प्रसह्य) बलपूर्वक (पीत्वा) पीकर—अपने ज्ञानमे निमग्न कर (अकर्तृसवेदनधाम्नि) कर्तृत्वके विकल्पसे रहित ज्ञानरूप धाममे (सुस्थित) अच्छी तरह स्थित है ऐसे (त्वमेव) आप ही (स्वधातुपोषोपचित) अनन्त शुभ सूक्ष्म आहारवर्गणाओके द्वारा पोषणको प्राप्त हुए (निज वपु) अपने परमौदारिक शरीरको (अनिशं) निरन्तर (निरुत्सुक) उत्सुकतारहित होते हुए (पश्यसि) देखते है।

भावार्थ—यह जीवन्मुक्त सकल परमात्माकी स्तुति है। सकल परमात्मा केवलज्ञानसे विभूषित होते है और उनके उस केवलज्ञानमे समस्त चराचर विश्व दर्पणकी तरह झलकता है। राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका कर्तृत्व भाव नष्ट हो जाता है ऐसे ज्ञानमे वे लीन होते है। यद्यपि उनके कवलाहार नष्ट हो जाता है तथापि लाभान्तरायका क्षय हो जानेसे प्रत्येक समय आहारवर्गणाके शुभ सूक्ष्म पुद्गल परमाणु उनके शरीरके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते रहते है जिससे उनका परमौदारिक शरीर देशोन कोटि वर्षतक स्थिर रहता है। उस परमौदारिक शरीरके प्रति उनकी रञ्चमात्र भी उत्सुकता नही रहती है—वे उसे सदा निरुत्सुक भावसे देखते है। आयुकर्म का उदय उन्हे उस शरीरमे रोके हुए है, परन्तु उसके प्रति ममनाभाव नही है ॥१३॥

तवार्हतोऽत्यन्तमहिम्नि सस्थिति स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पदः ।
सदा निरुच्छ्वासधृतास्स्वशक्तयः स्वभावसीमानमिमा न भिन्दते ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(अत्यन्तमहिम्नि सस्थितिम् अर्हतः) जो अनन्त महिमामे सम्यक् प्रकारसे स्थितिको प्राप्त है तथा (स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पद) ससारकी समस्त सम्पदाए जिनकी स्वकीय सीमामे सलग्न है ऐसे (तव) आपकी (निरुच्छ्वासधृना) सघटितरूपसे धारण की हुई (इमाः स्वशक्तय) ये निजकी शक्तिया (स्वभावसीमानम्) स्वभावकी सीमाको (न भिदन्ते) नही भेदती है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी महिमा अनन्त है तथा लोककी समस्त विभूतिया आपके सन्निहित है। आपकी आत्मामे इतनी अनन्त शक्तिया विद्यमान है कि वे मानो बडी सकीर्णतासे रह रही हो, परन्तु फिर भी वे अपनी स्वाभाविक सीमाको छोडती नही है—जिस शक्तिका जो स्वभाव है वह उसी स्वभावमे स्थिर रहती है ॥१४॥

तवेदमुच्चावचमीश मज्जयज्जयत्यनन्ताद्भुतसत्यवैभवम् ।
स्वतत्त्व एव स्फुरदात्मयन्त्रितं चिदुद्गमोद्गारतरङ्गितं महः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! जो (उच्चावचम्) छोटे बडे-समस्त पदार्थोंको (मज्जयत्) अपने आपमे निमग्न कर रहा है, (अनन्ताद्भुनसत्यवैभवम्) जिसका वैभव अनन्त, आश्चर्यकारी और परमार्थभूत है, जो (स्वतत्त्व एव स्फुरत्) जो आत्मतत्त्वमे ही स्फुरायमान ह, (आत्मयन्त्रित) जो आत्मासे नियन्त्रित है—आत्माके अतिरिक्त अन्य द्रव्योमे अविद्यमान है तथा (चिदुद्गमोद्गार-तरङ्गित) जो चैतन्यानुविधायी उपयोगके प्रादुर्भावसे तरङ्गित है—लब्धि रूप न रहकर सदा उपयोगरूप रहता है ऐसा (इदम्) यह (तव) आपका (महः) केवलज्ञानरूप तेज (जयति) जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—यहा भगवान्के केवलज्ञानरूप तेजकी महिमा कहते हुए उसका जयकार किया गया है। केवलज्ञान इतना विशद ज्ञान है कि उसमें छोटेसे छोटा और बडेसे बड़ा पदार्थ स्वयमेव प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसका वैभव अन्तरहित, आश्चर्यकारी और सत्यरूप होता है अर्थात् वह होकर कभी नष्ट नही होता है। वह यद्यपि लोक-अलोकवर्ती ज्ञेयोको जाननेके कारण समस्त लोक-अलोकमें व्याप्त है तथापि उसका नियन्त्रण आत्मासे ही होता है, अथवा वह ज्ञान आत्माको

छोडकर अन्य द्रव्योमें नही पाया जाता है। क्षायोपशमिक ज्ञान लब्धि और उपयोगके भेदसे दो प्रकारका होता है, परन्तु केवलज्ञान क्षायिक होनेसे सदा उपयोगरूप ही रहता है, इसीलिये उसे चैतन्यानुविधायी उपयोगसे तरङ्गित कहा गया है ॥१५॥

स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा समुच्छ्वसद्विश्वमिदं स्वसीमनि ।
परेण सर्वत्र सदाप्यलङ्घितस्वभावसीमा जिन नाभिभूयसे ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! यद्यपि आप (स्वसीमनि) अपनी सीमाके भीतर (समुच्छ्वसद्) विद्यमान रहनेवाले (इदं विश्वं) इस समस्त विश्वका (भूयसा) बहुत भारी (स्वांशुभरेण) स्वकीय ज्ञानरूप किरणोके समूहसे (स्पृशन्नपि) स्पर्श कर रहे है तथापि (सदापि) सर्वदा (अलङ्घितस्वभावसीमा) जिनकी स्वाभाविक सीमाका उलङ्घन नही किया जा सकता ऐसे आप (सर्वत्र) सब जगह (परेण) दूसरे द्रव्यके द्वारा (नाभिभूयसे) अभिभूत नही होते है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! ससारके समस्त पदार्थ अपनी अपनी स्वाभाविक सीमामे स्थिर है अर्थात् किसी पदार्थका द्रव्य गुण पर्याय, अन्य पदार्थके द्रव्य गुण पर्यायरूप परिणमन नही करता है। ऐसे पदार्थोको आप अपने ज्ञानरूप किरणोके समूहसे जानते है अर्थात् वे पदार्थ ज्ञेयरूप होकर दर्पणमे मयूरादिके प्रतिबिम्बके समान आपके ज्ञानमे यद्यपि झलकते है तथापि आपका ज्ञान अपनी स्वाभाविक सीमाका कभी उलङ्घन नही करता अर्थात् परमार्थसे आपका ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है झलकनेमात्रमे ज्ञान ज्ञेयरूप नही होता है। यही कारण है कि आप कभी भी परके द्वारा अभिभूत नही होते है ॥१६॥

स्वभावसीमानमनन्यबाधितां स्पृशन्ति भावा स्वयमेव शाश्वतीम् ।
परः परस्यास्ति कृतोऽपि तेन न क्रियेति शान्ता त्वयि शुद्धबोद्धरि ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(भावा.) ससारके समस्त पदार्थ, (अनन्यबाधिता) दूसरेके द्वारा अबाधित तथा (शाश्वती) निरन्तर स्थिर रहनेवाली (स्वभावसीमानम्) स्वभावसम्बन्धी सीमाका (स्वयमेव) अपने आप (स्पृशन्ति) स्पर्श करते है अर्थात् सब पदार्थ अपने अपने स्वभावमे स्थिर रहते है (तेन) इसलिये (कृत[1] अपि परस्य पर: न अस्ति) यद्यपि व्यवहारनयसे पर पदार्थ, परका कर्ता भले ही हो परन्तु परमार्थसे पर, पर पदार्थका कर्म नही है अर्थात् एक पदार्थ दूसरेका कर्म नही है। (इति) इस प्रकार (शुद्धबोद्धरि) मात्र ज्ञाता रहनेवाले (त्वयि) आपमे (क्रिया) कर्तृत्वकी भावना (शान्ता) शान्त है अर्थात् आप मात्र ज्ञाता है।

भावार्थ—'जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह दूसरेके द्वारा अबाधित और शाश्वतिक—नित्य होता है' इस सिद्धान्तके अनुसार ससारके सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावमे स्थिर रहते है। कोई किसीका कर्ता बनकर उसे उसके स्वभावसे च्युत नही कर सकता। यही कारण है कि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्यका कर्ता नही है। निश्चयनयसे कर्तृकर्मभाव एक ही द्रव्यमे बनता है दो द्रव्योमे नही, क्योकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्यमें हो सकता है, इसलिये

१. करोतीति कृत् कर्तु. तस्य इत्यर्थ ।

व्यवहारनयकी अपेक्षा कोई किसीका कर्ता भले ही कहा जाय परन्तु जब परमार्थ—निश्चयसे विचार किया जाता है तब अन्य, अन्यका कर्ता नहीं होता है। यद्यपि जीव परमार्थसे परका कर्ता नही है तथापि मोहजन्य अज्ञानभावसे वह अपनेको परका कर्ता मानता है और कर्तृत्व-जन्य इष्ट अनिष्ट बुद्धिका पात्र होता हुआ व्यर्थ ही अहकार तथा ममकार करता है, परन्तु आप शुद्धबोद्धा हो—मात्र ज्ञाता द्रष्टा हो अतः आपमे क्रिया स्वयमेव शान्त हो गई है। मोहके निकल जानेसे आप कर्तृत्वकी भावनासे निवृत्त हो गये ॥१७॥

अकर्तृ विज्ञातृ तवेदमद्भुतस्फुटप्रकाशं सततोदितं महः।
न जात्वपि प्रस्खलति स्वशक्तिभिर्भरेण संधारितमात्मनात्मनि ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(अकर्तृ विज्ञातृ) जो कर्ता नही है मात्र ज्ञाता है (अद्भुतस्फुटप्रकाशं) जिसका प्रकाश आश्चर्यकारक तथा स्पष्टरूपसे प्रकट है, जो (सततोदित) निरन्तर उदित रहता है तथा जो (स्वशक्तिभि.) अपनी शक्तियोके द्वारा (भरेण) अत्यन्तरूपसे (आत्मना) अपने आपके द्वारा (आत्मनि) अपने आपमे (सधारित) धारण किया गया है ऐसा (तव) आपका (इदम्) यह (मह) केवलज्ञानरूप तेज (जात्वपि) कभी भी (न प्रस्खलति) स्खलित नही होता है—नष्ट नही होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका केवलज्ञान संसारके किसी पदार्थका कर्ता नही है मात्र विज्ञाता है—उसे विशिष्टरूपसे जानता है। उसका प्रकाश त्रिभुवनको आश्चर्यमे डालनेवाला है तथा लोकालोकको अन्धकार रहित करनेके कारण अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकट है। केवलज्ञान सदा उदित रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञानके समान बीच-बीचमे तिरोहित नही होता है तथा वह केवलज्ञान अपनी शक्तियोके समूहसे अपने आपमे अपने आपके द्वारा धारण किया गया है। ऐसा केवलज्ञान कभी भी स्खलित नही होता है अर्थात् किसी पदार्थको जाननेसे विमुख नही रहता ॥१८॥

तवेति विस्पष्टविकाशमुल्लसद्विलीनदिक्कालविभागमेककम्।
त्रुड(ट)त्क्रियाकारकचक्रमक्रमात् स्वभावमात्रं परितोऽपि वल्गति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(विस्पष्टविकाशम्) जिसका विकाश अत्यन्त स्पष्ट है, (उल्लसद्) जो अत्यन्त सुशोभित है (विलीनदिक्कालविभागम्) जिसके दिशा और कालका विभाग विलीन हो चुका है (एककम्) जो अकेला रहता है (त्रुटत्क्रियाकारकचक्रम्) जिसमे क्रिया और कारकोका समूह टूट चुका है और जो (स्वभावमात्र, स्वभावमात्र है (इति) इस प्रकार ऐसा (तव) आपका केवलज्ञान-रूप तेज (अक्रमात्) एक साथ (परितोऽपि) सभी ओर (वल्गति) चलता है सब ओरके पदार्थोंको जानता है।

भावार्थ—यहाँ केवलज्ञानके माध्यमसे भगवान्का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आपका केवलज्ञान अत्यन्त स्पष्ट है, सदा उल्लसित रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञानके समान बीच-बीचमें हीनाधिक नही होता है, दिशाओ और कालोके विभागसे रहित है—वह सब दिशाओ और सब कालोकी बातको जानता है, अकेला है, क्षायोपशमिक ज्ञान तो एक साथ दो से

लेकर चार तक स्थित रह सकते हैं, परन्तु केवलज्ञान सदा अकेला ही रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञान क्रिया तथा कर्ता-कर्म आदि कारकोंके चक्रमें उलझा रहता है, परन्तु केवलज्ञान, वीतराग-विज्ञान होनेके कारण इस चक्रसे बहिर्भूत रहता है। क्षायोपशमिक ज्ञान विभावरूप होता है, परन्तु केवलज्ञान स्वभावरूप होता है, क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती होता है, परन्तु केवलज्ञान अक्रमवर्ती है—एक साथ पदार्थोंको जानता है तथा क्षायोपशमिक ज्ञान अपने विषयक्षेत्रमें स्थित पदार्थको ही जानता है परन्तु केवलज्ञान सब ओरकी बातोंको जानता है ॥१९॥

प्रवर्तते नैव न चातिवर्तते स्वभाव एवोदयते निराकुलम् ।
अपेलवोल्लासविलात्म(स)मांसलस्वशक्तिसम्भारभृतं भवन्महः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(अपेलवोल्लासविलासमांसलस्वशक्तिसम्भारभृत) अविरल उल्लास—अनन्त सुखके विलाससे परिपुष्ट स्वकीय शक्तियोंके समूहसे अथवा आत्मवीर्यके समूहसे धारण किया हुआ (भवन्मह) आपका तेज—केवलज्ञानरूप प्रताप (नैव प्रवर्तते) न प्रवृत्त होता है (च) और (न अतिवर्तते) न अतिवर्तन करता है, किन्तु (निराकुल 'यथा स्यात्तथा) निराकुल रूपसे (स्वभाव एव) स्वभावमे ही (उदयते) उदित होता है—प्रकट होता है—वह आपका स्वभाव ही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जो केवलज्ञानरूप तेज है वह क्रम क्रमसे पदार्थोंको न जाननेके कारण प्रवर्तन नही करता और एक साथ सबको जान लेनेसे उससे अतिरिक्त पदार्थोंको जाननेका विकल्प ही नही रहता। यह अकेला ही प्रकट नही होता किन्तु अनन्त सुखसे परिपुष्ट अनन्त शक्तियोंके समूहके साथ प्रकट होता है। अथवा आत्मशक्ति—आत्मवीर्यके साथ प्रकट होता है। केवलदर्शन, केवलज्ञानका सहभावी है ही। इस प्रकार आपका अनन्त चतुष्टयरूप तेज स्वभावरूपमे ही उदित होता है तथा मोहका क्षय हो जानेसे वह निराकुलरूपमें उदित होता है ॥२०॥

भृतोऽपि भूयो भ्रियसे स्वधामभिः स्वतः प्रतृप्तोऽपि पुनः प्रतृप्यसि ।
असीमवृद्धोऽपि पुनर्विवर्द्धसे महिम्नि सीमैव न वा भवादृशाम ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! आप (स्वजामभि) आत्मतेजसे (भृतोऽपि सन्) परिपूर्ण होकर भी (भूय) पुन (भ्रियमे) परिपूर्ण हो रहे है, (स्वत) स्वय (प्रतृप्तोऽपि 'सन्) अत्यन्त तृप्त होकर भी (पुन) फिरसे प्रतृप्यसि) अत्यन्त तृप्त हो रहे हैं और (असीमवृद्धोऽपि 'सन्') अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होकर भी (पुन) फिरसे (विवर्द्धसे) अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हो रहे है (वा) अथवा ठीक ही है क्योंकि (भवादृशाम्) आप जैसे महानुभावोकी (महिम्नि) महिमामे (सीमा एव न) सीमा ही नही रहती।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जिन ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणोसे परिपूर्ण हो रहे हैं उनसे आप सदासे ही परिपूर्ण है, क्योंकि कोई गुण न नवीन उत्पन्न होता है और न विनाशको प्राप्त है, परन्तु जिस प्रकार द्रव्यकी पर्याय उपजती और विनशती है उसी प्रकार गुणकी भी पर्याय उपजती और विनशती है। एतावता आपके जो ज्ञान दर्शन आदि गुण पहले क्षायोपशमिक पर्यायमें थे अब उनकी क्षायिक पर्याय प्रकट हुई है। क्षायोपशमिक पर्यायमें वे गुण अल्प-रूपमें विकसित

१ 'पेलव विरल तनु' इत्यमर न पेलव अपेलव अविरल इत्यर्थ ।

थे अब क्षायिक पर्यायमें परिपूर्णरूपसे प्रकट हुए हैं। इसी अभिप्रायको लेकर यहाँ कहा गया है कि आप अपने तेजसे यद्यपि परिपूर्ण थे फिर भी इस समय अधिक परिपूर्ण हो रहे हैं, स्वयं ही सुखी थे फिर भी इस समय अधिक सुखी हो रहे है और पहलेसे ही असीम वृद्धिसे सहित थे फिर भी इस समय विशेषरूपसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं। परमार्थ यह है कि आपकी महिमाकी कोई सीमा ही नही है, वह सर्वथा सीमासे रहित है ॥२१॥

त्वमात्ममाहात्म्यनिराकुलोऽपि सन्न तीक्ष्णतां मुञ्चसि देव जातुचित् ।
सदैव यत्तैक्ष्ण्यमुदेति दारुणं तदेव माहात्म्यमुशन्ति सविद ॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (त्वम्) आप (आत्ममाहात्म्यनिराकुलः अपि सन्) आत्माकी महिमासे निराकुल होते हुए भी (जातुचित्) कभी (तीक्ष्णतां) तीक्ष्णता अर्थात् सब पदार्थोंको जाननेकी शक्तिको (न मुञ्चसि) नही छोड़ते हैं। सो ठीक ही है, क्योकि (यत्) जो (सदैव) सदा ही (दारुण) कठिन (तैक्ष्ण्यम्) तीक्ष्णता (उदेति) उदित होती है—प्रकट रहती है (तदेव) उसीको ज्ञानी जन (सविदः) सम्यग्ज्ञानका (माहात्म्यं) माहात्म्य (उशन्ति) चाहते हैं या कहते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! ससारी जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान मोहसे युक्त होनेके कारण अकुलतासे परिपूर्ण रहता है, क्योकि मोहके उदयमे अज्ञात वस्तुको जाननेकी इच्छा रहती है और विस्मृत वस्तुके भूल जानेका दु ख रहता है। क्रमवर्ती होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको जाननेकी क्षमता नही रखता है। इस प्रकार उसका आकुलताके साथ सदा सम्बन्ध रहता है। साथ ही मोहसहित अवस्थामे ज्ञान गुणका चरम विकास होता भी नही है। ज्ञान गुणमे जो तीक्ष्णता है—समस्त पदार्थोंको एक साथ जाननेकी जो शक्ति है वह मोह रहित केवलज्ञानमे ही विकसित होती है, अन्य ज्ञानोमे नही। इस समय आपका ज्ञान गुण केवलज्ञानरूपमे चरम विकासको प्राप्त हुआ है, अत उसमे अत्यधिक तीक्ष्णता सर्वग्राहिता स्वयं प्रकट हुई है। यह सर्वं ग्राहिता ही केवलज्ञानकी अपूर्व महिमा है। यतः आप इस केवलज्ञानसे युक्त है अतः निराकुल है ॥२२॥

अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि त्वयि स्वयं स्फूर्जति पुष्कलौजसि ।
समक्षसंवेदनपूतचेतसां कुतस्तमःकाण्डकथैव मादृशाम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि) जिनका शान्त तेज निरन्तर उत्तेजित है—प्रकाशित है तथा (पुष्कलौजसि) जिनका ओज पुष्कल—परिपूर्ण है ऐसे (त्वयि) आपके (स्वयं) अपने आप (स्फूर्जति सति) प्रकाशमान रहते हुए (समक्षसवेदनपूतचेतसाम्) प्रत्यक्ष स्वसंवेदन-ज्ञानसे पवित्र चित्तवाले (मादृशाम्) मुझ जैसे लोगोके (तमःकाण्डकथा एव) अन्धकार-अज्ञान-तिमिररूप परदाकी कथा ही (कुत) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका तेज अत्यन्त शान्त है, आपके सान्निध्यमे जन्मविरोधी जीव भी अपना वैरभाव छोडकर शान्तिसे रहते हैं, आपका यह शान्त तेज निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। साथ ही आपका प्रताप भी लोकोत्तर है जिससे शत इन्द्र निरन्तर आपको वन्दना करते हैं। आपकी यह प्रभुता आपमे स्वयं प्रगट हुई है-आत्मपुरुषार्थसे ही आप इस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए है। अत. आपके विद्यमान रहते हुए मुझ जैसे लोगोको हृदयमे अज्ञानरूपी परदाकी कथा ही समाप्त हो गयी है, क्योंकि हमारा हृदय स्वसवेदन प्रत्यक्षसे पवित्र हो चुका है–

आत्मानुभूतिसे समलकृत हो चुका है, उसपर अब अज्ञानरूप परदा नही पड़ सकता है। जिस प्रकार तेज पुञ्जसे समुद्भासित सूर्यके रहते हुए अन्धकारकी सभावना नही रहती उसी प्रकार प्रशान्त तेजसे सुशोभित और लोकोत्तर प्रभावसे परिपूर्ण आपके विद्यमान रहते हुए अज्ञानरूप अन्धकारकी संभावना नही है।

हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि विश्वस्पृशि साम्प्रतं मम।
अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विषस्तमो दिगन्तेष्वपि नावतिष्ठते ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विष) जिनकी कान्ति समस्त दिशाओके समूहमे व्याप्त हो रही है ऐसे आपकी (हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि) हठपूर्वक प्रकट होनेवाली चैतन्यरूप कालिकाओसे युक्त तेजकी महिमा जब (साम्प्रत) इस समय (विश्वस्पृशि) समस्त विश्वका स्पर्श कर रही है—समस्त लोकालोकको जान रही है तब (मम) मेरी आत्माकी बात तो दूर रही (दिगन्तेष्वपि) दिशाओके अन्तमे भी (तम) अन्धकार (न अवतिष्ठते) अवस्थित नही है—शेष नही रहा है।

भावार्थ—जिसका प्रचण्ड तेज समस्त दिशाओमे व्याप्त हो रहा है ऐसे सूर्यके विद्यमान रहते हुए जिसप्रकार दिग्दिगन्तमे अन्धकार शेष नही रहता उसी प्रकार जिनके केवलज्ञानकी ज्योति समस्त दिशाओमे व्याप्त हो रही है ऐसे चैतन्य तेजकी महिमासे सुशोभित आप विश्वदर्शी के विद्यमान रहते हुए न मेरी आत्मामे अज्ञानान्धकार शेष रहा है और न समस्त दिशाओमे भी बाकी रहा है। तात्पर्य यह है कि आपके सान्निध्यमे जिस प्रकार मेरा स्वविषयक अज्ञान दूर हो गया है उसी प्रकार पर विषयक अज्ञान भी दूर हो गया है। प्रभो ! आपके प्रतापसे मुझे स्वपरका यथार्थ ज्ञान हो गया है ॥२४॥

समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान् जगद्वराकं स्खलदेकचित्कणम्।
तवानुभूतिर्भवतैव योऽथवा भवेत्तवानुग्रहबृंहितोदयः ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवान्) आप (समन्तत) सब ओरसे (चिद्भरनिर्भर) चैतन्यके भारसे परिपूर्ण है और (वराक जगत्) बेचारा संसार अर्थात् ससारका शक्तिहीन प्राणी (स्खलदेकचित्कणम्) स्खलित होनेवाले एक चैतन्यके कणसे युक्त है—अत्यन्त अज्ञानी है. अत (तव अनुभूति) आपका अनुभव आपकी महिमाका आकलन (भवतैव) आपके द्वारा ही किया जा सकता है (अथवा) अथवा (य) जो (तव) आपके (अनुग्रहबृहितोदय भवेत्) अनुग्रहसे बृहितोदय हो—बढे हुए अभ्युदयसे महित हो (तेन) उसके द्वारा किया जा सकता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप विश्वदर्शी है, सर्वज्ञ है और ससारके प्राणी अत्यन्त अल्प क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक है, उनमे इतनी क्षमता कहा है कि वे आपकी अनुभूति कर सकें—आपके सर्वज्ञ स्वभावका अपनी बुद्धिमे अंकित कर सकें, अत आपकी पूर्ण प्रभुताका अनुभव आपके ही द्वारा किया जा सकता है, दूसरेके द्वारा नही। अथवा आपके अनुग्रहसे—आपकी ध्यानाराधनासे जिसका अभ्युदय वृद्धिको प्राप्त हुआ है जिसने स्वय सर्वज्ञ दशा प्राप्त कर ली है उसके द्वारा किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि हे प्रभो ! मुझ अल्पज्ञानीके द्वारा आपकी स्तुतिका होना संभव नही है ॥२५॥

ॐ

उपजातिवृत्तम्

(८)

अनादिरक्तस्य तवायमासीत् य एव संकीर्णरसः स्वभावः ।
मार्गावतारे हठमार्जितश्रीस्त्वया कृतः शान्तरसः स एव ॥१॥

अन्वयार्थ—(अनादिरक्तस्य) अनादि कालसे रागी अवस्थाको प्राप्त हुए (तव) आपका (य एव अयम्) जो यह (संकीर्णरस) नानारसोसे संकीर्ण (स्वभाव) स्वभाव (आसीत्) था (स एव) वही (मार्गावतारे 'सति') मोक्षमार्गमे उतरनेपर त्वया) आपके द्वारा (हठम्) हठपूर्वक (आर्जितश्री') आभ्यन्तर लक्ष्मीसे युक्त (शान्तरस' कृत) शान्तरस कर दिया गया। रसों से शान्त (रहित

भावार्थ—जैन सिद्धान्त, अनादि सिद्ध ईश्वरकी सत्ताको स्वीकृत नही करता है। उसकी मान्यता है कि जो अनादि कालसे कर्ममलके द्वारा आच्छादित चला आ रहा है वही अपनी साधनासे कर्ममलको दूर कर वीतराग अवस्थाको प्राप्त करता है। जब वह वीतराग बन जाता है तब अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे सर्वज्ञ बन जाता है। हे भगवन्! जब आप सराग अवस्थामे थे तब आपका स्वभाव शृगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत इन आठ रसोसे संकीर्ण था। जब कभी कषायोमे मन्दता होती थी तब कुछ समयके लिये शान्तरससे भी युक्त हो जाता था। परन्तु जबसे आपने मोक्षमार्गमे अवतरण किया तबसे उस स्वभावको एक शान्त रसरूप कर लिया। पहलेकी तरह अब यह शान्तरस क्षणस्थायी और हीन नही है, किन्तु त्रिकालस्थायी और सब ओरसे श्रीसम्पन्न है ॥१॥

अबाधितस्तत्त्वविदा विमुक्तेरेकः कषायक्षय एव हेतुः ।
अयं कषायोपचयस्य बन्धहेतोर्विपर्यस्ततया त्वयेष्टः ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वविदा त्वया) आप तत्त्वज्ञके द्वारा (बन्धहेतो कषायोपचयस्य) बन्धके कारण कषायसमूहके (विपर्यस्ततया) विपरीत होनेसे (अयम् एक कषायक्षय एव) यह एक कषायका क्षय ही (विमुक्ते) मुक्तिका (अबाधित) निर्बाध (हेतु) कारण (इष्ट) स्वीकृत किया गया है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञाता है, अत आपने कषायक्षयको ही मोक्षका कारण माना है और कषाय सचयको बन्धका कारण स्वीकृत किया है।

एकः कषायानभिषेणयंस्त्वं नित्योपयुक्तश्चतुरङ्गकर्षी ।
सर्वाभियोगेन समं व्यवस्यन्नेकोऽप्यनेकः कलितः कषायैः ॥३॥

अन्वयार्थ—(कषायान् अभिषेणयन् त्वम् एकः) कषायों पर विशुद्ध परिणामरूप सेना द्वारा आक्रमण करते हुए आप यद्यपि एक थे तथापि (नित्योपयुक्तः) आप उनसे निरन्तर जूझते रहे, (चतुरङ्गकर्षी) चारों ओरसे उन्हे खीचते रहे और (सर्वाभियोगेन) पूर्णशक्तिके (समं) साथ (व्यवस्यन्) उन्हें नष्ट करनेका उद्यम करते रहे अतः (एकोऽपि) एक होनेपर भी (कषायैः) कषायोने आपको (अनेकः) अनेक (कलितः) समझा।

भावार्थ—जिस प्रकार चारो ओर प्रबल प्रहार करनेवाला सुभट एक होनेपर भी शत्रुओ-के द्वारा अनेक समझा जाता है उसी प्रकार चारो ओरसे कषाय शत्रुओंपर प्रहार करनेवाले आपको कषायोने समझा था कि यह एक नही, किन्तु अनेक हैं। कषायके चार भेद है—अनन्तानु बन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। इनमेसे मिथ्यात्वके साथ अनन्तानुबन्धीको नष्टकर आपने चतुर्थ गुणस्थानमे प्रवेश किया था। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणको नष्टकर सयम धारण करते हुए सातवें और छठवें गुणस्थानमे पदार्पण किया। तदनन्तर सञ्ज्वलनकी चौकडीको नष्ट करनेके लिये उसपर क्षपकश्रेणी द्वारा एक साथ आक्रमण कर दिया जिससे नवम गुणस्थानमे आपने सञ्ज्वलन क्रोध, मान और मायाको नष्ट किया। पश्चात् शेष रहे संज्वलनसम्बन्धी लोभको दशम गुणस्थानमे नष्ट कर बारहवें गुणस्थानमे पदार्पण किया। आपने कषायोको नष्ट करनेके लिये जो अभियान किया था उसमे अपनी पूर्ण शक्ति लगा दी थी। निरन्तर उसी ओर आपका उपयोग रहता था। इस क्रियामे यद्यपि आप एक थे तथापि मानो कषायें समझती थी कि एक व्यक्ति इतनी क्षमता नही रख सकता, अत यह अनेक है ॥३॥

मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहारैः पलायितव्याघुटितैर्मिलद्भिः।
तवाप्रकम्प्योऽपि दृढैः कषायैः स्वशक्तिसारस्तुलितः प्रघृष्य ॥४॥

अन्वयार्थ—(मुहुर्मुहुः वञ्चितचित्प्रहारैः) जिन्होने बार-बार चैतन्यके प्रहारको वञ्चित किया है—व्यर्थ सिद्ध किया है, तथा जो (पलायितव्याघुटितैः मिलितैः) भागकर पुनः वापिस लौटकर मिले है—एकत्रित हुए है ऐसे (दृढैः कषायैः) अत्यन्त बलिष्ठ कषायोने (तव) आपके (अप्रकम्प्योऽपि) कम्पन रहित—सुदृढ (स्वशक्तिसार) स्वकीय शक्तिके सारको (प्रघृष्य) घिस घिस कर (तुलितः) तोला है ॥४॥

भावार्थ—हे भगवन्! उपशम श्रेणिमे प्रवेशकर आपने अपने चैतन्यशस्त्रसे कषायरूपी शत्रुओं पर प्रहार किया तो नही, परन्तु वे अन्तर्मुहूर्तवाद फिरसे सचेत हो गये। इस प्रकार कितनी ही बार वे भागे और लौटकर पुन. वापिस मिले। उन कषायोने आपकी अकम्प्य शक्तिको जीतनेका पुरजोर प्रयत्न किया।

प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं लब्धान्तरं सम्यगविक्लवेन।
त्वयाथ तेषां विहितः प्रहारः प्रसह्य सर्वंकष एक एव ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (प्रतिक्षण स्ववीर्य सस्पृशता) जो प्रत्येक क्षण अपने बलका स्पर्श कर रहे थे—आत्मशक्तिकी ओर जिनकी दृष्टि थी तथा जो (अविक्लवेन) अत्यन्त निर्भीक

थे ऐसे (त्वया) आपने (सम्यक्) अच्छी तरह (अन्तरं लब्ध्वा) अवकाश पाकर (तेषां) उन कषायों-के ऊपर (प्रसह्य) बलपूर्वक (सर्वंकष·) समूल नाश करनेवाला (एक एव प्रहार· विहित) एक ही प्रहार किया।

भावार्थ—हे भगवन्! उपशमश्रेणीमे कषायरूपी शत्रुओंसे पराजय प्राप्तकर आपने अपने अनन्त बलकी ओर ध्यान देते हुए विचार किया कि मै अनन्त बलका स्वामी होकर भी इनसे परास्त कैसे हो गया? ज्योही आपने अनन्त बलकी ओर लक्ष्य किया त्योंही आपका सब भय दूर हो गया और आपने अच्छी तरह अवसर पाकर उन कषायो पर एक ही ऐसा प्रहार किया कि उनका समूल नाश हो गया। क्षपकश्रेणीकी महिमा ही अद्वितीय है ॥५॥

साक्षात् कषायक्षपणक्षणेऽपि त्वमुद्वहन् केवलबोधलक्ष्मीम्।
विश्वैकभोक्ता जिनपौरुषस्य प्रभावमाविष्कृतवान् परेषाम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(कषायक्षपणक्षणेऽपि) कषायोका क्षय करते ही जिन्होने (साक्षात्) प्रत्यक्षरूपसे (केवललक्ष्मी) केवललक्ष्मीके साथ (उद्वहन्) विवाह किया था—जो केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे युक्त हुए थे तथा जो (विश्वैकभोक्ता) समस्त पदार्थोके अद्वितीय भोक्ता—ज्ञाता थे ऐसे (त्वम्) आपने (परेषाम्) अन्य लोगोंके सामने (जिनपौरुषस्य) अरहन्तके पुरुषार्थका (प्रभाव) प्रभाव (आविष्कृतवान्) प्रकट किया था।

भावार्थ—सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानके अन्तमे कषायोका समूल क्षय होते ही यह जीव क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमे प्रवेश करता है और वहाँ शुक्लध्यानके द्वितीय भेदके प्रभावसे शेष तीन घातिया कर्मोका क्षयकर तेरहवें गुणस्थानमे प्रवेश करता है। वहाँ लोकालोकावभासी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी उसे प्राप्त होती है। वह नव केवल लब्धियोका स्वामी हो जाता है और समस्त तत्त्वोका ज्ञाता होनेसे विश्वका एक—अद्वितीय भोक्ता कहलाने लगता है। इस प्रकार हे भगवन्! ससारके अन्य तापसियोके सामने आपने अरहन्तके पौरुषका प्रभाव प्रकट किया था—उन्हे बताया कि अरहन्तके आत्मपौरुषका यह फल है ॥६॥

आयुःस्थितिं स्वामवशोपभोग्यां ज्ञानैकपुञ्जोऽप्यनुवर्तमानः।
प्रदर्शयन् वर्त्म शिवस्य साक्षाद्धिताय विश्वस्य चकर्थ तीर्थम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानैकपुञ्ज अपि सन्) ज्ञानके अद्वितीय पुञ्ज होते हुए भी जो (अवशोपभोग्या) परवश भोगनेयोग्य (स्वाम्) अपनी (आयु·स्थिति) आयुकी स्थितिका (अनुवर्तमानः) अनुवर्तन कर रहे थे—उसकी समाप्तिकी प्रतीक्षा कर रहे थे तथा (विश्वस्य) ससारके (हिताय) हितके लिये (शिवस्य) मोक्षका (साक्षात् वर्त्म) साक्षात् मार्ग (प्रदर्शयन्) दिखला रहे थे ऐसे आपने (तीर्थं चकर्थ) धर्मतीर्थको प्रवृत्त किया था।

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थानमे अरहन्त भगवान् यद्यपि ज्ञानके पुञ्ज हो जाते है और जीवन्मुक्त कहलाने लगते है तथापि आयु कर्मकी स्थितिके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते है। ससारमे रहना यद्यपि उन्हे इष्ट नही है तथापि आयुकर्मकी पराधीनतासे उन्हे रहना पड़ता है। तेरहवें गुणस्थानका काल एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है उतने समय तक उन्हे

परवश होकर इसी मनुष्य पर्यायमें रहना पडता है। इस समय वे संसारस्थ जीवोके हितके लिये मोक्षका साक्षात् मार्ग—भेदाभेद रत्नत्रय दिखलाते हुए धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करते हैं। इसी कारण तीर्थकर कहलाते है ॥७॥

तीर्थाद्भवन्तः किल तद् भवद्भ्यो मिथो द्वयेषामिति हेतुभावः ।
अनादिसन्तानकृतावतारश्चकास्ति बीजाङ्कुरवत्किलायम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (भवन्त) आप (तीर्थात्) तीर्थसे और (तत्) वह तीर्थ (भवद्भ्य) आपसे उत्पन्न होता है। (इसी) इस प्रकार (द्वयेषा) दोनोका (मिथ) परस्परमे (हेतु-भाव) कारणकार्य-भाव है और (किल) वास्तवमे (अयम्) यह (बीजाङ्कुरवत्) बीज और अकुरके समान (अनादिसन्तानकृतावतार) अनादि सन्ततिसे अवतरण करता हुआ (चकास्ति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—'तरन्ति ससारसागर भव्यो येन तत्तीर्थ' जिसके द्वारा भव्य जीव ससार सागरको पार कर ले उसे तीर्थ कहते है। यह तीर्थ भेदाभेद रत्नत्रयरूप है, क्योकि उसीके द्वारा भव्य जीव ससार सागरसे पार होते है। इस भेदाभेद रत्नत्रयरूप तीर्थके प्रभावसे ही यह जीव तीर्थकर बनता है और तीर्थकरसे ही तीर्थकी प्रवृत्ति होती हे इस प्रकार दोनोम बीज और अंकुरके समान अनादिकालसे परस्पर कार्य-कारणभाव चला आ रहा है ॥८॥

समस्तमन्तः स्पृशतापि विश्वं वक्तुं समस्तं वचसामशक्तेः ।
प्रत्यक्षद्रष्ट्राऽखिलभावपुञ्जादनन्तभागो गदितस्त्वयैकः ॥९॥

अन्वयार्थ—(समस्त विश्व अन्तः स्पृशतापि) जो समस्त विश्वका अन्तरात्मामे स्पर्श कर रहे है अर्थात् जिनकी अन्तरात्मामे समस्त विश्व प्रतिभासित हो रहा है और जो (प्रत्यक्षद्रष्ट्रा) समस्त विश्वको प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं ऐसे होनेपर भी (त्वया) आपके द्वारा (समस्त विश्व वक्तु वचसामशक्त) समस्त विश्वको कहनेके लिये वचनोकी शक्ति न होनेके कारण (अखिलभावपुञ्जात्) समस्त पदार्थोके समूहमेस (एक अनन्तभाग) एक अनन्तवा भाग (गदित) कहा गया है।

भावार्थ—ससारमे पदार्थ अनन्त है, परन्तु शब्द संख्यात ही है। केवलज्ञानमे अनन्त पदार्थ प्रतिभासित तो होते है, परन्तु शब्दोकी सख्या सीमित होनेसे वे शब्दोके द्वारा कहे नही जा सकते। यही कारण है कि हे भगवन्! आप समस्त पदार्थोके प्रत्यक्ष द्रष्टा होकर भी शब्दोकी अशक्तिके कारण वे कहे नही जा सकते, इसलिये आपने समस्त पदार्थोका अनन्तवा भाग ही कहा है ॥९॥

भिन्दंस्तमोऽनादिदृढप्ररूढं महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचित्तै ।
तवैव वक्त्रादवधारितोऽय सुरासुरैर्द्व्यात्मकवस्तुवादः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचित्तै) महान् आश्चर्यकारक अतिशयोसे जिनके उन्नत चित्त चकित हो गये है ऐसे (सुरासुरै) देव और दानवोने (अनादिदृढप्ररूढ) अनादि कालसे मजबूत जमे हुए (तमो भिन्दन्) अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला (अय) यह (द्व्यात्मकवस्तुवादः) विधि-निषेधात्मक वस्तुवाद—पदार्थके अस्ति-नास्ति धर्मको निरूपण करनेवाला स्याद्वाद (तवैव) आपके ही (वक्त्रात्) मुखसे (अवधारित) निश्चित किया है।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ विधि और निषेध इन दो धर्मोंसे सहित है इसीलिये उसमे नित्य अनित्य, एक अनेक, अस्ति नास्ति, भेद अभेद, तत् अतत् आदि अनेक धर्मोंका समावेश है। इन परस्पर विरोधी धर्मोंका समावेश स्याद्वादसे ही होता है। यह स्याद्वाद, इस जीवके अनादिकालसे जमे हुए अज्ञानतिमिरको नष्ट कर देता है। हे भगवन् ! इस स्याद्वादका उपदेश आपके ही मुखारबिन्दसे हुआ है। और मनुष्योंकी तो बात ही क्या है देव दानवोंने भी उसे निर्णीत कर हृदयमे धारण किया है ॥१०॥

वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्रीः ।
श्रुत्वापि कैश्चित् समुदायबोधशुद्धाशयैरेव धृतस्तदर्थः ॥११॥

अन्वयार्थ—(कृतचित्रमार्गा:) नाना नयोंकी अपेक्षा जिन्होने वस्तुनिरूपणकी विविध पद्धतियोको प्रकट किया है और जो (प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्री) प्रत्येक तीर्थ—एक एक धर्मका ज्ञान करानेवाली है ऐसी (ते) आपको (वाग्विप्रुष) वाणीरूप बूंदो—अशोको (श्रुत्वापि) सुनकर भी सब लोग उसके अर्थको धारण नही कर पाते, किन्तु (समुदायबोधशुद्धाशयै) परस्पर विरोधी धर्मसमूहके ज्ञानसे जिनका आशय शुद्ध हो गया है ऐसे (कैश्चिद एव) कुछ लोगोंके द्वारा ही (तदर्थ) उसका अर्थ (धृत) धारण किया गया है।

भावार्थ—ऊपर कहा गया था कि हे भगवन् ! आपने जितने पदार्थोको जाना है उनका अनन्तवा भाग ही शब्दोके द्वारा कहा जाता है, क्योकि शब्दोमे समस्त पदार्थोके कहनेकी सामर्थ्य नही है। यहाँ यह कहा जा रहा है, कि हे भगवन् ! आपने जितना कुछ कहा था उसकी धारणा सब लोग नही कर सके, किन्तु परस्पर विरोधी धर्मसमूहके ज्ञानसे जिनका हृदय शुद्ध है—एकान्तवादके विषसे दूषित नहीं है ऐसे कुछ ही लोग उसे ग्रहण कर सके है ॥११॥

विपक्षसापेक्षतयैव शब्दाः स्पृशन्ति ते वस्तु विरुद्धधर्म ।
तदेकदेशेऽपि विशीर्णसारा स्याद्वादमुद्राविकलाः स्खलन्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(विपक्षसापेक्षतया) विरोधी धर्मसे सापेक्ष होनेके कारण ही (ते शब्दा) आपके शब्द (विरुद्धधर्म) विरुद्ध धर्मोसे युक्त (वस्तु) वस्तुका (स्पृशन्ति) स्पर्श करते है, क्योंकि (स्याद्वादमुद्राविकला) स्याद्वादकी मुद्रासे रहित (शब्दा) शब्द (तदेकदेशेऽपि) वस्तुके एक देशमे ही (विशीर्णसारा: 'सन्त') शक्तिके बिखर जानेसे (स्खलन्ति) स्खलित हो जाते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारके प्रत्येक पदार्थ परस्परविरोधी सत् असत्, तत् अतत् आदि धर्मो से युक्त है। उन्हे वे ही शब्द कह सकते है जो कि परस्पर विरोधी धर्मसे सापेक्ष होते है अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वस्तुके सत् और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा असत् कहते है। यह विशेषता आपके ही शब्दोंमे है, क्योकि वे ही स्याद्वाद मुद्रासे चिह्नित है। इसके विपरीत जो एकान्तवादसे दूषित है वे वस्तुके एक देशका निरूपण करनेमे ही अपनी सारी शक्ति समाप्त कर देते है, अत वस्तुके द्वितीय देश—अन्य धर्मको कहनेके लिये स्खलित हो जाते है—समर्थ नही हो पाते है ॥१२॥

इयं मदित्युक्तिरपेक्षते सद्व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः ।
जगत्समक्षं सहसैव जहुः स्वभावसीमानमथान्यथार्थाः ॥१३॥

अन्वयार्थ—('सत्' इति इयं उक्तिः) 'सत्' इस प्रकारका जो यह कथन है वह (सद्व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्ती) असत्से युक्त सत्प्रवृत्तियोंकी (अपेक्षते) अपेक्षा रखता है अर्थात् किसी पदार्थको सत्‌रूप कहना उसके असत्‌रूप कहनेकी अपेक्षा रखता है। (अथ) यदि (अन्यथा) इसके विपरीत माना जावे तो (अर्था.) संसारके पदार्थ (जगत्समक्षा) समस्त संसार जिसका प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है ऐसी (स्वभावसीमानम्) अपने स्वभावकी सीमाको (सहसैव) शीघ्र ही (जह्यु.) छोड़ दें।

भावार्थ—'पदार्थ सत् है' यह कथन 'पदार्थ असत् है' इस विरोधी कथनकी अपेक्षा रखता है अर्थात् एक ही पदार्थ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत्‌रूप है और पर चतुष्टयकी अपेक्षा असत्‌रूप है। ससारके पदार्थोंका ऐसा ही स्वभाव जगत्‌के प्रत्यक्ष हो रहा है—सबके अनुभवमे आ रहा है। यदि इसके विपरीत पदार्थको सत् अथवा असत्‌मेंसे एकरूप ही माना जावे तो सब पदार्थ अपने स्वभावकी सीमाको छोड देंगे और स्वभावसीमाके छूटनेसे स्वभाववान् पदार्थका नाश भी स्वय सिद्ध हो जावेगा ॥१३॥

सर्वं सदित्यैक्यमुदाहरन्ती कृत्वापि सद् भेदमसंहरन्ती।
न सत्तया पीयत एव विश्वं पीयेत सत्तैव यदीश तेन ॥१४॥

अन्वयार्थ—(सर्वं सद्) 'समस्त पदार्थ सत्‌रूप हैं' इस प्रकार सबको (सत् कृत्वापि) सत्‌रूप करके भी (ऐक्य उदाहरन्ती) एकत्वका निरूपण करनेवाली उक्ति (भेद असहरन्ती) भेदका निराकरण नही करती है। अर्थात् जो उक्ति 'सत् है' इस प्रकार कह कर समस्त पदार्थोंमे एकता स्थापित करती है, वह भेदका निराकरण नही करती है। किसी अपेक्षा भेदको भी स्वीकृत करती है। (यत्) क्योंकि (ईश) हे स्वामिन्! (विश्व नैव पीयते) समस्त विश्व नही पिया जाता, किन्तु (तेन) विश्व के द्वारा (सत्तैव) सत्ता ही (पीयेत) पियी जाती है।

भावार्थ—सत्ता गुण है और विश्व गुणी है। सत्ता एक गुणरूप है, परन्तु विश्व अनेक गुणो का समूह है, अत. जब सत्ता गुणकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब एकरूपताका अनुभव होता है, परन्तु जब विश्वकी अपेक्षा विचार होता है तब अनेक रूपताका बोध होता है। तात्पर्य यह है कि एकत्व और अनेकत्व—दोनो ही परस्पर सापेक्ष है ॥१४॥

सत्प्रत्ययः संस्पृशतीश विश्वं तथापि तत्रैकतमः स आत्मा।
असन् स सन्नन्यतयाभिधत्ते द्वैतस्य नित्यप्रविजृम्भितत्वम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन्! (सत्प्रयय) 'यह सत् है' इस प्रकारका प्रत्यय यद्यपि (विश्वं) विश्वका (संस्पृशति) सम्यक् प्रकारसे स्पर्श करता है—उसका बोध कराता है (तथापि) तो भी (तत्र) उस विश्वमे (स आत्मा) वह आत्मा (एकतम) एक ही है अर्थात् आत्मा समस्त विश्वका एक अ श ही है। इस प्रकार (असन्) असद्रूप और (सन्) सद्रूप वह आत्मा (अन्यतया) अन्यरूपताके कारण (द्वैतस्य) द्वैतके (नित्यविजृम्भितत्वं) नित्यविस्तारको (अभिधत्ते) कहता है।

भावार्थ—सत्‌सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि विश्वको एक कहा जाता है, तथापि जो विश्व है वही आत्मा नही कहा जा सकता, क्योंकि लोक अलोकके समुदायरूप विश्वमे आत्मा एक अ श रूप ही है अर्थात् आत्मा है पर वह विश्व नही है। यदि आत्माको ही विश्व मान लिया जाता है

तो उसमे रहनेवाले पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालका अभाव सिद्ध होना है जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेके कारण ग्राह्य नही हो सकता। फलस्वरूप आत्मा स्वरूपकी अपेक्षा 'सत्'—सद्रूप है और विश्वकी अपेक्षा 'असत्' असद्रूप है। इस प्रकार सत् और असत् इन दो विरोधी धर्मोंसे युक्त होनेके कारण आत्मा, यह सूचित करता है कि विश्वमे एकरूपता ही नही है साथमे अनेकरूपता भी है ॥१५॥

पिबन्नपि व्याप्य हठेन विश्वं स्खलन् किलायं स्वपरात्मसीम्नि ।
विश्वस्य नानात्वमनादिसिद्धं कथं भुवि ज्ञानघनः प्रमार्ष्टि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (हठेन) हठपूर्वक (विश्वं पिबन्नपि) समस्त विश्वको जानता हुआ भी (स्वपरात्मसीम्नि) निज और परकी सीमामे (स्खलन्) स्खलित विभक्त होनेवाला (अयं) यह (ज्ञानघन) ज्ञानसे परिपूर्ण आत्मा (विश्वस्य) विश्वके (अनादिसिद्ध) अनादिसिद्ध (नानात्व) नानापनको (कथं) किस प्रकार (प्रमार्ष्टि) साफ कर सकता है—नष्ट कर सकता हैं।

भावार्थ—ज्ञानघन आत्मा, अपनी स्वच्छतामे जिस विश्वको जानता है वह उसके लिये पर ज्ञेय है। स्वपरावभासी ज्ञानसे युक्त होनेके कारण आत्मा जिस प्रकार परज्ञेयरूप विश्वको जानता है उसी प्रकार परसे भिन्न स्वको भी जानता है। इस तरह आत्मा विश्वको स्व और परके भेदसे नानारूप सिद्ध करता है। विश्वकी यह नानारूपता आज ही हो गई हो सो बात नही है, किन्तु अनादिसे सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि एक और अनेक ये दो विरोधी धर्म परस्परकी सापेक्षतासे ही सिद्ध होते है, निरपेक्षतासे नही ॥१६॥

सर्वं विदित्वैक्यमपि प्रमार्ष्टुं न चेतनाचेतनतां क्षमेत ।
न संस्कृतस्यापि चिताजडस्य चित्त्वं प्रतीयेत कथञ्चनापि ॥१७

अन्वयार्थ—(सर्वम् ऐक्य विदित्वापि) सबको एकरूप जानकर भी (चेतनाचेतनता) चेतन तथा अचेतनरूपताको (प्रमार्ष्टु) नष्ट करनेके लिये कोई (न क्षमेत) समर्थ नही हो सकता है, क्योकि (सस्कृतस्यापि) अच्छी तरह सस्कार—साज सजावट किये जाने पर भी (चिताजडस्य) चितापर पड़े हुए अचेतन शवमे (कथंचन) किसी भी प्रकार (चित्त्वं) चैतन्य (न प्रतीयेत) प्रतीतिमे नही आ सकता।

भावार्थ—माना कि एकत्वधर्म सबको विषय करता है पर इतने मात्रसे संसारमे जो चेतन और अचेतनकी नानारूपता चली आ रही है वह क्या नष्ट हो जावेगी ? यदि ससारके सब पदार्थ, ऐक्यके विषय होनेमात्रसे चेतन हो जाते है तो चितापर पडे हुए सुसस्कृत शवमे चैतन्य सिद्ध किया जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सामान्यरूपसे सब पदार्थोको एकरूप कहा जाता है तथापि उनमे चेतन और अचेतनके भेदसे अनेकरूपता भी रहती है। एक और अनेक ये दोनो विरुद्ध धर्म परस्पर सापेक्ष ही हैं, निरपेक्ष नही ॥१७॥

प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते ।
अनेकशः शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य विश्वं सममस्खलन्ती ॥१८॥

अन्वयार्थ—जो (अनेकशः) अनेको बार (विश्वं) विश्वको (शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य) अच्छी तरह शब्द मार्गका विषय बनाकर (समम्) एक साथ कथन करनेमे (अस्खलन्ती) नही चूकती है

ऐसी (ते) आपकी (इयम्) यह (निष्ठुरा) कठोर (स्याद्वादमुद्रा) स्याद्वादरूप मुद्रा (हठकारतः) हठपूर्वक (प्रत्यक्षं) सामने (उत्तिष्ठति) उठकर खड़ी होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी स्याद्वादमुद्रा यद्यपि कठोर है तथापि प्रत्येक विचारकके सामने वह आकर खड़ी होती है और प्रत्येक विचारक उसे नतमस्तक होकर स्वीकृत करता है। ससारके समस्त पदार्थ परस्पर विरोधी दो धर्मोसे युक्त है, इनमेसे निरपेक्ष होकर एक धर्मको ग्रहण करनेसे दूसरे धर्मका अभाव सिद्ध होता है। परन्तु जो धर्म उस पदार्थमें विद्यमान है उसका अभाव कैसे स्वीकृत किया जा सकता है ? ऊपर एकरूपता और अनेकरूपताके कई दृष्टान्त देकर पदार्थमे दोनो विरोधी धर्मोको सिद्ध किया गया है। स्याद्वादकी पद्धति सापेक्षवादके सिद्धान्त से एक ही पदार्थमे उन विरोधी धर्मोको सिद्ध करती चलती है, इस दिशामे वह कही स्खलित नही होती है ॥१८॥

अवस्थितिः सा तव देव दृष्टेर्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या ।
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु जातं हि तावन्महदन्तरालम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(देव) हे प्रभो ! (विरुद्धधर्मेषु) विरुद्ध धर्मोमे (या) जो (अनवस्थिति) एकके होकर नही रहना है (सा) वह (तव) आपकी (दृष्टे) दृष्टिकी (अवस्थिति) स्थिरता है—आपके सिद्धान्तकी स्थिरता है (यदि अत्र) यदि इस विषयमे (गिरः स्खलन्ति) वचन स्खलित होते है तो (स्खलन्तु) स्खलित हों, (हि) क्योकि दोनो—आप तथा अन्यकी दृष्टिमे (महान् अन्तराल) बहुत भारी अन्तर—भेद (तावत्) सम्पूर्णरूपसे (जात) सिद्ध हो गया।

भावार्थ—हे भगवन् ! वस्तुमे रहनेवाले नित्य अनित्य, एक अनेक आदि विरोधी धर्मोमेसे एक पर स्थिर हो जाना—एकान्तरूपसे एक ही धर्मको स्वीकृत करना और दूसरे धर्मका निषेध करना यह आपको इष्ट नही है, क्योकि विवक्षावश आप दोनो धर्मोको स्वीकृत करते है। यही आपके स्याद्वाद सिद्धान्तकी विशेषता है। एक ही वस्तुमे दो विरोधी धर्मोको कहनेके लिये यदि शब्दोकी सामर्थ्य नही है तो न रहे पर इतने मात्रसे वस्तुका वस्तुत्व नष्ट नही हो सकता, क्योकि वस्तु अवक्तव्य भी है। तात्पर्य यह है कि आपके स्याद्वाद और अन्य लोगोके एकान्तवादमे महान् अन्तर है ॥१९॥

गिरां बलाधानविधानहेतोः स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव ।
तदङ्किितास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (गिरा बलाधानविधानहेतो) शब्दोमे दृढता स्थापित करनेके लिये (त्वमेव) आपने ही (स्याद्वादमुद्राम्) स्याद्वादमुद्राको (असृज.) रचा है—इस सिद्धान्तका आविर्भाव किया है। इसलिये (तदङ्किता.) उस स्याद्वादमुद्रासे चिह्नित (ते) वे शब्द (अस्खलन्तः) स्खलित न होते हुए (स्वयं) अपने आप (वस्तु) वस्तुको (तदतत्स्वभाव) तत् अतत् स्वभावसे युक्त (वदन्ति) कहते हैं।

हे भगवन् ! हुण्डावसर्पिणीके दोषसे इस समय जो अनेक दर्शन—मत-मतान्तर प्रचलित है उनमे स्याद्वाद सिद्धान्तको आपने ही आविष्कृत किया है। स्याद्वाद सिद्धान्तको स्वीकृत कर वक्ताके

जो वचन निकलते हैं वे अत्यन्त सबल—युक्तियुक्त होते है तथा अजेय रहते है। उस स्याद्वाद-सिद्धान्तसे युक्त वचन ही वस्तुको तत् अतत्, विधि निषेधरूप निरूपित करते है ॥२०॥

परात्मनोस्तुल्यमनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेदफलप्रयासः ।
आयासयन्नप्यपरान् परेषामुपासनीयस्त्वमिहैक आसीः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(तुल्यम्) समानरूपसे (परात्मनोः) निज और परके (अनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेद-फलप्रयासः) अनादिकालीन दुःखकी सन्ततिका भेदन करना ही जिनके प्रयासका फल था ऐसे (एकः त्वम्) एक आप ही (इह) जगत्मे (अपरान्) अन्य दार्शनिकोंको (आयासयन् अपि) आयास-खेद युक्त करते हुए भी (परेषा) दूसरोंके (उपासनीयः) उपासना करनेके योग्य (आसीः) रहे है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका जितना भी प्रयास रहा है वह समानरूपसे स्वपरके दुःखको दूर करनेके लिये रहा है। आपका निरन्तर यही अभिप्राय रहा है कि संसारके भीतर लोग अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होकर दुःखनिवृत्तिके मार्गको नही पा रहे है मै इन्हे किस प्रकार मार्गदर्शन करूँ। इसी अभिप्रायसे प्रेरित हो आपने अपायविचय नामक धर्मध्यानमे लीन हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया था और उसीके उदय कालमे आपने दिव्यध्वनिके द्वारा अज्ञानी जनोको दुःखनिवृत्ति—दुःखसे दूर होनेका मार्ग बतलाया है। इस प्रयासमे आपको अन्य एकान्त-वादियोकी मान्यताका निरसन करना पड़ता है और इससे उन्हे दुःख भी हो सकता है, परन्तु आपका अभिप्राय उन्हे सन्मार्ग दिखानेका ही रहा है। आप समानरूप स्वपरका दुःख दूर करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे है। इस कारण एक आपही ऐसे व्यक्ति है जो दूसरोंके द्वारा उपास-नीय है ॥२१॥

व्यापारयद् दुःखविनोदनार्थमारोपयद् दुःखभरं प्रसह्य ।
परैरधृष्यं जिन शासनं ते दुःखस्य मूलान्यपि कृन्ततीह ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! जो (दुःखविनोदनार्थं) दुःखको दूर करनेके लिये (व्यापार-यत्) चेष्टा करता है और (प्रसह्य) हठपूर्वक (दुःखभर) दुःखके भारको (आरोपयत्) प्राप्त कराता है अर्थात् तपश्चरणादि कष्ट सहन करनेका उपदेश देता है ऐसा (परैः अधृष्यं) दूसरोके द्वारा (अधृष्यं) अधर्षणीय—अजेय (ते) आपका (शासन) शासन—धर्म (इह) इस जगत्मे (दुःखस्य) दुःखके (मूलानि अपि) मूल कारणोको भी अथवा जडोंको भी (कृन्तति) छेदता है—नष्ट करता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके शासनमें तपश्चरण तथा परीषह सहन करने आदिका उप-देश दिया गया है और इस सबके करनेसे तत्काल दुःखका अनुभव भी देखनेमे आता है, परन्तु परमार्थसे आपका शासन दुःख दूर करनेके लिये ही निरन्तर प्रयत्न करता है, वह ससारके क्षणिक सुखोसे दूरकर जीवोको स्थायी आत्मसुख प्राप्त करनेका उपदेश देता है। दार्शनिक दृष्टिसे भी आपका शासन, दूसरे दर्शनकारोके द्वारा अधर्षणीय है—अखण्डनीय है। इस प्रकार आपका शासन दुःखकी जड़ोपर प्रहार करता है। दुःखकी जडें मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। आपके दर्शनमे सर्वप्रथम इन्हे ही नष्ट करनेका उपदेश दिया गया है ॥२२॥

समामृतस्वादविदां मुनीनामुद्यन्महादुःखभरोऽपि सौख्यम् ।
पयोरसज्ञस्य यथा वृषारेर्हठाग्नितप्तं पिबतः पयोऽत्र ॥२३॥

अन्वयार्थ—(उद्यन्) प्रकट होता हुआ (महादुःखभरोऽपि) बहुत भारी दुःखका समूह भी (समामृतस्वादविदा) समतारूप अमृतके स्वादको जाननेवाले (मुनीना) मुनियोके लिये (सौख्यम्) सुखरूप होता है। (यथा) जिस प्रकार (अत्र) इस लोकमे (हठाग्नितप्त) हठपूर्वक अग्निसे संतप्त (पय) दूधको (पिवतः) पीनेवाले (पयोरसज्ञस्य) दूधके रसके ज्ञाता (वृषारेः) मार्जारको महादुःखका भार भी सुखरूप मालूम होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार इस जगत्मे दुग्धरसके ज्ञाता बिलावको अग्निसे संतप्त दूधको पीते समय उष्णताजनित दु:ख होता है, परन्तु वह दुग्धरसके स्वादके सामने उस दु:खको नगण्य समझता है। इसी प्रकार बाह्य तपश्चरण करते हुए मुनियोको जो शारीरिक कष्ट होता है उसे वे समतासुधाके स्वादके सामने नगण्य समझते है ॥२३॥

अमन्दसवेदनसान्द्रमूर्तिः समग्रवीर्यातिशयोपपन्नः ।
निःशेषिताशेषकलङ्कपङ्कः कोऽन्यो भवेदाप्ततरो भवत्तः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अमन्दसवेदनसान्द्रमूर्ति.) जिनकी मूर्ति—आत्मा विशाल केवलज्ञानसे सघन-परिपूर्ण है, जो (समग्रवीर्यातिशयोपपन्न) सम्पूर्ण वीर्यके अतिशयसे सहित है तथा जिन्होने (नि शेषिताशेषकलङ्कपङ्कः) समस्त कलङ्करूपी कर्दमको नष्ट कर दिया है ऐसा (भवत्त) आपसे (अन्य·) भिन्न-दूसरा (आप्ततर) श्रेष्ठ आप्त (को भवेत्) कौन हो सकता है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण है, अनन्त वीर्यसे सम्पन्न है और द्रव्य-कर्म तथा भावकर्मरूप समस्त कलङ्कको आपने बिलकुल समाप्त कर दिया है, अत आप ही सबसे श्रेष्ठ आप्त है, आपसे बढ़कर दूसरा कौन आप्त हो सकता है ? ॥२४॥

यतस्तवेदं प्रतिभाति शब्दब्रह्मैकचिन्मण्डपकोणचुम्बि ।
ततः परं ब्रह्म भवानिहैको यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(यत·) जिस कारण (इद) यह (शब्दब्रह्म) शब्दरूप ब्रह्म (तव) आपके (एक-चिन्मण्डपकोणचुम्बि) अद्वितीय केवलज्ञानरूप मण्डपके एक कोनेका चुम्बन करता हुआ (प्रतिभाति) जान पड़ता है (तत) उस कारण (इह) इस लोकमे (एक) एक (भवान्) आप ही वह (परब्रह्म) परम ब्रह्म है, (यस्मात्) जिससे बड़ा बढकर (अपर किञ्चित्) दूसरा कोई (पर) बड़ा (न अस्ति) नही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! लोकमे जिस शब्द ब्रह्मको सर्वत्र व्यापक कहा जाता है वह शब्द ब्रह्म आपके केवलज्ञानरूपी मण्डपके एक कोनेमे निलीन है अर्थात् अनन्त केवलज्ञानकी अपेक्षा शब्दब्रह्मका विषय अत्यन्त अल्प है। इससे यह सिद्ध होता है कि ससारमे एक आप ही परं ब्रह्म है, क्योंकि ज्ञानकी अपेक्षा आप ही लोक अलोकमें व्याप्त है। आपसे बढकर कोई दूसरा बड़ा नही ॥२५॥

१ वृषस्य मूषकस्यारिर्वृषारिः मार्जार इत्यर्थ 'वृषो मूषकधर्मयोः' इति विश्वलोचन ।

ॐ

(९)

उपजातवृत्तम्

मार्गावतारे शमसंभृतात्मा स्वयं प्रकाशं स्वमितः परैस्त्वम् ।
सुनिष्ठुरष्ठ्यूतकुतर्कवाक्यैः क्षिप्तोऽपि नासीः प्रतिपत्तिमन्दः ॥१॥

अन्वयार्थ—(मार्गावतारे) मोक्षमार्गमे अवतीर्ण होते ही (शमसभृतात्मा) जिनकी आत्मा शम–शान्तिभावसे परिपूर्ण थी तथा जो (स्वय) अपने आप (स्वं प्रकाश) आत्मप्रकाशको (इतः) प्राप्त थे ऐसे (त्वम्) आप (सुनिष्ठुरष्ठ्यूतकुतर्कवाक्यै) अत्यन्त कर्कशभावसे कुतर्कपूर्ण वाक्योको प्रकट करनेवाले (परै) अन्यमतावलम्बियोके द्वारा (क्षिप्तोऽपि) निन्दित होनेपर भी (प्रतिपत्तिमन्दः) स्वरूपसाधना अथवा यथार्थ बोधमे शिथिल (न आसी) नही हुए थे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मोक्षमार्गमे प्रवेश करते ही आपकी आत्मा शान्तिभावसे परिपूर्ण हो गई थी तथा परकी प्रेरणाके बिना आप स्वत. स्वभावसे आत्मप्रकाशको प्राप्त हो गये थे । उसीका यह फल था कि कुतर्कपूर्ण कर्कश वचन बोलनेवाले अन्य प्रवादी यद्यपि आपकी निन्दा भी करते थे तथापि आप स्वरूप साधना अथवा यथार्थ बोधमे शिथिल नही हुए थे ॥१॥

अवाप्तभूतार्थविचारसारो निष्कम्पमेकत्वकृतप्रतिज्ञः ।
निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गो दीनानुकम्पाविषयस्त्वमासीः(सीः) ॥२॥

अन्वयार्थ—(अवाप्तभूतार्थविचारसार) जिन्होंने परमार्थका श्रेष्ठ विचार प्राप्त किया था (निष्कम्पम् एकत्वकृतप्रतिज्ञ) जिन्होने निर्भयरूपसे एकाकी रहनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा (नि.शेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गः) समस्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहका जिन्होने त्याग किया था ऐसे (त्वम्) आप (दीनानुकम्पाविषय.) दीनजनो पर दया करनेवाले (आसी.) हुए थे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने दीक्षा ग्रहण करनेका विचार करते ही समस्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहका त्याग कर दिया, आप अपने विचारोमे निष्कम्प रहे तथा दीन दुखी जीवोंके ऊपर आपके हृदयमे करुणाका भाव उमड़ पड़ा । अर्थात् उन्मार्गगामी लोगोंको सद्धर्मका उपदेश देकर सन्मार्ग पर लगाया ॥२॥

संरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टेः सूत्रेण षड्जीवनिकां निकामम् ।
अपक्षपातस्य बलादिवासीत् समस्तभूतेष्वपि पक्षपातः ॥३॥

अन्वयार्थ—(सूत्रेण) आगमके अनुसार (अस्खलितार्थदृष्टे) जिनकी अर्थदृष्टि—पदार्थोंका स्वरूप विचार करनेकी बुद्धि स्खलित नही हुई थी, जो (षड्जीवनिका) छहकायके जीवोंकी (निकामं) अत्यन्त (संरक्षतः) सुरक्षा करते थे तथा (अपक्षपातस्य) जो रागद्वेषके वशीभूत होकर

किसी प्रकारका पक्षपात नही करते थे ऐसे (ते) आपका (बलादिव) बलपूर्वक ही मानो (समस्त-भूतेष्वपि) समस्त प्राणियो पर (पक्षपातः) पक्षपात (आसीत्) हुआ था ।

भावार्थ—हे भगवन् ! सनातन आगममे पदार्थस्वरूपका विचार करनेकी जो दृष्टि निरूपित की गई है उसपर आप सदा आरूढ रहते थे—उससे रञ्चमात्र भी विचलित नही होते थे । पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति ये पाँच स्थावर तथा त्रस इन छह कायकी जीवोंके आप सदा रक्षा करते थे । रागद्वेषके नष्ट हो जानेसे आप यद्यपि किसीका पक्षपात नही करते थे तो भी सभी जीवोपर आपका जो करुणाभाव था उससे ऐसा जान पडता था मानो आप उनपर पक्षपात करते थे । तात्पर्य यह है कि आपकी करुणावृत्ति नैसर्गिक थी, रागजन्य नही ।।३।।

सूर्यांशुजाः पावकविप्रुषस्ते विनिर्दहन्त्यः परितोऽपि गात्रम् ।
अभीप्सतः कर्मफलैकपाकमासन् सुधासीकरनिर्विशेषाः ।।४।।

अन्वयार्थ—(सूर्यांशुजा) सूर्यकी किरणोसे उत्पन्न होनेवाले जो (पावकविप्रुषः) अग्निकण (परितोऽपि) सभी ओरसे (ते) आपके (गात्रं) शरीरको (विनिर्दहन्त्य) जलाया करते थे वे (कर्मफलैकपाकं) कर्मफलके परिपाककी (अभीप्सतः) इच्छा करनेवाले (ते) आपके लिये (सुधाशीकरनिर्विशेषा.) अमृतकणोके समान (आसन्) हुए थे ।

भावार्थ—आतापन योगके समय सूर्य रश्मियोका सम्पर्क पाकर सूर्यकान्त शिलाओंसे जो अग्निके तिलगे निकल कर सब ओरसे आपके शरीरको जलाते थे उनसे आपको कोई कष्ट नही होता था, उन्हे आप अमृतकणोके समान सुखदायक मानते थे । इसका कारण यह था कि आप पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा चाहते थे । सदा आपका यही अभिप्राय रहता था कि किसी प्रकार कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जावें ।।४।।

मन्दः समस्वादभरेण नक्तं गृहीतयोगः शववद्विचेष्टः ।
परेतभूमौ परिशुष्कमूर्तिर्विघट्टितस्त्वं दशनैः शिवाभिः ।।५।।

अन्वयार्थ—जो (समस्वादभरेण) समतारसके स्वादके भारसे (मन्द) शिथिल हो रहे थे, (नक्त) रात्रिके समय (गृहीतयोग) योग धारण कर जो (परेतभूमौ) श्मशानमें (शववत्) मृतक-समान (विचेष्टः) निश्चेष्ट पडे थे तथा (परिशुष्कमूर्ति) जिनका शरीर अच्छी तरह सूख गया था ऐसे (त्वम्) आप (शिवाभि.) शृगालियोंके द्वारा (दशनै.) दाँतोसे (विघट्टित) विघट्टित हुए थे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! रात्रिके समय श्मशानमे जब आप प्रतिमायोग धारण करते थे तब मृतकके समान निश्चेष्ट हो जाते थे और शृगालियाँ आपके शरीरको दाँतोसे विघट्टित करती थी फिर भी आप अपने योगसे विचलित नही होते थे ।।५।।

विदग्धरोगीव बलाविरोधान्मासार्द्धमासक्षपणानि कुर्वन् ।
अनादिरागज्वरवेगमुग्रं क्रमेण निःशेषितवानलोलः ।।६।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् (विदग्धरोगीव) विवेकशील रोगीके समान (बलाविरोधात्) शक्त्यनुसार (मासार्धमासक्षपणानि कुर्वन्) एक माह तथा अर्धमाहके उपवास करते हुए (अलोलः) तृष्णा-

रहित आपने (क्रमेण) क्रमसे (उग्रं) तीव्र (अनादिरागज्वरवेगं) अनादिकालीन रागरूपी ज्वरके वेगको (निःशेषितवान्) नष्ट किया था।

भावार्थ—जिस प्रकार विवेकी रोगी अपथ्य सेवनकी तृष्णासे रहित हो शक्त्यनुसार एक माह तथा अर्धमासका उपवास करता हुआ अपने पुराने ज्वरके वेगको नष्ट कर देता है उसी प्रकार आपने विषय तृष्णासे निवृत्त हो शक्त्यनुसार एक मास तथा अर्धमासका उपवास करते हुए क्रम-क्रमसे अनादि कालीन रागरूपी ज्वरके तीव्र वेगको नष्ट किया था। तात्पर्य यह है कि आपने अनशनादि तपोंके द्वारा रागरूपी शत्रुओपर विजय प्राप्त की थी ॥६॥

ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसंयमस्त्वम् ।
जातः कषायक्षयतोऽक्षरात्मा ज्ञानैकपुञ्जः स्वयमेव साक्षात् ॥७॥

अन्वयार्थ—(ततः) रागरूपी ज्वरका वेग नष्ट होनेके अनन्तर (कथञ्चित्) किसी प्रकार (सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसयम.) सम्पूर्ण आत्मबलके प्रयाससे जिन्हे सयम प्राप्त हुआ है ऐसे (त्वम्) आप (कषायक्षयतः) कषायोंका क्षय होनेसे (स्वयमेव) अपने आप (अक्षरात्मा) अविनाशी और (साक्षात्) प्रत्यक्ष (ज्ञानैकपुञ्ज.) ज्ञानके अद्वितीय पुञ्ज (जातः) हो गये।

भावार्थ—हे प्रभो ! प्रत्याख्यानावरणके उदयमे होनेवाले रागको दूरकर आपने सकल संयम धारण किया और क्रम क्रमसे समस्त कषायोका क्षय कर आप अविनाशी सर्वज्ञ हो गये। आपकी यह सर्वज्ञता आत्माकी योग्यतासे स्वयमेव प्रकट हुई, किसी अन्य पुरुषके द्वारा प्रदत्त नही है ॥७॥

ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन ।
स्वकर्मशेषस्य तथा विपाकमुत्पश्यतादेशि शिवस्य पन्थाः ॥८॥

अन्वयार्थ—(ततः) सर्वज्ञदशा प्राप्त करनेके बाद (व्याप्तपरापरेण) जिन्होंने स्व और परको व्याप्त-ज्ञात किया है (स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन) अपनी आयुकी स्थितिकी प्राप्तिसे जो नियन्त्रित हैं—मनुष्यायु कर्मका उदय रहनेसे जो अपनी आयु पर्यन्त इसी मनुष्य शरीरमे स्थित रहते हैं जो (स्वकर्मशेषस्य) अपने शेष कर्मोंके (विपाक) उदयका (तदा उत्पश्यता) अनुभव कर रहे थे ऐसे (त्वया) आपके द्वारा (शिवस्य) मोक्षका (पन्था.) मार्ग (आदेशि) बनाया गया।

भावार्थ—हे भगवन् ! केवल ज्ञान उत्पन्न होनेपर जिन्होंने ज्ञानकी दृष्टिसे समस्त स्वपर पदार्थोंको व्याप्तकर रक्खा था, जो यद्यपि शरीररूपी कारावाससे मुक्त होना चाहते थे तो भी आयुकी स्थिति पर्यन्त उसीमे नियन्त्रित थे और अपने शेष कर्मोंके विपाकका अनुभव कर रहे थे ऐसे आपने सबके लिये मोक्षका मार्ग दिखलाया। हे भगवन् ! आपने अरहन्त अवस्थामे सर्वहितकारी मोक्ष पथका उपदेश दिया ॥८॥

अन्तःकषायक्षपणः प्रसह्य बहिर्यथाशक्तिचारित्रपाकः ।
सूत्रार्थसंक्षेपतया त्वयायं प्रदर्शितो नाथ शिवस्य पन्थाः ॥९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! जहाँ (प्रसह्य) पुरुषार्थपूर्वक (अन्तःकषायक्षपणः) अन्तरङ्गमें तो कषायोका क्षय किया जाता है और (बहिः) बहिरङ्गमे (यथाशक्तिचारित्रपाकः)

शक्ति अनुसार चारित्र धारण किया जाता है (अयं) यह (शिवस्य) मोक्षका (पन्थाः) मार्ग (सूत्रार्थ-सक्षेपतया) आगमके अर्थका संक्षेप करते हुए (त्वया) आपके द्वारा (प्रदर्शितः) दिखलाया गया है।

भावार्थ—यहाँ मोक्षमार्गके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंका निर्देश करते हुए भगवान्‌का स्तवन किया गया है। अन्तरङ्ग कारण कषायोका क्षय करना है तथा बहिरङ्ग कारण शक्तिके अनुसार चारित्रका पालन करना है। कषायक्षयरूप अन्तरङ्ग कारणके बिना यथार्थ-चारित्रका पालन नही हो सकता और पूर्ण शक्तिसे चारित्रका पालन किये बिना मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। जिस[1] प्रकार बन्धनमे पडा व्यक्ति बन्धनका चिन्तन करता रहता है परन्तु छैनी और हथोडा लेकर उसे काटनेका प्रयत्न नही करता है तो वह बन्धनसे मुक्त नही हो सकता इसी प्रकार जो कर्मबन्धनका चिन्तन तो करता है परन्तु चारित्र धारण कर उस कर्मबन्धनको नष्ट करनेका पुरुषार्थ नही करता है तो वह कर्मबन्धनसे मुक्त नही हो सकता है। मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर तो यह जीव सागरो पर्यन्त इसी ससारमे पडा रहता है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र धारण कर अन्तर्मुहूर्तके भीतर भी ससार सागरसे पार हो जाता है। हे भगवन्! आगमका सार बतलाते हुए आपने सक्षेपमे यही मोक्षमार्ग दिखाया है कि अन्तरङ्गमे कषायोका क्षय करो और बहिरङ्गमे यथाशक्ति चारित्र धारण करो ॥९॥

बोधप्रधानः किल संयमस्ते ततः कषायक्षयजा शिवाप्तिः।
शिवाप्तिहेतोरपि हेतुहेतुरहेतुवन्निश्चरणस्य बोधः ॥१०॥

अन्वायर्थ—(किल) निश्चयसे (ते) आपका (सयम·) चारित्र (बोधप्रधान) ज्ञानप्रधान है अर्थात् ज्ञानके होने पर चारित्र होता है और (तत) चारित्रसे (कषायक्षयजा) कषायक्षयपूर्वक होनेवाली (शिवाप्ति) मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार (बोध.) ज्ञान यद्यपि (शिवाप्तिहेतो· हेतुहेतु अपि) मोक्ष प्राप्तिके हेतु कषायक्षयके हेतु सयमका हेतु है तथापि वह (निश्चरणस्य) चारित्ररहित जीवके (अहेतुवत्) अहेतुके समान है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोका प्राप्त होना मोक्षमार्ग है। इन तीनोमे सम्यग्ज्ञानको बीचमे रखनेका प्रयोजन यह है कि वह सम्यग्दर्शनका कार्य है और सम्यक्चारित्रका कारण है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्चारित्रकी साधनामे सम्यग्ज्ञानका भी महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि आपने संयम धारण करते समय सम्यग्ज्ञानका भी ध्यान रक्खा है, क्योकि सम्यग्ज्ञानसे सयम-सम्यक्चारित्र होता है, सम्यक्चारित्रसे कषायोका क्षय होता है और कषायोंका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार मोक्षप्राप्तिका कारण कषायक्षय, कषायक्षयका कारण संयम और सयमका कारण सम्यग्ज्ञान है। एतावता यद्यपि सम्यग्ज्ञान मोक्षप्राप्तिके कारणके कारणका कारण है तो भी चारित्रहीन मनुष्यका ज्ञान अहेतु-अकारणके समान है। इसी उद्देश्यसे नीतिकारोने कहा है 'ज्ञान भारः क्रिया विना' क्रियाके विना ज्ञान भाररूप है ॥१०॥

---

१. समयसार गाथा—२९१, २९२।

समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः स्वायुःस्थितिज्ञः स विशीर्णबन्धः ।
शिखेव वह्नेः सहजोर्ध्वगत्या तत्सिद्धिधामाऽध्यगमस्त्वमन्ते ॥११॥

अन्वयार्थ—(समस्तनिस्तीर्णचरित्रभार) जिन्होंने परम यथाख्यातचारित्ररूप संयमके पूर्ण भारको वहन किया है, (स्वायुःस्थितिज्ञः) जो अपने आयुकर्मकी स्थितिको जानते हैं अर्थात् जिनकी मनुष्यायुका अन्तिम क्षण बीत रहा है और (विशीर्णबन्धः) जिनका बन्ध बिखर चुका है—कषाय और योगोका अभाव होनेके कारण जिनका नवीन बन्ध छूट गया है और सातिशय निर्जरा होनेके कारण जिनका पूर्वबन्ध निर्जीर्ण हो गया है ऐसे (स त्वम्) उन आपने (अन्ते) अन्त समयमे (वह्नेः शिखेव) अग्निकी शिखाके समान (सहजोर्द्धगत्या) स्वाभाविक ऊर्ध्वगतिके द्वारा (तत्) उस प्रसिद्ध (सिद्धिधाम) मोक्षस्थानको (अध्यगमः) प्राप्त किया ।

भावार्थ—शीलके चौरासी हजार भेद तथा चौरासी लाख उत्तर गुणोंकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमे होती है । इनकी पूर्णता होने पर ही परम याथाख्यात चारित्र होता है, इस प्रकार परम यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति होने पर इस जीवका कर्म बन्धन खुल जाता है उसी समय मनुष्यायुकी समाप्ति होती है और अग्निकी शिखाके समान स्वाभाविक ऊर्ध्वगतिके द्वारा यह जीव लोकान्तमे १५७५ धनुषप्रमाण तनुवातवलयके अन्तिम ५२५ धनुषप्रमाण क्षेत्रमे जो सिद्धिधाम है वहा पहुँच जाता है । मध्यलोकसे वहा तक पहुंचनेमे इस जीवको मात्र एक समय लगता है ॥११॥

तस्मिन् भवानप्रचलप्रदेशः पिबन् दृशा विश्वमशेषमेव ।
समक्षसंवेदनमूर्तिरास्ते स्वगुप्तवीर्यातिशयः सुखेन ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अप्रचलप्रदेश) जिनके प्रदेश अत्यन्त निश्चल है, (दृशा) अनन्त दर्शनके द्वारा (अशेषमेव विश्व पिबन्) जो समस्त विश्वको ग्रहण कर रहे है, (समक्षसवेदनमूर्तिः) जो प्रत्यक्षज्ञान-केवलज्ञानकी मूर्तिस्वरूप है तथा (स्वगुप्तवीर्यातिशय.) जिनका अनन्त बल अपने आपमे सुरक्षित है ऐसे (भवान्) आप (तस्मिन्) उस सिद्धिधाममे (सुखेन आस्ते) सुखसे विराजमान है ।

भावार्थ—सिद्धालयमे पहुंचने पर आत्माके प्रदेश सदाके लिये निश्चल हो जाते हैं । वे अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखसे सम्पन्न होते हैं । हे भगवन् ! आप भी सिद्धालयमे पहुँच कर अनन्त चतुष्टयसे सुशोभित है ॥१२॥

दृग्बोधयोस्तैक्ष्ण्यविधायि वीर्यं दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु निराकुलत्वम् ।
निराकुलत्वं तव देव सौख्यं गाढोपयुक्तोऽसि सुखं(सुखे)त्वमेव ॥१३॥

अन्वयार्थ—(वीर्यं) वीर्य-आत्मबल (दृग्बोधयोः) दर्शन और ज्ञानकी (तैक्ष्ण्यविधायि) प्रखरता—अनन्तताको करनेवाला है, (दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु) दर्शन और ज्ञानकी तीक्ष्णताके होने पर (निराकुलत्व) निराकुलता होती है और (निराकुलत्व) निराकुलता ही (तव) आपका (सौख्यं) सुख है । (देव) हे देव (सुखे) उस निराकुलतारूप सुखमे (त्वमेव) आपही (गाढोपयुक्तः असि) प्रगाढरूपसे तन्मयताको प्राप्त है ।

भावार्थ—आत्मामे जो वीर्य नामका गुण है वह दर्शन और ज्ञान गुणके चरम विकासमे कारण है । जब दर्शन और ज्ञान अपनी चरम सीमाको पहुँच जाते है तब निराकुलता होती है और

जो निराकुलता है वही सुख कहलाता है। हे भगवन् ! इस निराकुलतारूप सुखमे एक आप ही निरन्तर निमग्न रहते हैं। संसारके भीतर जन्म मरण करनेवाले अन्य जीवोंको इसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है ? ॥१३॥

वितृष्णता ज्ञानमनन्तरायं दृग्वीर्यसारोऽस्खलितः समन्तात् ।
अयं समस्तः सुखहेतुपुञ्जस्तवाभवन्नित्यनिराकुलस्य ॥१४॥

अन्वयार्थ—(वितृष्णता) तृष्णाका अभाव, (अनन्तराय) बाधारहित (ज्ञानं) ज्ञान और (समन्तात्) सब ओर (अस्खलितः) स्खलित नही होनेवाला (दृग्वीर्यसार) श्रेष्ठ दर्शन और वीर्य (अयं समस्तः) यह सब (नित्यनिराकुलस्य) निरन्तर निराकुल रहनेवाले (तव) आपके (सुखहेतुपुञ्जः) सुखके कारणका समूह (अभवत्) हुआ।

भावार्थ—ससारका प्राणी तृष्णाके कारण दुखी होता है, ज्ञानकी अल्पता होनेसे अज्ञात वस्तुको न जान सकने और ज्ञात वस्तुके विस्मृत हो जानेके कारण दुःखी रहता है तथा इष्ट पदार्थोंमे स्खलित हो जानेवाले अल्प दर्शन और तुच्छ बलके कारण भी दुखी होता है, परन्तु हे भगवन् ! आपको किसी प्रकारकी तृष्णा नही है, केवलज्ञानके द्वारा आप चराचर विश्वको एक साथ जानते है तथा आपमे ऐसा अनन्त दर्शन और अनन्त बल प्रकट हुआ है जो कही भी स्खलित नही होता। इस प्रकार सुखके समस्त साधन आपमे स्वयमेव संघटित हुए हैं और उनके सघटित होनेके कारण आप निराकुल है ॥१४॥

अनादिसंसारपथादपेतमनन्तसिद्धत्वकृतव्यवस्थम् ।
त्रिकालमालायतमात्मतत्त्वं साक्षात् समं पश्यसि बुध्यसे च ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अनादिसंसारपथात् अपेतं) जो अनादि संसारके मार्गसे रहित है, तथा (अनन्तसिद्धात्वकृतव्यवस्थ) अनन्त सिद्धत्वके पदमे स्थित है तथा (त्रिकालमालायत) तीनो कालकी माला-मे विस्तीर्ण है ऐसे (आत्मतत्वं) आत्मातत्वको आप (समं) एक साथ (साक्षात्) प्रत्यक्ष (पश्यसि) देखते (च) और (बुध्यसे) जानते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी जो आत्मा अनादिकालीन ससारके मार्गसे दूर होकर अनन्त–कभी नष्ट नही होनेवाली सिद्ध पर्यायको प्राप्त हुई है उसे आप अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव-के कारण सदा प्रत्यक्ष देखते और जानते है ॥१५॥

दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिः समन्ततो नित्यमखण्ड्यमानः ।
अत्यन्ततैक्ष्ण्यादविभागखण्डैरनन्तशः खण्डयसीश विश्वम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (समन्ततः) सब ओरसे (नित्यं) निरन्तर (दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्ति) जिनकी आत्मशक्ति दर्शन ज्ञान और वीर्यसे वृद्धिगत है, इसलिए जो (अखण्ड्यमानः) अविभाज्य है—जिनके आत्म प्रदेशोंमे पुद्गलप्रदेशोके समान खण्डपना नही है ऐसे आप (अत्यन्ततैक्ष्ण्यात्) ज्ञान दर्शन गुणकी तीक्ष्णताके कारण (विश्वं) समस्त लोक-अलोकको (अनन्तशः) अनन्तो बार (अविभागखण्डै) प्रदेशोंके द्वारा तथा अविभागी प्रतिच्छेदोंसे (खण्डयसि) खंड-खंड करते हैं अर्थात् समस्त विश्वके अविभागी प्रतिच्छेदों तकको जानते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके ज्ञान दर्शनकी इतनी तीक्ष्णता—सूक्ष्मग्राहिता है कि उसके द्वारा स्थूल पदार्थोंको जानना तो दूर रहा, आप समस्त विश्वके अर्थात् एक एक अविभाग-प्रतिच्छेदो तकको जानते हैं ॥१६॥

दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्यः स्वशक्तयो विश्वसभावभासाः ।
विभो न भिन्दन्ति सदा स्वभाव चिदेकसामान्यकृतावताराः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो ! (दृढोपयुक्तस्य) स्वरू में दृढतासे उपयुक्त रहनेवाले (तव) आपकी (स्फुटन्त्य.) जो प्रकट अनुभवमे आ रही है (विश्वसभावभासा:) समस्त विश्वके समान जिनका प्रकाश है तथा (चिदेकसामान्यकृतावताराः) आपके एक चैतन्य स्वभावमे जिन्होने अवतरण किया है ऐसी (स्वशक्तयः) आत्मशक्तियां (सदा) सर्वदा—कभी भी (स्वभावं) आपके स्वभाव को (न भिन्दन्ति) भेदती नही है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अपने स्वरूपमे सदा दृढ है तथा आपकी समस्त शक्तियां भी, ऐसी शक्तिया जो अत्यन्त प्रकट अनुभवमे आ रही हैं, तथा सामान्यरूपसे एक चैतन्य स्वभावमे गर्भित है, सदा स्वरूपस्थ रहती है, कभी अपने स्वभावको नही छोड़ती है ॥१७॥

प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य प्रमेयरूपेण विवर्तमानाः ।
श्लिष्टावभासा अपि नैकभावं त्वया समं यान्ति पदार्थमालाः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(प्रमातृरूपेण स्थितस्य) प्रमाता-ज्ञायकके रूपमे स्थित (तव) आपके (प्रमेयरूपेण) प्रमेय-ज्ञेयरूपसे (विवर्तमाना.) विद्यमान (पदार्थमाला.) पदार्थोंके समूह (श्लिष्टावभासा अपि) अत्यन्त तन्मयभावको प्राप्त होकर भी (त्वया समं) आपके साथ (एकभावं) एकत्वको (न यान्ति) नही प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप ज्ञायकमात्र हैं—पदार्थोंको जाननेवाले है और संसारके समस्त पदार्थ आपके ज्ञेय है । अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वे सब पदार्थ आपके ज्ञानमें जब प्रतिबिम्बित होते है तब ऐसे जान पड़ते है मानो आपके ज्ञानके साथ उनका तादात्म्य हो, परन्तु वास्तवमे वे आपके ज्ञानसे पृथक् है । इस तरह आपके साथ उनका एकीभाव नही है । तात्पर्य यह है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता रहता है और ज्ञेय सदा ज्ञेय रहता है । ज्ञाता, ज्ञेय नही और ज्ञेय, ज्ञान नही होता । दोनोमे ज्ञातृ-ज्ञेयसम्बन्ध ही है, तादात्म्य सम्बन्ध नही ॥१८॥

परप्रदेशैर्न परः प्रदेशी प्रदेशशून्यं न हि वस्तु किञ्चित् ।
आलानयन् दर्शनबोधवीर्यं जिन प्रदेशेषु सदैव भासि ॥१९॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (परप्रदेशैः) अन्य द्रव्यके प्रदेशोसे (परः) अन्य द्रव्य (प्रदेशी) प्रदेशवान् (न) नही होता है और (हि) निश्चयसे (किञ्चित्) कोई (वस्तु) द्रव्य (प्रदेशशून्यं) प्रदेशोसे शून्य (न) नही है । आप (दर्शनबोधवीर्यं) दर्शन ज्ञान और वीर्यको (प्रदेशेषु) अपने प्रदेशोंमे (आलानयन्) बद्ध करते हुए (सदैव) सदा ही (भासि) सुशोभित होते है।

भावार्थ—आत्मा गुणी है और दर्शन ज्ञान तथा वीर्य उसके गुण है । गुणोके प्रदेश गुणीसे पृथक् नही होते है, ऐसा सिद्धान्त है परन्तु न्याय दर्शन गुण और गुणीको पृथक् पृथक् स्वीकृत

करता हुआ गुणके समवायसे किसी अन्य पदार्थको गुणी मानता है। इस न्याय दर्शनका निरसन करते हुए यहा कहा गया है कि हे जिनेन्द्र ! आपमे जो दर्शन ज्ञान और वीर्य गुण है उन्हे आप अपने प्रदेशोमे ही बद्ध किये हुए सुशोभित होते हैं, क्योकि ऐसा नियम है कि सब पदार्थोंके प्रदेश अपने अपनेमे ही रहते है किसी अन्यके प्रदेशोसे कोई अन्य प्रदेशवान् नही होता है। तथा ऐसा भी कोई पदार्थ नही है जो प्रदेश रहित हो और उसे प्रदेशवान् बननेके लिये दूसरे पदार्थके प्रदेशोका आश्रय लेना पड़े ॥१९॥

आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं दृग्बोधवैचित्र्यमयी विभूतिः ।
तव स्वभावाद् दृशिबोधमूर्तेरेतावदेवोपकृतं परेभ्यः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(स्वभावात्) स्वभावसे ही जो (दृगिबोधमूर्तेः) दर्शन और ज्ञानकी मूर्तिस्वरूप है ऐसे (तव) आपकी (इय) यह (पुष्कला) समस्त (दृग्बोधवैचित्र्यमयी) दर्शन और ज्ञानकी विचित्रतासे युक्त (विभूति.) सपदा (किल) निश्चयसे (विश्व) समस्त लोक-अलोकका (आलम्ब्य) आलम्बन लेकर प्रकट हुई है (एतावत् एव) इतना ही आपका (परेभ्य.) अन्य पदार्थोंसे (उपकृत) उपकार हुआ है।

भावार्थ—हे भगवन् ! दर्शन ज्ञानकी मूर्ति आप स्वभावसे ही है, किन्ही पदार्थोंने आपमे दर्शन ज्ञानको उत्पन्न कर दिया हो, ऐसी बात नही है। इतना अवश्य है कि यह विश्व आपके दर्शन ज्ञानका आलम्बन है अर्थात् दर्शन और ज्ञान इन्हे अपना दृश्य और ज्ञेय बनाते है। इतना ही परद्रव्योसे आपका उपकार हुआ है ॥२०॥

अनन्तधर्मप्रचितैः प्रदेशैर्दृग्बोधयोराश्रयमात्रभूतः ।
दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन साक्षाद्विभो विभास्येव हि विश्वरूपः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! (अनन्तधर्मप्रचितैः) अनन्त धर्मोसे व्याप्त (प्रदेशै) प्रदेशोके द्वारा आप (दृग्बोधयो) दर्शन और ज्ञानके (आश्रयमात्रभूतः) आधारमात्र है। (हि) निश्चयसे आप (दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन) दर्शन ओर ज्ञानकी विचित्रताके माध्यमसे (साक्षात्) प्रत्यक्षमे (विश्वरूप.) विश्वरूप (एव) ही (विभासि) सुशोभित प्रतीत हो रहे है।

भावार्थ—हे प्रभो ! ऐसा नही है कि आपमे मात्र दर्शन और ज्ञान ही हो किन्तु आपके प्रदेश अनन्त धर्मोसे व्याप्त है। उन अनन्त धर्मोसे व्याप्त प्रदेशोके द्वारा आप दर्शन और ज्ञानको धारण कर रहे है। आपके दर्शन और ज्ञान भी साधारण नही है। उनकी अपनी एक विशेषता है—वह यह कि उनमे समस्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, अत आप ज्ञेयाकीर्ण ज्ञानकी अपेक्षा विश्वरूप है ॥२१॥

अभावभावोभयरूपमेकं स्ववस्तु साक्षात् स्वयमेव पश्यन् ।
न सज्जसे क्वापि सदाऽप्रकम्पः स्वभावसीमाङ्कितत्त्वमग्नः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अभावभावोभयरूपं) अभाव, भाव और उभयरूप (एकं) एक (स्ववस्तु) आत्मवस्तुको (स्वयमेव) अपने आप (साक्षात्) प्रत्यक्ष (पश्यन्) देखते हुए आप (क्वापि) किसी अन्य पदार्थमे (न सज्जसे) संलग्न नही होते है, किन्तु (सदा) सर्वदा (अकम्पः) निश्चल

हो (स्वभावसीमाङ्कितत्त्वमग्न:) स्वयंके स्वभावकी सीमासे युक्त आत्म तत्त्वमे ही मग्न रहते हैं।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ क्रमार्पित दृष्टिमे परचतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप, स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप और क्रमार्पित उभय दृष्टिमें उभयरूप होता है। आपका आत्मद्रव्य भी अभाव, भाव और उभयरूप है। यद्यपि स्वभावसे एकरूप ही है, परन्तु उपर्युक्त विवक्षासे तीन-रूप प्रतीत होता है। सबको जानते हुए भी आप अपने स्वरूपमे ही निमग्न रहते है ॥२२॥

भूतं भवद्भावि समस्तविश्वमालम्बमानः सममेव साक्षात् ।
अनन्तविश्वात्मकदिव्यदीप्तिस्तवोपयोगो जिन नास्तमेति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! जो (भूत भवत् भावि समस्तविश्वं) भूत वर्तमान और भावी—समस्त विश्वका (सममेव) एक ही साथ (साक्षात्) साक्षात् (आलम्बमान.) आलम्बन कर रहा है—उसे जान रहा है तथा (अनन्तविश्वात्मकदिव्यदीप्तिः) जिसकी दिव्य दीप्तिः—अलौकिक प्रकाश अनन्त विश्वात्मक है—ऐसे ऐसे अनन्त लोकोंको जाननेकी क्षमता रखता है ऐसा (तव) आपका (उपयोग) केवलज्ञानरूपी उपयोग (अस्त न एति) अस्तको प्राप्त नही होता है।

भावार्थ—जो भूत भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी विश्वको एक साथ प्रत्यक्ष देखता है तथा ऐसे ऐसे अनन्त विश्वोको जाननेकी क्षमता रखता है ऐसा आपका केवलज्ञानरूप उपयोग कभी नष्ट नही होता है ॥२३॥

समन्ततो दृष्टिरवारितेयं सर्वत्र बोधोऽयमवरुद्धशक्तिः ।
अनन्तवीर्यातिशयेन गाढं सुदुर्द्धरं धारयसि स्वमीश ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! आपकी (इय) यह (दृष्टि) दर्शन (समन्तत) सब ओर (अवारिता) अप्रतिहत है—इसकी गतिको कोई रोक नही सकता है और (अयं) यह (बोधः) ज्ञान (सर्वत्र) सब स्थानोंपर (अवरुद्धशक्ति.) अप्रतिहत शक्तिवाला है—इसकी सामर्थ्यको कोई कही रोकनेवाला नही है। इस प्रकार आप (अनन्तवीर्यातिशयेन) अनन्त वीर्यके अतिशयसे (गाढं सुदुर्द्धरं) अत्यन्त परिपूर्ण (स्वं) अपने आपको (धारयसि) धारण करते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी आत्मा अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान और अनन्त बलसे परिपूर्ण है। छद्मस्थ जीवके ज्ञान दर्शन और वीर्य इन्द्रियाधीन होते हैं। इन्द्रिया प्रकाश आदि बाह्य निमित्तोकी अपेक्षा रखती हैं, इसलिये वे सर्वत्र निर्बाध नही होते है। परन्तु वीतराग जिनेन्द्रके ज्ञान दर्शन और वीर्य तत् तत् आवरण कर्मोके क्षयसे प्रकट होते हैं, अत उन्हे इन्द्रिय तथा बाह्य निमित्तोकी आवश्यकता नही होती। निमित्त निरपेक्ष होनेके कारण वे सर्वत्र अप्रतिहत रहते है ॥२४॥

भ्रान्त्वा समग्रं जगदेव दीनं खिन्नात्मना प्राणपणं विधाय ।
बन्दीकृतोऽस्यद्य मयातिलोभात् सर्वस्वमेवाप्य(च)किं विवादैः ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (दीनं यथा स्यात्तथा) दीनतापूर्वक (समग्रमेव जगत् भ्रान्त्वा) समस्त संसारमे भ्रमण कर (खिन्नात्मना) जिसकी आत्मा खिन्न हो चुकी है ऐसे (मया) मैंने (प्राणपणं विधाय) प्राणपण कर—पूरी शक्ति लगा कर (अतिलोभात्) अत्यन्त लोभसे (अद्य) आज (त्वम्) आपको (वन्दीकृतः असि) अपने आपमे निरुद्ध किया है—मैं आपकी शरणमे आया हूं। (त्वमेव) आप हो (मे) मेरे (सर्वं.) सब कुछ हो (आप्य च) आपको प्राप्त कर मुझे (विवादैः विवादोंसे (किं) क्या प्रयोजन है आपकी शरणमे आते ही सब विवाद नष्ट हो चुके हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! मिथ्यात्वके कारण चतुर्गतिरूप संसारमे दीनतापूर्वक भ्रमण करते मेरी आत्मा खिन्न हो चुकी है। अब मैं पूरी शक्ति लगाकर आपकी शरणमे आया हूं। रागी द्वेषी देवोंकी आराधनाका कुफल भोग कर अब मैं वीतराग जिनेन्द्रकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ। पूरी दृढ़ताके साथ मैंने आपको अपने हृदयमे निरुद्ध किया है आप मेरे सब कुछ हो, आपको पाकर अब मुझे विवादोंसे क्या प्रयोजन है ॥२५॥

■

ॐ

(१०)

उपजातिवृत्तम

अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं स्वभावलीलोच्छलनार्थमेव ।
विशुद्धविज्ञानघनं समन्तात् स्तोष्ये जिनं शुद्धनयैकदृष्ट्या ॥१॥

अन्वयार्थ—(अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभाव) अन्य नयोंका स्वभाव जिनके भीतर निमग्न हो गया है (स्वभावलीलोच्छलनार्थमेव) स्वभावकी लीलाको प्रकट करना ही जिनका एक प्रयोजन है : और जो (समन्तात्) सब ओरसे (विशुद्धविज्ञानघनं) वीतराग विज्ञानसे परिपूर्ण है ऐसे (जिनं) जिनेन्द्रदेवकी मैं (शुद्ध नयैकदृष्टया) एकमात्र शुद्धनयकी दृष्टिसे (स्तोष्ये) स्तुति करूंगा ।

भावार्थ—पर संयोगसे रहित आत्माके शुद्धतत्त्वको ग्रहण करनेवाला नय शुद्धनय[१] कहलाता है । इसे ही परमार्थनय अथवा निश्चयनय कहते है । जब इस शुद्धनयकी दृष्टिसे पदार्थका कथन होता है तब उसकी परनिरपेक्ष किन्तु स्वसापेक्ष विशेषताओका वर्णन किया जाता है । और जिसमे परकी सापेक्षता रहती है वह अशुद्धनय कहलाता है । इसीको अभूतार्थ या व्यवहारनय कहते हैं । जैसे आत्मा कर्मोंसे अबद्ध अस्पृष्ट और ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण है ऐसा कथन करना शुद्धनय है तथा आत्मा कर्मोसे बद्ध है स्पृष्ट है तथा रूपादिमान् है, यह कथन करना अशुद्धनय है । भगवन् ! अब मै शुद्धनयका आश्रय लेकर आपकी स्तुति करूँगा । इस शुद्धनयके स्तवनमे अन्य नयोका निषेध तो नही होता परन्तु वे इसी शुद्धनयमे अन्तर्निमग्न हो जाते है तथा शुद्धनयसे स्तवन करनेका प्रयोजन यही एक है कि इसके द्वारा स्वभावकी लीला उभरका सामने आ जाती है और विभाव की लीला तिरोहित हो जाती है । स्वमे परकी सहायताके बिना जो प्रकट है तथा अनादि अनन्त-रूपसे त्रिकालमे विद्यमान रहता है उसे स्वभाव कहते है और स्वमे परके निमित्तसे जो प्रकट होता है उसे विभाव कहते हैं जैसे ज्ञानदर्शन आत्माके स्वभाव हैं, क्योंकि ये किसी बाह्य कारणसे आत्मामे उत्पन्न नही हुए हैं, किन्तु रागद्वेषादिक विभाव है, क्योंकि ये द्रव्यकर्मको उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामे उत्पन्न होते है । इनका सद्भाव द्रव्यकर्मकी उदयावस्थाके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, अतः उसके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाते है । स्वभाव दृष्टिसे भगवान् वीत-राग विज्ञानसे घन है—सान्द्र है और रागादि विभाव भावोंसे रहित है । एक शुद्धनयकी दृष्टिसे भगवान्‌की स्तुति करनेसे मेरा लक्ष्य अपने स्वभावकी ओर जावेगा और विभावकी ओरसे मेरा ममत्वभाव दूर होगा ॥१॥

निरर्गलोच्छालविशालधाम्नो यदेव चैतन्यचमत्कृतं ते ।
उदारवैशद्यमुदेत्यभेदं तदेव रूपं तव मार्जितश्रि ॥२॥

---

१. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥—समयप्राभृत

अन्वयार्थ—(निरर्गलोच्छालविशालधाम्नः) निर्बाध उन्नतिसे विशाल तेजसे युक्त (ते) आपका (उदारवैशद्यं) अबाधरूपसे महान् वैशद्यको लिये हुए तथा (अभेद) भेदसे रहित (यदेव) जो भी (चैतन्यचमत्कृत) चैतन्य चमत्कार (उदेति) प्रकट होता है (तदेव) वही (मार्जितश्रि) अनन्त-चतुष्टयरूप निर्मल लक्ष्मीसे युक्त (तव) आपका स्वच्छ (रूपं) स्वरूप है।

भावार्थ—शुद्धनय गुण और गुणीमे भेदको स्वीकृत नहीं करता है, उसके सामने गुण और गुणी इस प्रकारके दो पदार्थ हैं भी नही। वह मात्र एक ज्ञायकस्वभावको ग्रहण करता है। इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि हे भगवन्! आपका जो सपूर्ण चैतन्य चमत्कार है वही आपका स्वरूप है। जिस प्रकार विजलीका स्वरूप उसका कोदना ही है उसी प्रकार आपका स्वरूप चैतन्यचमत्कार ही है। आपका यह चैतन्यचमत्कार अत्यन्त उत्कृष्ट निर्मलतासे सहित है अर्थात् वीतराग विज्ञानरूप है। आपका यह रूप तब प्रकट होता है जब आपका विशाल तेज निर्बाध रूपसे उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो जाता है एव यह रूप अनन्त चतुष्टयरूप निर्मल लक्ष्मीसे युक्त होता है। हे भगवन्! यद्यपि आप ज्ञान-दर्शन सुख वीर्य सूक्ष्मत्व अव्याबाधत्व अगुरुलघुत्व और अवगाहतत्व आदि अनेक गुणोंसे युक्त है तथापि उनमे एक चैतन्यचमत्कार ही प्रधान है, अतः उसी पर दृष्टि सलग्न हो रही है। जिस प्रकार मिश्री मधुर है उसी प्रकार क्या सफेद, कड़ी और सुगन्धित भी नही है? अवश्य है, परन्तु स्वाद लेनेवालेकी दृष्टि उसके मात्र मधुर रसकी ओर रहती है। मिश्री कैसी है? ऐसा पूछनेपर उसके मुखसे यही उत्तर निकलता है कि मधुर है। इसी प्रकार आत्मामे सुख वीर्य आदि अनेक गुण क्या नही है? अवश्य है, परन्तु शुद्धनयकी दृष्टि उसके चैतन्यचमत्कारपर ही सलग्न होती है ॥२॥

चिदेकरूपप्रसरस्तवायं निरुध्यते येन स एव नास्ति।
स्वभावगम्भीरमहिम्नि लग्नो विभो विभास्येकरसप्रवाहः ॥३॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्! (तव) आपका (अयं) यह (चिदेकरूपप्रसरः) चैतन्यका अद्वितीय प्रसार (येन) जिसके द्वारा (निरुध्यते) रोका जाता है (स नास्ति एव) वह है ही नही—ऐसा कोई पदार्थ नही है जो चैतन्य ज्योतिके प्रसारको रोक सके। अतः (स्वभावगम्भीरमहिम्नि) जो स्वभावकी गम्भीर महिमामे (लग्नः) लीन है (एकरसप्रवाह) ऐसे चैतन्यरसके एक प्रवाहस्वरूप आप (विभासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह किसीके द्वारा न नष्ट किया जा सकता है और न परिवर्तित हो सकता है। हे भगवन्! सामान्य चैतन्य—ज्ञान-दर्शन आपका स्वभाव है। वह किसीके द्वारा रोका नही जा सकता। अथवा आपके ज्ञान-दर्शन गुणका जो केवलज्ञान और केवलदर्शनरूपसे प्रसार हो रहा है उसे रोकनेकी क्षमता संसारके किसी अन्य द्रव्यमे नही है। आप अपने स्वभावकी गम्भीर महिमा—राग-द्वेषसे रहित आत्मीय परिणतिमे सदा लीन रहते हुए सुशोभित हो रहे हैं ॥३॥

उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा प्रकाशमानस्त्वमभिन्नधारः।
चिदेकतासङ्कलितात्मभासा समग्रमुच्चावचमस्यसीश ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन्! (उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा) जिनका निर्मल तेज उत्तरोत्तर उछल रहा है—वृद्धिको प्राप्त हो रहा है तथा (अभिन्नधारः) जिनकी ज्ञानकी धारा सदा अखण्ड

रहती है, ऐसे (त्वम्) आप (प्रकाशमानः) प्रकाशमान हो रहे हैं। तथा आप (चिदेकतासङ्कलितात्मभासा) चित्स्वभावके एकत्वसे युक्त आत्मदीप्तिके द्वारा (समग्रं) सम्पूर्ण (उच्चावचं) उत्कृष्ट अनुत्कृष्टके भेदको (अस्यसि) दूर कर रहे हैं।

भावार्थ—रागधारा और ज्ञानधारा ये दो धाराएं हैं। मोहकर्मके उदयसे जो मोह तथा रागद्वेषरूप परिणति होती हैं वह रागधारा कहलाती है। इसीको अध्यात्ममे विभाव परिणति कहते हैं और पदार्थका ज्ञाता-द्रष्टा होना यह ज्ञानधारा कहलाती है। इसीको अध्यात्ममे स्वभाव परिणति कहते है। इस जीवकी अनादिकालसे रागधारामें परिणति हो रही है अर्थात् मिथ्यादृष्टि अवस्थामें जीव यह नही समझ पाता है कि मोह तथा राग-द्वेषसे भिन्न भी कोई धारा होती है। परन्तु जब मिथ्यादृष्टि अवस्थाको पारकर जीव सम्यग्दृष्टि अवस्थामे आता है तब वह यह समझने लगता है कि रागधारा मेरा स्वभाव नही है, इसके विपरीत ज्ञानधारा ही मेरा स्वभाव है। इस प्रकार श्रद्धाकी दृष्टिसे ज्ञानधाराकी ओर इसका लक्ष्य होने तो लगता है, परन्तु चारित्रमोहका उदय रहनेके कारण स्थायी रूपसे उसपर आरूढ नही रह पाता। यह अवस्था मिथ्यात्वके अनन्तर दशम गुणस्थानतक चलती है। इसके अनन्तर जब मोहका सर्वथा क्षय हो जानेसे आत्मामे पूर्ण वीतरागता प्रकट होती है तब रागकी धारा सूख जाती है मात्र एक ज्ञानकी धारा प्रवाहित रहती है। हे भगवन्! इस अरहन्त अवस्थामे आपकी रागधाराका सर्वथा अभाव हो चुका है, मात्र एक ज्ञानधारा प्रवाहित हो रही है अर्थात् आप ससारके इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंको जानते तो हैं, परन्तु उनमे इष्ट अनिष्टकी कल्पना नही करते। उस ज्ञानधारामे जब मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानका विकल्प रहता है तब उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टका भेद आता है। केवलज्ञान उत्कृष्ट है और उसके पूर्व मतिज्ञानादि अनुत्कृष्ट है। परन्तु जब सामान्य चित्स्वरूप—एक सामान्य ज्ञानगुणकी ओर दृष्टि जाती है तब ज्ञानके भीतर होनेवाले मतिज्ञानादि भेद स्वयं समाप्त हो जाते है, एक ज्ञान सामान्य ही अनुभवमे आता है। इस दशामे उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टका विकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। शुद्धनय विशेषको ग्रहण न कर सामान्यको ग्रहण करता है, अतः उसकी दृष्टिमे उत्कृष्ट अनुत्कृष्टका भेद स्वय ही चला जाता है ॥४॥

समुच्छलत्यत्र तदाद्वितीये महौजसश्चिन्महसो महिम्नि।
जलप्लवप्लावितचित्रनीत्या विभाव्यते विश्वमपि प्रमृष्टम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अत्र) इस लोकमे (तदा) उस शुद्धनयकी दशामे (महौजसः) अतिशय तेजस्वी (चिन्महसः) ज्ञान-दर्शनचैतन्यरूप तेजकी (अद्वितीय) अनुपम (महिम्नि) महिमाके (समुच्छलति 'सति') वृद्धिगत होनेपर (विश्वमपि) समस्त विश्व भी (जलप्लवप्लावितचित्रनीत्या) जलके प्रवाहसे प्लावित चित्रके समान (प्रमृष्टं) परिमार्जित (विभाव्यते) जान पडता है।

भावार्थ—हे भगवन्! इस अरहत अवस्थामे आपका तेज अत्यन्त विशाल है, इसीलिये तो सौ इन्द्र निरन्तर आपको नमस्कार करते हैं। इस समय आपके चैतन्य ज्ञानदर्शनकी अद्वितीय महिमा सर्वत्र उच्छलित हो रही है—सबसे अधिक प्रतीतिमे आ रही है, इसलिये आपका शेष संसार जलके पूरसे धुले हुए चित्रके समान पुछ गया है—निष्प्रभ हो गया है। यद्यपि आप अभी अन्तिम मनुष्य पर्यायमे है तथापि जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो चुके है—जीवित रहते हुए भी मुक्तके समान हो गये है। अथवा आपके चैतन्यस्वभावकी महिमा बढनेपर आपके सुख वीर्य

अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व आदि गुण तिरोहितके समान हो गये हैं, उन सब गुणोंमे प्रमुखरूपसे एक चैतन्यस्वभावज्ञान-दर्शन गुण ही प्रकट हो रहा है। चैतन्य स्वभावकी महिमा ही इस प्रकारकी है कि उनके प्रकट होनेपर अन्य सब गुण उसीके अन्तर्गत हो जाते है ॥५॥

विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः स्वरूपगुप्तस्य चकासतस्ते ।
अयं स्फुटः स्वानुभवेन काममुदीर्यते भिन्नरसः स्वभावः ॥६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः) जिनका तेज वीतराग विज्ञान—केवलज्ञानसे सम्बद्ध है तथा जो (स्वरूपगुप्तस्य चकासत) आत्मस्वरूपसे सुरक्षित होकर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे (ते) आपका (स्वानुभवेन) स्वानुभवसे (स्फुट) स्पष्ट प्रकट हुआ (भिन्नरस) विभावपरिणतिसे भिन्न रसवाला (अय) यह (स्वभावः) स्वभाव (कामं 'यथा स्यात्तथा') अच्छी तरह (उदीर्यते) प्रकट हो रहा है—स्पष्टरूपसे अनुभवमे आ रहा है।

भावार्थ—ज्ञान-दर्शन आत्माका स्वभाव है और राग-द्वेषादिक विभाव है। ससारी जीवका स्वभाव, राग-द्वेषरूप विभावपरिणामोसे सयुक्त होनेके कारण एक वीतराग विज्ञानसे ही सबद्ध नही रह पाता है, उसमे राग-द्वेषकी लहर उठनेसे स्वरूप निमग्नता नही रह पाती है। परन्तु अरहन्त अवस्थामे राग-द्वेपकी लहरका सर्वथा अभाव हो जानेसे अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावमे ही लीनता रहती है। हे भगवन् ! जिस प्रकार वायु रहित स्थानमे रखे हुए दीपककी ज्योति अपने आपमे स्थिर—निमग्न रहती है उसी प्रकार आप भी अपने स्वरूपमे स्थिर—निमग्न है। विभाव परिणतिके नष्ट हो जानेसे आपकी यह स्वरूप निमग्नता स्वय सुशोभित हो रही है। इस दशामे आपका यह ज्ञान-दर्शन स्वभाव पूर्ववर्ती विभाव परिणतिसे भिन्न स्वादवाला हो गया है, क्योकि सराग ज्ञानकी अपेक्षा वीतराग विज्ञानकी अनुभूति भिन्न प्रकारकी होती है। सराग ज्ञान, पदार्थको जानते समय उसमे इष्ट-अनिष्टकी अनुभूति भी करता है, परन्तु वीतराग विज्ञान पदार्थको जानते समय इष्ट-अनिष्ट की अनुभूतिसे सर्वथा रहित हो जाता है। आपका यह स्वभाव, स्वानुभवमे अच्छी तरह प्रकट हो रहा है ॥६॥

अभावभावादिविकल्पजालं समस्तमप्यस्तमयं नयन्नः ।
समुच्छलद्बोधसुधाप्लवोऽयं स्वभाव एवोल्लसति स्फुटस्ते ॥७॥

अन्वयार्थ—(नः) हमारे (समस्तम् अपि) सभी प्रकारके (अभावभावादिविकल्पजाल) अभाव तथा भाव आदि विकल्पोके समूहको (अस्तमय नयन्) अस्तभावको प्राप्त कराता हुआ (समुच्छलद्बोधसुधाप्लवः) सब ओर उच्छलित होनेवाले ज्ञानरूप अमृतके प्रवाहसे सहित (ते) आपका (अयं) यह (स्फुटः) स्पष्ट (स्वभाव एव) स्वभाव ही (उल्लसति) उल्लसित हो रहा है—प्रतीतिमे आ रहा है।

भावार्थ—नयात्मक श्रुतज्ञानकी अपेक्षा विचार करनेपर पदार्थ पर चतुष्टय पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अभावरूप होता है और स्वचतुष्टयसे भावरूप रहता है। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य रहता है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य रहता है। सामान्यसे एक है और विशेषसे अनेक है। इस प्रकार नाना प्रकारके विकल्प उत्पन्न होते रहते है। परन्तु केवलज्ञान इन सब विकल्पोंको समाप्त कर देता है। उसके होने पर ये सब विकल्प स्वयमेव विनाशको प्राप्त हो जाते है। हे भगवन्

जिसमे वीतरागविज्ञानरूप अमृतका पूर उच्छलित होता रहता है ऐसा आपका स्वभाव ही इस अरहन्त अवस्थामे प्रकट हो रहा है, रागादिविभाव समूल नष्ट हो चुका है ॥७॥

स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः स्फुटप्रकाशस्य तवोज्जिहासोः ।
समन्ततः सम्भृतबोधसारः प्रकाशपुञ्जः परितश्चकास्ति ॥८॥

अन्वयार्थ—(स्वभावबद्धाचलितैदृष्टे) जिनकी दृष्टि स्वभावमे बद्ध होकर अचल-स्थिर हो चुकी है (स्फुटप्रकाशस्य) जिनका ज्ञानरूप प्रकाश अत्यन्त स्पष्ट है तथा (उज्जहासो.) जो ऊर्ध्वगतिस्वभावसे लोकान्तमे विद्यमान सिद्धालयको प्राप्त करना चाहते है ऐसे (तव) आपका (समन्तत. सम्भृतबोधसार) सब ओरसे श्रेष्ठ ज्ञानसे परिपूर्ण (प्रकाशपुञ्ज.) आत्मप्रकाशका समूह (परित') सभी ओर (चकास्ति) सुशोभित हो रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! चारित्रमोहजन्य चञ्चलताके नष्ट हो जानेसे आपकी दृष्टि, स्वभावमे बद्ध और अचल हो गई है । यद्यपि दर्शनमोहके नष्ट हो जानेसे वह स्वरूपमे बद्ध तो पहले ही हो चुकी थी, तथापि चारित्रमोहजन्य चञ्चलताके कारण उसमे अचलित नही हो पाती थी । यतश्च अब वह चञ्चलता नष्ट हो चुकी है, इसलिये वह स्वभावमे बद्ध और अचल हो चुकी है । आपकी अन्तरात्मा अन्त प्रकाशसे प्रकाशित है तथा आप नियमसे उज्जिहासु-ऊर्ध्वगमन करनेवाले है । चौदहवें गुणस्थानके अन्तमे सत्तास्थित पचासी कर्म प्रकृतियोका क्षय कर एक समय मात्रमे लोकके शिखर पर विराजमान होनेवाले है । लोकालोकावभासी होनेसे केवलज्ञान, समस्त ज्ञानोमे सारभूत है । इस केवलज्ञानको आपने समस्त आत्मप्रदेशोंमे धारण किया है । इस प्रकार आपका यह आभ्यन्तर प्रकाशका समूह सब ओर सुशोभित हो रहा है तथा शरीरकी दीप्तिरूप बाह्य प्रकाश भी चारो ओर विस्तृत हो रहा है ॥८॥

अनादिमध्यान्तचिदेकभासि प्रकाशमाने त्वयि सर्वतोऽपि ।
एकाखिलक्षालितकश्मलेयं विलासमायात्यनुभूतिरेव ॥९॥

अन्वयार्थ—(अनादिमध्यान्तचिदेकभासि) जिनके चैतन्यकी अद्वितीय दीप्ति आदि मध्य और अन्तसे रहित है ऐसे (त्वयि) आपके (सर्वतोऽपि) सभी ओर (प्रकाशमाने 'सति') प्रकाशमान होनेपर (अखिलक्षालितकश्मला) जिसने सम्पूर्णरूपसे पापोको नष्ट कर दिया है (इय) यह ऐसी (एका) एक (अनुभूति' एव) अनुभूति ही (विलास) शोभाको (आयाति) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जो चैतन्यस्वभाव है वह आदि मध्य और अन्तसे रहित है, क्योकि प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव त्रैकालिक होता है । ऐसे अद्वितीय चैतन्यस्वभावसे सहित आप जब प्रकाशमान होने लगते है अर्थात् मेरी दृष्टि जब एक आपके ही ऊपर केन्द्रित हो जाती है तब मुझे नियमसे आत्मानुभूति होने लगती है । आपके जाननेमात्रसे मेरा लक्ष्य अपने शुद्धस्वरूपकी ओर जाने लगता है और उस स्थितिमे मेरे सब पाप नियमसे विलीन हो जाते है । अन्यत्र भी कहा है—जो द्रव्य गुण और पर्यायकी अपेक्षा अरहन्तको जानता है वह अपनेको जानता है और अपने आपको जाननेवालेका मोह नियमसे विलीन हो जाता है[१] ।

---

१. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥८०॥—प्रवचनसार

तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे चकासति व्यापिनि नित्यपूर्णे ।
न खण्डनं कोऽपि विधातुमीशः समन्ततो मे निरुपप्लवस्य ।।१०।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अत्र) इस लोकमे (अनुभूतिमात्रे) एक अनुभूतिरूप (व्यापिनि) व्यापक तथा (नित्यपूर्णे) निरन्तर पूर्ण रहनेवाले (तव) आपके (तेजसि) तेजके (चकासति 'सति') सुशोभित होते हुए (समन्तत.) सब ओरसे (निरुपप्लवस्य) उपद्रवरहित (मे) मेरा (खण्डन विधातु) खण्डन करनेके लिये (कोऽपि न ईशः) कोइ भी समर्थ नही है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! केवलज्ञानरूप जो आपका तेज है उसका अनुभव तो किया जा सकता है, परन्तु शब्दोके द्वारा उसका निरूपण नही किया जा सकता । वह सर्वत्र व्यापक है अर्थात् लोक-अलोकके समस्त पदार्थोको जाननेके कारण सर्वत्र व्याप्त कहलाता है और नित्यपूर्ण है—निरन्तर पूर्णताको प्राप्त है । क्षायोपशमिक ज्ञान तो चन्द्रमाकी कलाओके समान हीनाधिकरूपसे विद्यमान रहता है, परन्तु क्षायिक ज्ञान केवलज्ञान, सूर्य विम्बके समान सदा पूर्ण ही प्रकट होता हैं । इस प्रकारका केवलज्ञानरूप अद्वितीय तेज जब प्रकाशमान हो रहा है तब मै सभी ओरसे निरुपद्रव हूँ—आपके सर्वज्ञ स्वभावकी श्रद्धा होनेसे मै अपने आपमे निर्बाध हो गया हूँ । मेरा विश्वास हो गया है कि जैसा सर्वज्ञस्वभाव आपका है वैसा ही मेरा है । मेरी इस श्रद्धाको अन्यथा करनेकी सामर्थ्य अब किसीमे नही है । लौकिक दृष्टिसे भी रात्रिके सघन अन्धकारमे ही किसीको अन्य शत्रुओसे मारे जानेका भय रहता है, परन्तु जब सूर्यका प्रकाश चारो ओर फैल रहा हो तब किसी को किसी ओरसे मारे जानेका भय नही रहता । इसके सिवाय केवलज्ञानका यह एक अतिशय भी है कि जहा केवली भगवान् विद्यमान रहते है वहा अदया और उपसर्गका वातावरण स्वय नष्ट हो जाता है ।।१०।।

चित्तेजसा साकमनादिमग्नचित्तेजसोन्मज्जसि साकमेव ।
न जातुचिन्मुञ्चसि चण्डरोचिः स्फुरत्तडित्पुञ्ज इवात्मधाम ।।११।।

अन्वयार्थ—(चित्तेजसा) चैतन्यरूप तेजके (साक) साथ (अनादिमग्न) अनादि कालसे मग्न रहनेवाले आप (चित्तेजसा) चैतन्यरूप तेजके (साकमेव) साथ ही (उन्मज्जसि) उन्मग्न-प्रकट होते है (चण्डरोचि. स्फुरत्तडित्पुञ्ज इव) तीक्ष्ण कान्ति देदीप्यमान बिजलियोके समूहके समान (जातुचित्) कभी भी (आत्मधाम) आत्मतेजको (न मुञ्चसि) नही छोडते है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! केवलज्ञानरूप तेज, यद्यपि आपकी आत्माका अद्वितीय गुण है तथापि वह कर्माच्छादित होनेके कारण अनादि कालसे अप्रकट रहा है, परन्तु अब कर्मपटलके विघटित होनेसे वह पूर्णरूपसे प्रकट हुआ है । अब वह सदा देदीप्यमान रहेगा और एक साथ कौदती हुई बिजलियोके समूहके समान प्रकाशसे परिपूर्ण होगा । तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान, ज्ञानगुणकी सादि और अनन्त पर्याय है । जिस प्रकार अन्य दर्शन, अपने ईश्वरको अनादि सिद्ध और अनादि सर्वज्ञ स्वीकृत करते है उस प्रकार जैन दर्शन उसे अनादि सिद्ध और अनादि सर्वज्ञ स्वीकृत नही करता । उसकी मान्यता है जो जीव अनादि कालसे कर्मपटलसे आच्छादित तथा अज्ञानी रहा है वही अपनी साधनाओसे कर्मपटलको विघटित कर वीतराग और सर्वज्ञ होता है ।।११।।

समन्ततः सौरभमातनोति तवैष चिच्छक्तिविकासहासः ।
कस्याप्यमुञ्चिन्मकरन्दपानलौल्येन धन्यस्य दृशो विशन्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्[!] (तव) आपका (एषः) यह (चिच्छक्तिविकासहास.) चैतन्य-शक्तिका विकासरूप हास्य (समन्ततः) सब ओर (सौरभ) सुगन्धको (आतनोति) विस्तृत कर रहा है। सो (कस्यापि धन्यस्य दृशः) किसी भाग्यशाली मनुष्यकी दृष्टि ही (चिन्मकरन्दपानलौल्येन) चैतन्यरूप मकरन्दके पानकी तृष्णासे (अमु) इस सुगन्धको (विशन्ति) प्राप्त होती है—उसका उपभोग करती है, सबकी नही।

भावार्थ—जिस प्रकार सब ओर फैलनेवाली पुष्पसमूहकी सुगन्धका उपभोग कोई भाग्य-शाली मनुष्य ही कर सकते है सब नही, उसी प्रकार सब ओर अपना प्रभाव स्थापित करनेवाले आपके चैतन्यस्वभावकी महिमाको कोई निकट भव्य जीव ही श्रद्धाका विषय बना सकते है, सब नही। तात्पर्य यह है कि वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रकी श्रद्धा उन्ही निकट भव्य जीवोको होती है जिनके हृदयमे चैतन्य स्वभावके रसास्वादनकी सदा आकाक्षा रहती है ॥१२॥

त्वमेक एवैकरसस्वभावः सुनिर्भरः स्वानुभवेन कामम् ।
अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीर्विगाहसे सैन्धवखिल्यलीलाम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(एकरसस्वभाव) जो एक ज्ञायक स्वभावसे सहित है, (स्वानुभवेन कामं सुनिर्भर) जो स्वानुभवसे यथेच्छ परिपूर्ण है और (अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्री.) जिनकी आभ्यन्तर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्यके पिण्डके सहित है ऐसे (एकः) एक (त्वमेव) आप ही (सैन्धव-खिल्यलीलाम्) नमककी डलीकी लीलाको (विगाहसे) प्राप्त हो रहे है।

भावार्थ—जिस प्रकार नमककी डलीका एक एक कण क्षाररससे व्याप्त है उसी प्रकार हे भगवन्[!] आपका एक एक प्रदेश ज्ञायक स्वभावसे परिपूर्ण है। जब क्षायोपशमिक ज्ञान, चारित्रमोहजनित रागसे सहित होता है तब वह नाना ज्ञेयोमे सलग्न रहता है, परन्तु जब वह रागसे सर्वथा रहित हो जाता है तब स्वरूपमे स्थिर होने लगता है। क्षायिक ज्ञान रागसे रहित ही होता है, क्योकि पूर्ण वीतरागदशा होनेपर ही उसकी उत्पत्ति होती है, अत. क्षायिक ज्ञान स्वरूपमे स्थिर रहता है इसी अभिप्रायसे आपको स्वानुभवसे यथेच्छ परिपूर्ण कहा है ॥१३॥

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्रार्द्र एव स्वरसेन भासि ।
प्रालेयपिण्डः परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवतायुतोऽपि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतः) विशुद्ध चैतन्यके पूरमे सब ओरसे डूबे हुए (त्वम्) आप (स्वरसेन) आत्मरससे (आर्द्रार्द्र. एव) अत्यन्त आर्द्र ही (भासि) सुशोभित हो रहे है, क्योकि (प्रालेयपिण्ड.) बर्फका पिण्ड (अद्रवतायुतोऽपि) घनरूपतासे युक्त होने पर भी (सदा) सर्वदा (परित) सब ओरसे (आर्द एव) आर्द ही (विभाति) प्रतीत होता है।

---

१ अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्मह परममस्तु न सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

—समयसारकलश

भावार्थ—जिस प्रकार बर्फका पिंड यद्यपि द्रवता—तरलतासे युक्त नही है, किन्तु जमकर शिलाके समान अद्रवरूप हो गया है। तथापि वह सदा आर्द्र ही रहता है, उसमेसे पानी झरता हुआ मालूम होता है उसी प्रकार विशुद्ध चैतन्यके पूरसे परिप्लुत रहनेवाले आप स्वरस—एक ज्ञायक-स्वभावसे युक्त ही प्रतीत होते है ॥१४॥

अपारबोधामृतसागरोऽपि स्वपारदर्शी स्वयमेव भासि।
त्वमन्यथा स्वानुभवेन शून्यो जहासि चिद्वस्तुमहिम्नि नेच्छाम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप (अपारबोधामृतसागरोऽपि 'सन्') अपार ज्ञानरूप अमृतके सागर होकर भी (स्वयमेव) अपने आप ही (स्वपारदर्शी) एक आत्माके पारदर्शी (भासि) मालूम हो रहे है। (अन्यथा) यदि ऐसा नही होता तो (त्वं) आप (स्वानुभवेन) स्वानुभावमे (शून्यः) रहित होते तथा (चिद्वस्तुमहिम्नि) चैतन्यरूप वस्तुकी महिमामे (इच्छाम्) इच्छाको (न जहासि) नही छोडते।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप अनन्त ज्ञानके सागर हो—लोक-अलोकके ज्ञाता हो *तथापि निश्चय नयसे मात्र आत्मदर्शी हो। यदि ऐसा न होता तो आप स्वानुभवसे शून्य होते* और चिद्वस्तुकी महिमाकी इच्छासे रहित नही होते। यतश्च आप तद्विषयक इच्छासे रहित हो चुके है, अत. सिद्ध है कि आप आत्मदर्शी है ॥१५॥

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं समग्रपिण्डीकृतबोधसारः।
ददाति नैवान्तरमुद्धतायाः समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (समग्रपिंडीकृतबोधसार.) जिसमे ज्ञानका सार सम्पूर्णरूपसे एकत्र समाविष्ट किया गया है ऐसा (अय) यह (तव) आपका (अखण्डित·) कभी खण्डित न होने-वाला (स्वानुभव) स्वानुभव (समन्तत) सब ओरसे (उद्धतायाः) बहुत भारी (ज्ञानपरम्परायाः) ज्ञानकी परम्पाराको (अन्तर) अवकाश (नैव ददाति) नही देता है।

भावार्थ—ज्ञानका फल स्वानुभूति है, इसके प्रकट होते ही विकल्पात्मक ज्ञानकी परम्परा स्वय समाप्त हो जाती है। हे भगवन्! आपने स्वानुभवकी उस अपूर्व अवस्थाको प्राप्त कर लिया है जहा ज्ञान और ज्ञेयका विकल्प समाप्त हो जाता है ॥१६॥

निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्तविश्वोर्मिभरः स्वभावः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अनन्ते) अन्त रहित (स्वमहिम्नि) स्वकीय आत्माकी महिमामे (निषीदत) स्थित रहनेवाले (ते) आपका (अयं एक. एव) यह एक ही (स्वभाव) स्वभाव (सदा) सदा (उदेति) उदित रहता है जो (निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः) निरन्तर प्रकट हुई स्वानुभूतिसे सहित है, (स्फुट) स्पष्ट है और (विश्रान्तविश्वोर्मिभरः) जिसमे समस्त तरङ्गोका समूह—ज्ञानसन्ततियाँ विकल्पोंका जाल विश्रान्त हो जाता है—शान्त हो जाता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप स्वरूपरमणकी उस उत्कृष्ट दशाको प्राप्त हो चुके हैं जहाँ निरन्तर स्वकी अनुभूति होती हैं और परज्ञेयका विकल्प दूर हो जाता है ॥१७॥

सर्वा क्रिया कारककश्मलैव कर्त्रादिमूला किल तत्प्रवृत्तिः ।
शुद्धः क्रियाचक्रपराङ्मुखस्त्वं भामात्रमेव प्रतिभासि भावः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(सर्वा क्रिया) जो भी क्रिया होती है वह सब (कारककश्मला एव) कारकोंसे युक्त ही होती है, क्योंकि (किल) निश्चयसे (तत्प्रवृत्ति.) उस क्रियाकी प्रवृत्ति (कर्त्रादिमूला) कर्ता आदि कारकोके निमित्तसे होती है। हे भगवन् ! आपका (शुद्धः भाव·) शुद्धभाव (क्रियाचक्रपराङ्मुख·) क्रियाकलापसे पराङ्मुख हो चुका है, अतः (त्वम्) आप (भामात्रमेव) एक अन्तर्दीप्तिरूप ही (भासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—जहाँ क्रियाका विकल्प होता है वहा कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान और अधिकरण इन छह कारकोंका विकल्प नियमसे आता है। प्रारम्भमे भिन्न कारकचक्रका विकल्प रहता है पश्चात् धीरे धीरे परकारक चक्रका विकल्प समाप्त होकर अभिन्नकारक चक्रका विकल्प आता है और अन्तमे वह विकल्प भी समाप्त होता है। यह दशा तब प्रकट होती है जब आत्मा क्रियाचक्रसे पराङ्मुख होता है और क्रियाचक्रसे पराङ्मुख तब होता है जब पूर्ण कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त होता है। हे भगवन् ! आप पूर्ण कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त हुए हे अतः क्रियाचक्रसे पराङ्मुख हैं और यत क्रियाचक्रसे पराङ्मुख है अत कारकचक्रकी प्रक्रियासे भी उत्तीर्ण है। अब तो आप ज्ञानमात्र हैं। कौन जाननेवाला है और किसको जानता है यह सब विकल्प स्वतः समाप्त हो गया हैं ॥१८॥

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं स्वस्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः ।
अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्न कारकाणीश दृगेव भासि ॥१९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इह) यहा (सुप्रसन्न) अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त हुए (स्व) आप (स्वस्मिन्) अपने आपमे (स्वस्मै) अपने आपके लिये (स्वत) अपने आपसे (स्व एकभावं) एक अपने आपको (स्वय) अपने आपके द्वारा (पश्यसि) देख रहे है—निर्विकल्परूपसे जान रहे है। इस प्रकार (ईश) हे नाथ ! आप (अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितः) द्रष्टा और दृश्यके अभेदसे स्थित है, (अस्मात्) इसलिये (न कारकाणि) दृष्टि क्रियाके कारक नही है, आप (दृगेव) दर्शनरूप ही (भासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—पूर्व श्लोकमे जिस प्रकार ज्ञप्तिक्रियासम्बन्धी कारकचक्रसे उत्तीर्ण कर भगवान् को ज्ञानमात्र कहा था उसी प्रकार यहा दृष्टिक्रियासम्बन्धी कारकचक्रसे उत्तीर्ण कर दर्शन-मात्र सिद्ध किया है। हे भगवन् ! आप इस उत्कृष्ट भूमिकामे विद्यमान है जहा द्रष्टा-देखनेवाला और दृश्य-देखने योग्य पदार्थका विकल्प समाप्त हो जाता है ॥१९॥

एकोऽप्यनेकत्वमुपैति कामं पूर्वापरीभावविभक्तभावः ।
नित्योदितैकाग्रदृगेकभावो न भाससे कालकलङ्कितश्रीः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(पूर्वापरीभावविभक्तभावः) जिसमे पूर्वभाव और परभावका भेद विभक्त रहता है ऐसा पदार्थ (एकोऽपि) एक होता हुआ भी (कामं) अच्छीतरह (अनेकत्व) अनेकपनको (उपैति) प्राप्त होता है, परन्तु हे भगवन् ! आप (नित्योदितैकाग्रदृगेकभाव.) निरन्तर उदित हुए एकाग्र

दर्शन सामान्य दर्शन गुणके कारण एकत्वभावको प्राप्त है अत· (कालकलङ्कितश्रीः न भाससे) कालसे कलङ्कित लक्ष्मीसे युक्त प्रतीत नही होते है ।

भावार्थ—एक अखण्ड द्रव्यका जब कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोकी अपेक्षा विचार होता है तब उसमे 'यह पहले और यह पीछे' इस प्रकारका भेद अनुभवमे आता है और उस अनुभवके आधारपर वह एक होनेपर भी अनेकरूप प्रतीत होता है । हे भगवन् ! आपका सामान्य दर्शन गुण सदासे उदित है, अत उसमे कालक्रमसे होनेवाले चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवल-दर्शनरूप अनेक भेद नही है । इतना ही कहा जाता है कि आप एक दर्शनरूप हैं ॥२०॥

आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः समुच्छलन् खण्डयति स्वभावम् ।
अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्रीरेको भवान् सर्वसर (रस) श्चकास्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ—(समुच्छलन्) प्रकट होता हुआ (आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः) आदि अन्त और मध्य आदि विभागोका विकल्प (स्वभावम्) स्वभावको (खण्डयति) खण्डित कर देता है—अनेक भेदोमे विभक्त कर देता है, परन्तु हे भगवन् ! (भवान्) आप (सर्वरस·) अनेकरूप होते हुए भी (अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्री·) अखण्ड-एक सामान्य दर्शनगुणसे सयुक्त होनेके कारण (एक चकास्ति) एक ही सुशोभित होते हैं ।

भावार्थ—एक ही गुणमे जब आदि मध्य और अन्तका विकल्प होता है तब वह एक होने पर अनेकरूप प्रतीत होने लगता है, परन्तु जब उसमे देश क्रमसे होनेवाले विभागक्रमको गौण कर दिया जाता है तब वह एकरूप ही अनुभवमे आता है। यत· शुद्धनय, देशक्रमसे होनेवाले विभागक्रम को गौण कर एक सामान्य—त्रिकालवर्ती भावको ग्रहण करता है अत उसकी अपेक्षा आपका दर्शनगुण आदि मध्य और अन्तके विकल्पसे रहित होनेसे एक है और उससे तन्मय होनेके कारण आप भी एक ही है ॥२१॥

भामात्रमित्युत्कलितप्रवृत्तिर्मग्न-क्रिया-कारक-काल-देशः ।
शुद्धस्वभावैकज्वलज्ज्वल (जलोज्जल) स्त्वं पूर्णो भवन्नासि निराकुलश्रीः ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् (त्वं) आप ('भामात्रम्' इत्युत्कलितप्रवृत्ति) जिनके विषयमे 'ज्ञान-मात्र' ऐसा व्यवहार होता है, (मग्नक्रियाकारककालदेश·) जिनमे क्रिया कारक काल और देशका विभाग समाप्त हो गया है, (शुद्धस्वभावैकजलोज्ज्वल) जो शुद्ध स्वभावरूप एक जलस उज्ज्वल है, (पूर्ण·) पूर्णताको प्राप्त है और (निराकुलश्री·) निराकुल लक्ष्मीसे युक्त हे ऐसे (ना असि) आत्मा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप क्रिया कारक देश काल आदिके विकल्पसे रहित, शुद्धस्वभावके धारक, पूर्णताको प्राप्त और निराकुललक्ष्मीसे सहित है ॥२२॥

एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्त्या ।
चकासतः केवलनिर्भरस्य न सङ्करस्तेऽस्ति न तुच्छतापि ॥२३॥

अन्वयार्थ—(एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्त्या) जो एकाग्र—एक आत्मस्वरूपमे स्थिर, पूर्ण, निश्चल और विभागहीन ज्ञानमात्र भावसे च्युत न होनेवाली वृत्तिसे (चकासतः) सुशोभित हो रहे हैं तथा (केवलनिर्भरस्य) 'मात्र अनेक गुणोंसे परिपूर्ण है ऐसे (ते)

आपके (सङ्कर:) सङ्कर—अनेक पदार्थोंका मिश्रण (न) नहीं है और (तुच्छतापि) शून्यता भी नही है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप जिस भामात्र ज्ञानमात्र—भावसे युक्त है वह एकाग्र है—एक आत्मस्वरूपमें स्थिर है, पूर्ण है—अपने अनन्तानन्त अविभाग प्रतिक्छेदोंसे पूर्णताको प्राप्त है, अविनश्वर हैं और मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आदिके विभागसे रहित है। उपर्युक्त शुद्ध स्वभावमे आप सदा स्थिर रहते है। आप यद्यपि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं अथवा केवलज्ञानसे युक्त हैं और उसके कारण अनन्त ज्ञेय आपके भीतर प्रतिफलित हैं तो भी आप सङ्कर नही हैं—उन ज्ञेयोंके साथ तन्मयताको प्राप्त नही है। साथ ही आप तुच्छाभावरूप नही हैं। तात्पर्य यह है कि आप पर द्रव्य गुण पर्यायोसे रहित होनेके कारण असंकीर्ण हैं और स्वद्रव्य गुण पर्यायोसे सहित होनेके कारण तुच्छाभावरूप नही है ॥२३॥

भावो भवन् भासि हि भाव एव चिताभवंश्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यासि चिच्चिदेकः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन्! (हि) निश्चयसे आप (भावो भवत् भाव एव भासि) भावरूप होते हुए भाव ही प्रतिभासित होते है अर्थात् जब आप अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा पदार्थाकार परिणमन करते हैं तब पदार्थ ही प्रतिभासित होते हैं और (चिताभवन् चिन्मय एव भासि) चेतनरूप होते हुए चेतनमय ही जान पडते है अर्थात् जब आप अन्य पदार्थोंसे निवृत्त हो अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा एक चेतन द्रव्यरूप परिणमन करते हैं तब चेतन द्रव्यसे तन्मय जान पड़ते है। (वा) अथवा (भावो न भासि चिदेव जासि) भावरूप—पदार्थरूप प्रतिभासित नही होते है, चेतनद्रव्य—आत्मद्रव्यरूप ही प्रतिभासित होते है, अथवा (चित् न भासि) चैतन्यसे विशिष्ट चित् प्रतिभासित नही होते किन्तु (एकः चिन् असि) मात्र एक चैतन्यरूप प्रतिभासित होते है।

भावार्थ—यहा भाव और भगवान् तथा गुण और गुणीमे अभेद और भेद विवक्षाको दिखलाते हुए भगवान्का स्तवन किया गया है। भाव और भगवान् अथवा गुण और गुणीमे प्रदेशभेद नही होता, अत अभेद माना जाता है और सज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद स्वीकृत किया जाता है। अभेद विवक्षामे कहा गया है कि आप भावरूप होते हुए भासित होते है अत भाव ही है अर्थात् आपमे और आपके भावमे कोई प्रदेशभेद नही है। यहाँ अभिप्राय चैतन्य और चेतनके विषयमे जानना चाहिये। आगे कहा गया है कि आप भावरूप भासित नही हो रहे है किन्तु भाववान् ही सुशोभित हो रहे हे। यहा भाव और भाववान् दोनोंमे भेद दिखाया गया है ॥२४॥

एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य भावस्य भाभारसुनिर्भरस्य।
सदाऽस्खलद्भावनयानयाहं भवामि योगीश्वर भाव एव ॥२५॥

अन्वयार्थ—(योगीश्वर) हे योगीन्द्र! (अहं) मै (एकस्य) एक (शुद्धस्य) शुद्धस्य) शुद्ध (निराकुलस्य) आकुलतारहित और (भाभारसुनिर्भरस्य) दीप्तिके समूहसे अत्यन्त भरे हुए (भावस्य) चिद्भावकी (सदा) सर्वदा (अनया) इसे (अस्खलद्भावनया) अखण्डभावनाके द्वारा (भाव एव) चिद्भावरूप ही (भवामि) होता हूँ।

भावार्थ—'जो निरन्तर जिसकी भावना करता है वह उसीरूप हो जाता है' इस सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध भावकी अनवरत भावना करनेसे मै भी उसीरूप होता हूँ ॥२५॥

ॐ

(११)

अनुष्टुप् छन्दः

इयं द्राघीयसी सम्यक्परिणाममभीप्सता ।
भवतात्मवता देव क्षपिता मोहयामिनी ॥१॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (सम्यक्परिणामम् अभीप्सता) समीचीन परिणामकी इच्छा रखनेवाले (आत्मवता भवता) आप आत्मज्ञके द्वारा (इय) यह (द्राघीयसी) सुदीर्घ (मोहयामिनी) मिथ्यात्वरूपी रात्रि (क्षपिता) नष्ट की गई है ।

भावार्थ—यहाँ मिथ्यात्वको रात्रिकी उपमा देते हुए आचार्यने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि जिस प्रकार रात्रिके घनघोर अन्धकारमे कुछ दिखाई नही देता उसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयमे भी जीवको कुछ सूझ नही पड़ता । जिस प्रकार पित्तज्वरवालेको मीठा दूध भी कड़ुआ लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्वके रहते हुए इस जीवको सुगुरुओका सदुपदेश भी अरुचिकर लगता है । यह मिथ्यात्वरूपी रात्रि बहुत बडी है अर्थात् अनादिकालसे साथमे लग रही है । हे भगवन् ! किमी अच्छे फलकी इच्छा करते हुए आपने इस मोहरूपी दीर्घ रात्रिको नष्ट किया है । किन्तु कब नष्ट किया ? जब आप आत्मवान् हुए । ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाले आत्माकी ओर जब आपका लक्ष्य हुआ तभी आप इस मोहरूपी रात्रिको नष्ट कर सके है । तात्पर्य यह है कि इस मोह-रूपी रात्रिको नष्ट करनेका श्रेष्ठ उपाय यही है कि परसे भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायोसे अभिन्न शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्रतीतिकी जाय । इसके बिना मिथ्यात्वका नष्ट होना और सम्यक्त्वका प्राप्त होना सभव नही है ॥१॥

सुविशुद्धैश्चिदुद्गारैर्जीर्णमाख्यासि कश्मलम् ।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरुद्धं पुराहृतम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानात्) अज्ञानवश (अतिरागेण) तीव्र रागके द्वारा इस जीवने (पुरा) पहले (यत्) जो (विरुद्ध) विरुद्ध-दु खदायक (कश्मल) पाप (आहृतं) सचित किया है वह (सुविशुद्धैः) अत्यन्त निर्मल (चिदुद्गारैः) चैतन्यके उद्गारोसे (जीर्ण) नष्ट हो जाता है ऐसा आप (आख्यासि) उपदेश देते है ।

भावार्थ—मिथ्यात्वदशामे अज्ञानवश बाधे हुए अशुभ कर्मोंकी अनुभाग शक्ति, सम्यक्त्वके होते ही क्षीण हो जाती है, शुभ कर्मोकी अनुभाग शक्ति बढ जाती है और सत्तामे स्थित कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है । ऐसा आपका उपदेश है ॥२॥

दीप्रः प्रार्थयते विश्वं बोधाग्निरयमञ्जसा ।
त्वं तु मात्राविशेषज्ञस्तावदेव प्रयच्छसि ॥३॥

अन्वयार्थ—(दीप्रः) अत्यन्त तेज (अयं) यह (अञ्जसा बोधाग्निः) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (विश्वं) समस्त विश्वको (प्रार्थयते) चाहती है—उसे अपना ज्ञेय बनाना चाहती है (तु) परन्तु (त्वं) आप (मात्राविशेषज्ञः) मात्रापरिणामके विशेषज्ञ है अतः (तावदेव) उतना ही ज्ञेय उसे (प्रयच्छसि) प्रदान करते है जितनेको वह निराकुलतासे जान सकती है।

भावार्थ—जिस प्रकार तीव्र जठराग्निवाला पुरुष बहुत खाना चाहता है, परन्तु 'कितनी मात्रामे भोजन देना चाहिये' इस बातको समझनेवाला वैद्य उसे उसकी शक्तिके अनुसार ही भोजन देता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ जीव अपने ज्ञानके द्वारा यद्यपि समस्त विश्वको जाननेकी अभिलाषा रखता है, परन्तु आप उसकी ज्ञानशक्तिके पारखी है अतः उसे उतना ही जाननेका उपदेश देते है जितना कि वह निराकुलतासे जान सकता है। जिनागममे बहुज्ञानकी नही, किन्तु सम्यग्ज्ञानकी प्रतिष्ठा की गई है। ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वीका पाठी मिथ्यादृष्टि जीव, कबतक संसारमे भ्रमण करेगा, इसका निर्णय नही, परन्तु अष्टप्रवचनमातृकाके जघन्य सम्यक् श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवलज्ञानी बन जाता है और आयुके निषेक क्षीण हो चुके है तो उसी अन्तर्मुहूर्तमे मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

बोधाग्निरिन्धनीकुर्वन् विश्वं विश्वमयं तव।
स्वधातुपोषमेकं हि तनुते न तु विक्रियाम् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (विश्वं विश्व) समस्त लोकको (इन्धनीकुर्वन्) अपना ईधन बनाती हुई—जानती हुई (तव) आपकी (अयं) यह (बोधाग्निः) ज्ञानरूपी अग्नि (हि) निश्चयसे (एकं स्वधातुपोष) एकमात्र आत्मगुणोका पोषण, (तनुते) करती है (न तु विक्रिया) किन्तु विकारको नही करती।

भावार्थ—जिस प्रकार जठराग्नि उचित भोजन ग्रहणकर उसके द्वारा रक्त-मास आदि धातुओका पोषण करती हुई शरीरकी वृद्धि करती है उसी प्रकार हे भगवन्! आपकी यह ज्ञानरूपी अग्नि समस्त ससारको जानकर उसके द्वारा आत्मगुणोका पोषण करती है। रागादि दोषोकी वृद्धि नही करती है ॥४॥

विश्वग्रासातिपुष्टेन शुद्धचैतन्यधातुना।
रममाणस्य ते नित्यं बलमालोक्यतेऽतुलम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(विश्वग्रासातिपुष्टेन) समस्त वस्तुओके ग्रहण करनेसे अत्यन्त पुष्ट (शुद्धचैतन्यधातुना) वीतराग विज्ञानके साथ (नित्य) निरन्तर (रममाणस्य) रमण करनेवाले (ते) आपका (अतुलम्) उपमा रहित (बलम्) वीर्य (आलोक्यते) दिखाई देता है—अनुभवमे आता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अनन्त ज्ञानके धारक हैं, अत उससे आपके अनन्त बलका अनुमान होता है, क्योंकि अनन्त बलके बिना अनन्त ज्ञानकी उत्पत्ति नही होती ॥५॥

अनन्तबलसन्नद्धं स्वभाव भावयन् विभुः।
अन्तर्जीर्णजगद्ग्रासस्त्वमेवैको विलोक्यसे ॥६॥

अन्वयार्थ—(अनन्तबलसन्नद्ध स्वभाव भावयन्) जो अनन्त बलसे युक्त स्वभावकी भावना करता है (विभु) सामर्थ्ययुक्त है तथा (अन्तर्जीर्णजगद्ग्रासः) जिसने जगत्‌रूपी ग्रासको भीतर ही भीतर जीर्ण कर दिया है—उसे अन्तर्ज्ञेय बनाकर अपने आपमें विलीन कर लिया है ऐसे (त्वमेव एकः) आप ही एक (विलोक्यसे) दिखाई देते है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अनन्त बलसे युक्त आत्मस्वभावको साक्षात् प्राप्त कर चुके है तथा समस्त विश्वको अपने ज्ञानका विषय बनाकर अपने आपमे विलीन कर चुके है ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्यसे युक्त आप ही है ॥६॥

विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः प्रयातस्तृप्तिमक्षयाम् ।
अयं निरुत्सुको भाति स्वभावभर निर्भरः ॥७॥

अन्वयार्थ—जो (विश्वग्रासात्) समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेसे—उनके ज्ञाता होनेसे (अनाकाक्ष) अज्ञात पदार्थके न रहनेके कारण उसे जाननेकी आकाक्षासे रहित है, (अक्षयाम्) अविनाशी (तृप्ति) तृप्तिको प्राप्त है, (निरुत्सुक) किसी वस्तुको प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित नही है तथा (स्वभावभरनिर्भर) स्वभावभूत ज्ञान दर्शनादि गुणोके समूहसे परिपूर्ण है ऐसे (अय) यह आप (भाति) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवका ज्ञान क्रमवर्ती है, अतः वह जब एक पदार्थमे प्रवृत्त होता है तब उसके दूसरे पदार्थके जाननेकी आकाक्षा विद्यमान रहती है। लोभ कषायसे पीडित ससारी जीव, अनेक वस्तुओके प्राप्त होनेपर भी तृप्तिका अनुभव नही करता है उसे निरन्तर अलब्ध वस्तुको प्राप्त करनेका लोभ सताता रहता है। लोभी मनुष्य किसी वस्तुको देख तत्काल उसे प्राप्त करनेके लिये उत्सुक हो उठता है और स्वभावकी ओर लक्ष्य न देकर वह सदा विभावभावो-मे ही उलझा रहता है, परन्तु हे भगवन्! आपकी परिणति, उपर्युक्त परिणतिसे विपरीत है, अत आप स्तुतिके पात्र है ॥७॥

अनन्तरूपैरुद्यद्भिरुपयोगचमत्कृतैः ।
वहस्येकोऽपि वैचित्र्यं स्वमहिम्ना स्फुटीभवन् ॥८॥

अन्यवार्थ—(स्वमहिम्ना स्फुटीभवन्) जो आत्ममहिमाके द्वारा स्पष्ट अनुभवमे आ रहे है ऐसे आप (एकोऽपि) एकरूप होकर भी (उद्यद्भि) उत्पन्न होनेवाले (अनन्तरूपै) अनन्त प्रकारके (उपयोगचमत्कृतै) उपयोगसम्बन्धी चमत्कारोंसे (वैचित्र्यं) विचित्रता—अनेकरूपताको (वहसि) धारण करते है।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप एक हैं तथापि क्षणमे परिणमनशील उपयोगके अनन्त चमत्कारोके कारण अनेकरूपताको धारण करते हैं ॥८॥

एक एवोपयोगस्ते साकारेतरभेदतः ।
ज्ञानदर्शनरूपेण द्वितयीं गाहते भुवम् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (ते) आपका (एक एव उपयोग) एक ही उपयोग (साकारेतर-भेदत) आकार और अनाकारके भेदसे (ज्ञानदर्शनरूपेण) ज्ञान और दर्शनके रूपमे (द्वितयीं भुवम्) द्विरूपताको (गाहते) धारण करता है।

भावार्थ—आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं। इसके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके रूपमे दो भेद है। केवली भगवान्‌के दोनों उपयोग युगपत् होनेसे एक ही उपयोग साकार और अनाकारके भेदसे ज्ञान तथा दर्शनके रूपमे द्विरूपताको प्राप्त है।

समस्तावरणोच्छेदान्नित्यमेव निरर्गले।
अपर्यायेण वर्तेते दृग्ज्ञप्ती विशदे त्वयि ॥१०॥

अन्वयार्थ—(समस्तावरणोच्छेदात्) समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उच्छेद—सर्वथा नाश हो जानेसे जो (नित्यमेव) निरन्तर ही (निरर्गले) निर्बाध रहते हैं ऐसे (विशदे) अत्यन्त निर्मल (दृग्ज्ञप्ती) दर्शन और ज्ञान (त्वयि) आपमे (अपर्यायेण) एक साथ (वर्तेते) विद्यमान रहते है—प्रवर्तते है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवोके पहले दर्शनोपयोग होता है उसके पश्चात् ज्ञानोपयोग होता है, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्‌के दोनो उपयोग एक सा॰ प्रवृत्त होते हैं। बारहवें गुणस्थानके अन्तमे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते है। ये दोनो ही उपयोग अत्यन्त निर्मल रहते है तथा बाधक कारणोका अभाव हो जानेसे निर्बाध होते है। हे भगवन्! क्योकि आप सर्वज्ञ है, अत॰ आपके तथोक्त दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग एक साथ प्रवृत्त रहते है। दर्शनोपयोग सामान्य अर्थात् आत्माको ग्रहण करता है और ज्ञानोपयोग—विशेष अर्थात् बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करता है ॥१०॥

दृग्ज्ञप्त्योः सहकारीदमनन्तं वीर्यमूर्जितम्।
सहतेऽनन्तरायं ते न मनागपि खण्डनम् ॥११॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (दृग्ज्ञप्त्यो.) दर्शन और ज्ञानका (सहकारि) सहकार करनेवाला—उनके साथ-साथ प्रकट होनेवाला (ऊर्जित) अत्यन्त शक्तिसम्पन्न (अनन्तरायं) निर्विघ्न (इदं) यह (ते) आपका (अनन्त वीर्यं) अनन्त बल (मनागपि) किञ्चित् भी (खण्डन) खण्डनको (न सहते) सहन नही करता है।

भावार्थ—बारहवे गुणस्थानक अन्तमे जिस प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका सर्वथा उच्छेद होता है उसी प्रकार अन्तराय कर्मका भी सर्वथा उच्छेद होता है। उसका उच्छेद होनेसे आत्मामे क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य ये पाच गुण प्रकट होते हैं। यहा प्रमुखरूपसे वीर्यगुणका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का सहकार करनेवाला आपका अनन्त वीर्य भी सर्वदा निर्बाध रहता है। यह अनन्त वीर्य, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका सहकारी इसलिये होता है कि इसके बिना आत्मा उन उपयोगोको धारण करनेमे समर्थ नही होता है। यह क्षायिक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी बात रही, परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके लिये भी उनके साथ प्रकट होनेवाले क्षायोपशमिक वीर्यकी आवश्यकता रहती है ॥११॥

अखण्डदर्शनज्ञानप्राग्लभ्यग्लापिताऽखिलः।
अनाकुल. सदा तिष्ठन्नेकान्तेन सुखी भवान् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अखण्डदर्शनज्ञानप्राग्लभ्यग्लापिताखिलः) पूर्ण दर्शन और ज्ञानकी सामर्थ्यसे जिन्होंने सबको गृहीत कर दिया है—एक साथ समस्त पदार्थोंको जान लिया है और इसलिये जो (सदा) निरन्तर (अनाकुलः) आकुलतासे रहित (तिष्ठन्) स्थित है ऐसे (भवान्) आप (एकान्तेन) नियमसे (सुखी) सुखसपन्न है ।

भावार्थ—ऊपरके दो श्लोकोमे अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्यका वर्णन किया गया था । इस श्लोकमे अनन्त सुखका वर्णन किया जा रहा है । छद्मस्थ अवस्थामे क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है । इसलिये अज्ञान और अदृष्ट पदार्थको जानने देखनेकी आकाङ्क्षारूप आकुलता विद्यमान रहती है, परन्तु सर्वज्ञ अवस्थामे ज्ञान और दर्शन एक साथ प्रवर्तते हैं, साथ ही मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे किसी पदार्थके जाननेकी आकाङ्क्षा नही रहती, इसलिये पूर्णरूपसे निराकुलता रहती है । यह निराकुलता ही सुख कहलाती है। हे भगवन् । तथोक्त निराकुलतासे युक्त होनेके कारण आप नियमसे सुखी है । इस प्रकार आप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख इस अनन्त चतुष्टयसे युक्त है ॥१२॥

स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वान्न सुखी मन् प्रमाद्यसि ।
नित्यव्यापारितानन्तवीर्य जोन्यसि (जानासि) पश्यसि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(नित्यव्यापारितानन्तवीर्य) जिनका अनन्त वीर्य निरन्तर व्यापारयुक्त है ऐसे हे जिनेन्द्र ! आप (सुखी सन्) सुखी रहते हुए (न प्रमाद्यसि) प्रमाद नही करते है और (स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वात्) स्वय दर्शन और ज्ञानरूप होनेसे पदार्थोंको (जानासि पश्यसि) जानते देखते है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त वीर्यसे युक्त होते हुए अनन्त सुखसे सम्पन्न है, तथा सुखी होनेपर प्रमाद नही करते, एव स्वय अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनरूप होनेसे पदार्थोंको जानते देखते है । तात्पर्य यह है कि आप अनन्त चतुष्टयसे युक्त है ।

नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्योर्न तवास्ति मनागपि ।
सतः स्वयं दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण वस्तुनः ॥१४॥

अन्वयार्थ—जो (वस्तुनः) वस्तुके (दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण) दर्शन और ज्ञानकी क्रिया मात्रसे (स्वय सतः) स्वयं सदा विद्यमान है—वस्तुको सदा देखते और जानते रहते है ऐसे (तव) आपके (दृशिज्ञप्त्योः) दर्शन और ज्ञानमे (मनागपि) किञ्चित् भी (नश्वरत्व) नश्वरपना (नास्ति) नही है ।

भावार्थ—यतश्च आप ससारके समस्त पदार्थोंको स्वय जानते देखते रहते है, इसलिये आपके दर्शन और ज्ञान सदा विद्यमान रहते है उनका कभी रञ्चमात्र भी नाश नही होता है ॥१४॥

न ते कर्त्रादि(द्य)पेक्षित्वाद् दृशिज्ञप्त्योरनित्यता ।
स्वयमेव सदैवासि यतः षट्कारकीमयः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत) क्योकि आप (स्वयमेव) स्वयं ही (षट्कारकीमय) छह कारकरूप (सदैव) सदेव (असि) है, इसलिये (कर्त्राद्यपेक्षात्वात्) कर्ता आदि कारकोंकी अपेक्षा करनेसे (ते) आपके (दृशि-ज्ञप्त्योः) दर्शन और ज्ञानमे (अनित्यता) अनित्यता (न) नही है ।

भावार्थ—अन्य संसारी जीवोंके ज्ञान दर्शन, बाह्य कारक चक्र—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण इन छह कारकोंकी सहायता पर निर्भर होनेके कारण उनके अभावमे प्रकट नही हो पाते, परन्तु आप स्वयं षट्कारकरूप है—आपने अपने आपको षट्कारकरूप कर लिया है, अतः कारकचक्रकी अपेक्षा आपके ज्ञान दर्शनके लिये आवश्यक नही है। फलस्वरूप वे सदा प्रकट रहते हैं ॥१५॥

दृश्यज्ञे(य)बहिर्वस्तुसान्निध्य नात्र कारणम् ।
कुर्वतो दर्शनज्ञाने दृशिज्ञप्तिक्रिये तव ॥१६॥

अन्वयार्थ—(दृशिज्ञप्तिक्रिये) जानने देखनेरूप क्रियाओको (कुर्वत·) करते हुए (तव) आपके (अत्र दर्शनज्ञाने) इन दर्शन और ज्ञानमे (दृश्य-ज्ञेयबहिर्वस्तुसान्निध्यं) दृश्य और ज्ञेयरूप बाह्य वस्तुओका सन्निधान (कारण न) कारण नही है।

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी उत्पत्तिमे देखने और जानने योग्य बाह्य वस्तुओका सन्निधान कारण पडता है, परन्तु हे भगवन् ! आप सदा जानते और देखते रहते हैं, आपके इस जानने और देखनेमे बाह्य पदार्थोंका सन्निधान कारण नही है। क्षायिक दर्शन और ज्ञानके निरावरण होनेसे उनकी ऐसी ही अद्भुत सामर्थ्य है ॥१६॥

क्रियमाणदृशिज्ञप्ती न ते भिन्ने कथञ्चन ।
स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवतः कर्मकीर्तनात् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(क्रियमाणदृशिज्ञप्ती) आपके द्वारा किये जानेवाले दर्शन और ज्ञान, यतः (स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवत·) स्वय ही दर्शन और ज्ञान होनेवाले (ते) आपके (कर्मकीर्तनात्) कर्म कहे गये है, अत (कथचन) किसी अपेक्षा आपसे (भिन्ने न) पृथक् नही है।

भावार्थ—यहाँ दर्शन ज्ञानको आपसे अभिन्न कहनेका कारण यह है कि आप स्वयं ही दर्शन ज्ञानरूप होते है। निश्चयनयसे कर्तृ-कर्मभाव एक द्रव्यमे ही बनता है, अत वही कर्ता होता है और वही कर्म ॥१७॥

क्रियां भावत्वमानीय दृशिज्ञप्तीभवन् स्वयम् ।
त्वं दृशिज्ञप्तिमात्रोऽसि भावोऽन्तर्गूढकारकः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(क्रिया) दर्शन-ज्ञानरूप क्रियाको (भावत्वम् आनीय) परिणतिरूपता प्राप्त कराके (स्वय) अपने आप (दृशिज्ञप्तीभवन्) दर्शन और ज्ञानरूप होते हुए (त्वम्) आप (अन्तर्गूढ-कारकः) जिसमे कारकचक्रका विकल्प अन्तर्गूढ हो चुका है ऐसे (दृशिज्ञप्तिमात्रभाव. असि) दर्शनज्ञानमात्र भावरूप हुए है।

भावार्थ—दर्शन और ज्ञान आत्माके गुण है, इन गुणोकी पदार्थोंको जानने देखनेरूप जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है। गुणोकी यह क्रिया कारक सापेक्ष होती है, परन्तु हे भगवन् ! आपने गुणोंमे उठनेवाले इस क्रियारूप विकल्पको समाप्त कर दिया है और स्वयं ज्ञान-दर्शनगुणरूप हो गये है। क्रियारूप विकल्पके समाप्त हो जानेसे कारकचक्रका विकल्प स्वयमेव समाप्त हो गया है। तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान दर्शनमय है ॥१८॥

दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं भवनं भवतः क्रिया ।
तस्याः कर्त्रादिरूपेण भवानुल्लसति स्वयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नित्य) नित्य ही (दृग्ज्ञप्तीभवत·) दर्शन और ज्ञानरूप होते हुए (भवत) आपका (भवन) होना (क्रिया) क्रिया है। (तस्याः) उस क्रियाके (कर्त्रा दिरूपेण) कर्ता कर्म आदि कारकके रूपसे (भवान्) आप (स्वय) स्वयं ही (उल्लमति) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन-ज्ञानरूप परिणमन करना ही आपकी क्रिया है और उस क्रियाके कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण आप स्वय है। यह अभेदनयसे षट्कारकका वर्णन है ॥१९॥

आत्मा भवसि कर्त्रेति दृग्ज्ञप्तीभवसीति तु ।
कर्मैवमपरे भावास्त्वमेव करणादयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(त्व भवसि) आप परिणत होते हैं (इति) इसलिये (आत्मा) आपका आत्मा (कर्ता) कर्ता है। (तु) और (दृग्ज्ञप्तीभवसि) आप दर्शन तथा ज्ञानरूप होते है (इति) इसलिये आपका आत्मा (कर्म) कर्म है (एव) इसी तरह (त्वमेव) आप ही (करणादय अपरे भावा) करण आदि अन्य भावरूप है।

भावार्थ—[1]जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है और जो परिणति है वह क्रिया है। इस तरह कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनो भिन्न-भिन्न नही हैं। एक आत्माकी ही परिणातियाँ हे ॥२०॥

क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारदः ।
दृशिज्ञप्तिमयो भावो भवान् भावयतां सुखः[2] ॥२१॥

अन्वयार्थ—(क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारद) जो क्रिया कारकरूप सामग्रीके अन्तर्हित करने तथा उल्लसित करनेमे निपुण है ऐसे (भवान्) आप (दृशिज्ञप्तिमय· भाव.) दर्शन-ज्ञानमय भावरूप है और (भावयतां सुख) इनकी भावना करनेवालोंको सुखदायक है।

भावार्थ—अभेद नयसे विचार करने पर क्रिया तथा कारक आदिकी सामग्री अन्तर्निमग्न हो जाती है और भेद नयसे विचार करने पर वह उल्लसित प्रकट होकर सामने आती है। हे भगवन् ! आप दोनो नयोके उपदेष्टा है अत. क्रिया कारक सामग्रीको ग्रस्त और उल्लसित करनेमे निपुण कहे जाते है। भाव और भाववान्मे अभेद विवक्षासे चर्चा करने पर आप भावस्वरूप ही अनुभवमे आते है आपका वह भाव, दर्शन और ज्ञानरूप है। जो भी पुरुष आपके इस दर्शन ज्ञानमय भावकी भावना करता है वह निराकुलतारूप सुखका पात्र बनता है ॥२१॥

---

१. य परिणमति स कर्ता य. परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥ समयसार कलश

२. सुखयति इति सुखं, सुखकारीत्यर्थ ।

अनाकुलः स्वयं ज्योतिरन्तर्बहिरखण्डितः ।
स्वयंवेदनसंवेद्यो भासि त्वं भाव एव नः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अनाकुल·) जो आकुलतासे रहित हैं (अन्तर्बहि·) भीतर बाहर (स्वयं ज्योतिः) स्वयं ज्योतिस्वरूप है (अखण्डितः) अखण्डित है—गुण-गुणीके भेदसे रहित हैं और (स्वयंवेदन-सवेद्यः) स्वसवेदनके द्वारा संवेदन करनेके योग्य है ऐसे (त्वं) आप (न) हमारे लिये (भाव एवं) भावरूप ही (भासि) प्रतीत होते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप मोह और क्षोभसे रहित होनेके कारण आकुलतासे रहित है, अन्तर्ज्योति—दर्शन और बहिर्ज्योति—ज्ञानसे तन्मय हैं, प्रदेशभेद न होनेसे अखण्डित हैं तथा स्वसवेदनके द्वारा अनुभव करनेके योग्य है, अतः आप हमे भावरूप ही प्रतीत होते है। यहां भाव और भाववान्मे अभेदनयसे एकत्वका वर्णन करते हुए भगवान्को भावरूप कहा गया है ॥२२॥

एवमेवेति न क्वापि यदुपैष्यवधारणम् ।
अवधारयतां तत्त्वं तव सैवावधारणा ॥२३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण वस्तु (एवमेव) इसी प्रकार है (इति) इस तरह (क्वापि) कही भी आप (अवधारण) नियमको (न उपैषि) प्राप्त नही होते है (तत्) उस कारण (तव तत्त्वम् अवधारयता) आपके तत्त्वकी अवधारणा—निश्चय करनेवालोको (सेव) वही (अव-धारणा) अवधारणा होती है अर्थात् जिस प्रकार आप किसी विषयमे एकरूपता—एकान्तदृष्टिका अवलम्बन नही लेते उसी प्रकार आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वका अवधारण करनेवाले पुरुष भी एकरूपता-एकान्त दृष्टिका अवलम्बन नही करते।

भावार्थ—नयोका अवतार विभिन्न-विभिन्न विवक्षाओको लेकर हुआ है, अत किसी एक नयके एकातपक्षसे तत्त्वका चिन्तन करनेवाले मनुष्योको आपका पूर्णरूपसे अवधारण नही हो सकता है।

तीक्ष्ण्यो-(तीक्ष्णो) पयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः ।
अनन्तशक्तिभिः स्फारस्फुटं भासि परिस्फुटम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(तीक्ष्णोपयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः) जो तीक्ष्ण उपयोगकी व्यग्रतारहित सुदृढ पकडसे हठपूर्वक आहत है ऐसे आप (अनन्तशक्तिभि·) अनन्त शक्तियोके द्वारा (स्फारस्फुटं) परि-पूर्ण तथा (परिस्फुट) स्पष्ट (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप उन अनन्त शक्तियोसे परिपूर्ण है जो मात्र लब्धिरूप नही है, किन्तु साक्षात् उपयोगरूप है। शक्तियोका लब्धिरूप होना छद्मस्थ अवस्थामे बनता है, सर्वज्ञ अवस्थामे नही। यतश्च आप सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त है, अतः आपकी समस्त शक्तियां अपने अपने कार्यमे उपयुक्त हैं—क्रियाशील है ॥२४॥

त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मास्मि भवन्मयः ।
अयं दीपानलग्रस्तवर्तिनीत्या न संशयः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मा) जिसका समग्र आत्मा आपके भाव—ज्ञान-दर्शनादि गुणोंकी भावनासे व्याप्त है ऐसा (अयं) यह मै (दीपानलग्रस्तवर्तिनीत्या) दीपकसम्बन्धी अग्निसे व्याप्त वत्तीकी नीतिसे (भवन्मयः) आपसे तन्मय (अस्मि) हो रहा हूँ इसमें (न संशयः) संशय नही है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपककी अग्निसे व्याप्त वत्ती स्वय अग्निरूप हो जाती है उसी प्रकार आपके ज्ञान दर्शनादिगुणोंकी भावना करनेसे मै आपरूप हो रहा हूं। हे भगवन् ! आपका चिन्तन करनेसे मुझे विश्वास हो गया है कि जिस प्रकार आप ज्ञान-दर्शनसे तन्मय हैं उसी प्रकार मै भी ज्ञान-दर्शनसे तन्मय हूं। अन्तर, मात्र व्यक्त और अव्यक्तका है। आपके ज्ञान-दर्शन पूर्णमात्रा मे व्यक्त हो चुके है और मेरे अव्यक्त हैं। यदि मै भी पुरुषार्थ करूँ तो मेरे भी ज्ञान-दर्शन आपके ही समान व्यक्त हो सकते है। इसमे संशयकी बात नही है ॥२५॥

■

ॐ

(१२)

जिनाय जितरागाय नमोऽनेकान्तशालिने ।
अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे ॥१॥

अन्वयार्थ—(जितरागाय) जिन्होंने रागको जीत लिया है (अनेकान्तशालिने) जो अनेकान्त से सुशोभित हो रहे है और (अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे) जिनका स्पष्ट आत्मतेज अविनाशी चैतन्यकलाके विकाससे स्पृष्ट हो रहा है—संसक्त हो रहा है ऐसे (जिनाय) कर्मशत्रुओ को जीतनेवाले आप जिनेन्द्र भगवान्के लिये (नम·) नमस्कार हो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दशम गुणस्थानके अन्तमे राग-द्वेषपर पूर्ण विजय प्राप्त कर आप वीतराग हुए है और उस वीतराग होनेके फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्तके भीतर सर्वज्ञ होकर तेरहवें गुणस्थानमे हितोपदेष्टा हुए हैं । हितोपदेष्टा वही मनुष्य हो सकता है जो अपने शुक्लध्यानरूपी तेजके द्वारा समस्त विकारोको भस्म कर देता है । विकारोके भस्म होते ही जिसका आत्मा चैतन्यशक्ति के उत्कृष्ट विकासरूप केवलज्ञानसे जगमगा उठता है और इन सबके होते ही जिसे जिन, जिनेन्द्र या अरहन्त सज्ञा प्राप्त हो जाती है । जिनेन्द्रका उपदेश अनेकान्तसे सुशोभित होता है । परस्पर विरोधी अनेक अन्तो—धर्मोंको नय विवक्षासे गौण और मुख्य करते हुए ग्रहण करना—जानना अनेकान्त कहलाता है और तदनुसार ही स्यात् शब्दके प्रयोग से कथंचित् भावको लिये हुए उसका कथन करना स्याद्वाद कहलाता है । आप अन्तरङ्गमे वीतराग तथा सर्वज्ञ है और बाह्यमे स्याद्वाद की शैलीसे पदार्थका उपदेश करते है, अत. सच्चे हितोपदेष्टा—हितोपदेशी आप ही है ॥१॥

अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं ज्ञानमेकमनाकुलम् ।
ज्ञानमेव भवन्भासि साक्षात् सर्वत्र सर्वदा ॥२॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (त्वम्) आप (अनेकोऽपि) अनेकरूप भी (असि) है तथापि (एकं अनाकुलं ज्ञानं) एक अनाकुल ज्ञानरूप हैं ऐसा मैं (मन्ये) मानता हूँ, क्योंकि आप (साक्षात्) साक्षात् (सर्वत्र सर्वदा) सब स्थानों तथा समस्त कालोंमे (ज्ञानमेव भवन्) ज्ञानरूप ही होते हुए (भासि) भासित हो रहे है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनेक गुणरूप होनेसे यद्यपि अनेक है तथापि प्रधानताकी अपेक्षा आकुलता रहित एक ज्ञानगुणरूप है ऐसा कहा जाता है और उसका कारण भी यह है कि आप सर्वत्र और सर्वदा एक ज्ञानरूप होते हुए ही अनुभवमे आते है । स्वपरप्रकाशक होनेके कारण आत्माके अनन्त गुणोमे एक ज्ञानगुण ही अपना विशिष्ट स्थान रखता है, इसलिये यहा अन्य अनेक गुणोको गौणकर एक ज्ञानगुणको ही मुख्यता देते हुए स्तवन किया गया है ॥२॥

अतएव वियत्कालौ तद्गता द्रव्यपर्ययाः ।
ज्ञानस्य ज्ञानतामीश न प्रमार्ष्टुं तदे (वे) शते ॥३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (अतएव) जिस कारण आप सब क्षेत्र सब कालोमे ज्ञानरूप प्रतिभासित होते हैं उस कारण (वियत्कालौ) आकाश और काल तथा (तद्गता) उनमे रहनेवाले सब द्रव्य और सब पर्याय (तव) आपके (ज्ञानस्य) ज्ञानकी ज्ञानताको (प्रमार्ष्टुं) नष्ट करनेके लिये (न ईशते) समर्थ नही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यतः आप ज्ञानरूप होते हुए ज्ञानमय प्रतीत होते है, अत आकाश और कालद्रव्य तथा उनमे रहनेवाले सब द्रव्य और सब पर्याय आपकी ज्ञानरूपताको नष्ट नही कर सकते। ऊपरके श्लोकमे सर्वत्र और सर्वदा शब्दके द्वारा जो आकाश और कालका उल्लेख किया गया था उसे ही यहा स्पष्ट किया गया है अर्थात् सब स्थानों और सब कालोमे आप ज्ञानरूप रहते है ॥३॥

स्वरूपपररूपाभ्यां त्वं भवन् न भवन्नपि ।
भावाभावौ विदन् साक्षात् सर्वज्ञ इति गीयसे ॥४॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (स्वरूपपररूपाभ्या) स्वरूप-स्वचतुष्टय और पररूप-परचतुष्टयकी अपेक्षा (भवन् न भवन्नपि) हो भी रहे है और नही भी हो रहे है तथा (भावाभावौ) भाव और अभावको (साक्षात् विदन्) साक्षात् जानते है, अत (सर्वज्ञ इति गीयसे) 'सर्वज्ञ है' ऐसे कहे जाते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा हो रहे है—विद्यमानरूप है और परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नही हो रहे है—अविद्यमानरूप है। साथ ही ज्ञेयों—जानने योग्य पदार्थोके इन दोनो भावाभावात्मक रूपोको साक्षात् जानते है इसलिये आप सर्वज्ञ है।

इदमेवमितिच्छिन्दन् निखिलार्थाननन्तशः ।
स्वयमेकमनन्तं त्वं ज्ञानं भूत्वा विवर्तसे ॥५॥

अन्वयार्थ—(इदम् एवम्) यह ऐसा है (इति) इस प्रकार (निखिलार्थान्) समस्त पदार्थोको (अनन्तश) अनन्तो बार (छिन्दन्) जानते हुए (त्वम्) आप (स्वय) स्वय (एक ज्ञान भूत्वा) एक ज्ञानरूप होकर (अनन्त ज्ञान) अनन्त ज्ञानरूप (विवर्तसे) परिणम रहे है।

भावार्थ—एक ज्ञान, अनन्त ज्ञेयोको जाननेके कारण अनन्त कहलाता है। हे भगवन् ! यत. आपका ज्ञान समस्त पदार्थोको—ससारके अनन्त ज्ञेयोको 'यह ऐसा है' इस प्रकार अनन्तो बार जान रहा है, अत. वह ज्ञेयोकी अपेक्षा अनन्त है। आप इसी अनन्त ज्ञानरूप होकर परिणमन कर रहे है ॥५॥

अखण्डमहिमानन्तविकल्पोल्लासमांसलः ।
अनाकुलः प्रभो भासि शुद्धज्ञानमहानिधिः ॥६॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे स्वामिन् ! (अखण्डमहिमा) जो अखण्ड महिमासे सहित है, (अनन्त-विकल्पोल्लाससमासल॰) अनन्त विकल्पोके प्रादुर्भावसे परिपुष्ट है, (अनाकुलः) अकुलतासे रहित है और (शुद्धज्ञानमहानिधिः) शुद्ध ज्ञानके महान् भाण्डार है ऐसे आप (भासि) सुशोभित हो रहे है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी महिमा अखण्ड है, इसीलिये तो सौ इन्द्र निरन्तर आपको नमस्कार करते है । आप अनन्त ज्ञ योके विकल्पसे युक्त है—अनन्त पदार्थोके प्रतिबिम्ब आपके ज्ञानमे दर्पणके समान झलकते है । एकसाथ समस्त पदार्थोंको जानते है इसलिये अज्ञान पदार्थको जाननेकी अकुशलतासे रहित है तथा वीतराग-विज्ञानके महान् भाण्डार है । इस प्रकार आपकी महिमा अद्वितीय है ॥६॥

अक्रमात्क्रममाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्मनोः ।
अनन्ता बोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते ॥७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपकी (परात्मनो.) स्वपरविषयक (इयम्) यह (अनन्ता बोधधारा) अनन्त ज्ञानधारा (क्रमम् आक्रम्य अक्रमात् कर्षन्ती अपि) क्रमको उल्लङ्घन कर अक्रम से खीचती हुई भी (क्रमेण) क्रमसे (कृष्यते) खीची जा रही है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी स्वपरविषयक—निज और परको जाननेवाली ज्ञानकी धारा छद्मस्थ अवस्थामे पदार्थोंको क्रमसे जानती थी पर अब सर्वज्ञ दशामे वह क्रमको छोड़कर अक्रम—एकसाथ जानने लगी है इस प्रकार यद्यपि वह स्वभावकी अपेक्षा अक्रमवर्ती है तथापि ज्ञ योकी अपेक्षा क्रमवर्ती है अर्थात् कालक्रमसे होनेवाली ज्ञ योकी अनन्त परिणतियोको उसी क्रमसे जानती है जिस क्रमसे वे होनेवाली है ॥७॥

भावास्सहभुवोऽनन्ता भान्ति क्रमभुवस्तु (स्तु) ते ।
एक एव तथापि त्वं भावो भावान्तरं तु न ॥८॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (ते) आपके (सहभुवः) साथ होनेवाले गुणरूप (तु) और (क्रमभुव॰) क्रमसे होनेवाले पर्यायरूप (भावा॰) भाव (अनन्ता॰) अनन्ता (भान्ति) सुशोभित हो रहे है (तथापि) तो भी—गुण और पर्यायोकी अपेक्षा अनन्तरूप होते हुए भी द्रव्यकी अपेक्षा (त्वं) आप (एक एव भाव॰) एक ही भावरूप है (भावान्तर तु न) अन्य भावरूप नही है ।

भावार्थ—साथ-साथ होनेके कारण गुण सहभावी कहलाते है और पर्यायें क्रम-क्रमसे होनेके कारण क्रमवर्ती कहलाती है । प्रत्येक द्रव्यके अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें होती है, अत. जब उन गुण और पर्यायोको दृष्टिमे रखकर कथन होता है तब एक द्रव्य अनेकरूप प्रतीत होता है, परन्तु जब उन गुण और पर्यायोंके आधारभूत द्रव्यको दृष्टिमे रखकर कथन होता है तब वह एक-रूप अनुभवमे आता है । साथ ही वह द्रव्य, उसी द्रव्यरूप रहता है त्रिकालमे भी अन्य द्रव्यरूप नही होता, क्योंकि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे अत्यन्ताभाव रहता है । हे भगवन् ! द्रव्यस्वभावकी ऐसी व्यवस्था होनेसे आप भी गुण और पर्यायोकी अपेक्षा यद्यपि अनन्त हैं तथापि स्वरूपकी अपेक्षा आप एक ही है और कभी भी आप अन्य द्रव्यरूप नही होंगे ॥८॥

वृत्तं त्वमनन्तं स्वमनन्तं वर्त्स्यदूर्जितम् ।
अनन्तं वर्त्तमानं च त्वमेको धारयन्नसि ॥९॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (अनन्त वृत्तं) अनन्त भूत (अनन्त वर्त्स्यत्) अनन्त भविष्यत् (च) और (अनन्त वर्तमान) अनन्त वर्तमान (ऊर्जितं) शक्तिसम्पन्न (स्वं तत्त्वं) आत्मतत्त्वको (धारयन्) धारण करते हुए (एकः असि) एक है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें बीत चुकी हैं, अनन्त पर्यायें आगे आनेवाली हैं और एक पर्याय वर्तमानमे है। इन पर्यायोंकी अपेक्षा यद्यपि द्रव्य अनेकरूप है तथापि स्वकीय प्रदेशोंकी अपेक्षा वह एक ही रहता है। इसी अभिप्रायको लेकर यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आप इन भूत भविष्यत् और वर्तमानकी अनन्त पर्यायोको धारण करते हुए भी एक है अथवा आप इतने ऊर्जित—शक्ति सम्पन्न हैं कि एक होकर भी इतनी पर्यायोको धारण करते हैं। अन्य ग्रन्थोमे भूत और भविष्यत्की पर्यायोंको अनन्त और वर्तमानकी पर्यायको एक कहा गया है, परन्तु यहाँ वर्तमानको भी अनन्त कहा गया है सो उसकी सगति अनन्त गुणोंका आधार होनेसे वर्तमान-की एक पर्यायको अनन्तरूप माननेमे होती है, अथवा स्थूल ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा वर्तमानकी एक पर्याय, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा होनेवाली एक समयवर्ती पर्यायोंकी अपेक्षा अनन्त होती है ॥९॥

उत्तानयसि गम्भीरं तलस्पर्शं स्वमानयन्।
अतलस्पर्श एव त्वं गम्भीरोत्तानितोऽपि नः ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप (गम्भीर) गम्भीर—मोह और क्षोभसे रहित (स्व) अपने आपको (तलस्पर्शं) तलस्पर्शको (आनयन्) प्राप्त कराते हुए अर्थात् उसकी गहराई तक पहुँचते हुए (उत्तानयसि) ऊपर उठाते हैं समुन्नत बनाते है, परन्तु (न) हम लोगोके लिये (त्व) आप (गम्भीरोत्तानितोऽपि) अत्यन्त गम्भीर और ऊपर उठे हुए होकर भी (अतलस्पर्श एव) अतलस्पर्श ही है—हम आपके तलका स्पर्श नही कर सके है—आपकी गम्भीरता और उत्कृष्टना-की सीमा नही जान सके है।

भावार्थ—जो राग-द्वेषका प्रसङ्ग होनेपर भी उनसे दूर रहता है वह गम्भीर कहलाता है और जो किसी पदार्थके सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बडेसे वडे रूपको जानता है वह तलस्पर्शी कहलाता है। इन परिभाषाओके आधार पर आपने अपने आपको गम्भीर और तलस्पर्शी बनाया है, परन्तु हम लोग इतने अज्ञानी है कि आपकी गहराई और ऊँचाईको नही जान सके है ॥१०॥

अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः।
दृङ्मात्रीभवदाभाति भवतोऽन्तर्बहिश्च यत् ॥११॥

अन्वयार्थ—(अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः) अनन्त वीर्यके व्यापारसे जिनका दर्शन गुण उत्कृष्टरूपसे विकसित हो रहा है ऐसे (भवतः) आपका (यत्) जो (अन्तर्बहि.) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकाश है वह सब (दृङ्मात्रीभवत्) दर्शनमात्र होता हुआ (आभाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके जो केवलदर्शन प्रकट हुआ है वह अनन्त वीर्यके व्यापारसे सहकृत है, क्योंकि उसके बिना न अनन्त ज्ञान प्रकट हो सकता है और न अनन्त दर्शन। आत्माके

अन्त: प्रकाशको दर्शन और बाह्य प्रकाशको ज्ञान कहते हैं। दूसरे शब्दोंमे अन्तः प्रकाशको आत्मावलोकन या सामान्यावलोकन और बाह्य प्रकाशको पदार्थावलोकन या विशेषावलोकन कहा जाता है। यहाँ अन्तःप्रकाशको दर्शनरूप कहा सो उचित है, परन्तु बाह्य प्रकाश—ज्ञानको भी दर्शनरूप कहा सो उसकी संगति इस प्रकार है कि निश्चयनयसे केवलज्ञान आत्माको ही जानता है वह लोकालोकका ज्ञाता व्यवहारनयसे है। इस प्रकार निश्चयनयसे ज्ञानका विषय भी दर्शन-की तरह आत्मावलोकन होता है। यह अभिप्राय मनमें रखकर आचार्यने ज्ञानको भी दर्शनमात्र होता हुआ कहा है ॥११॥

आक्षेपपरिहाराभ्यां खचितस्त्वमनन्तशः।
पदे पदे प्रभो भासि प्रोत्खात प्रतिरोपितः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(प्रभो!) हे नाथ! (अनन्तशः) अनन्तो वार (आक्षेप-परिहाराभ्यां) विधि और निषेधके द्वारा (खचितः) व्याप्त (त्वं) आप (पदे पदे) अर्थके वाचक प्रत्येक पदपर (प्रोत्खात प्रतिरोपित.) नास्तित्व और अस्तित्वको प्राप्त होते हुए (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपमे अनन्त धर्म है और वे सब धर्म, विधि तथा निषेधरूपको लिये हुए हैं। जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, तत्-अतत्, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि। जब उक्त धर्मोंकी विधिरूपसे विवक्षा की जाती है तब उन धर्मोसे तन्मय होनेके कारण आप विधिरूपको प्राप्त होते है और जब उन धर्मोकी निषेधरूपसे विवक्षाकी जाती है तब उनसे तन्मय होनेके कारण आप निषेधरूपको प्राप्त होते है। इस प्रकार उक्त धर्मोके प्रतिपादक शब्दोका जितनी बार प्रयोग होता है उतनी ही बार आप अस्तित्व और नास्तित्वको प्राप्त होते है। इसी अपेक्षासे आपको पद पदपर प्रोत्खात—नास्तिरूप और प्रतिरोपित—अस्तिरूप कहा गया है ॥१२॥

बिभ्रता तदतद्रूपस्वभावं स्वं स्वयं त्वया।
महान् विरुद्धधर्म्माणां समाहारोऽनुभूयसे(ते) ॥१३॥

अन्वयार्थ—(स्वं) अपने (तदतद्रूपस्वभाव) तत्—अतत्रूप—विधि-निषेधरूप स्वभावको (बिभ्रता) धारण करनेवाले (त्वया) आपके द्वारा (स्वयं) स्वयं (विरुद्धधर्म्माणा) परस्पर विरोधी धर्मोका (महान्) बहुत भारी (समाहार) समूह (अनुभूयते) अनुभूत होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! यत आप तत् और अतत् स्वभावको स्वयं ही धारण करते है, अतः आप अनेक विरोधी धर्मोके समूहका अनुभव करते है। तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वभावके कारण आपमे अनेक विरोधी धर्मोंका समूह निवास कर रहा है ॥१३॥

स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तयोऽखिलाः।
असाधारणतां यान्ति धर्माः साधारणास्त्वयि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तय.) आपकी निज स्वरूपसत्ताके आलम्बनसे जिनकी अन्यत्र व्याप्ति खण्डित हो गई है ऐसे (अखिलाः) समस्त (साधारणाः धर्मा) साधारण धर्म (त्वयि) आपमें (असाधारणतां) असाधारणताको (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—महासत्ताकी अपेक्षा जो अस्तित्व आदि गुण साधारण कहे जाते हैं, अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा वे ही गुण असाधारण हो जाते हैं। जब आपके विभिन्न गुणों—धर्मोमे सत् असत्,

तत् अतत् आदि धर्मोकी विवक्षा की जाती है तब उनकी आपमे ही व्याप्ति रहती है, अन्य द्रव्योमे नही। इस प्रकार साधारण होनेपर भी वे आपमे असाधारणताको प्राप्त हो जाते हैं ॥५॥

अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरं रूपमात्मनः ।
इदमेकपदे विष्वग्बोधशक्त्यावगाहसे ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् आप (बोधशक्त्या) ज्ञानशक्तिके द्वारा (अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरम्) अनन्त धर्मोंके समूहसे परिपूर्ण (आत्मन) आत्माके (इद) इस (रूपं) रूपमे—ज्ञाता-द्रष्टास्वभावमे (एकपदे) एकसाथ (विष्वक्) सब ओरसे (अवगाहसे) प्रवेश कर रहे है।

भावार्थ—आत्मा, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनन्त गुणो अथवा नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भेद, अभेद आदि परस्पर विरोधी अनन्त धर्मोके समूहसे परिपूर्ण है ऐसा अपनी ज्ञानशक्तिके द्वारा ज्ञात कर आप उसमे सब ओरसे एकसाथ लीन हो रहे है प्रवेश कर रहे अर्थात् लीनताको प्राप्त हो रहे है। अज्ञान दशामे यह जीव, आत्मा और कर्म नोकर्मरूप पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्यायको अपना स्वरूप समझ उसीमे तन्मय हो रहा है—उसीमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर रागद्वेषके वशीभूत हो रहा है। परन्तु स्वपर भेदविज्ञानरूप ज्ञानकी महिमासे आप असमान जातीय पर्यायमे इस बातका निर्णय अच्छी तरह कर चुके है कि इसमे आत्मा क्या है और पुद्गल तथा उसके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला विभाव क्या है। स्वभाव और विभावका भेद होते ही आप विभावको नष्ट करनेके प्रयत्नमे सलग्न हो गये और उसके फलस्वरूप समस्त विभावोको नष्ट कर अपने ज्ञाता द्रष्टारूप स्वभावमे लीन हो रहे है। तात्पर्य यह है कि आप वीतरागविज्ञानसे परिपूर्ण है तथा साधककी उस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हो चुके है जहां ज्ञान, ज्ञानमे ही प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१५॥

अन्वया व्यतिरेकेषु व्यतिरेकाश्च तेष्वमी ।
निमज्जन्तो निमज्जन्ति त्वयि त्वं तेषु मज्जसि ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अमी) ये (अन्वयाः) अन्वय—गुण (व्यतिरेकेषु) व्यतिरेको—पर्यायोमे (च) और (व्यतिरेका) पर्यायें (तेषु) गुणोमे (निमज्जन्त) निमग्न होती हुई (त्वयि) आपमे (निमज्जन्ति) निमग्न होती है और (त्व) आप (तेषु) उन अन्वय व्यतिरेको—गुणपर्यायोमे (मज्जसि) निमग्न हो रहे है।

भावार्थ—साथ साथ रहनेके कारण गुण अन्वय कहलाते है और एकके बाद एक होनेके कारण पर्यायें व्यतिरेक कहलाती है। ऐसा अवसर नही आता जब गुणके बिना पर्याय हो और पर्यायके बिना गुण हो तथा इन दोनोके बिना द्रव्य हो। इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि गुण, पर्यायोमे और पर्यायें, गुणोमे रहते हैं और यत. आप गुण और पर्यायोके समूहरूप है अत: वे गुण और पर्यायें आपमे निमग्न हैं और आप उनमे निमग्न है ॥१६॥

प्रागभावादयोऽभावाश्चत्वारस्त्वयि भावताम् ।
श्रयन्ते श्रयसे तेषु त्व तु भावोऽप्यभावताम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(प्रागभावादयः) प्रागभाव आदि (चत्वारः) चार (अभावा.) अभाव (त्वयि)

आपमें (भावतां) भावरूपताको (श्रयन्ते) प्राप्त होते हैं (त्वं तु) और आप (भावोऽपि) भावरूप होते हुए भी (तेषु) उन अभावोंमें (अभावतां) अभावरूपताको (श्रयसे) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ये चार अभाव हैं। कार्योत्पत्तिकी पूर्वावस्थाको प्रागभाव कहते हैं। जैसे घटकी पूर्वपर्याय स्थास-कोश-कुशूल आदि घटका प्रागभाव है। कार्यके नष्ट हो जानेपर जो अभाव होता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते है जैसे घटके फूट जानेपर उसकी कपाल आदि अवस्था घटका प्रध्वंसाभाव है। वस्तुकी एक पर्यायमे दूसरी पर्यायके न रहनेको अन्योन्याभाव कहते है। जैसे पुद्गल द्रव्यकी घट पर्यायमे पट पर्यायका अभाव है। और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे जो त्रैकालिक अभाव है उसे अत्यन्ताभाव कहते है। हे भगवन्! ये चारो अभाव आपमे भावरूपताको प्राप्त हैं और आप भावरूप होकर भी उनमें अभावरूपताको प्राप्त है, क्योकि आपमे इनका अभाव है। वह इस प्रकार है कि आपकी अरहन्त पर्याय शक्तिकी अपेक्षासे आपमे अनादिकालसे विद्यमान है, अत. प्रागभावका अभाव है। अरहन्त अवस्थामे प्रकट होनेवाले अनन्त चतुष्टयादि गुणोका आपमे कभी नाश नही होता, इसलिये प्रध्वंसाभावका अभाव है। आपमे जो सामान्य ज्ञान दर्शन आदि गुण है वे आपकी समस्त पर्यायोंमे विद्यमान रहते है, इसलिये अन्योन्याभावका अभाव है। तथा आपके जीवद्रव्यसे दूसरा जीवद्रव्य यद्यपि पृथक् है—भिन्न द्रव्य है तथापि आपके और उसके गुणोमें सादृश्य है। जिस प्रकार जीवका पुद्गलमे अत्यन्ताभाव भी नही है। तात्पर्य यह है कि विवक्षावश चारो अभाव आपमे भावरूपताको प्राप्त है। और आप स्वभावसे भावरूप होकर भी उन अभावोमे अभावरूपताको प्राप्त है। इसका कारण उपर्युक्त विवक्षासे स्पस्ट है ॥१७॥

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्य गच्छसि ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अनेकोऽपि) अनेक भी (त्वां) आपको (प्रपद्य) प्राप्त कर (एकत्व) एकपनेको (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है और (त्वम्) आप (एकोऽपि) एक होकर भी (अनेकं) अनेकको (प्राप्य) प्राप्त कर (अनेकत्व) अनेकपनेको (गच्छसि) प्राप्त हो रहे है।

भावार्थ—गुण और पर्याय संख्याकी अपेक्षा अनेक तथा द्रव्य एक है। वे अनेक गुण पर्याय द्रव्यरूप आपको प्राप्त कर एक हो जाते हैं और द्रव्यरूप होनेसे एकरूप होकर भी आप गुण पर्यायोकी अपेक्षा अनेकरूपताको प्राप्त है ॥१८॥

साक्षादनित्यमप्येतद्याति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्यं प्राप्य गाहसे ॥१९॥

अन्वयार्थ—(एतत्) यह पर्यायरूप तत्त्व (साक्षात्) साक्षात् (अनित्यमपि) अनित्य होकर भी (त्वां प्राप्य) द्रव्यस्वरूप आपको प्राप्त कर (नित्यतां याति) नित्यपनेको प्राप्त होता है (तु) और (त्वं) आप (नित्योऽपि) नित्य होकर भी (अनित्यं प्राप्य) अनित्यरूप पर्यायको प्राप्तकर (अनित्यत्वं) अनित्यपनेको (गाहसे) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—द्रव्य, पर्यायसे तन्मय रहता है, अतः जब पर्यायको गौणकर द्रव्यको प्रधान बनाया जाता है तब अनित्य तत्त्व नित्यत्वको प्राप्त होता है और जब द्रव्यको गौणकर पर्यायको प्रधा-

नता दी जाती है तब नित्य तत्त्व, अनित्यत्वको प्राप्त होता है। हे भगवन् ! अनित्य पर्याय, आपका आश्रयकर नित्य हो जाती है और आप, अनित्य पर्यायका आश्रयकर अनित्य हो जाते हैं ॥१९॥

य एवास्तमुपैषि त्वं स एवोदीयसे स्वयम् ।
स एव ध्रुवतां धत्से य एवास्तमितोदितः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(य एव त्वं) जो ही आप (अस्तम् उपैषि) व्ययको प्राप्त होते है (स एव) वही आप (स्वय) स्वयं (उदीयसे) उत्पादको प्राप्त होते है और (य एव अस्तमितोदित) जो ही आप व्यय होकर उत्पादको प्राप्त होते है (स एव) वही (ध्रुवता) ध्रुवपनेको (धत्से) धारण करते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे तन्मय है। व्ययकी विवक्षामे आप अस्तको प्राप्त होते है, उत्पादकी विवक्षामे उदयको प्राप्त होते हैं और ध्रौव्यकी विवक्षामे अस्त तथा उदय—दोनों अवस्थाओंकी बीचकी ध्रुवताको प्राप्त होते है। नवीन पर्यायकी उत्पत्तिको उत्पाद, पूर्व पर्यायके नाशको व्यय और दोनों पर्यायोमे व्यापक रहनेवाले अंशको ध्रौव्य कहते है ॥२०॥

अभावतां नयन् भावमभावं भावतां नयन् ।
भाव एव भवन् भासि तावुभौ परिवर्तयन् ॥२१॥

अन्वयार्थ—आप (भावं अभावता नयन्) भावको अभावता प्राप्त कराते है और (अभाव भावतां नयन्) अभावको भावता प्राप्त कराते है इस प्रकार (तौ उभौ) उन दोनो—भाव-अभावको (परिवर्तयन्) परिवर्तित करते हुए आप स्वयं (भाव एव भवन्) भावरूप ही होते हुए (भासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—जो पर्याय वर्तमान क्षणमे भावरूप है वही उत्तर क्षणमे अभावरूप हो जाती है, और जो पर्याय वर्तमानमे अभावरूप है वही उत्तर क्षणमे भावरूप हो जाती है। इस प्रकार आप पूर्व क्षण और उत्तर क्षणकी पर्यायोको यद्यपि अभाव तथा भावरूप करते रहते है तथापि स्वय सत्‌सामान्यकी अपेक्षा भावरूप ही रहते है। तात्पर्य यह है कि पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्यायोकी अपेक्षा आप व्यय तथा उत्पादरूप है और सामान्यकी अपेक्षा ध्रौव्यरूप हो रहे है।

हेतुरेव समग्रोऽसि समग्रो हेतुमानसि ।
एकोऽपि त्वमनाद्यनन्तो यथापूर्वं यथोत्तरम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आप (समग्र हेतु एव असि) पूर्ण कारण ही हैं और (समग्रः हेतुमान् असि) पूर्ण कार्य है तथा आप (एकोऽपि सन्) एक होते हुए भी (अनाद्यनन्त) अनादि-अनन्त हैं (यथापूर्वं) जैसे पूर्वमे थे और (यथोत्तरं) जैसे आगे होगे।

भावार्थ—हे भगवन् ! पूर्व क्षणकी अपेक्षा आप कारण हैं और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य हैं तथा आपका यह कारण और कार्यभाव समग्ररूपसे होता है अंशरूपसे नही। अर्थात् पूर्व क्षणमे आपके समस्त प्रदेश कारण व्यवहारको प्राप्त होते हैं और उत्तर क्षणमे समस्त प्रदेश कार्य

व्यवहारको प्राप्त होते हैं। सिद्धान्तके अनुसार कारणका क्षय होना ही कार्यका उत्पाद कहलाता है। अध्यात्मभाषामे कारण समयसारका नाश ही कार्य समयसारका उत्पाद कहलाता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर क्षणकी अपेक्षा पदार्थमें व्यय और उत्पाद सिद्ध होते हैं, परन्तु सामान्य सत्की अपेक्षा वह अनादि अनन्त रहता है—वह जैसा पूर्वमे रहता है वैसा ही आगे भी रहता है ॥२२॥

न कार्यं कारणं नैव त्वमेव प्रतिभाससे।
अखण्डपिण्डितैकात्मा चिदेकरसनिर्भरः ॥२३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (न कार्यं प्रतिभाससे न कारणम् एव प्रतिभाससे) सत् सामान्यकी अपेक्षा आप न कार्यरूप प्रतिभासित होते है और न कारणरूप ही। किन्तु (अखण्डपिण्डितैकात्मा) अखण्ड पिण्डरूप है स्वरूप जिनका तथा जो (चिदेकरसनिर्भरः) एक चैतन्य रससे परिपूर्ण है ऐसे (त्वमेव प्रतिभाससे) एक आप ही प्रतिभासित होते है।

भावार्थ—भेदनयसे आपमे कारण और कार्यका विभाग रहता है, परन्तु अभेद नयसे आप भेदसे रहित एक अखण्ड द्रव्य प्रतिभासित होते है ॥२३॥

भृतोऽपि रिक्ततामेषि रिक्तोऽपि परिपूर्यसे।
पूर्णोऽपि रिच्यसे किञ्चित् किञ्चिद्रिक्तोऽपि वर्द्धसे ॥२४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप (भृतोऽपि) परिपूर्ण होनेपर भी (रिक्तता) रहितपनेको (एषि) प्राप्त हो रहे है अर्थात् स्वभावसे परिपूर्ण होते हुए भी विभावसे रिक्तपनेको प्राप्त हो रहे है और (रिक्ताऽपि) रहित होनेपर भी (परिपूर्यसे) पूर्णताको प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् वैभाविक भावोमे रहित होते हुए स्वाभाविक भावोसे परिपूर्ण हो रहे है। तथा (पूर्णोऽपि) पूर्ण होते हुए भी (किञ्चित् रिच्यसे) कुछ रिक्त होते है—हानिको प्राप्त होते है और (किञ्चिद् रिक्तोऽपि) कुछ रिक्त होते हुए भी (वर्द्धसे) पुन वृद्धिको प्राप्त होते है अर्थात् अगुरुलघु गुणोके कारण होनेवाली षड्गुणी हानिके समय आप कुछ हानिको प्राप्त होते हैं और षड्गुणी वृद्धिके समय कुछ वृद्धिको प्राप्त होते है।

भावार्थ—हे भगवन्! यह जीव अनादि कालसे शुभ-अशुभ—पुण्य-पापरूप विभाव भावोसे युक्त हो रहा है परन्तु जब शुभ-अशुभ भावोंके कारणभूत मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है तब यह यथाख्यात चारित्ररूप स्वभावभाव-शुद्धभावसे परिपूर्ण हो जाता है। आपका आत्मा भी अनादि कालसे शुभाशुभ भावोसे परिपूर्ण रहा है, परन्तु अब मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके कारण आप स्वभावभावसे परिपूर्ण हो रहे है। तथा परिपूर्ण होकर भी सदा कूटस्थ नित्य नही रहते, क्योंकि कालद्रव्यरूप सामान्य प्रत्यय और अपने-अपने अगुरुलघु गुणरूप आभ्यन्तर प्रत्ययके कारण अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इन षड्गुणी वृद्धियों और हानियोके होते रहनेसे आप पूर्ण होकर भी—वृद्धिके चरम अशको प्राप्त होकर भी कुछ हानिको प्राप्त हो रहे है और हानिके चरम अशको प्राप्त होकरभी पुनः वृद्धिको प्राप्त हो रहे है। यह हानि और वृद्धि केवल ज्ञानादि गुणोके अविभाग प्रतिच्छेदोका अपेक्षा होती है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि केवलज्ञानादि गुणोके अविभाग-प्रतिच्छेद स्वभावसे अनन्त है तथा हानि वृद्धि होनेपर भी वे अनन्त ही रहते है, क्योकि अनन्त, अनन्त प्रकारका होता है ॥२४॥

विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनो मम ।
स्फुरन्त्वश्रान्तमार्द्रार्द्रास्तवामूरनुभूतयः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनः) केवलज्ञानसे परिपूर्ण आपके शुद्ध स्वभावमे जिसकी आत्मा ससक्त—सलग्न होकर उसी ओर निरन्तर तत्पर हो रही है ऐसे (मम) मुझ स्तुतिकर्ताके (तव) आपकी (अमू.) ये (आर्द्रार्द्राः) नवीन-नवीन (अनुभूतय·) अनुभूतियां (अश्रान्त) किसी विश्रामके बिना निन्य ही (स्फुरन्तु) प्रकट होवें ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप विज्ञानघनस्वभाव हैं—केवलज्ञानसे आपका प्रत्येक प्रदेश परिपूर्ण है। उसी विज्ञानघनस्वभाववाले आप आराध्यदेवमे मेरा आत्मा अर्थात् मेरा हृदय सलग्न होकर निरन्तर उसी ओर उद्युक्त-तत्पर हो रहा है, इसलिये इस स्तुतिके फलस्वरूप मै किसी सासारिक विभूतिकी आकांक्षा नही करता हूँ, किन्तु यह आकाक्षा करता हूँ कि आपकी ये अनुभूतियाँ मुझे भी प्राप्त होवें ॥२५॥

■

ॐ

(१३)

मञ्जुभाषिणी

सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति ।
स्वपरप्रकाशभरभावनामयं तदकृत्रिमं किमपि भाति ते वपुः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति) जिसके स्वाभाविक तथा निर्मल चैतन्य स्वभावमे समस्त पदार्थोंका समूह प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो (स्वपरप्रकाशभरभावनामयं) निज और परके प्रकाश समूहकी भावनासे तन्मय है और (अकृत्रिमं) अकृत्रिम है किसीका किया हुआ नही है ऐसा (ते) आपका (तत्) वह (किमपि कोई अद्भुत (वपु:) ज्ञानशरीर (भाति) सुशोभित हो रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप ज्ञानशरीर है—ज्ञान ही आपका शरीर है । वह ज्ञान सहज है—स्वाभाविक होनेसे सदाकाल आपके साथ रहनेवाला है । पहले मिथ्यात्वदशामे वह ज्ञान मलिन हो रहा था, परन्तु अब मिथ्यात्वके नष्ट हो जानेके कारण अत्यन्त प्रमार्जित है—निर्मल हो गया है । उस ज्ञानमें स्वभावसे ही लोक-अलोकके समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । क्यों हो रहे है ? इसका उत्तर यह है कि वह स्व-परप्रकाशक भावनासे तन्मय है । उसकी यह विशेषता है कि उसमे निज और पर पदार्थोंका प्रतिफलन स्वयमेव होता है । वह अकृत्रिम है—किसीका किया हुआ नही है तथा वचनोके अगोचर है—अनुभवमे तो आता है परन्तु वचनोंके द्वारा कहा नही जा सकता ॥१॥

क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया प्रभवावसानपरिमुक्तया तव ।
प्रसृतस्य नित्यमचलं समुच्छलज्जिन चिच्चमत्कृतमिदं विलोक्यते ॥२॥

अन्वयार्थ (जिन) हे जिनेन्द्र ! (प्रभवावसानपरिमुक्तया) उत्पत्ति और अन्तसे रहित (क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया) क्रमसे होनेवाली पर्यायोके समूहकी मालासे (प्रसृतस्य) विस्तारको प्राप्त हुए (तव) आपका (इदं) यह (नित्यं) नित्य (अचलं) चञ्चलतासे रहित और (समुच्छलत्) सब ओर छलकता हुआ (चिच्चमत्कृत) चैतन्यका चमत्कार (विलोक्यते) दृष्टिगोचर होता है अनुभवमे आता है ।

भावार्थ—पर्यायकी दृष्टिसे संसारके अनन्तानन्त पदार्थ अपने क्रमसे उत्पन्न और विनष्ट हो रहे है । उनकी उत्पत्ति और विनाशका यह क्रम अनादि कालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा । ये सब पदार्थ आपके ज्ञानमे प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इस लिये ज्ञेयकी अपेक्षा आप सर्वत्र-लोक अलोकमे विस्तारको प्राप्त हैं । अर्थात् लोक और अलोकगत ज्ञेयको जाननेके कारण आपका ज्ञान लोक और अलोकमे विस्तृत है और उस ज्ञानसे तन्मय होनेके

कारण आप भी सर्वत्र विस्तारको प्राप्त है। हे जिनेन्द्र ! आपका यह चैतन्यसम्बन्धी चमत्कार नित्य है, सामान्य ज्ञानस्वभावकी अपेक्षा त्रैकालिक है और केवलज्ञानकी अपेक्षा सादि अनन्त है। जिसप्रकार वायुका वेग समाप्त हो जानेसे जलाशयका जल चञ्चलतासे रहित होकर स्वरूपमें स्थिर हो जाता है उसी प्रकार कषाय और योगजनित चञ्चलताके दूर हो जानेसे आपका चैतन्य चमत्कार भी चञ्चलतासे रहित होकर स्वरूपमे स्थिर हो गया है। साथ ही यह चैतन्य चमत्कार सब ओर छलक रहा है—सभी ओरके पदार्थोको प्रतिभासित कर रहा है। यद्यपि अमूर्तिक होनेसे यह चमत्कार हमारे दृष्टिगोचर नही हो रहा है तथापि अनुभूतिका विषय अवश्य है, हमारे अनुभवमे यह आ रहा है कि आपके चैतन्य गुणका सर्वोत्कृष्ट विकास हुआ है ॥२॥

इदमेव देव सहभाविनीं तव स्फुटयत्यनन्तनिजधर्ममण्डलीम् ।
तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात् ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (इदमेव) यह चैतन्य चमत्कार ही (तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात्) उससे कथचित् अभिन्न और कथचित् भिन्न सुख, वीर्य-वैभव आदि समस्त स्वकीय शक्तियोका एक साथ वेदन होनेसे (तव) आपकी (सहभाविनी) साथ साथ रहनेवाली (अनन्तनिजधर्ममण्डलीम्) अनन्त आत्मधर्मोके समूहको (स्फुटयति) प्रकट करता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका चैतन्य चमत्कार यद्यपि सामान्यरूपसे एक ही है तथापि वह सुख और वीर्य आदिका भी साथ साथ अनुभव करता है। चैतन्य-ज्ञानदर्शन और सुख तथा वीर्यके प्रदेश भिन्न भिन्न नही है, इसलिये उन सबमे अभेद है और सबका भिन्न भिन्न अनुभव होता है इसलिये भेद भी है। उनका यह भेद और अभेद कथचित् है। इन सब गुणोका अनुभव सिद्ध करता है कि आपकी आत्मामे अनन्त धर्मो—गुणोका समूह विद्यमान है ॥३॥

त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्नुपयोगलक्षणमुखेन भाससे ।
न हि तावतायमुपयोगमात्रतां श्रयसे निराश्रयगुणाप्रसिद्धितः ॥४॥

अन्वयार्थ—(अय त्वम्) यह आप (अनन्तधर्मभरभावित: अपि सन्) अनन्त धर्मोके समूहसे युक्त होते हुए भी (उपयोगलक्षणमुखेन) एक उपयोगरूप लक्षणके द्वारा (भाससे) सुशोभित हो रहे है। परन्तु (हि) निश्चयसे (तावता) उतने मात्रसे—उपयोगलक्षणसे युक्त होनेमात्रसे (उपयोगमात्रता) उपयोगमात्रपनेको (न श्रयसे) प्राप्त नही है—इसका यह अभिप्राय नही है कि आपमे मात्र उपयोग ही पाया जाता है अन्य गुण नही, क्योकि (निराश्रयगुणाप्रसिद्धितः) निराधार गुणोकी सिद्धि नही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आपमे अनन्त गुण विद्यमान है तथापि उन सबमे ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगकी ही प्रधानता है। वही आपका लक्षण माना गया है। उपयोग ही लक्षण माना गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नही है कि आपमे अन्य गुण नही है। अवश्य हैं और उनकी अनुभूति होती है। जब अनुभूति होती है तब उनका नास्तित्व स्वीकृत नही किया जा सकता। गुण द्रव्यके आश्रय ही रहते है, निराश्रय रहनेवाले गुणोका आस्तित्व आगममे स्वीकृत नहीं किया गया है ॥४॥

अजडत्वमात्रमवयन्ति चेतनामजडः स्वयं न जडतामियात् परात् ।
न हि वस्तुशक्तिहरणक्षमः परः स्वपरप्रकाशनमबाधितं तव ॥५॥

अन्वयार्थ—बुद्धिमान् पुरुष (अजडत्वमात्र) जडताका अभाव होनेमात्रको (चेतनाम्) चेतना (अवयन्ति) जानते है अर्थात् जडताका अभाव और चेतना एक ही वस्तु है। जो (स्वयं अजड) स्वय चेतना है वह (परात्) दूसरे द्रव्यसे (जडतां न इयात्) जडता-अचेतनताको प्राप्त नही होता है। (हि) क्योकि (परः) परद्रव्य (वस्तुशक्तिहरणक्षमः न) अन्य द्रव्यकी शक्तिके हरण करनेमे समर्थ नही है। इसप्रकार (तव) आपका (स्वपरप्रकाशन) स्वपरप्रकाशीपन (अबाधितं) निर्बाध है।

भावार्थ—संसारमे चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारके पदार्थ है। जीव द्रव्य चेतन है और शेष पाच द्रव्य अचेतन है। जो चेतन है वह सदा चेतन ही रहता है और जो अचेतन है वह सदा अचेतन ही रहता है। कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल यद्यपि जीवके साथ अनादि कालसे संलग्न हो रहे है तथापि वे जीवके जीवत्वको नष्ट करनेमे समर्थ नही है, क्योकि यह शाश्वतिक नियम है कि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्यकी शक्तियोंके हरण करनेमे समर्थ नही है। इस तरह आपका जो स्वपर प्रकाशनस्वरूप गुण है वह सदा अबाध रहता है। प्रतिपक्षी कर्मोंकी उदयावस्थामे यद्यपि कितने ही गुण तिरोहित हो जाते है तथापि स्वपर प्रकाशनरूप जो सामान्य ज्ञानगुण है वह कभी तिरोहित नही होता ॥५॥

अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते स्वपरप्रमेयमितिरित्यबाधिता ।
अविदन् परं न हि विशिष्यते जडात्परवेदनं च न जडाग्रकारणम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (त्वयि विभौ अजडप्रमातरि स्थिते) आप सामर्थ्यवन्त प्रबुद्ध ज्ञाताके रहते हुए (स्वपरप्रमेयमिति.) स्वपर प्रमेयका जानना (अबाधिता) निर्बाध सिद्ध है, (हि) क्योकि (पर अविदन्) जो पर को नही जानता है वह (जडात्) अचेतनसे (न विशिष्यते) पृथक् नही होता है (च) और (परवेदनं) परका जानना (जडाग्रकारणं न) जड़रूप होनेका प्रमुख कारण नही है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो पदार्थको जानना है वह प्रमाता कहलाता है, जो जाना जाना है वह प्रमेय कहलाता है और जानना प्रमिति कहलाती है। आत्मा प्रमाता है और प्रमेय भी। शेष पदार्थ प्रमेय ही है, प्रमाता नही। हे भगवन्! आप चैतन्य गुणसे संपन्न प्रमाता है तथा स्व और पर आपके प्रमेय हैं अर्थात् आप स्वको जानते है और परको भी। यद्यपि निश्चयनयसे आप स्वके ही ज्ञाता है परके नही तथापि व्यवहारनयसे आप स्वपरके ज्ञाता कहे जाते हैं, क्योकि जो परको नही जानता है वह व्यवहारनयकी दृष्टिमे जडसे भिन्न नही है—जडके समान ही है। परका जानना जड़रूप अज्ञानी होनेका कारण नही है। तात्पर्य यह है कि परको जानना बन्धका कारण नही है, किन्तु परको अपना मानना बन्धका कारण है ॥६॥

जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना समुदेति सा तु यदि नाजडादपि ।
ध्रुवमस्तमेति जडवेदना तदा जडवेदनास्तमयतः क्व वेदना ॥६॥

अन्वयार्थ—(जडस्य) अचेतन पदार्थका (वेदना) ज्ञान (जडतः) अचेतनसे (न अभ्युदेति) उत्पन्न नही होता अर्थात् चेतनसे ही उत्पन्न होता है। (यदि) यदि इसके विपरीत (सा तु) वह अचेतनका ज्ञान (अजडादपि) चेतनसे भी (न समुदेति) उत्पन्न नही होता है (तदा) तो (ध्रुवं) निश्चित ही (जडवेदना) अचेतनका ज्ञान (अस्तमेति) नष्ट हो जावेगा और (जडवेदनास्तमयतः) अचेतनका ज्ञान नष्ट होनेसे (वेदना) ज्ञान (क्व) कहां हो सकता है ?

भावार्थ—एकान्तसे निश्चयका पक्ष स्वीकृत करनेवाले लोगोंका कहना है कि आत्मा मात्र स्वको जानता है परको नही। परमें आत्मासे अतिरिक्त अन्य चेतन द्रव्य और पुद्गलादि पांच अचेतन द्रव्य आते है, क्योंकि परका जानना एक विकल्प है और विकल्प होनेसे बन्धका कारण है। यहा आचार्य उस निश्चयकी एकान्त मान्यताका खण्डन करते हुए लिखते है कि आत्मासे भिन्न अन्य द्रव्योंका जो ज्ञान होता है वह किससे होता है ? जडसे तो हो नही सकता, क्योंकि जड़मे ज्ञातृत्व शक्तिका अभाव है। शक्तिके न होते हुए भी यदि जड़से उसकी उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाय तो निश्चित ही अचेतन पदार्थके ज्ञानका अभाव हो जावेगा। उसका कारण यह है कि जडसे उत्पन्न हुआ ज्ञान जडमे रहेगा, आत्मामे नही और जो जडके ज्ञानको—अचेतन पदार्थके ज्ञानको नष्ट कर देता है—अस्वीकृत कर देता है उसके वेदना—सामान्य ज्ञान भी कहा हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता। 'आत्मा स्वका ही ज्ञायक है परका नही' इस एकान्त मान्यताका खण्डन करते हुए आचार्यने सिद्ध किया है कि आत्मा जिस प्रकार स्वका ज्ञायक है उसी प्रकार परका भी ज्ञायक है। यह जुदी बात है कि जिसप्रकार दर्पणमे प्रतिबिम्बित घट-पटादि पदार्थ दर्पणरूप हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा प्रतिबिम्बित—विकल्पको प्राप्त हुए अचेतन—आत्मातिरिक्त पदार्थ आत्मारूप हो जाते है और आत्मामे उन्हींको जानता है, इसलिये आत्मा, आत्माका ही ज्ञायक है परका नही। परन्तु आत्मामे पड़नेवाले उन विकल्पोका कारण अन्य पदार्थ ही है, अत उनका भी ज्ञाता आत्मा ही है, अन्य जड पदार्थ नही ॥७॥

न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः परवेदनाविरह एव सिध्यति ।
अविदन् पर स्वमयमाकृतिं विना कथमन्धबुद्धिरनुभूतिमानयेत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(परवेदनाविरहे) परके ज्ञानके अभावमे (सदा) निरन्तर (आत्मना) अपने द्वारा (आत्मनि) अपनेमे (आत्मनः) आत्माका (वेदना) ज्ञान (सिध्यति) सिद्ध होता है [इति]न चैव) ऐसा नही है, क्योंकि (परम् अविदन्) परको न जाननेवाला (अयम् अन्धबुद्धिः) यह अज्ञानी (आकृतिं विना) परके विकल्प बिना (स्वम् अनुभूति कथम् आनयेत्) स्वकी अनुभूति कैसे कर सकता है ?

भावार्थ—सिद्धान्त-पक्षका कहना है कि आत्माके ज्ञानस्वरूपमे जो पर पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे है वे यद्यपि आत्मस्वरूप है, तथापि उन पर पदार्थोंके प्रतिबिम्बित होनेमे उन पर पदार्थोंकी आकृति भी कारण है क्योंकि उनकी आकृतिको यदि सर्वथा स्वीकृत नही किया जाता है तो आकृतिके बिना उनकी अनुभूति कैसे होगी ? मै घटज्ञानवान् हूँ, पटज्ञानमय हूँ ऐसा जो अनुभव प्रत्यक्ष हो रहा है, वह तब तक सिद्ध नही हो सकता जब तक ज्ञानमे घटाकार और पटाकार परिणतिको स्वीकृत नही किया जाता है। ज्ञानकी जो घटाकार और पटाकार परिणति है यही परका जानना है। इसप्रकार परके ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध है उसे एकान्त मान्यताके कारण सर्वथा निरस्त नही किया जा सकता ॥८॥

न कदाचनापि परवेदनां विना निजवेदना जिन जनस्य जायते ।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशाः परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः ।।९।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (जनस्य) मनुष्यको (परवेदनां विना) परके ज्ञानके बिना (कदाचनापि) कभी भी (निजवेदना) निजका ज्ञान (न जायते) नहीं होता है। यह निश्चित है फिर भी (परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः) परकी रचनासे रहित चेतनकी उपासनासे मोहित (बालिशाः) अज्ञानी जीव (गजमीलनेन) हाथीके समान नेत्र बन्दकर (निपतन्ति) पतित होते है।

भावार्थ—यह निश्चित है कि परके ज्ञान बिना निजका ज्ञान नही होता फिर भी जिसका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा यदि परको जानता है तो परकी रञ्जनासे उसमे अशुद्धता आती है और हम परकी रञ्जनासे रहित शुद्ध आत्माकी उपासना करना चाहते है। वे आत्माको परके ज्ञानसे रहित मानते हैं। परन्तु जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है। उनका ऐसा मानना तो इस प्रकार है कि जिसप्रकार हाथी नेत्र बन्दकर यह समझने लगता है कि हमारे सामने कुछ नही है उसीप्रकार तथोक्त मान्यतावाले यह समझने लगते हैं कि आत्मा परको नही जानता है ।।९।।

परवेदनास्तमयगाढसंहृता परितो दृगेव यदि देव भासते ।
परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता नितरां किल भाति केवला ।।१०।।

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (यदि) यदि (परितः) सब ओर (परवेदनास्तमयगाढसंहृता) पर पदार्थोंके ज्ञानके नाशसे अत्यन्त संकोचको प्राप्त हुआ कोई गुण (भासते) सुशोभित होता है तो (दृगेव) एक दर्शन गुण ही सुशोभित होता है, क्योंकि (केवला) मात्र (दृगेव) दर्शन ही (किल) निश्चयसे (नितरां) अत्यन्त (परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता) परपदार्थसम्बन्धी ज्ञानके अभ्युदयसे दूर रहता है।

भावार्थ—आत्मावलोकनको दर्शन और पदार्थावलोकनको ज्ञान कहते है। इस सिद्धान्तके अनुसार दर्शन गुण ही परपदार्थसम्बन्धी ज्ञानसे रहित होता है, ज्ञान नही। ज्ञान तो स्वपराव-भासी ही है अर्थात् निजको जानना है और परको भी जानना है ।।१०।।

परवेदना न सहकार्यसम्भवे परिनिर्वृतस्य कथमप्यपोह्यते ।
द्वयवेदना प्रकृतिरेव संविदः स्थगितैव सात्र(य)करणान्यपेक्षते ।।११।।

अन्वयार्थ—(परिनिर्वृतस्य) पूर्ण स्वाधीनताको प्राप्त हुए आत्माके (सहकारि-असम्भवे) सहकारी कारणोका अभाव होनेपर (परवेदना) परपदार्थसम्बन्धी ज्ञान (कथमपि) किसी भी तरह (न अपोह्यते) दूर नही किया जा सकता, क्योंकि (द्वयवेदना) निज और पर—दोनोंको जानना (संविदः) ज्ञानका (प्रकृतिरेव) स्वभाव ही है (स्थगिता एव सा) यदि वह स्वभाव स्थगित होता है—आच्छादित होता है तभी वह (अन्यकरणानि अपेक्षते) अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा करता है।

भावार्थ—यदि यहां किसीका अभिप्राय हो कि हे भगवन् ! यतः आप परिनिर्वृत है—पूर्ण-स्वाधीनताको प्राप्त हो चुके है, अतः सहकारी कारणोंका अभाव हो जानेसे परपदार्थोंको नही

जानते है तो इसका उत्तर यह है कि निज और पर दोनोंको जानना ज्ञानका स्वभाव ही है। यदि स्वभाव परिवर्तित हो सके तो ही वह अन्य कारणोंकी अपेक्षा कर सकता है अन्यथा नही। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञानके लिये अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नही है ।।११।।

न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयसे परमाश्रयन् विभजसे निजाः कलाः ।
स्थितिरेव सा किल तदा तु वास्तवी पशवः स्पृशन्ति परमात्मघातिनः ।।१२।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! आप (परावमर्शरसिकः 'सन्') परपदार्थोंके सम्बन्धके रसिक होते हुए (न अभ्युदीयसे) अभ्युदयको प्राप्त नही हो रहे हैं और न (परम् आश्रयन्) परका आश्रय लेते हुए (निजा कलाः) अपनी कलाओंको (विभजसे) प्राप्त हो रहे है (तु) किन्तु (किल) निश्चयसे (तदा) उस समय (सा) वह (वास्तवी) वास्तविक (स्थितिः एव) स्थिति ही है—स्वभाव ही है। क्योंकि (आत्मघातिनः) आत्मघाती (पशवः) अज्ञानी ही (परं) परपदार्थका (स्पृशन्ति) स्पर्श करते है—उसके सहकारकी प्रतीक्षा करते है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप जो आर्हन्त्यरूप परम अभ्युदय—उत्कृष्ट ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हे सो पर पदार्थोंके सम्बन्धकी इच्छा रखते हुए नही प्राप्त हुए है और इस समय जो केवलज्ञान केवलदर्शन आदि आपकी कलाएँ—आत्मगुणोंकी विशेषताएँ प्रकट हुई है वे भी पर पदार्थोंके आश्रयसे नही प्रकट हुई हैं। आपका यह वास्तविक स्वभाव है। स्वभावके लिये पर सहकारी पदार्थोंकी प्रतीक्षा नही करना पडती है। जो आत्माकी स्वतन्त्र स्वभाव सत्ताको नही मानते है ऐसे अज्ञानी मनुष्य ही परका आलम्बन चाहते है। ऊपरके श्लोकमे प्रतिवादीने जो यह पक्ष रक्खा था कि सहकारी कारणोंके अभावमे परपदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान आपके नही बनता है उसका उत्तर देते हुए आचार्यने इस श्लोकमे कहा है कि यतः स्वपरको जानना ज्ञानका स्वभाव है अतः उसे सहकारी कारणोंकी प्रतीक्षा नही करना पडती है ।।१२।।

विषया इति स्पृशति वीर रागवान् विषयीति पश्यति विरक्तदर्शनः ।
उभयोः सदैव समकालवेदने तदविप्लवः क्वचन विप्लवः क्वचित् ।।१३।।

अन्वयार्थ—(वीर) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (रागवान्) रागी और (विरक्तदर्शनः) सम्यग्दर्शन-से रहित मनुष्य (विषया इति) ये विषय—ज्ञेय है और यह (विषयी) उन्हे विषय करनेवाला—जाननेवाला ज्ञायक है ऐसा (स्पृशति पश्यति) स्पर्श करता तथा श्रद्धान करता है—मानता है (उभयोः) दोनो—विषय और विषयीका (सदा) निरन्तर (समकालवेदने) एक साथ वेदन-अनुभवन होता है (तत्) इसलिये (क्वचन) कही—भेद विवक्षामे (अविप्लवः) बाधाका अभाव और (क्वचन) कही—अभेद विवक्षामे (विप्लवः) बाधाका सद्भाव प्रतीत होता है।

भावार्थ—स्वपर पदार्थ आत्माके विषयी विषय है—ज्ञेय हैं और आत्मा उन्हें विषय करने-वाला ज्ञायक है। इस प्रकार रागी द्वेषी मिथ्यादृष्टि जीव एक ही आत्माको ज्ञेय और ज्ञायकके भेदसे दो रूपमे विभक्त कर देता है परन्तु ज्ञानी जीव उसे भेद और अभेदकी विवक्षासे सदा ही दोनोरूप मानता है अतः भेद विवक्षासे आत्माको दो रूप और अभेद विवक्षासे एकरूप माननेमें बाधा नही है ।।१३।।

स्वयमेव देव भुवनं प्रकाश्यतां यदि याति यातु तपनस्य का क्षतिः ।
सहजप्रकाशभरनिर्भरोऽशुमान्न हि तत्प्रकाशनधिया प्रकाशते ।।१४।।

अन्वयार्थ—(देव) हे प्रभो ! (यदि) यदि (भुवनं) संसार (स्वयमेव) स्वयं ही (प्रकाश्यता) प्रकाश्यपनेको (याति) प्राप्त होता है तो (यातु) प्राप्त हो, इसमे (तपनस्य) सूर्यकी (का क्षति.) क्या हानि है ? (हि) क्योंकि (सहजप्रकाशभरनिर्भर:) अपने स्वाभाविक प्रकाशके समूहसे परि-पूर्ण (अंशुभान्) सूर्य (तत्प्रकाशनधिया) ससारको प्रकाशित करनेकी इच्छासे (न प्रकाशने) प्रकाशित नही होता है ।

भावार्थ—सूर्य प्रकाशक है और संसार प्रकाश्य है । यहां दोनोका प्रकाशक और प्रकाश्य-पना स्वाश्रित है--पराश्रित नही है । इस दृष्टान्तसे ज्ञेय और ज्ञायककी स्वाश्रित अवस्थाका वर्णन किया गया है अर्थात् ज्ञेय ज्ञायकके अधीन नही है और ज्ञायक ज्ञेयके अधीन नही है ।।१४।।

स्वयमेव देव भुवनं प्रमेयतां यदि याति यातु पुरुषस्य का क्षतिः ।
सहजावबोधभरनिर्भरः पुमान्नहि तत्प्रमाणवशतः प्रकाशते ।।१५।।

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (यदि) यदि (भुवन) संसार (स्वयमेव) स्वयं ही (प्रमेयतां) प्रमेयपनको (याति) प्राप्त होता है तो (यातु) प्राप्त हो (पुरुषस्य) आत्माको (का क्षति) क्या हानि है । (हि) क्योकि (सहजावबोधनिर्भर:) सहज—स्वाभाविक ज्ञानके भारसे परिपूर्ण (पुमान्) पुरुष—आत्मा (तत्प्रमाणवशत·) ससारको प्रमेय बनानेकी इच्छासे (न प्रकाशते) प्रकाशित नही होता है ।

भावार्थ—ससारके समस्त पदार्थ प्रमेय हैं और आत्मा प्रमाता है, परन्तु दोनोका प्रमेय और प्रमातापन एक दूसरेके आश्रित नही है । आत्माके आश्रयके बिना ससार प्रमेय रहे इसमे आत्माकी कोई हानि नही है और आत्मा ससारका प्रमाता रहे इसमे ससारकी कोई प्रेरणा नही है । इतना अवश्य है कि आपका वीतराग विज्ञान ससारको जानता है ।।१५।।

उदयन् प्रकाशयति लोकमंशुमान् भुवनप्रकाशनमतिं विनापि चेत् ।
घनमोहसन्नहृदयस्तदेष किं परभासनव्यसनमेति बालकः ।।१६।।

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (उदयन्) उदित होता हुआ (अंशुमान्) सूर्य (भुवनप्रकाशनमतिं विनापि) संसारको प्रकाशित करनेकी बुद्धिके बिना ही (लोकं) ससारको (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है (तत्) तो (घनमोहसन्नहृदय.) जिसका हृदय तीव्र मिथ्यात्वसे ग्रस्त हो रहा है ऐसा (एष बालक:) यह अज्ञानी प्राणी (परभासनव्यसनं) परपदार्थको प्रकाशित करनेके व्यसनको (किम् एति) क्यो प्राप्त हो रहा है ?

भावार्थ—जब हम देखते है कि सूर्य ससारको प्रकाशित करनेकी इच्छाके बिना ही उदित होता हुआ संसारको प्रकाशित करता है तब आत्माके लिये परपदार्थोको प्रकाशित करनेकी इच्छाकी क्या आवश्यकता है ? कुछ भी नही । स्वतः—स्वभावसे आत्मा स्वपरपदार्थोका ज्ञाता

है। अज्ञानी जीव, मोहाच्छादित हृदयके होनेके कारण व्यर्थ ही उस इच्छाको कल्पना करता है ॥१६॥

बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभरः स्वपरप्रकाशनगुणः स्वभावतः ।
त्वमय चिदेक नियत परः परं भ्रममेति देव परभासनोन्मुखः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(बहिरन्तः अप्रतिहतप्रभाभरः) जिनकी दीप्ति—ज्ञातृत्व शक्तिका समूह बाह्य और भीतर—दोनो ही जगह अप्रतिहत है—निर्बाधरूपसे अपनी क्रिया करता है तथा (स्वपरप्रकाशनगुणः) निज और परको प्रकाशित करना जिनका गुण है ऐसे (अय त्वम्) यह आप (स्वभावतः) स्वभावसे (चिदेकनियतः) ज्ञानमे—पदार्थोंके जाननेमे प्रमुखरूपसे सलग्न है (पर) किन्तु (देव) हे देव ! (पर) अन्य मिथ्यादृष्टि जीव (परभासनोन्मुखः) परपदार्थोको प्रकाशित करनेके लिये सन्मुख होता हुआ (भ्रमं) भ्रमको (एति) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—हे देव ! आप स्वत —स्वभावसे पदार्थोंको जानते है और अन्य मिथ्यादृष्टि भ्रमवश अन्य पदार्थोमे कारणपनेकी कल्पना करता है ॥१७॥

स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्स्वसमीकरोति किल कारकोत्करम् ।
न हि हीयते कथमपीह निश्चयव्यवहारसंहतिमयी जगत्स्थितिः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(वस्तु) जो वस्तु (ते) आपके लिये (स्फुटभावमात्रमपि भवत्) अत्यन्त स्पष्ट हो रही है वह भी (किल) निश्चयसे (कारकोत्करम्) कारकोके समूहको (स्वसमीकरोति) अपने अनुरूप करती है। (हि) क्योकि (इह) इस लोकमे (निश्चयव्यवहारसंहृतिमयी) निश्चय और व्यवहारके समुदायरूप (जगत्स्थिति) जगत्की स्थिति (कथमपि) किसी भी तरह (न हीयते) ह्रासको प्राप्त नही होती है ।

भावार्थ—निश्चयनय अभेदकारक चक्रको और व्यवहारनय भेदकारक चक्रको आश्रय देना है। संसारकी परिणति निश्चय और व्यवहारनयके सघटनसे चलती है इसलिये जहा जैसी विवक्षा होती है वहा उसीके अनुरूप सामञ्जस्य बैठाया जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परको जानता है, यह व्यवहारनयका विषय है और आत्मा स्वको जानता है, यह निश्चयनयका विषय है ॥१८॥

सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना परिणामिनोऽत्र परजा विभक्तयः ।
न विभक्तिकारणतया बहिर्लुठन्नपनीतमोहकलुषस्य ते परः ॥१९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अत्र) इस लोकमे (परिणामिन.) परिणमनशील और (अपवीतमोहकलुषस्य) मोहजन्य कलुषयतासे रहित (ते) आपकी जो (शुद्धचेतना) शुद्ध चेतना (सदा स्फुरति) सदा स्फुरायमान हो रही है, वह (सहजा) स्वाभाविक है और (विभक्तय) जितने उसमे विभेद है—विभाग है वे सब (परजा) परसे उत्पन्न है । (बहिर्लुठन्) बाहर रहनेवाला (पर.) परद्रव्य (विभक्तिकारणतया) विभागके कारणरूपसे (ते) आपको (न) नही है—आपको स्वाकार्य नही है। (ते) आपके (न) नही है ।

भावार्थ—जिसमे किसी प्रकारका भेद नही है ऐसी सामान्य शुद्ध चेतना आत्मस्वभाव होनेसे सहज है—किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नही है, परन्तु उसमे जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिका

विभेद है वह परके निमित्तसे उत्पन्न है अर्थात् मतिज्ञानावरणादि कर्मोके क्षयोपशमादिरूप अन्तरङ्ग निमित्त तथा शास्त्र, प्रकाश आदि अन्य कारणोंसे उत्पन्न है। यतः परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है, अतः आपमें भी परिणमन होता है और आपमे परिणमन होनेसे आपकी चेतना भी सामान्य-विशेषरूप परिणमन करती है। तात्पर्य यह है कि चेतनामें जो विशेष—विभागरूप परिणमन होता है वह ऊपर कहे अनुसार अन्यसे उत्पन्न है, परन्तु वह अन्य द्रव्य आपसे बाहर ही रहता है, अन्तरङ्गमें उसका प्रवेश नही होता। मोहजन्य कलुषता—मोह तथा राग-द्वेषके रहते हुए पहले उसमें आत्मबुद्धि हुआ करती थी, परन्तु अब मोहजन्य कलुषताके दूर हो जानेसे उसमें आत्मबुद्धि भी नही होती है ॥१९॥

अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो न विभक्तयोऽपि विजहत्यनेकताम् ।
तदनेकमेकमपि चिन्मयं वपुः स्वपरौ प्रकाशयति तुल्यमेव ते ॥२०॥

अन्वयार्थ—(अवबोधशक्तिः) ज्ञानशक्ति (ऐक्यतः) अभेदसे (न अपयाति) दूर नही हटती है और (विभक्तयोऽपि) विभेद भी (अनेकतां) अनेकताको (न विजहति) नही छोड़ते है अर्थात् सामान्य ज्ञातृत्वशक्ति अभेदरूप है और उसके विशेष भेदरूप है। (तत्) इसलिये (अनेकम् एकम् अपि) अनेक और एकरूप—अभेद और भेदरूप (ते) आपका जो (चिन्मय वपु.) चैतन्यरूप शरीर है वह (तुल्यमेव) समानरूपसे (स्वपरौ) निज और परको (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी चेतना, सामान्यकी अपेक्षा एक है, परन्तु विशेषकी अपेक्षा ज्ञान-चेतना दर्शन-चेतना तथा उनके अवान्तर भेदोके भेदसे अनेक प्रकारकी है। चेतना ही आपका शरीर है और वह चेतना निज तथा पर—दोनोंको समानरूपसे जानती है ॥२०॥

त्वमनन्तवीर्यबलबृंहितोदयः सततं निरावरणबोधदुर्द्धरः ।
अविचिन्त्यशक्तिर(स)हितस्तटस्थितः प्रतिभासि विश्वहृदयानि दारयन् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तवीर्यबलबृहतोदय.) अनन्त वीर्य और बलके द्वारा जिनका उदय—ऐश्वर्य वृद्धिको प्राप्त हुआ है, जो (सततं) निरन्तर (निरावरणबोधदुर्द्धरः) निरावरण—क्षायिक ज्ञानसे दुर्धर हैं, जो (अविचिन्त्यशक्तिसहित) अचिन्त्य शक्तियोसे सहित है तथा राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण (तटस्थितः) मध्यस्थ है ऐसे (त्वम्) आप (विश्वहृदयानि) विश्वके रहस्योंको (दारयन्) खोलते हुऐ अथवा समस्त पदार्थोके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करते हुए (प्रतिभासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—जिसके कारण आत्माके समस्त गुण अपने-अपने स्वरूपमे स्थिर रहते है उस गुणको वीर्य कहते है और शारीरिक शक्तिको बल कहते है। हे भगवन्! आपके वीर्य और बल दोनों ही अनन्त अवस्थाको प्राप्त हो चुके है साथ ही निरावरण—सदा उद्घाटित रहनेवाले केवलज्ञानसे आप परिपूर्ण है, अचिन्त्य शक्तियोसे सहित है और राग-द्वेषका अभाव होनेसे तटस्थ हैं। इस प्रकार आत्माके अनन्त अभ्युदयसे युक्त होकर आप दिव्यध्वनिके द्वारा समस्त पदार्थोंके हार्द—वास्तविक स्वरूपको प्रकट कर रहे है ॥२१॥

बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया परमानयन्नपि निमित्तमात्रताम् ।
स्वयमेव पुष्कलविभक्तिनिर्भरं परिणाममेषि जिन केवलात्मना ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया) बहिरङ्ग कारणोंकी निश्चित व्यवस्थाके कारण (परम्) अन्य पदार्थको (निमित्तमात्रता) निमित्त मात्रपना (आनयन्नपि) प्राप्त कराते हुए भी आप (स्वयमेव) स्वयं ही (केवलात्मना) केवल अपने द्वारा (पुष्कलविभक्तिनिर्भरं) अत्यधिक विभेदोंसे परिपूर्ण (परिणाम) परिणमनको (एषि) प्राप्त होते है।

भावार्थ—पदार्थमे जो परिणमन होता है उसके दो कारण है—एक उपादान और दूसरा निमित्त। जो स्वय कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते है और जो उसमे सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। उपादान कारण, स्वद्रव्य होता है और निमित्तकारण परद्रव्य। यतश्च निमित्त कारण, स्वयं कार्यरूप परिणमन नही करता, अतः वह सदा निमित्त ही रहता है और उपादान, कार्यरूप परिणत होनेके कारण कार्य संज्ञाको प्राप्त हो जाता है। उपादान और निमित्त, इन दो कारणोमे उदापान वस्तुकी योग्यताको प्रकट करता है और निमित्त उसमे सहायक होता है। यद्यपि कार्य अपनी योग्यतासे होता है तथापि बाह्य कारणकी सापेक्षता भी आवश्यक रहती है। इसी शाश्वतिक व्यवस्थाके कारण हे भगवन् ! आपके परिणमन में भी उपादान और निमित्त दोनो कारण आवश्यक है। कार्योत्पत्तिको इस व्यवस्थाके कारण यद्यपि पर पदार्थ, आपके परिणमनमे निमित्त कारण रहते है तथापि उस परिणमनके उपादान आप ही है, अन्य पदार्थ नही ॥२२॥

इदमेकमेव परिणाममागतं परकारणाभिरहितों (तं) विभक्तिभिः।
तव बोधधाम कलयत्यनङ्कुशामवकीर्णविश्वमपि विश्वरूपताम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(विभक्तिभिः) पृथक्पनेके कारण जो (परकारणाभिरहितं) अन्य-निमित्त कारणोसे रहित होता हुआ (परिणाममागतं) अविभाग प्रतिच्छेदोंकी षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणामको प्राप्त हुआ है तथा (एकमेव) एक होकर ही (अवकीर्णविश्वमपि) जिसने समस्त विश्व—लोकालोकको व्याप्त कर लिया है ऐसा (तब) आपका (इद) यह (बोधधाम) केवलज्ञानरूप तेज (अनङ्कुशा) निर्बाध (विश्वरूपता) नानारूपताको (कलयति) प्राप्त कर रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके केकलज्ञानमे जो परिणमन हो रहा है वह स्वयकी योग्यतासे हो रहा है, क्योंकि कालद्रव्य आदि बाह्य कारण उससे सर्वथा पृथक् है। वह केवलज्ञान यद्यपि एक है तथापि समस्त विश्वको जाननेके कारण विश्वरूपता—नानारूपताको प्राप्त हो रहा है ॥२३॥

जिन केवलैककलया निराकुलं सकल सदा स्वपरवस्तुवैभवम्।
अनुभूतिमानयदनन्तमप्ययं तव याति तत्त्वमनुभूतिमात्रताम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! जिसने (केवलैककलया) केवलज्ञानरूप एक—अद्वितीय कलाके द्वारा (निराकुल 'यथा स्यात्तथा') निराकुलतापूर्वक (अनन्तमपि) अनन्त परिणामसे युक्त होनेपर भी (सकल) समस्त (स्वपरवस्तुवैभवं) स्व-पररूप वस्तुकी महिमाको (सदा) सर्वदा (अनुभूतिमानयत्) अनुभूति प्राप्त करायी थी ऐसा (अयं) यह प्राणी (तव) आपके (अनुभूतिमात्रतां तत्त्वं) अनुभूति मात्र तत्त्वको (याति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी उपासनाके फलस्वरूप यह जीव केवलज्ञानको प्राप्त होता है और उसके द्वारा समस्त स्व-पर पदार्थोंको जानता हुआ आपके यथार्थ तत्त्वको प्राप्त होता है ॥२४॥

अलमाकुलप्रलपितैर्व्यवस्थितं द्वितयस्वभावमिह तत्त्वमात्मनः ।
ग्लपयन्त्यशेषमियमात्मवैभवादनुभूतिरेव जयतादनङ्कुशा ॥२५॥

अन्वयार्थ—(आकुलप्रलपितैः) आकुलतापूर्ण प्रलाप करनेसे (अलं) रुको। (इह) इस जगत्मे (आत्मनः) आत्माका (तत्त्वं) स्वरूप (द्वितयस्वभावं) स्व और परको प्रकाशित करनेरूप दो प्रकारके स्वभावसे युक्त है यह (व्यवस्थितं) निश्चित हो गया। (आत्मवैभवात्) अपनी सामर्थ्यसे (अशेषं ग्लपयन्ती) अन्य समस्त मान्यताओंको नष्ट करनेवाली (इयं) यह (अनङ्कुशा) निर्बाध (अनुभूतिरेव) अनुभूति ही (जयतात्) जयवन्त प्रवर्ते।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि व्यर्थके प्रलापसे क्या प्रयोजन है ? उपर्युक्त विवेचनसे यह निर्णीत हो गया कि आत्माका स्वरूप स्वपरावभासनरूप दो प्रकारके स्वभावसे युक्त है अर्थात् आत्मा स्वको भी जानता है और परको भी जानता है। ऐसा एकान्त नही है कि मात्र स्वको ही जानता है, परको नही जानता अथवा परको ही जानता है स्वको नही जानता। जब आत्माके इस स्वभावकी अनुभूति होती है तब अन्य मान्यताएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती है ॥२५॥

■

अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित् ।
अनुभूयत एव विभो भवतो भवतोऽभवतश्च विभूतिभरः ॥४॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (भवत.) जो आर्हन्त्य पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न हो रहे हैं (च) और सामान्य जीवद्रव्यकी अपेक्षा जो (अभवत:) उत्पन्न नही हो रहे है ऐसे (भवत:) आपका (अयम्) यह (स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित्) स्वपर विभागके विस्तारको जाननेवाला (विभूति-भर:) ज्ञान-दर्शन रूप विभूतिका समूह (ऊर्जितशक्तिचमत्कृतिभि:) सबलशक्तिके चमत्कारसे युक्त मनुष्योके द्वारा (अनुभूयते एव) नियमसे अनुभूत हो रहा है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पद्यमान है—उत्पन्न हो रहे है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनुत्पद्यमान है— उत्पन्न नही हो रहे है। ऐसे आपकी स्वपरावभासी ज्ञानदर्शनरूप विभूतिका जो समूह है वह अपनी सबल शक्तिके चमत्कारसे युक्त मनुष्योके द्वारा नियमसे अनुभूत हो रहा है । ज्ञानदर्शनका स्वभाव स्व और परके विभागको जानना है सो आपके इस स्वभावका अनुभव, उन पुरुषोको सदा होता रहता है जो प्रचण्ड आत्मबलसे सहित है ॥४॥

न किलैकमनेकतया घटते यदनेकमिहैक्यमुपैति न तत् ।
उभयात्मकमन्यदिवासि महः समुदाय इवावयवाश्च भवन् ॥५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (इह) इस जगत्मे (यत्) जो (एक) एक है (तत्) वह (अनेक-तया) अनेकरूपसे (न घटते) घटित नही होता है और (यत्) जो (अनेक) अनेक है (तत्) वह (ऐक्य) एकपनेको (न उपैति) प्राप्त नही होता है परन्तु आप उस (उभयात्मक) एक अनेकात्मक (मह.) तेज:स्वरूप हो जो (अन्यदिव) अन्यके समान जान पडता है । हे भगवन् ! आप (समुदाय इव भवन्) समुदायके समान है (च) और (अवयवा: भवन्) अवयव रूप भी हो रहे है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! एक और अनेक, ये दोनो परस्पर विरोधी धर्म है क्योकि जो एक है वह अनेक नही हो सकता और जो अनेक है वह एक नही हो सकता परन्तु आप एकानेक इन दोनो धर्मोसे मुक्त है और इसीलिये अन्यके समान जान पड़ते है ।आपके एक तथा अनेक रूप होने का कारण यह है कि जब अवयवोके समुदायकी ओर दृष्टि जाती है तब आप एक है और जब अवयवोकी ओर दृष्टि जाती है तब अनेक है। लोकमे अवयव अनेक, और अवयवी एक रूपसे प्रसिद्ध है ही ॥५॥

क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य सनातनता ।
क्षणिकत्वमथापि चिदेकरसप्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य तव ॥६॥

अन्वयार्थ—(क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य) क्षणभङ्गसे रहित चैतन्य कलि-काओंके समूह स्वरूप (तव) आपके यद्यपि (सनातनता) नित्यपना है (अथापि) तो भी (चिदेकरस-प्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य) चैतन्य रूप एकरसके समूहसे आर्द्रित चैतन्य कणोसे युक्त (तव) आपके (क्षणिकत्वं) क्षणिकपना भी है ।

---

१ भातीति भवान् तस्य भवतः तव इत्यर्थः, २. भवतीति भवन् तस्य, ३. न भवतीति अभवन् तस्य ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप नित्यानित्य रूप है क्योंकि क्षणभङ्गसे रहित चैतन्यरूप कलिकाओंके समूहसे युक्त होनेके कारण आपमे नित्यता है तो एक चैतन्यरूप रससे आर्द्रित चैतन्यरूप कणोंसे युक्त होनेके कारण आपमे क्षणिकता–अनित्यता भी है। ज्ञान सामान्य, उत्पत्ति और विनाशसे रहित होनेके कारण नित्य है तो क्षण-क्षणमे परिवर्तित होनेवाले ज्ञानकण—ज्ञानकी विशिष्ट परिणति अनित्य भी है। आप इन दोनो—सामान्य विशेष रूप ज्ञानोसे युक्त होनेके कारण नित्यनित्यात्मक है ॥६॥

उदगाद्यदुदेति तदेव विभौ यदुदेति च भूय उदेष्यति तत् ।
जिन कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽप्यसि निष्कलचिज्जलधिः ॥७॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (विभौ) महिमाशाली आपमे (यत्) जो ज्ञान (उदगात्) उत्पन्न हुआ था (तदेव) वही ज्ञान (उदेति) इस समय उदित हो रहा है (च) और (यत्) जो (उदेति) इस समय उदित हो रहा है (तत्) वही (भूयः) पुनः (उदेष्यति) उदित होगा। हे भगवन् ! इस प्रकार आप (कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽपि) कालसे कलङ्कित अर्थात् कालत्रयमे परिणमन करनेवाले ज्ञानकी कलासे युक्त होने पर भी (निष्कलचिज्जलधि) कलारहित-अनाद्यनन्त ज्ञान सागरसे सहित है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आप घातिचतुष्कको नष्ट कर जिनेन्द्र अवस्थाको प्राप्त हुए तब आपका वैभव निराला हो गया। आप विभु कहलाने लगे। उस समय जो आपको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था वही आज उत्पन्न हो रहा है—लोकालोकको जान रहा है और अपने अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा जो आज उत्पन्न हो रहा है वही आगे फिर भी उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानगुणकी केवलज्ञानरूप पर्याय सादि अनन्त पर्याय है—एक बार प्रकट होकर कभी नष्ट नही होती। यद्यपि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेसे उसमे भी अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय होते रहते हैं तथापि सामान्य केवलज्ञानकी अपेक्षा वह सदा ध्रुवरूप रहती है। विशेष, सामान्यसे पृथक् नही होता है और सामान्य भी विशेषसे पृथक् नही रहता है। ज्ञानसामान्य, आत्माका अनादि अनन्त गुण है और केवलज्ञान सादि अनन्तरूप विशेष ज्ञान है। जब विशेष ज्ञानकी ओर दृष्टि देकर कथन किया जाता है, तब यह कहा जाता है कि हे भगवन् ! परिणमन करनेवाले आप कालसे कलङ्कित—अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा कालत्रयमे केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं परन्तु जब सामान्य ज्ञानस्वभावकी ओर दृष्टि रखकर कहा जाता है तब यह कथन होता है कि हे भगवन् ! आप कलासे रहित सामान्य चैतन्य-ज्ञानस्वभावरूप सागरसे सहित है ॥७॥

त्वमनन्तचिदुद्गमसङ्कलनां न जहासि सदैकतयापि लसन् ।
तुहिनोपलखण्डलकेऽम्बुकणा अविलीनविलीनमहिम्नि समाः ॥८॥

अन्वयार्थ—(सदा) सर्वदा (एकतया) एकत्वरूपसे (लसन् अपि) सुशोभित होते हुए भी (त्वम्) आप (अनन्तचिदुद्गमसकलनां) ज्ञानके अनन्त विकल्पोकी संकलना-संग्रहको (न जहासि) नही छोड रहे है अर्थात् अखण्ड सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा आप एक है और अनन्त ज्ञान विकल्पोकी अपेक्षा अनेक भी हैं। दोनों ही स्थितियोंमे ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोकी संख्या समान ही रहती

है क्योंकि (अविलीनविलीनमहिम्नि) सघन और पिघली हुई—दोनो अवस्थाओंसे युक्त (तुहिनोपल-खण्डलके) बर्फके खण्डमे (अम्बुकणाः) पानीके कण (समाः) समान होते हैं।

भावार्थ—यहाँ एक अखण्ड ज्ञानकी अपेक्षा आपमें एकत्व है और उसके अनन्त विकल्पोंकी अपेक्षा अनेकत्व है। दोनो ही अवस्थाओमें बर्फखण्डमे जलकणोके समान अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या समान ही रहती है ॥८॥

घटितो घटितः परितो झटसि झटितो झटितः परितो घटसे।
झटसीश न वा न पुनर्घटसे जिन जर्ज्जरयन्निव भासि मनः ॥९॥

अन्वयार्थ—(हे ईश ! हे जिन !) हे नाथ ! हे जिनेन्द्र ! आप (घटितो घटितः) अविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा वृद्धिको प्राप्त होते हुए (परितः) सब ओरसे (झटसि) हानिको प्राप्त होते है और (झटितो झटितः) हानिको प्राप्त होते हुए भी (परितः) सब ओरसे पुनः (घटसे) वृद्धिको प्राप्त होते हैं (वा) अथवा (न झटसि न पुनः घटसे) न हानिको प्राप्त होते है और न पुनः वृद्धिको प्राप्त होते है। इस प्रकार आप (मनः) मेरे मनको (जर्ज्जरयन्निव) जर्जर करते हुएके समान (भासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—हे भगवन् ! प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमे वृद्धिका प्रसंग आनेपर अगुरुलघु गुणके निमित्तसे अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुण-वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि यह छह प्रकारकी वृद्धि होती है तथा हानिका प्रसङ्ग आनेपर उपर्युक्त छह प्रकारकी हानि होती है। हे भगवन् ! द्रव्यगत स्वभावके कारण आप भी अविभाग प्रतिच्छेदो की अपेक्षा उपर्युक्त छह प्रकार की वृद्धिको प्राप्त कर पुनः छह प्रकारकी हानिको प्राप्त करते है इसलिये कहा जाता है कि आप सब ओरसे वृद्धिको प्राप्त होकर भी हानिको प्राप्त होते है और हानिको प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि भाववती शक्तिके कारण आपमे अर्थपर्यायरूप परिणमन निरन्तर चालू रहता है परन्तु विशेषता यह है कि इस अर्थपर्याय-रूप परिणमनसे आपके द्रव्य और गुणोमे कोई ऐसा परिणमन नही होता जिससे उसके बाह्यरूप मे कोई विशेषता अङ्कित की जा सके। भाव यह है कि सामान्य द्रव्य तथा गुणकी अपेक्षा आपमे न वृद्धि होती है और न हानि होती है। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायगत स्वभावके कारण समी-क्षक मनुष्यका मन यद्यपि असमंजसमे पडता हुआ जर्जर हो जाता है तथापि वस्तुस्वभावका विचार करने पर मनकी वह जर्जरता दूर हो जाती है ॥९॥

प्रकृतिर्भवतः परिणाममयी प्रकृतौ च वृथैव वितर्ककथा।
वहनित्य (वहसि त्व) मखण्डितधारचिता सदृशेतरभावभरेण भृतः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भवतः) आपका (प्रकृतिः) स्वभाव (परिणाममयी) परिणमनशील है (च) और (प्रकृतौ) स्वभावके विषयमे (वितर्ककथा) ऐसा क्यों होता है ? ऐसे तर्ककी चर्चा (वृथैव) वृथा ही है (अखण्डितधारचिता) अखण्ड सन्ततिसे युक्त (सदृशेतरभावभरेण) समान और अस-मान—वृद्धि और हानिरूप परस्पर विरोधी धर्मोके समूहसे (भृतः) परिपूर्ण (त्वम्) आप (वहसि) उपर्युक्त प्रकृति-स्वभावको धारण कर रहे है।

भावार्थ—हे भगवन् ! द्रव्यका यह स्वभाव है कि वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमनसे युक्त होता है। उसका स्वभाव ऐसा क्यों है ? इसमें तर्क नही किया जा सकता है क्योकि—'स्वभावोऽनर्कगोचर:' स्वभाव तर्कका विषय नही है। इस सिद्धान्तके अनुसार आप भी परिणमनशील है और उस परिणमनशीलताके विषयमें कोई तर्क नही किया जा सकता है। यह परस्पर विरोधी परिणमन आपमे अनादिकालसे अखण्डधाराके रूपमे चला आ रहा है और आप इस प्रकारके परिणमनरूप स्वभावको धारण करते आ रहे हैं ॥१०॥

अपरोक्षतया त्वयि भाति विभावपरोक्षपरोक्षतया(र्थ)थ गतिः ।
न तथाप्यपरोक्षविभूतिभरं प्रतियं पेति (प्रतियन्ति वि) मोहहताः पशवः ॥११॥

अन्वयार्थ—(अर्थगति') पदार्थका ज्ञान (अपरोक्षपरोक्षतया) प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे होता है [यद्यपि] (विभौ त्वयि अपरोक्षतया भाति 'सति') लोकोत्तर सामर्थ्यसे युक्त आप प्रत्यक्षरूपसे सुशोभित हो रहे है (तथापि) तो भी (विमोहहता' पशव:) मिथ्यात्वसे पीडित अज्ञानी जन आपके (अपरोक्षविभूतिभर) प्रत्यक्षविभूतिके समूहकी (न प्रतियन्ति) प्रतीति नही करते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यह ठीक है कि पदार्थका निर्णय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो प्रमाणो से होता है परन्तु आप तो प्रत्यक्ष अनुभवमे आनेवाले वैभवसे सुशोभित हो रहे है फिर भी आश्चर्य है कि विभ्रमसे पीडित हुए अज्ञानी जन आपके इस प्रत्यक्ष वैभवकी प्रतीति नही कर रहे है। तात्पर्य यह है कि पदार्थका निर्णय यद्यपि कही प्रत्यक्ष प्रमाणसे होता है और कही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष प्रमाणोसे भी होता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है उसका निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाणसे होता है और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही हो रहा है उसका निर्णय परोक्ष प्रमाणसे होता है। कदाचित् परोक्ष पदार्थके निर्णय करनेमे अज्ञानी जनोको बाधा हो सकती है परन्तु प्रत्यक्ष पदार्थके निर्णयमें बाधा नही होती। आश्चर्य यह है कि आपकी विभूतियोका समूह यद्यपि प्रत्यक्ष है तथापि अनादि विमोह— मिथ्यात्वसे पीड़ित अज्ञानी जन उसकी श्रद्धा नही कर पा रहे है ॥११॥

स्वपराकृतिसङ्कुलनाकुलिता स्वमपास्य परे पतिता परदृक् ।
भवतस्तु भरादभिभूय परं स्वमहिम्नि निराकुलमुच्छलति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(स्वपराकृतिसङ्कुलनाकुलिता) निज और परकी आकृतिके ग्रहण करनेमे आकुलित रहनेवाली (परदृक्) अन्य—मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी दृष्टि (स्वम् अपास्य) निजको छोडकर (परे) पर पदार्थमे (पतिता) जा पड़ी है (तु) परन्तु (भवत्) आपकी दृष्टि (भरा') बलपूर्वक (परम् अभिभूय) परको छोड़कर (निराकुलं यथास्यात्तथा') निराकुलरूपसे (स्वमहिम्नि) अपनी महिमामे ही (उच्छलति) उच्छलित हो रही हे।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि ज्ञानका स्वभाव स्वपरग्राही है परन्तु मिथ्यादृष्टि मनुष्यका ज्ञान स्वको छोड़कर पर पदार्थको ही अपना ज्ञेय बनाता है और आपका ज्ञान पर पदार्थको छोड़कर अपने आपको ही ज्ञेय बना रहा है अर्थात् अपने आपको ही जान रहा है। परमार्थसे आप आत्मज्ञ ही हैं और व्यवहारसे लोकालोकज्ञ है ॥१२॥

दृशि दृश्यतया परितः स्वपरावितरेतरमीश्वरसंविशतः ।
अतएव विवेककृते भवता निरणायि विधिप्रतिषेधविधिः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(ईश्वर) हे भगवन् ! (स्वपरौ) निज और पर पदार्थ (दृश्यतया) दर्शनका विषय होनेसे (दृशि) दर्शनगुणमे (इतरेतरम्) परस्पर (परितः) सब ओरसे (सविशतः) प्रविष्ट हो रहे है (अतएव) इसलिये (भवता) आपके द्वारा (विवेककृते) स्व और परका भेद विज्ञान करने के लिये (विधिप्रतिषेधविधि.) विधि और निषेधकी पद्धतिका (निरणायि) निर्णय किया गया है।

भावार्थ—जिस प्रकार स्वपरपदार्थ ज्ञानगुणके विषय है उसी प्रकार दर्शनगुणके भी विषय है। ज्ञानगुणके विषय होनेसे उन्हें ज्ञेय कहते है और दर्शनगुणका विषय होनेसे उन्हे दृश्य कहते है। ज्ञान और दर्शनमे जो विषय आते है वे परस्पर संवलित रूपसे आते है अत. कौन स्व है ? और कौन पर है ? इसका भेद करनेके लिये हे भगवन् ! आपने विधि और निषेधकी पद्धति को स्वीकृत किया है। जिसके साथ विधिका व्यवहार होता है वह स्व है जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि। और जिसके साथ प्रतिषेधका व्यवहार होता है वह पर है जैसे राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि। ज्ञान दर्शन आदि आत्माके हैं क्योंकि ये परावलम्बनके बिना आत्मामें स्वतः विद्यमान रहते है और राग-द्वेष आदि आत्माके नही है, क्योकि ये परावलम्बनसे आत्मामे प्रकट होते है ॥१३॥

यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशि व्यतिरेकभरोऽन्वयमन्वगमत् ।
दृशिरेव तदा प्रतिभातु परं किमु दृश्यभरेण दृशं हरता ॥१४॥

अन्वयार्थ –(यदि) यदि (दृश्यनिमित्तक.) दृश्यके निमित्तसे होनेवाला (एष) यह (व्यतिरेकभर) पर्याय समूह (दृशि) दर्शनमे (अन्वयम्) अन्वयको (अन्वगमत्) प्राप्त होता है अर्थात् दृश्य पदार्थोके निमित्तसे ही दर्शनगुणकी पर्यायोंकी सन्तति चलती है (तदा) तो (दृशिरेव) एक दर्शन-ही (पर) अत्यन्त (प्रतिभातु) प्रतिभासित हो (दृशं हरता) दर्शनको हरनेवाले (दृश्यभरेण किमु) दृश्य पदार्थोके समूहसे क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पणकी स्वच्छतासे दर्पणमे अनेक पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पडता है परन्तु परमार्थमे वह सब प्रतिबिम्ब, दर्पणका ही परिणमन है पदार्थोका नही। इसी प्रकार दर्शन गुणमे उसकी स्वच्छतासे अनेक दृश्योका विकल्प आता है, परन्तु वह सब विकल्प दर्शनका ही परिणमन है पदार्थोका नही। इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि यदि दृश्य—पदार्थोके निमित्तसे दर्शनगुणमे अनेक पर्यायोका समूह अन्वयको प्राप्त होता है तो परमार्थसे वह दर्शनगुणका ही परिणमन है दृश्य—पदार्थो का नही।

यद्यपि दर्शन निर्विकल्पक माना गया है और ज्ञान सविकल्पक, तथापि छद्मस्थ जीवका ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है और सर्वज्ञका ज्ञान दर्शनके साथ उत्पन्न होता है इसी अभिप्रायसे यहाँ दर्शनमें दृश्यके विकल्पका उल्लेख किया गया है ऐसा जान पड़ता है ॥१४॥

यदिदं वचसां विषयाविषयस्तदभूत्तव दृश्यमशेषमपि ।
अथवाचलचिद्भरधीरतया जिन दृश्यविरक्तविभूतिरसि ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण (इदम्) यह दर्शनगुण (वचसां विषयाविषय.) वचनोंके विषयका अविषय है अर्थात् सूक्ष्म होनेके कारण वचनोंसे उल्लिखित नही होता है (तत्) उस कारण (तव) आपका (अशेषं दृश्यमपि) समस्त दृश्य भी (वचसां विषयाविषयः) वचनों के विषय का अविषय है अर्थात् वचनोंसे उल्लिखित नहीं होता है। (अथवा) अथवा (जिन) हे जिनेन्द्र ! (अचलचिद्भरधीरतया) अचल चैतन्यके समूहमे स्थिर होनेके कारण आप (दृश्यविरक्तविभूतिः असि) दृश्यपदार्थोंसे विरक्तविभूतिवाले है।

भावार्थ—दर्शनगुणका परिणमन इतना सूक्ष्म होता है कि वचनोके द्वारा उसका उल्लेख नही किया जा सकता है। वचनोंसे जिसका उल्लेख होता है वह ज्ञानका विषय हो ा है। इसी अभिप्रायसे दर्शनको निर्विकल्प माना जाता है अर्थात् उसमे दृश्यके निमित्तसे विकल्पकी उत्पत्ति नही मानी जाती है। इस प्रकार हे भगवन् ! आप दृश्यके विकल्पसे रहित हैं। अथवा चैतन्य एक गुण है उसका ज्ञान और दशनके भेदसे दो रूप परिणमन होता है। जब इन दो रूप परिणमनोंकी विवक्षा रहती है तब दर्शन-दृश्य और ज्ञान-ज्ञेयका व्यवहार होता है परन्तु जब एक अविनाशी चैतन्यगुणकी ही विवक्षा रहती है तब इनका व्यवहार नही हो ा, एक चैतन्य और चैत्यका ही व्यवहार होता है। इस स्थितिमे यह कहा जाता है कि हे भगवन् ! आपकी विभूति दृश्य से विरक्त है अर्थात् दृश्यके विकल्पसे रहित है ॥१५॥

महतात्मविकासभरेण भृशं गमयन्त्य इवात्ममयत्वमिमाः।
जिन विश्वमपि स्फुटयन्ति हठात् स्फुटितस्फुटितास्तव चित्कलिकाः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (महता) बहुत बडे (आत्मविकासभरेण) आत्मविकासके समूहसे (भृशं) अत्यधिक दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंको (आत्ममयत्वं) आत्मरूपताको (गमयन्त्य इव) प्राप्त कराती हुई के समान (तव) आपकी (इमाः) ये (स्फुटितस्फुटिताः) अतिशयरूप प्रकट हुई (चित्कलिका) ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यगुणकी परिणतियाँ (हठात्) हठपूर्वक (विश्वमपि) समस्त-पदार्थोंको भी (स्फुटयन्ति) प्रकट करती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके चैतन्यगुणका जो केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप परिणमन है वह आत्मविकासका उत्कृष्ट रूप है। उसमे जो भी पदार्थ दृश्य और ज्ञेयरूप होकर आते है वे ऐसे जान पडते है मानो आत्मा के साथ तन्मयताको हो प्राप्त हो रहे हों। ये केवलदर्शन और केवलज्ञान स्वयं अत्यन्त स्फुटित है—प्रकटरूप है और समस्त विश्वको भी अपने भीतर स्फुटित करते हे ॥१६॥

अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा रचयन्ति वितानमिवाविरतम् ।
अवभासितविश्वतयोच्छलिता विततद्युतयस्तव चित्तडितः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अवभासितविश्वतया) समस्त लोकालोकरूप विश्वको प्रकाशित करनेके कारण जो (उच्छलिता.) उत्कृष्टरूपसे प्रकट हो रही है तथा (विततद्युतयः) जिनकी दीप्ति अत्यन्त विस्तृत है ऐसी (तव) आपकी (चित्तडित.) चैतन्यज्ञानदर्शनरूप बिजलियाँ (अचलात्मचमत्कृतचन्द्र-रुचा) अविनाशी आत्माके चमत्काररूप चन्द्रमाकी कान्तिके द्वारा (अविरतम्) निरन्तर (वितान-मिव रचयन्ति) मानों चँदेवा ही रच रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके चैतन्यगुणका जो केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप परिणमन है वह बिजलीके समान अत्यन्त प्रकाशमान है। बिजली सीमित क्षेत्रको जब कभी अपनी कौंदसे प्रकाशित करती है परन्तु केवलदर्शन और केवलज्ञान अपनी कौंदसे निरन्तर लोकालोकको प्रकाशित करते रहते है। उनका प्रकाश तो ऐसा छाया रहता है मानों आत्मज्ञानरूप चन्द्रमाकी चाँदनीके द्वारा एक सदा स्थायी रहने वाला चँदेवा ही तान दिया गया हो ॥१७॥

इदमद्य ददद्विशदानुभवं बहुभावसुनिर्भरसत्त्वरसम् ।
तव बोधमुखे कवलग्रहवत् परिवृत्तिमुपैति समग्रजगत् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(विशदानुभवं ददत्) जो स्पष्ट अनुभवको दे रहा है तथा जो (बहुभावसुनिर्भरसत्त्वरसम्) अनेक पदार्थसमूहकी अतिशय सत्तारूपी रससे युक्त है ऐसा (इदम्) यह (समग्रजगत्) सम्पूर्ण लोक (अद्य) आज (तव) आपके (बोधमुखे) केवलज्ञानरूप मुखमे (कवलग्रहवत्) ग्रासग्रहणके समान (परिवृत्ति) परिवर्तनको (उपैति) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार अनेक रसोंसे युक्त ग्रास, मुखमे पहुँच कर अपने आपका रसास्वाद कराता हुआ घुलमिल जाता है उसी प्र॰ार अनेक पदार्थों के अस्तित्वसे परिपूर्ण यह समस्त संमार आपके केवलज्ञानमे अपना स्पष्ट अनुभव कराता हुआ घुलमिल रहा है अर्थात् ज्ञेय बनकर प्रतिफलित हो रहा है ॥१८॥

बहुरूपचिदुद्गमरूपतया वितथैव वपुः प्रतिबिम्बकथा ।
अनुभूतिमथापतितं युगपन्ननु विश्वमपि प्रतिमा भवतः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(बहुरूपचिदुद्गमरूपतया) ज्ञान-दर्शनके भेदसे विविधरूपताको प्राप्त चैतन्यके उद्गमस्वरूप होनेके कारण (भवत:) आपके (वपु: प्रतिबिम्बकथा) शरीरके प्रतिबिम्ब की कथा करना (वितथैव) व्यर्थ ही है (अथ) एक सर्वज्ञदशाके प्रकट होनेके अनन्तर तो (युगपत्) एक साथ (अनुभूतिम् आपतितम्) अनुभूतिको प्राप्त होने वाला (विश्वमपि) समस्त विश्व भी (ननु) निश्चयसे (भवत.) आपकी प्रतिमा—प्रतिबिम्ब है।

भावार्थ—हे भगवन् ! परमार्थसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि रूप जो चैतन्यका परिणमन है वही आपका स्वरूप है अत: आपके शरीरके प्रतिबिम्बकी चर्चा करना व्यर्थ है परन्तु आपकी आत्मामे एक साथ प्रतिफलित होने वाले अनन्तानन्त पदार्थोंको ओर लक्ष्य देकर जब चर्चा की जाती है तब ऐसा लगता है कि यह समस्त विश्व ही आपकी प्रतिमा है। ज्ञेय—पदार्थका जब ज्ञानमे विकल्प आता है तब ज्ञान, ज्ञेयाकार हो जाता है ऐसा व्यवहार है, इसी व्यवहारके अनुसार आपके ज्ञानमे समस्त विश्वका विकल्प आ रहा है अत. आपका ज्ञान विश्वाकार हो रहा है। यद्यपि परमार्थसे न ज्ञान, ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञानरूप होता है तथापि व्यवहारसे ऐसा वर्णन होता है कि ज्ञेयको जाननेके कारण ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है और ज्ञेय, ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होनेसे ज्ञानाकार हो जाता है ॥१९॥

ह्रियते हि परैर्विषयैर्विषयी स्वमतः कुरुतां विषयं विषयी ।
स (यतो)हतो विषयैर्विषयस्तु भवेद्धतो विषयी न पुनर्विषयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(हि) जिस कारण (विषयी) पदार्थोंको विषय करनेवाला—जाननेवाला आत्मा (परैः विषयैः) अन्य विषयोंके द्वारा (ह्रियते) हरा जाता है—तद्रूप हो जाता है (अतः) इस कारण (विषयी) आत्मा (स्वम्) अपने आपको (विषयं कुरुताम्) विषय करे—परज्ञेयोसे निवृत्त होकर स्व को जाने। (तु) और (यतो) जिस कारण (सः) वह स्वकीय आत्मा (विषयः) विषय होता है उस कारण वह (विषयैः) अन्य विषयोंके द्वारा (अहृतो भवेत्) अहृत होता है—अन्यरूप नही होता है उस समय वह आत्मा (विषयी) विषय करनेवाला—ज्ञायक ही होता है (न पुनर्विषयः) विषय-रूप नहीं होता।

भावार्थ—जो आत्मा अन्य पदार्थोंको जानता है वह ज्ञेयाकार परिणमन करनेके कारण उनरूप हो जाता है इसलिये उपरितन भूमिकामें आत्मा अन्य पदार्थोंका विकल्प छोड़कर अपने आपको जानता है। जब आत्मा अपने आपको विषय बनाता है अर्थात् अपने आपको जानता है तब वह अन्य ज्ञेयाकार नही होता, अतः विषयी–ज्ञायक ही रहता है विषय—ज्ञेयरूप नही होता है ॥२०॥

दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो भवबीजहरस्तव शक्तिभरः।
न विविक्तमतिः क्रियया रमते क्रिययोपरमत्यपथादथ तु ॥२१॥

अन्वयार्थ—(दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयः) दर्शन और ज्ञानमे निश्चलवृत्तिरूप जो (तव) आपकी (शक्तिभर) शक्तियोका समूह है वह (भवबीजहरः) संसारके बीज—कारणको नष्ट करने-वाला है (तु) किन्तु (विविक्तमतिः) पवित्र ज्ञानका धारक–भेदविज्ञानी मनुष्य (क्रियया) क्रियाके द्वारा (न रमते) रमता नही है अर्थात् मात्र क्रियामें तल्लीन नही होता है (अथ) अपितु प्रारम्भिक अवस्थामे (क्रियया) क्रियाके द्वारा (अपथात्) कुमार्गसे (उपरमति) निवृत्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आत्मा ज्ञाता द्रष्टा-स्वभाव वाला है अतः आत्माकी समस्त शक्तियोका समूह जब आत्मस्वभावमे स्थिर हो जाता है तब संसार अवस्थाका नाश कर वह मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमे स्थिर होना ही परम यथाख्यातचारित्र है और परम यथाख्यातचारित्र ही मोक्षका साक्षात् कारण है। ज्ञानमे अपवित्रता मोहके निमित्तसे आती है, जिसके मोहका सम्बन्ध छूट जाता है उसका ज्ञान पवित्र हो जाता है। जब तक इस जीव के साथ मोहका सम्बन्ध रहता है तभी तक इसकी सामायिक छेदोपस्थापना आदि क्रियारूप चारित्रमे प्रवृत्ति होती है। बारहवें आदि गुणस्थानोमे मोहका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है अतः उन गुणस्थानोमे रहनेवाले जीवोके एक यथाख्यातचारित्र ही होता है क्रियारूप चारित्र नही होता। इस उपरितन भूमिकामे पहुँचनेके पहले जो क्रियारूप चारित्रमे प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा इस जीवकी अशुभोपयोगि कुमार्गसे निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनयकी अपेक्षा निवृत्तिका अंश ही चारित्र कहलाता है प्रवृत्तिका अंश नही। यह निवृत्तिरूप चारित्र संसार-निवृत्तिका कारण है और प्रवृत्तिरूप चारित्र पुण्यबन्धका कारण है ॥२१॥

क्रिययेरितपुद्गलकर्ममलश्चिचति पाकमकम्पमुपैति पुमान्।
परिपक्वचितस्त्वपुनर्भवता भवबीजहठोद्धरणान्नियतम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(क्रियया) चारित्ररूप क्रियाके द्वारा (ईरितपुद्गलकर्ममलः) जिसका पुद्गल कर्मरूपीमल निरस्त हो गया है ऐसा (पुमान्) पुरुष (चिति) ज्ञानस्वभावमें (अकम्पं) कभी नष्ट न होनेवाले (पाकं) परिणामको (उपैति) प्राप्त होता है (तु) और (परिपक्वचितः) जिसका ज्ञानस्वभाव परिपक्व हो चुका है अर्थात् केवलज्ञानरूप पर्यायको प्राप्त कर परिपूर्ण हो चुका है उसके (नियतम्) निश्चितरूपसे (भवबीजहठोद्धरणात्) ससारके कारणोंको बलपूर्वक नष्ट कर देनेसे (अपुनर्भवता) मुक्ति होती है।

भावार्थ—यथाख्यातचारित्रके द्वारा जिसके घातिचतुष्टयका क्षय हो चुका है ऐसा पुरुष केवलज्ञान प्राप्त करता है और जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है ऐसा पुरुष नियमसे मुक्तिका पात्र होता है। हे भगवन् ! आप उपर्युक्त विधिसे कर्ममलको नष्ट कर केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं अतः यह निश्चय है कि अब आपको पुनर्जन्म धारण नही करना है। संसारका कारणस्वरूप जो कर्ममल था उसे आपने आत्मपुरुषार्थसे बलपूर्वक निरस्त कर दिया है ॥२२॥

यदि बोधमबोधमलालुलितं स्फुटबोधतयैव सदोद्वहते।
जिन कर्तृतयाकुलितः प्रपतंस्तिमिवन्न विवर्त्तमुपैति तदा ॥२३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यदि) जब आप (स्फुटबोधतया) स्पष्ट—प्रत्यक्ष ज्ञानसे युक्त होनेके कारण (सदा एव) निरन्तर ही (अबोधमलालुलितं) अज्ञानरूपी मलसे अचञ्चल अथवा अदूषित (बोधं) केवलज्ञानको (उद्वहते) धारण करते हैं (तदा) तब (कर्तृतया) कर्तृत्वभावसे (आकुलितः) आकुलित हो (प्रपतन्) मुक्ति स्थानसे पतित होते हुए (तिमिवत्) मत्स्यावतारके समान (विवर्तम्) अवतारको (न उपैति) प्राप्त नही होते।

भावार्थ—अन्यमतको मान्यता है कि विष्णु मुक्ति स्थानको प्राप्त होकर[1] शिष्टानुग्रह और दुष्टनिग्रह करनेको भावनासे आकुल हो मुक्तिस्थानसे नीचे आकर पुनः अवतारको ग्रहण करता हैं जैसी कि कथा है—एक बार पृथिवी जलमे डूब गयी तब उसका उद्धार करनेके लिये विष्णुने मत्स्यावतार धारण किया। यहाँ कहा गया है कि हे भगवन् ! आप निरन्तर उस केवलज्ञानको धारण करते है जो कभी अज्ञान मलसे चञ्चल या दूषित नही होता। केवलज्ञान होनेपर आप कृतकृत्य हो जाते हैं—शिष्टानुग्रह तथा दुष्टनिग्रह जैसी कर्तृत्वकी भावना आपको कभी उत्पन्न नहीं होती। यही कारण है कि आप मुक्ति स्थानसे वापिस आकर फिर कभी अन्य अवतारको धारण नही करते है ॥२३॥

तव सङ्गममेव वदन्ति सुखं जिन दुःखमयं भवता विरहः।
सुखिनः खलु ते कृतिनः सततं सततं जिन येष्वसि सन्निहितः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (तव) आपके (सङ्गममेव) समागमको ही (सुखं वदन्ति) सुख कहते है और (भवता) आपके साथ जो (अयं) यह (विरहः) वियोग है उसे (दुःखं) दुःख

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥—भगवद् गीता, अध्याय ४

कहते हैं (खलु) निश्चयसे (ते कृतिन) वे भाग्यशाली मनुष्य (सततं सुखिन·) निरन्तर सुखी हैं (जिन) हे जिनेन्द्र ! (येषु) जिनमे आप (सततं) सदा (सन्निहितः) निकटस्थ (असि) हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! ऋषिगण आपके समागमको ही सुख और आपके वियोगको ही दुःख कहते हैं तात्पर्य यह है कि जिन जीवोकी आपमें सदा भक्ति रहती है वे सुखको प्राप्त होते हैं और जिन जीवोंकी आपमें भक्ति नही है वे सदा दुःखको प्राप्त होते हैं। हे नाथ ! संसारमे वे ही भाग्यशाली मनुष्य सदा सुखी रहते है जिनके निकट आप रहते हैं ॥२४॥

कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं सकलं सकलाः किल केवलिनः ।
तव देव चिदञ्चललग्नमपि ग्लपयन्ति कषायमलानि न माम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (सकलाः) समस्त (केवलिन·) केवली भगवान् (भवन्तं) आपको (अनन्तकल) अनन्त कलाओंसे सहित (सकलं) सकल परमात्मा (कलयन्ति) कहते हैं। (देव) हे नाथ ! (तव) आपके (चिदञ्चललग्न माम अपि) ज्ञानरूप अञ्चलके एक देशसे संलग्न मुझे भी (कषायमलानि) कषायरूपी मल (न ग्लपयन्ति) नष्ट नही करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जीवनमुक्त अरहन्त हैं अतः समस्त केवली आपको सकल-सदेह परमात्मा कहते हैं। यत आप केवलज्ञानरूपी पूर्णचैतन्य ज्योतिसे देदीप्यमान है अतः कर्मरूपी मल आपको म्लान कर ही कैसे सकते है मै यद्यपि आपके चैतन्य ज्योतिके एक अञ्चलको ही प्राप्त कर सका हूँ तथापि कर्मरूपी मल मुझे भी म्लान नही कर सकते हैं। आपकी श्रद्धा ही इस जीव-को कर्ममलके संसर्गसे दूर रखनेमे समर्थ है ॥२५॥

■

ॐ

(१८)

वियोगिनी छन्दः

अभिभूय कषायकर्मणामुदयस्पर्द्धकपङ्क्तिमुत्थिताः ।
जिन केवलिनः किलाद्भुतं पदमालोकयितुं तवेश्वराः ॥१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (किल) निश्चयसे (कषायकर्मणा) क्रोधादि कषायोको उत्पन्न करनेवाले मोहकर्म अथवा क्रोधादि कषायों और ज्ञानावरणादि शेष घातिकर्मोके उदयावलीमे प्राप्त स्पर्द्धकोके समूहको (अभिभूय) नष्ट कर जो (उत्थिता:) अभ्युदयको प्राप्त हुए है ऐसे (केवलिन:) केवली भगवान् (तव) आपके (अद्भुतं) आश्चर्य कारक (पदम्) पदको (आलोकयितु) जाननेके लिये (ईश्वरा.) समर्थ है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके आश्चर्यकारक पदको प्रत्यक्षरूपसे देखनेके लिये वे केवली भगवान् ही समर्थ है जो उदयागत कर्मपटलोंको नष्ट कर अभ्युदयको प्राप्त हुए है ॥१॥

तव बोधकलामहर्निशं रसयन् बाल इवेक्षुकाणिकाम् ।
न हि तृप्तिमुपैत्ययं जनो बहुमाधुर्यहृतान्तराशयः ॥२॥

अन्वयार्थ—(इक्षुकाणिकां रसयन् बाल इव) गन्नाकी गडेरीका (रसयन्) स्वाद लेने वाले बालकके समान (बहुमाधुर्यहृतान्तराशय.) अत्यधिक मिठास, पक्षमे आनन्दसे हृत हृदय (अयं जन.) यह मनुष्य (अहर्निशं) दिनरात (तव) आपकी (बोधकला) ज्ञानरूपी कलाका (रसयन्) रस लेता हुआ—अनुभव करता हुआ (तृप्ति न हि उपैति) तृप्तिको प्राप्त नही होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार गन्नाकी गडेरीको चूसने वाला बालक उसके मिठासके वशीभूत होता हुआ तृप्त नही होता है उसी प्रकार आपके केवलज्ञानकी कलाका रातदिन अनुभव करने वाला यह प्राणी तृप्त नही होता है क्योकि उसकी दिव्य सामर्थ्यका अनुभव करता हुआ यह प्राणी आश्चर्यसे चकित हो जाता है ॥२॥

इदमीश निशायितं त्वया निजबोधास्त्रमनन्तशः स्वयम् ।
अतएव पदार्थमण्डले निपतत्क्वापि न याति कुण्ठताम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (त्वया) आपके द्वारा (इदम्) यह (निजबोधास्त्रं) स्वकीय ज्ञानरूपी शस्त्र (अनन्तशः) अनन्त बार (स्वयं) अपने आप (निशायित) तीक्ष्ण किया गया है (अतएव) इसीलिये वह (पदार्थमण्डले) पदार्थोके समूह पर (निपतत्) पडता हुआ (क्वापि) कहीं भी (कुण्ठता) मोथलेपनको (न याति) नही प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बार-बार घिसकर पैना किया हुआ शस्त्र इतना तीक्ष्ण हो जाता है कि वह किसी भी पदार्थ पर गिराये जाने पर कुण्ठित नही होता किन्तु उसे अवश्य ही काट देता है, इसी प्रकार अपने ज्ञानरूपी शस्त्रको आपने अनन्तो बार इतना तेज किया है कि वह पदार्थ समूहको जाननेमे कुण्ठित नही होता। हे भगवन्! आपका ज्ञान केवलज्ञानरूपमें परिवर्तित हुआ है अत. वह लोकालोकको जाननेमे सदा तत्पर रहता है ॥३॥

इदमेकमनन्तशो हठादिह वस्तून्यखिलानि खण्डयन् ।
तव देव दृगस्त्रमीक्ष्यते युगपद्विश्वविसर्पिविक्रमम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (इह) इस संसारमे (हठात्) हठ पूर्वक (अखिलानि वस्तूनि) समस्त पदार्थोंको (अनन्तशः) अनन्तों बार (खण्डयन्) खण्ड-खण्ड करता हुआ (तव) आपका (इद) यह (एकं) एक (दृगस्त्रम्) दर्शनरूपी शस्त्र (युगपत्) एक साथ (विश्वविसर्पिविक्रमम्) जिसका पराक्रम लोकालोकमे फैल रहा है ऐसा (ईक्ष्यते) दिखाई देता है।

भावार्थ—हे स्वामिन्! जिस प्रकार आपका ज्ञान, केवलज्ञानमे परिवर्तित होकर लोकालोकको जाननेमे समर्थ हो गया है उसी प्रकार आपका दर्शन भी, केवल दर्शनरूपमे परिवर्तित होकर समस्त लोकालोकको देखनेमे समर्थ हो गया है ॥४॥

समुदेति विनैव पर्ययैर्न खलु द्रव्यमिदं विना न ते ।
इति तद्द्वितयावलम्बिनी प्रकृतिर्देव सदैव तावकी ॥५॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (द्रव्यं) द्रव्य (पर्ययै. विना) पर्यायोके बिना (न समुदेति) उदयको प्राप्त नही होता और (ते) पर्यायें भी (इदं विना) द्रव्य के बिना (न 'समुद्यन्ति') उदयको प्राप्त नही होती (इति) इसलिये (देव) हे देव! (तावकी) आपकी (प्रकृति.) स्वभाव (सदैव) निरन्तर ही (तद्द्वितयावलम्बिनी) उन दोनों—द्रव्य और पर्यायोको अवलम्बन देनेवाला है।

भावार्थ—पर्यायसे रहित द्रव्य और द्रव्यसे रहित पर्याय कभी नही होता इसीलिये हे भगवन्! आप दोनोका अवलम्बन करते है। ससारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक है। उन सबको आप जानते है ॥५॥

न विनाश्रयिणः किलाश्रयो न विनैवाश्रयिणः स्युराश्रयम् ।
इतरेतरहेतुता तयोर्नियतार्कातपभास्वरत्ववत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (आश्रयिण विना) आश्रयीके बिना (आश्रय न) आश्रय नही रहता और (आश्रयं विना) आश्रयके बिना (आश्रयिण) आश्रयी (नैव स्युः) नही रहते, इसलिये (तयोः) आश्रयी और आश्रयमे (अर्कातपभास्वरत्ववत्) सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश के समान (इतरेतरहेतुता) परस्परकी कारणता (नियता) निश्चित है।

भावार्थ—द्रव्य आश्रय कहलाता है और गुण तथा पर्याय आश्रय कहलाता है। ये दोनों परस्पर एक दूसरेके बिना नही रह सकते जैसे कि सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश ॥६॥

विधिरेष निषेधबाधितः प्रतिषेधो विधिना विरूषितः ।
उभयं समताडुपेत्य तद्यतते संहितमर्थसिद्धये ॥७॥

अन्वयार्थ—(एषः) यह (विधिः) अस्तिपक्ष (निषेधवाधित) नास्तिपक्षसे बाधित है और (प्रतिषेधः) नास्तिपक्ष (विधिना) अस्तिपक्षके द्वारा (विरूक्षितः) बाधित हे परन्तु (तद् उभयं) वे दोनो—अस्ति और नास्तिपक्ष (समतामुपेत्य) समताको प्राप्त कर (संहितं) परस्पर मिले हुए (अर्थसिद्धये) प्रयोजन अथवा पदार्थकी सिद्धिके लिये (यतते) यत्न करते हैं।

भावार्थ—पदार्थके सद्भावको बतलाने वाला पक्ष अस्तिपक्ष कहलाता है और असद्भावको बतलाने वाला पक्ष नास्तिपक्ष कहलाता है। ये दोनो पक्ष परस्परके विरोधी होनेसे मिलते नही हैं, पर तु आपने नय विवक्षासे इन दोनोको एक साथ मिलाया है। आपने कहा है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय—अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टय—परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। जब ये दोनों पक्ष परस्पर विरुद्ध रहते है—अपने विरोधी पक्षका सर्वथा निषेध कर देते है तब उनसे पदार्थका वास्तविक रूप सिद्ध नही होता और न वैसा माननेसे कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है ॥७॥

न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिज्जिन वस्तूनि तथा भवन्त्यपि ।
समकालतयावतिष्ठते प्रतिषेधो विधिना समं ततः ॥८॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यतः) क्योकि (वस्तूनि) पदार्थ (तथा भवन्ति अपि) स्वचतुष्टयकी अपेक्षा होते हुए भी (क्वचित्) कही (अन्यथा न भवन्ति) परचतुष्टयकी अपेक्षा नही होते है (ततः) इस कारण (प्रतिषेधः) नास्तिपक्ष (विधिना समं) अस्तिपक्षके साथ (समकालतया) एक कालमे (अवतिष्ठते) अवस्थित रहता है।

भावार्थ—ऊपर कहे हुए अस्तिपक्ष और नास्तिपक्ष जब पृथक्-पृथक् विवक्षित होते है तब वे स्वतन्त्र रूपसे सामने आते है परन्तु जब उनकी क्रमसे एक साथ विवक्षा की जाती है तब एक ही साथ पदार्थमें अनुभूत होते हैं। ऊपरके श्लोकमें 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' इन दो भङ्गोंकी चर्चा की गई थी। यहाँ 'स्यात् अस्ति नास्ति' इस तृतीय भंगकी चर्चा की गई है ॥८॥

नहि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिदं द्वयात्मकम् ।
उभयैकतरत् प्रभाषितां (णां) रसना नः शतखण्डतामियात् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! वस्तु (नहि वाच्यम्) न वाच्यरूप है (वा) और (नहि अवाच्यमेव) न अवाच्यरूप ही है किन्तु (द्वयात्मकम्) दोनो रूप है। (इदं) यह (तव) आपका (माहात्म्यम्) माहात्म्य है। (उभयैकतरत्) दोनोंमे से मात्र एकका (प्रभाषिणा) कथन करने वाले (नः) हमारी (रसना) जिह्वा (शतखण्डताम् इयात्) सौ खण्डको प्राप्त हो।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी यही महिमा है कि आपने वस्तुको सर्वथा वाच्य या अवाच्य न कहकर दोनो रूप कहा है। उन दोनो धर्मोंमे से मै यदि मात्र एकका कथन करता हूँ तो मेरी जिह्वाके सौखण्ड हो जावें ॥९॥

क्रमतः किल वाच्यतामियाद्युगपद् द्वयात्मकमेत्यवाच्यताम् ।
प्रकृतिः किल वाङ्मयस्य सा यदसौ शक्तिरशक्तिरेव च ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो ! (किल) निश्चयसे वस्तु (क्रमतः) क्रमसे (वाच्यताम्) वाच्यरूपताको (इयात्) प्राप्त होती है और (युगपद्) एक साथ (द्वयात्मक 'सत्') उभयधर्मात्मक होती हुई (अवाच्यताम्) अवाच्यरूपताको (एति) प्राप्त होती है (किल) वास्तवमे (वाङ्मयस्य) शब्द-समूहका (सा—असौ) वह (प्रकृतिः) स्वभाव है (यत्) कि (शक्तिः च अशक्तिः) क्रमसे कहनेमें उसकी शक्ति है और युगपत् कहनेमें अशक्ति है[1]।

भावार्थ—दो विरोधी धर्मोंको क्रमसे कहनेकी शब्दोंमें शक्ति है परन्तु एक साथ कहनेकी शक्ति नही है अतः विरोधी धर्मोंकी जब क्रमसे विवक्षा की जाती है तब वे वाच्य होते हैं और जब एक साथ विवक्षा की जाती है तब अवाच्य होते है ॥१०॥

स्वयमेकमनेकमप्यदस्तवयत्तत्त्वमतर्कितं परैः ।
इदमेव विचारगोचरं गतमायाति किलार्थगौरवम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(परैः अर्तकित) अन्य वादी जिसकी कल्पना नही कर सके है ऐसा (तव यत् अदः तत्त्वम्) आपका जो यह तत्त्व है वह (स्वयं) स्वयं (एकम् अपि अनेकं) एक होकर भी अनेक है। (इदमेव) यही परस्पर विरोधी तत्त्व (विचारगोचर सत्) विचारके विषयको प्राप्त होता हुआ (अर्थगौरवम्) अर्थके गौरवको (आयाति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य एक, अनेक और उभयात्म—एकानेक रूप धर्मका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्का स्तवन करते है—हे प्रभो ! आपने जिस तत्त्वका निरूपण किया है वह विवक्षावश एक, अनेक तथा एकानेकात्मक है। समुदायकी अपेक्षा तत्त्व एक है, अवयवोंकी अपेक्षा अनेक है और दोनोकी एक साथ विवक्षा करने पर एकानेक है। यही भाव आगेके श्लोकमे स्पष्ट करते है ॥११॥

न किलैकमनेकमेव वा समुदायावयवोभयात्मकम् ।
इतरा गतिरेव वस्तुनः समुदायावयवौ विहाय न ॥१२॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे वस्तु (न एक) न एकरूप ही है (वा) और (न अनेकमेव) न अनेकरूप ही है किन्तु (समुदायावयवोभयात्मकं) समुदाय और अवयव—अशी और अश—दोनो रूप है। क्योकि (समुदायावयवौ) समुदाय और अवयवोको (विहाय) छोड़कर (वस्तुनः) वस्तुकी (इतरा) अन्य (गतिरेव न) गति ही नही है।

भावार्थ—संसारकी प्रत्येक वस्तु समुदाय और अवयवको छोड़कर अन्य रूप नही है। अतः जब समुदायकी ओर दृष्टिपात कर कथन होता है तब वस्तु एक रूप प्रतीत होती है और जब

---

१. कथंचित्ते सदेवेष्ट कथंचिदसदेव ते ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।
अवक्तव्योत्तरोः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्व हेतुतः ॥१६॥—आप्तमीमांसा ।

उसके अवयवो की ओर दृष्टिपात कर कथन करते हैं तब वही वस्तु अनेकरूप प्रतीत होती है। जब इन एक और अनेक दोनों रूपोंकी क्रमसे विवक्षा होती है तब वस्तु उभयात्मक अनुभवमें आती है और जब दोनोंकी एक साथ विवक्षा होती है तब वह अनुभयात्मक-अवाच्य प्रतीत होती है ॥१२॥

त्वमनित्यतयावभाससे जिन नित्योऽपि विभासि निश्चितम्।
द्वितयी किल कार्यकारितां तव शक्तिः कलयत्यनाकुलम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (एवम्) आप (अनित्यतया) अनित्यरूपसे (अवभाससे) प्रतीतिमे आते है और (निश्चित) निश्चितरूपसे (नित्योऽपि) नित्यरूप भी (विभासि) प्रतीतिमे आ रहे हैं। (तव) आपकी यह (द्वितयी शक्तिः) नित्यानित्यरूप द्विविधधर्मता (अनाकुल) निःसन्देह (कार्यकारिता) अर्थ कार्यकारित्वको (किल) निश्चयसे (कलयति) प्रकट करती है।

भावार्थ—यहाँ नित्य, अनित्य और नित्यानित्य धर्मको दृष्टिमे रखकर आचार्यने भगवान्-का स्तवन किया है—हे जिनेन्द्र! आप द्रव्यकी अपेक्षा नित्य हैं, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य हैं और यह द्विरूपता ही अर्थ क्रियाकारी है। यही बात आगेके श्लोकमे स्पष्ट करते हैं ॥१३॥

किमनित्यतया विना क्रमस्तमनाक्रम्य किमस्ति नित्यता।
स्वयमारचयन् क्रमाक्रमं भगवन् द्वयात्मकतां जहासि किम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(किम् अनित्यतया विना क्रमः) क्या अनित्यताके बिना क्रम होता है? अर्थात् नही होता और (क्रमम् अनाक्रम्य) क्रमको नष्ट किये बिना (किं नित्यता अस्ति) क्या नित्यता है? अर्थात् नही है। इस प्रकार (भगवन्) हे भगवन्! (स्वयं) अपने आप (क्रमाक्रमं) क्रम और अक्रमको (आरचयन्) प्रकट करते हुए आप (द्वयात्मकता) नित्यानित्यरूपताको (किं जहासि) क्या छोडते है? अर्थात् नही छोड़ते है।

भावार्थ—क्रमकी अनित्यताके साथ और अक्रमकी नित्यताके साथ व्याप्ति है। पर्याय दृष्टिसे आप क्रमको और द्रव्यदृष्टिसे अक्रमको स्वयं ही आलम्बन दे रहे हैं अत नित्यानित्यात्मक-पनेको आप कैसे छोड़ सकते हैं? अर्थात् नही छोड़ सकते है ॥१४॥

न किल स्वमिहैककारणं न तवैकः पर एव वा भवन्।
स्वपराववलम्ब्य वल्गतो द्वितयं कार्यत एव कारणम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (इह) यहाँ (स्व) स्व (एककारण न) एक कारण नहीं है (वा) और (भवन्) होता हुआ (एक. पर एव न) एक पर ही कारण नही है किन्तु (स्वपरौ) निज और परका (अवलम्ब्य) अवलम्बन लेकर (वल्गत) उद्यम करने वाले (तव) आपके मतमे (कार्यतः) कार्यकी सिद्धिमे (द्वितयम् एव कारणम्) स्व और पर दोनो ही कारण हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्का स्तवन करते हुए कहा गया है कि कार्यकी सिद्धि स्वपर कारणों से होती है। स्व, उपादान कारण और पर निमित्त कारण कहलाता है। दोनों कारण परस्पर सापेक्ष है ॥१५॥

न हि बोधमयत्वमन्यतो न च विज्ञानविभक्तयः स्वतः ।
प्रकटं तव देव केवले द्वितयं कारणमभ्युदीयते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(हि) क्योंकि (बोधमयत्वं) आपका ज्ञानसे तन्मयपना (अन्यतः न) दूसरे कारणोसे नहीं हुआ है किन्तु स्वतः है (च) और (विज्ञानविभक्तयः) आपके ज्ञानमे जो विभक्ति—विभाग हैं वे (स्वतः न) स्वय नही हैं किन्तु पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार (देव) हे नाथ ! (प्रकटं) स्पष्ट रूपसे (तव) आपके केवल ज्ञानमें (द्वितयं कारणं) दो प्रकारका कारण (अभ्युदीयते) संमुख होता है।

भावार्थ—हे देव ! आपकी जो ज्ञानरूपता है वह द्रव्यस्वभावके कारण स्वतः सिद्ध है उसमे अन्य द्रव्य कारण नही है, किन्तु ज्ञेयोके आश्रयसे ज्ञानमे जो विभाग हैं वे पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार आपके केवल ज्ञानमें स्व और पर अर्थात् उपादान और निमित्त दोनो कारण है ॥१६॥

स्वपरोभयभासि ते दिशां द्वितयीं यात्युपयोगवैभवम् ।
अनुभूतय एव तादृशं बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(स्वपरोभयभासि) स्व और पर—दोनोंको प्रकाशित करनेवाला (ते) आपका (उपयोगवैभवम्) उपयोगरूपी वैभव (द्वितयीं दिशाम्) दो रूपता—स्वपररूपताको (याति) प्राप्त होता है और (बहिरन्तर्मुखहासविक्रमै.) बहिर्मुख तथा अन्तर्मुख प्रतिभासके विक्रमसे वह उपयोग-वैभव (तादृशम् एव) वैसा ही—स्वपरावभासी रूप ही (अनुभूयते) अनुभवमे आता है।

भावार्थ—आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते है। उसके दो भेद है—एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। उपयोगका कार्य स्व-परको प्रकाशित करना है, उसमें दर्शनका काम स्वआत्माको प्रकाशित करना है और ज्ञानका काम स्व तथा परको प्रकाशित करना है ॥ १७॥

विषयं परितोऽवभासयन् स्वमपि स्पष्टमिहावभासयन् ।
मणिदीप इव प्रतीयसे भगवन् द्वयात्मकबोधदर्शनः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभो ! (द्वयात्मकबोधदर्शन.) जिनका ज्ञान दर्शन दो प्रकारका है ऐसे आप (विषय) घट-पटादि पदार्थोंको (परित) सब ओरसे (अवभासयन्) प्रकाशित करते हुए तथा (स्वमपि) अपने आपको भी (स्पष्ट) स्पष्टरूपसे (अवभासयन्) प्रकाशित करते हुए (इह) इस लोकमे (मणिदीप इव) मणिमय दीपकके समान (प्रतीयसे) प्रतीत होते है।

भावार्थ—जिस प्रकार मणिमय दीपक स्व-पर प्रकाशक होता है उसी प्रकार आप भी स्व-पर प्रकाशक दर्शन और ज्ञानसे तन्मय होनेके कारण स्व-पर प्रकाशक हैं ॥१८॥

न परानवभासयन् भवान् परतां गच्छति वस्तुगौरवात् ।
इदमत्र परावभासनं परमालम्ब्य यदात्मभासनम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(वस्तुगौरवात्) वस्तुके गौरवसे अर्थात् 'एक द्रव्य दूसरे रूप नही होता' इस [गौ]रवके कारण (परान्) घट-पटादि परपदार्थोंको (अवभासयन्) प्रकाशित करते हुए (भवान्)

आप (परता) पररूपताको (न गच्छसि) नहीं प्राप्त होते हैं क्योंकि (परमालम्ब्य) परका आलम्बन लेकर (यत्) जो (आत्मभासनम्) आत्माका प्रकाशित करना है (इदम्) यही (अत्र) यहाँ (परावभासनं) परका प्रकाशित करना है।

भावार्थ—आत्मा पर पदार्थोंको जानता है इतने मात्रसे वह पररूप नहीं हो जाता है क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी मर्यादा है कि वह सदा अपने रूप ही रहती है अन्यरूप नहीं होती। आत्मा परपदार्थको जानता है इसका इतना ही अर्थ विवक्षित है कि वह पर पदार्थका आलम्बन लेकर अपने आपको जानता है ॥१९॥

व्यवहारदृशा पराश्रयः परमार्थेन सदात्मसंश्रयः।
युगपत् प्रतिभासि पश्यतां द्वितयी ते गतिरीशतेतरा ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (व्यवहारदृशा) व्यवहार दृष्टिसे (पश्यता) देखने वालोके लिये आप (पराश्रय) परका आलम्बन लेनेवाले और (परमार्थेन) निश्चय दृष्टिसे देखने वालोके लिये (सदा) निरन्तर (आत्मसंश्रय) स्वका आलम्बन लेने वाले (युगपत्) एक कालमे (प्रतिभासि) प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार (ते गतिः द्वितयी) आपकी स्थिति स्वाश्रयी और पराश्रयीके भेदसे दो प्रकारकी है। हे प्रभो ! आपकी (ईशता) प्रभुता—लोकोत्तर सामर्थ्य (इतरा) अन्य लोगोसे विभिन्न ही है।

भावार्थ—किसी द्रव्यकी निजकी परिणतिमे परके आलम्बनको व्यवहारनय स्वीकृत करता है और निश्चयनय सदा अपने आपके आलम्बनको स्वीकृत करता है। हे भगवन् ! व्यवहारनयकी दृष्टिसे आप पराश्रयी और निश्चयनयकी दृष्टिसे स्वाश्रयी है। यह आपकी लोकोत्तर प्रभुता है कि आपमे दोनो अवस्थाएँ नयभेदसे युगपत् प्रतिभासित होती हैं ॥२०॥

यदि सर्वगतोऽपि भाससे नियतोऽत्यन्तमपि स्वसीमनि।
स्वपराश्रयता विरुध्यते न तव द्वयात्मकतैव भासि (ति) तत् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि आप (सर्वगतोऽपि) सर्वव्यापक भी (भाससे) प्रतीत होते है तो (स्वसीमनि) अपनी सीमामे (अत्यन्त नियतः अपि) अत्यन्त नियत भी प्रतीत होते है। (तत्) इसलिये (तव) आपकी (स्वपराश्रयता) स्व-परकी आश्रयता (न विरुध्यते) विरुद्ध नही है किन्तु (द्वयात्मकता एव) द्विरूपता ही (भाति) प्रतीत होती है।

भावार्थ—सर्वगत ज्ञेयोको जाननेकी अपेक्षा यद्यपि आप सर्वगत—सर्वव्यापक जान पड़ते है तथापि आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा अपनी सीमामे ही नियत है—उससे बाहर नही जाते है। इस तरह व्यवहारनयकी अपेक्षा पराश्रयता और निश्चयनयकी अपेक्षा स्वाश्रयता आपमे एक साथ रहती है, इसमे विरोध नही मालूम होता है क्योंकि द्विविधरूपता स्पष्ट ही अनुभव मे आ रही है ॥२१॥

अपवादपदैः समन्ततः स्फुटमुत्सर्गमहिम्नि खण्डिते।
महिमा तव देव पश्यतां तदतद्रूपतयैव भासते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे विभो ! (अपवादपदैः) प्रतिषेधात्मक शब्दोंके द्वारा (समन्ततः) सब ओर (स्फुटं) स्पष्टरूपसे (उत्सर्गमहिम्नि) उत्सर्ग—सामान्य-विधिपक्षके (खण्डिते) खण्डित हो जाने-पर (पश्यतां) देखनेवाले—अनुभव करनेवाले पुरुषोंके लिये (तव) आपकी (महिमा) महिमा (तदतद्रूपतया एव) तत्-अतत्रूपसे ही—विधि-निषेधरूपसे ही (भासते) प्रतिभासित होती है।

भावार्थ—निश्चयनयके पक्षको उत्सर्ग और व्यवहारनयके पक्षको अपवाद कहते है। यद्यपि अपवादके द्वारा उत्सर्गकी महिमा खण्डित होती है अर्थात् व्यवहार पक्षसे निश्चय पक्षका निषेध होता है तथापि वस्तुस्थितिका अनुभव करनेवालोके लिये वस्तु तत्-अतद् दोनों रूप प्रतीत होती है ॥२२॥

अनवस्थितिमेवमाश्रयन्नृभवत्वे विदधद् व्यवस्थितिम् ।
अतिगाढविघट्टितोऽपि ते महिमा देव मनाङ् न कम्पते ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे विभो ! जो (एवं) इस प्रकार (अनवस्थिति) अवस्थितिके अभावका (आश्रयन्) आश्रय करती हुई (नृभवत्वे) मनुष्य पर्यायमे (व्यवस्थिति) अवस्थितिके सद्भावको (विदधत्) कर रही है अर्थात् निश्चयनयसे यद्यपि आप किसी गतिमे अवस्थित नही है तथापि व्यवहारनयसे मनुष्य पर्यायमे आप अवस्थित हैं। ऐसी (ते) आपकी (महिमा) प्रभुता (अतिगाढ-विघट्टितोऽपि) परस्पर विरोधके कारण अत्यन्त विघट्टित होनेपर भी (मनाक्) रञ्चमात्र भी (न कम्पते) विचलित नही होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी महिमा यद्यपि ऊपर कहे अनुसार तद्रूप और अतद्रूप होनेसे अवस्थित—एकरूप नही है और इस प्रकारके विरोधसे परस्पर व्याघातको भी प्राप्त हो रही है तथापि वह रञ्चमात्र भी कम्पित नही होती है। क्योकि नयविवक्षासे सब व्याघातोंका परिहार हो जाता है ॥२३॥

हठघट्टनयाऽनया तव दृढनिःपीडितपौण्ड्रकादिव ।
स्वरसप्लव एप उच्छलन् परितो मां ब्रुडित करिष्यति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(तव) आपकी (अनया) इस (हठघट्टनया) इस सुदृढ आक्रान्तिसे—युक्तियुक्त विवेचनासे (दृढनि पीडितपौण्ड्रकादिव) अत्यन्त पीडित गन्नासे निकलते हुए रस प्रवाहके समान (एष) यह (स्वरसप्लव) आत्मरसका पूर (उच्छलन्) छलकता हुआ (मा) मुझ (परितः) सब ओरसे (ब्रुडित) निमग्न (करिष्यति) कर देगा।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार अत्यन्त दबाये हुए गन्नासे निकलता हुआ रसका पूर समीपवर्ती मनुष्यको अपने आपमे निमग्न कर लेता है उसी प्रकार आपके स्तवनसे प्रकट हुआ आत्मरसका प्रवाह मुझे अपने आपमे सब प्रकारसे निमग्न कर लेगा। यहाँ भगवत्स्तुतिके फलका निरूपण करते हुए आचार्यने आकाक्षा प्रकट की है कि आपकी स्तुतिसे मुझे आत्मानुभूति प्रकट हो और उसमे मैं सर्व ओरसे लीन हो जाऊँ ॥२४॥

विरता मम मोहयामिनी तव पादाब्जगतस्य जाग्रतः ।
कृपया परिवर्त्य भाक्तिकं भगवन् क्रोडगतं विधेहि माम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे स्वामिन् ! (तव) आपके (पादाब्जगतस्य) चरणकमलको प्राप्त तथा (जाग्रतः) जागृत रहनेवाले (मम) मेरी (मोहयामिनी) मोहरूपी रात्रि (विरता) व्यतीत हो चुकी है अतः (कृपया) करुणाभावसे (मा भाक्तिकं) मुझ भक्तको (परिवर्त्य) उठा कर (क्रोडगतं) गोदमे स्थित (विधेहि) कीजिये।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनादिकालसे मैं अन्य देवी-देवताओंकी शरणमें जाकर भव वनमें भटकता रहा हूँ। अब बड़े सौभाग्यसे मुझे आपके चरणकमलोंकी शरण प्राप्त हुई है जिसके फल-स्वरूप मेरी मिथ्यात्वरूपी रात्रि बीत चुकी है तथा तन्द्रा दूर हो जानेसे मैं निरन्तर जाग रहा हूँ। मैं एक आपका ही भक्त हूँ अतः मुझे उठाकर अपनी गोद मे स्थान दीजिये। अपने स्नेहपूर्ण उप-देशसे मेरा कल्याण कीजिये ॥२५॥

■

ॐ

(१६)

पुष्पिताग्राछन्दः

अयमुदयदनन्तबोधशक्तिस्त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा ।
धृतपरमपरारुचिः स्वतृप्तः स्फुटमनुभूयत एव ते स्वभावः ॥१॥

अन्वयार्थ—(उदयदनन्तबोधशक्ति) जिसमे अनन्त ज्ञानकी शक्ति अथवा अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य प्रकट हो रहे हैं, (त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा) जो त्रिकालवर्ती विश्व-लोकालोकको सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करने वाला है, (धृतपरमपरारुचि[1]) जिसने उत्कृष्ट रूपसे पर पदार्थोंमे अरुचि-को धारण किया है तथा जो (स्वतृप्तः) अपने आपमे संतुष्ट है ऐसा (अय) यह (ते) आपका (स्वभावः) स्वभाव (स्फुटं 'यथास्यात्तथा') स्पष्ट रूपसे (अनुभूयते एव) अनुभवमे आ हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌के स्वभावका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आपका स्वभाव अनन्तज्ञान और अनन्त बलसे सहित है। वह तीनकाल संबंधी समस्त द्रव्योंकी समय-समयवर्ती पर्यायोंको ग्रहण करने वाला है। पर पदार्थोंमे उसकी रञ्चमात्र भी रुचि नही है तथा अपने आपमे ही सतोषको प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि आपके वीतराग विज्ञान स्वभावका अनुभव मुझे स्पष्ट रूपसे होने लगा है। अनादि कालसे कुदेवोंकी आराधना कर मैं संसारमे परि-भ्रमण करता रहा हूँ परन्तु अब संसार दशाके क्षीण होनेसे मुझे आपकी शरण प्राप्त हुई है और स्पष्टरूपसे मुझे आपके स्वभावका अनुभव होने लगा है। आपके स्वभावका अनुभव होते ही मुझे अपने स्वभावका भी अनुभव होने लगा है। मेरी श्रद्धा हो रही है कि जैसा वीतराग—विज्ञान-मयस्वभाव आपका है वैसा ही स्वभाव तो मेरा है। मै अपने स्वभावकी ओर आजतक दृष्टि नही दे सका और उसके कारण परपदार्थोंमे आसक्त रहा परन्तु अब मुझे परपदार्थोंमे अत्यन्त अरुचि होने लगी है और आत्मस्वरूपमे अभिरुचिकी प्राप्ति होने लगी है ॥१॥

जिनवर परितोऽपि पीड्यमानः स्फुरसि मनागपि नीरसो न जातु ।
अनवरतमुपर्युपर्यभीक्ष्णं निरवधिबोधसुधारसं ददासि ॥२॥

अन्वयार्थ—(जिनवर) हे जिनेन्द्र! (परितः) सभी ओरसे (पीड्यमानः अपि) पीड्यमान—अनुभूयमान होते हुए भी आप (जातु) कदाचित् (मनागपि) रञ्चमात्र भी (नीरसः) नीरस (न स्फुरसि) नही मालूम होते है किन्तु (अनवरतं) निरन्तर (उपर्युपरि) उत्तरोत्तर (अभीक्ष्णं) नित्य (निरवधिबोधसुधारस) अनन्तज्ञानरूपी अमृतरसको (ददासि) प्रदान करते रहते है।

भावार्थ—इक्षु आदि पदार्थ अत्यन्त पीडित होने पर—दबाये जाने पर अपना रस छोड़ देते है और उसके पश्चात् नीरस हो जाते है तथा दूसरोके लिये रस देना बन्द कर देते है परन्तु हे भगवन्! आप सब ओरसे पीडित होने पर—संसारके अनन्त प्राणियो के द्वारा एक साथ अनुभूयमान

---
१. धृता परमा-उत्कृष्टा परस्मिन् अरुचिर्येन सः ।

होने पर भी कभी नीरस नहीं होते किन्तु उत्तरोत्तर निरन्तर अनन्तज्ञानरूप सुधारसको प्रदान करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी आराधना करने वाले जीव अनन्तकाल तक अपने ज्ञानस्वभावकी अनुभूति करते रहेंगे ॥२॥

शमरसकलशावलीप्रवाहैः क्रमविततैः परितस्तवैष धौतः ।
निरवधिभवसन्ततिप्रवृत्तः कथमपि निर्गलितः कषायरङ्गः ॥३॥

अन्वयार्थ—(क्रमविततैः) क्रमसे विस्तारको प्राप्त हुए (शमरसकलशावलीप्रवाहैः) शान्तरस के कलश समूहके प्रवाहोके द्वारा (परितः) जो सब ओरसे (धौतः) धुला है ऐसा (निरवधिभव-सन्ततिप्रवृत्तः) अनन्त पर्यायोसे साथ लगा हुआ (तव) आपका (एष) यह (कषायरङ्गः) कषाय रूपी रंग (कथमपि) किसी प्रकार (निर्गलितः) निकल गया था।

भावार्थ—हे भगवन् ! जैसा आपका वीतरागविज्ञान स्वभाव वर्तमानमे प्रकट है—व्यक्त है वैसा अनादि कालसे व्यक्त नही था। अनादि कालसे आपका स्वभाव भी कषायरूपी रगसे आच्छादित था परन्तु शान्तरसरूप कलशोके समूहसे धुलते-धुलते वह कषायरूपी रग किसी तरह अब निकल चुका है। श्लोकका एक भाव यह भी अनुभव मे आता है कि—हे भगवन् ! आपकी आराधना करने के फल स्वरूप मुझमे जो लोकोत्तर शान्ति प्रकट हुई है उसके द्वारा मेरा अनादिकालीन कषाय रूपी रग छूट गया है ॥३॥

सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्तव तडिति त्रुटतात्मवन्ननेन ।
अतिभरनिचितोच्छ्वसत्स्वशक्तिप्रकरविकाशमवापितः स्वभावः ॥४॥

अन्वयार्थ—(आत्मवन्) हे आत्मज्ञ ! (सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्) अच्छी तरहसे आचरित सम्यग्ज्ञान रूपी तीक्ष्ण शस्त्र के पातसे (तडिति त्रुटता) तडतड कर टूटते हुए (अनेन) इस कषाय के द्वारा (तव) आपका (स्वभाव) वीतराग विज्ञानस्वभाव (अतिभरनिचितोच्छ्वसत्स्वशक्ति-प्रकरविकाश) अत्यन्त भारसे व्याप्त प्रकट होती हुई आत्मशक्तियोके समूहके विकाशको (अवापितः) प्राप्त कराया गया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्योंही आपने भेदविज्ञानरूप तीक्ष्ण शस्त्रका प्रयोग किया त्योंही आपका कषायरूपी बन्धन तडतड कर टूट गया और टूटते ही उसने आपके वीतराग विज्ञानरूप स्वभावको प्रकट कर दिया। स्वभावके प्रकट होते ही अनन्तकालसे आच्छादित अनन्तशक्तियोंका समूह स्वयमेव विकासको प्राप्त हो गया ॥४॥

निरवधिभवभूमिनिम्नखातात् सरभसमुच्छलितो महद्भिरोघैः ।
अयमतिविततस्तवाच्छबोधस्वरसभरः कुरुते समग्रपूरम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(निरवधिभवभूमिनिम्नखातात्) जो अनन्तभवरूपी भूमिके निम्नगर्तसे (सरभसम्) बड़े वेग सहित (महद्भिः ओघैः) बहुत भारी प्रवाहोंके साथ (उच्छलितः) प्रकट हुआ है तथा (अतिविततः) अत्यन्त विस्तृत है ऐसा (तव) आपका (अयम्) यह (अच्छबोधस्वरसभरः) निर्मल ज्ञानके स्वरसका समूह (समग्रपूरम्) परिपूर्ण प्रवाहको (कुरुते) करता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनन्तभवोंकी साधनाके अनन्तर जो आपके अत्यन्त विस्तृत केवलज्ञान प्रकट हुआ है वह समस्त पदार्थोंको जानता है और एक अखण्ड धारामें प्रवाहित होता रहता है ॥५॥

निरवधि च दधासि निम्नभावं निरवधि च भ्रियसे विशुद्धबोधैः ।
निरवधि दधतस्तवोन्नतत्वं निरवधि स्वे[च]विभो विभाति बोधः ॥६॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! आप (निरवधि च) सीमातीत (निम्नभावं) गम्भीरताको (दधासि) धारण करते हैं तथा (विशुद्धबोधैः) निर्मल ज्ञानके द्वारा (निरवधि) अन्त रहित रूपसे (भ्रियसे) भरे जाते है । साथ ही (निरवधि) सीमातीत (उन्नतत्वं) औदार्यको (दधतः) धारण करने वाले (तव) आपका (बोध.) ज्ञान (निरवधि) निःसीम रूपसे (स्वे) अपने आपमे (विभाति) सुशोभित होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त गाम्भीर्य गुणको धारण करते है । अनन्त निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण हैं । अनन्त उदारताको धारण करते हैं और आपका ज्ञान पर ज्ञेयोंसे विमुख हो स्व ज्ञेयमे विलसित हो रहा है ॥६॥

अयमनवधिबोधनिर्भरः सन्ननवधिरेव तथा विभो विभासि ।
स्वयमथ च मितप्रदेशपुञ्जः प्रसभविपुञ्जितबोधवैभवोऽसि ॥७॥

अन्वयार्थ—(तथा विभो) और हे नाथ ! (अयम्) यह आप (अनवधिबोधनिर्भरः सन्) अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण होते हुए (अनवधिरेव) अनन्त ही (विभासि) मालूम होते है (अथ च) और (स्वय) स्वय (मितप्रदेशपुञ्ज) परिमितप्रदेशसमूहसे युक्त होते हुए भी (प्रसभविपुञ्जितबोधवैभव:) अत्यधिक एकत्रित ज्ञानके वैभवसे युक्त (असि) हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अवधिरहित अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण होते हुए स्वयं भी अवधिरहित-अनन्त है । और यद्यपि आप स्वय असख्यात प्रदेशी है तथापि आपमे अनन्तानन्तअविभागप्रतिच्छेदोसे युक्त केवलज्ञान रूपी वैभव इकठ्ठा हुआ है ॥७॥

श्रितसहजतया समग्रकर्मक्षयजनिता न खलु स्खलन्ति भावाः ।
अनवरतमनन्तवीर्यगुप्तस्तव तत एव विभात्यनन्तबोधः ॥८॥

अन्वयार्थ—(समग्रकर्मक्षयजनिताः) समस्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए (भावा.) भाव (खलु) निश्चयसे (श्रितसहजतया) सहज-स्वभावका आश्रय लेनेसे जिस कारण (यतो) जिस कारण (न स्खलन्ति) नष्ट नही होते है (तत एव) उसी कारण (अनवरत) निरन्तर (अनन्तवीर्यगुप्तः) अनन्तवीर्यसे सुरक्षित (तव) आपका (अनन्तबोधः) अनन्त ज्ञान (विभाति) सुशोभित हो रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! समस्त कर्मोंके क्षयसे जो भाव प्रकट होते हैं वे कभी नष्ट नही होते। इसीलिये ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला आपका केवलज्ञान कभी नष्ट नही होता किन्तु अनन्तवीर्यसे सुरक्षित होता हुआ सदा सुशोभित रहता है ॥८॥

दृगवगमगभीरमात्मतत्त्वं तव भरतः प्रविशद्भिरर्थसार्थैः ।
निरवधिमहिमावगाहहीनैः पृथगचला क्रियते विहारसीमा ॥९॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (दृगवगमगभीरं) दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण (आत्मतत्त्वं) आत्मतत्त्वको (प्रविशद्‌भिः) प्रवेश करनेवाले किन्तु (अवगाहहीनैः) अवगाहसे रहित (अर्थसार्थैः) पदार्थोंके समूहसे (भरतः) भरते हुए (तव) आपकी (निरवधिमहिमा) अनन्तमाहात्म्यसे युक्त (अचला) अविनाशी (विहारसीमा) विहारकी सीमा (पृथक्) अन्य सब द्रव्योंसे भिन्न (क्रियते) की जाती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दर्शन ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण आत्मतत्त्वकी ऐसी अद्‌भुत महिमा है कि अनन्तपदार्थोंका समूह प्रवेश करता है अर्थात् वह अनन्त पदार्थोंको अपने स्थानपर स्थित रहकर ही जानता है । इसके साथ विचित्रता यह है कि वे पदार्थ आपकी आत्मामे प्रवेश करनेपर भी अवगाहसे हीन रहते है अर्थात् उसमे स्थान नही पाते है इस प्रकार आपकी यह क्रीडा अनन्त-महिमासे युक्त है, अविनाशी है और सब द्रव्योसे भिन्न है । भाव यह है कि जिस प्रकार दर्पणमे[1] पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है । परन्तु प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी क्या पदार्थ दर्पणके भीतर प्रविष्ट हो जाते है ? नही । पदार्थ अपने स्थानपर रहते है मात्र उनके सम्मुख स्थित होनेसे दर्पणका पदार्थाकार परिणमन हो जाता है परमार्थसे दर्पण, दर्पण रहता है और पदार्थ, पदार्थ रहते हैं इसी प्रकार ज्ञानगुणकी स्वच्छताके कारण पदार्थोंका प्रतिबिम्ब—ज्ञेयाकार विकल्प आत्मामे पड़ता है परन्तु इस विकल्पके पड़ने पर भी क्या पदार्थ आत्मामे प्रविष्ट हो जाते है ? नही । पदार्थ पदार्थ ही रहते है और आत्मा आत्मा ही रहता है । ज्ञानज्ञेय स्वभावकी ऐसी ही अद्‌भुत महिमा है कि वे दोनो पृथक्-पृथक् रहकर भी अपृथक् के समान जान पड़ते है । ज्ञान ज्ञेयका का यह स्वभाव अचल है—कभी नष्ट नही होता है और आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योमे नही पाया जाता है अत उनसे पृथक् है ॥९॥

निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये तव परितस्तरतीव देव विश्वम् ।
तिमिकुलमिव सागरे स्वगात्रैः प्रविरचयन्निजसन्निवेशराजीः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (सागरे) समुद्रमे (स्वगात्रैः) अपने शरीरके द्वारा (निज-सन्निवेशराजीः) अपने सन्निवेशकी रेखाओको (प्रविरचयत्)) रचने वाले (तिमिकुलमिव) मच्छोंके समूहके समान (विश्वं) यह लोक-अलोकका समूह (तव) आपके (निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये) अनन्त आत्मज्ञानरूप समुद्रके बीचमे (परित.) चारो ओरसे (तरतीव) तैरता हुआ-सा जान पड़ता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मगर-मच्छोंका समूह समुद्रमे तैरता है और तैरते समय उसके शरीरके संघर्षसे जलमे रेखाएँ भी बनती जाती हैं उसी प्रकार आपके अगाध ज्ञानसागरमे यह समस्त विश्व तैर रहा है और उसकी विकल्परूप रेखाएँ भी बनती जाती है परन्तु जिस प्रकार समुद्रके जलमे मगर-मच्छोंके शरीरकी रेखाएँ स्थिर नही रहती उसी प्रकार विश्वकी विकल्परूप रेखाएँ भी आपके ज्ञानमे स्थिर नही रहती । वीतराग विज्ञानकी ऐसी ही अद्‌भुत महिमा है कि वह जानता तो समस्त विश्वको है परन्तु किसी भी पदार्थके साथ उसका आत्मीयभाव नही होता ॥१०॥

---

१ तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय. ।

प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता भुवनभरस्य विवेचयत्स्वशक्तीः ।
त्वदवगमगरिम्ण्यनन्तमेतद्युगपदुदेति महाविकल्पजालम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(एवम्) इस प्रकार जो (प्रतिपदम्) पद पद पर (भुवनभरस्य) समस्त संसारके सामने (इति) इस प्रकारकी (अनन्ताः स्वशक्तिः) अपनी अनन्त शक्तियोंको (विवेचयत्) प्रकट कर रहा है ऐसा (एतत्) यह (अनन्तं) अनन्त (महाविकल्पजालं) बहुत भारी विकल्पोंका समूह (त्वत्अवगमगरिम्णि) आपके ज्ञानकी गरिमामे (युगपत्) एक साथ (उदेति) उदित हो रहा है— उत्पन्न हो रहा है ।

भावार्थ—हे विभो ! आपका ज्ञान अनन्तशक्तियोंका भाण्डार है यह बात समस्त संसारके समक्ष प्रकट है ॥११॥

विधिनियममयाद्भुतस्वभावात् स्वपरविभागमतीवगाहमानः ।
निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं दधदपि बोधमुपैषि सङ्करं न ॥१२॥

अन्वयार्थ—(विधिनियममयाद्भुतस्वभावात्) जो विधि और निषेधरूप अद्भुत स्वभावसे (स्वपरविभागम्) निज और परके विभागको (अतीवगाहमान.) अतिशयरूपसे प्राप्त हो रहा है ऐसे आप (निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं) अपनी अनन्त महिमासे विश्व समस्त लोकालोकको आक्रान्त करने वाले (बोधं) ज्ञानको (दधदपि) यद्यपि धारण करते हैं तो भी (सङ्कर) सङ्कर दोषको—ज्ञान और ज्ञेयके एकीभावको (न उपैषि) नही प्राप्त होते है ।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव विधि और निषेधरूप है । स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु विधिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा निषेधरूप है । 'ज्ञानमे ज्ञेय है' यह विधिपक्ष है और 'ज्ञानमें ज्ञेय नही है' यह निषेधपक्ष हे । 'ज्ञानमे ज्ञेयका विकल्प आता है' इस अपेक्षासे विधिपक्षकी सिद्धि होती है और 'ज्ञानमे ज्ञेयके प्रदेश नही आते है' इस अपेक्षासे निषेधपक्षकी सिद्धि होती है । जिस प्रकार दर्पणमे पडा हुआ मयूरका प्रतिबिम्ब दर्पणसे भिन्न नही है उसी प्रकार ज्ञानमे आया हुआ ज्ञेयका विकल्प ज्ञानसे भिन्न नही है इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें अभेद है परन्तु जब दर्पण और सामने खडे हुए मयूरकी अपेक्षा विचार करते है तब दर्पण जुदा है और मयूर जुदा है, ऐसा प्रतीत होता है उसी प्रकार जब ज्ञान और उसमे आने वाले पदार्थकी अपेक्षा विचार करते हैं तब ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है । हे भगवन् ! आपका ज्ञान अपनी अनन्त सामर्थ्यसे समस्त पदार्थोंको जानता है अर्थात् वे समस्त पदार्थ विकल्पकी अपेक्षा आपके ज्ञानमे आते है तो भी उनके साथ आपके ज्ञान अथवा गुण-गुणीकी अभेद विवक्षासे आपमे संकर भाव प्राप्त नही होता अर्थात् आप पदार्थरूप नही होते और पदार्थ आपरूप नही होते । आप सदा स्व-परके विभागको धारण करते रहते है ॥१२॥

उदयति न भिदा समानभावाद्भवति भिदैव समन्ततो विशेषैः ।
द्वयमिदमवलम्ब्य तेऽतिगाढं स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभावः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(समानभावात्) सामान्यकी अपेक्षा (भिदा) भेद (न उदयति) उदित नही होता और (विशेषैः) विशेषोंकी अपेक्षा (समन्ततः) सब ओरसे (भिदैव) भेद ही (भवति) होता है ।

(ते) आपका (आत्मवस्तुभावः) आत्मा नामक पदार्थ (अतिगाढ) अत्यन्त गाढ रूपसे (इदं द्वयम्) इन भेद और अभेद दोनोंका (अवलम्ब्य) आलम्बन लेकर (समक्षतया) प्रत्यक्ष रूपसे (स्फुरति) प्रकट हो रहा है–अनुभवमें आ रहा है।

भावार्थ—यहाँ अभेद और भेद इन दो विरोधी धर्मोंका एकत्र समन्वय करते हुए भगवान्‌का स्तवन किया जा रहा है। पदार्थ समान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक है। सामान्यकी अपेक्षा पदार्थमें अभेद रहता है और विशेषपर्यायकी अपेक्षा भेद रहता है। हे भगवन् ! आपका आत्मद्रव्य भी सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक होनेसे अभेद और भेदरूप है। इन दोनों विरोधी धर्मोंका अवलम्बन लेकर आपका आत्मा अन्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१३॥

इदमुदय(द)मनन्तशक्तिचक्रं समुदयरूपतया विगाहमानः ।
अनुभवसि सदाऽप्यनेकमेकं तदुभयसिद्धमिमं विभो स्वभावम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (समुदयरूपतया) समुदायरूपसे (उदयत्) प्रकट होनेवाले (इदं) इस (अनन्तशक्तिचक्रं) अनन्तशक्ति समूहको (विगाहमानः) अवगाहन करते हुए आप (सदापि) निरन्तर ही (अनेकं एकं) अनेक, एक और (तदुभयसिद्धं) उन दोनोंसे सिद्ध (इम) इस (स्वभाव) स्वभावका सदा (अनुभवसि) अनुभव करते हैं।

भावार्थ—यहाँ एकानेकके भङ्गसे भगवान्‌का स्तवन किया जा रहा है। हे भगवन् ! आप उदयमे आने वाली अनन्त शक्तियोंके समूहमे अवगाहन करते हुए पदार्थको एक, अनेक अथवा दोनों रूप ग्रहण करते है। सामान्यकी अपेक्षा वस्तु एक परन्तु पर्यायकी अपेक्षा अनेक है। क्रम विवक्षामे दोनों पृथक्-पृथक् हैं और युगपद् दोनोकी क्रमिक विवक्षामे एकानेकरूप है ॥१४॥

निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्तेः ।
अनुभवनमिहात्मनः स्फुटं ते वरद यतोऽस्ति तदप्यनन्तमेतत् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(वरद) हे उत्कृष्ट मोक्षपदके दायक ! (यतः) जिस कारण (इह) इस जगत् मे (ते) आपको (निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्ते.) अवधिरहितरूपसे–अनादि कालसे विद्यमान भावोकी सन्ततिसे परिणमित होनेवाली अक्रमवर्ती—युगपत् अनन्त शक्तियाँ जिसमे विद्यमान है ऐसे (आत्मनः) आत्मतत्त्वका (अनुभवन) अनुभव (स्फुटं) स्पष्ट रूपसे हो रहा है (तत्) उस कारणसे (एतत् अनुभवनमपि) यह अनुभव भी (अनन्तम् अस्ति) अनन्त है।

भावार्थ—अनादिकालसे इस आत्मामें जो नाना प्रकारके भावोकी सन्तति उत्पन्न होती आ रही है उससे आत्माकी अनन्तशक्तियोका बोध होता है और वे अनन्तशक्तियाँ भी क्रमवर्ती न होकर अक्रमवर्ती है—एक साथ आत्मामे विद्यमान है। यतश्च ऐसी आत्माका अनुभवन आपको स्पष्ट रूपसे हो रहा है अत. आपका वह अनुभवन—ज्ञान भी अनन्त है। तात्पर्य यह है कि अनन्त-शक्तियोको साक्षात् जानने वाला आपका ज्ञान भी अनन्त ही है ॥१५॥

प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः स्वपरनिमित्तवशादनन्तभावैः ।
तव परिणमतः स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्षमिहात्मवैभवं तत् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(स्वपरनिमित्तवशात्) स्वपर निमित्तके वश (स्वभावशक्त्या) स्वभाव शक्तिसे (प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः) जिनकी विभूतिका भाव प्रतिसमय उल्लसित हो रहा है ऐसे (अनन्तभावैः) अनन्तभावों रूप (परिणमतः) परिणमन करने वाले (तव) आपका (तत्) वह अद्वितीय (आत्मवैभव) आत्मसम्बन्धी वैभव (इह) इस जगत्में (समक्ष) प्रत्यक्षरूपसे (स्फुरति) प्रकट हो रहा है।

भावार्थ—पदार्थका परिणमन करनेका स्वभाव है और वह परिणमन स्वपरनिमित्तोके द्वारा होता है। स्वनिमित्तसे अन्तरङ्ग कारण और परनिमित्तसे बहिरङ्ग कारण अपेक्षित है। वह सभी द्रव्योके परिणमनमे सहायक होता है। इस साधारण परनिमित्तके अतिरिक्त जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य परस्पर भी एक दूसरेके निमित्त होते हैं अर्थात् जीवके निमित्तसे पुद्गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमन होता है और कर्मरूप पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे जीवद्रव्यमे रागादिरूप परिणमन होता है। परिणमन करनेकी शक्ति सब द्रव्योकी अपनी-अपनी निज की है निमित्तकारण मात्र सहायक होता है। हे भगवन्! आपकी आत्मामे प्रतिसमय जो अनन्त-भाव उल्लसित हो रहे है वे स्व-पर कारणोसे उल्लसित हो रहे है। वस्तुका स्वभाव हो ऐसा है। यद्यपि निमित्तका परिणमन निमित्तमे हो रहा है और वस्तुरूप उपादानका परिणमन वस्तुमे हो रहा है तथापि निमित्तके साथ अन्वयव्यतिरेक होनेसे वस्तुका परिणमन निमित्तसापेक्ष होता है निमित्तनिरपेक्ष नही। आपका यह आत्मवैभव प्रत्यक्ष ही अनुभवका विषय हो रहा है ॥१६॥

इममचलमनाद्यनन्तमेकं समगुणपर्ययपूर्णमन्वयं स्वम्।
स्वयमनुसरतश्चिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अचलं) चलाचलसे रहित (अनाद्यनन्तं) अनादि अनन्त (समगुणपर्ययपूर्णं) समस्त गुण और पर्यायोसे पूर्ण (एक) एक (इमं) इस (स्वं) स्वकीय (अन्वय) आत्मद्रव्यका (स्वयं) (अनुसरत.) अनुसरण करने वाले (तव) आपकी (चिदेकधातु.) चैतन्यरूप अद्वितीयधातु केवलज्ञान (अशेषान् परान्वयान्) समस्त परद्रव्योंको (पिबतीव) मानो पी रहा है—जान रहा है।

भावार्थ—समस्त कालोंमे विद्यमान रहनेसे द्रव्यको अन्वय और क्रमवर्ती होनेसे पर्यायको व्यतिरेक कहते है। आपका जो स्वद्रव्य है वह अचल है—चलाचलसे रहित अविनाशी है, अनादि और अनन्त है, समस्त गुणों और पर्यायोंसे पूर्ण है तथा एक है—स्वतन्त्र द्रव्य है। इस आत्मद्रव्यका निरन्तर आश्रय लेनेसे ही आपकी यह अरहन्त पर्याय प्रकट हुई है। इस अरहन्त पर्यायकी विशेषता यह है कि इसमे प्रकट होने वाली चैतन्यधातु—केवलज्ञान, स्वद्रव्यको तो जानता ही है—साथमे अन्य समस्त द्रव्योंको भी मानों पी रहा है अर्थात् ज्ञेय बनाकर उन्हे अपने आपमे निगीर्ण कर रहा है ॥१७॥

अतिनिशितमनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरमातदन्त्यभेदात्।
प्रतिपदमतिदारयत् समग्रं जगदिदमेतदुदेति ते विदस्त्रम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—जो (अतिनिशितं) अत्यन्त तीक्ष्ण है तथा (अनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरं) अखण्ड मूलसत्ता आदिसे परिपूर्ण (इदं समग्रं जगत्) इस समस्त संसारको (आतदन्त्यभेदात्) उसके

अन्तिमभेद पर्यन्त (प्रतिपदं) पद-पद पर (अतिदारयत्) अत्यन्त विदीर्ण करता है—खण्ड-खण्ड कर जानता है ऐसा (ते) आपका (एतत्) यह (विदस्त्रम्) ज्ञानरूपी अस्त्र (उदेति) उदित हुआ है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञानरूपी शस्त्र इतना तीक्ष्ण है कि वह इस अखण्ड संसारको उसके अन्तिमभेद तक खण्ड खण्ड कर देता है। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्मग्राही है ॥१८॥

विघटितघटितानि तुल्यकालं तव विदतः सकलार्थमण्डलानि ।
अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति ॥१९॥

अन्वयार्थ—(विघटितघटितानि) खण्ड-खण्ड अवस्थाको प्राप्त तथा संयुक्त दशासे युक्त (सकलार्थमण्डलानि) समस्त पदार्थोंके समूहको (तुल्यकालं) एक साथ (विदितः) जानने वाले (तव) आपकी (अखिलतमा) संपूर्ण (अवयवसमुदायबोधलक्ष्मी) अवयव और समुदायको जानने वाली ज्ञानलक्ष्मी (सममेव) एक ही साथ (निर्विभाति) अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ—ससारके समस्त पदार्थ अपने अपने प्रदेशोकी अपेक्षा विघटित है—बिखरे हुए है और अवयवीकी अपेक्षा घटित है—मिले हुए है। उन समस्त पदार्थोंको आप एक साथ जानते हैं अर्थात् पदार्थोंके अखण्डरूपको तो जानते ही है उनके एक एक प्रदेशको भी जानते है इस प्रकार आपकी ज्ञानलक्ष्मी अवयव और समुदाय दोनोको एक साथ जानने वाली है ॥१९॥

जडमजडमिदं चिदेकभावं तव नयतो निजशुद्धबोधधाम्ना ।
प्रकटयति तवैव बोधधाम प्रसभमिहान्तरमेतयोः सुदूरम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(निजशुद्धबोधधाम्ना) अपने शुद्धज्ञानके तेजसे (इदं) इस (जडमजड) चेतन अचेतन जगत्को (चिदेकभावं नयत.) एक चैतन्यभावको प्राप्त कराने वाले (तवैव) आपका ही (बोधधाम) ज्ञानरूपी तेज (इह) इस ससारमे (प्रसभं) बलपूर्वक (एतयोः) इन चेतन अचेतनके (सुदूरं) बहुत भारी (अन्तर) अन्तर को (प्रकटयति) प्रकट करता है।

भावार्थ—ससारके समस्त पदार्थ, चेतन और अचेतनके भेदसे दो भागोमे विभक्त है। अपने शुद्धज्ञानके द्वारा जब आप उन्हे जानते है तब अन्तर्ज्ञेय बन कर वे आपके ज्ञानमे आते है। इस अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा यद्यपि सब पदार्थ एक चैतन्यभाव को प्राप्त हो रहे है तथापि आपका ज्ञान उन दोनोंके महान् अन्तर को प्रकट करता है। वह बतलाता है कि बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा पदार्थ चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारके है परन्तु अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा सब चेतन ही है। जिस प्रकार दर्पणमे पड़ा हुआ मयूरादिका प्रतिबिम्ब परमार्थसे दर्पण का ही परिणमन है उसी प्रकार आपके ज्ञानमे आया हुआ चेतन अचेतन ज्ञेयोका समूह परमार्थसे ज्ञानका ही परिणमन है। यतश्च ज्ञान चेतनरूप है अतः उसमे आये हुए अन्तर्ज्ञेय भी चेतनरूप है। वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा चेतन और अचेतन दोनो द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं अतः इनमे महान् अन्तर है। हे प्रभो ! इसे आपका ज्ञान ही प्रकट कर रहा है ॥२०॥

तव सहजविभाभरेण विश्वं वरद विभात्यविभामयं स्वभावात् ।
स्नपितमपि महोभिरुष्णरश्मेस्तव विरहे भुवनं न किञ्चिदेव ॥२१॥

अन्वयार्थ--(वरद) हे वरदायक ! (स्वभावात्) स्वभावसे (अविभामयं) अप्रकाशमय (विश्वं) जगत् (तव) आपके (सहजविभावरेण) स्वाभाविक ज्ञानके समूहसे (विभाति) प्रकाशित हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि (उष्णरश्मेः) सूर्यके (महोभिः) तेजसे (स्नपितमपि) नहलाये जाने पर भी—प्रकाशित होनेपर भी (भुवनं) जगत् (तव विरहे) आपके अभावमे (न किञ्चिदेव स्नपित) कुछ भी प्रकाशित नही होता है ।

भावार्थ—यहाँ भगवान्के स्वाभाविक ज्ञानप्रकाश का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे मनोवाञ्छितफलको देनेवाले जिनेन्द्र ! यह अप्रकाशमय विश्व आपकी स्वाभाविक विभा—ज्ञान-ज्योतिसे ही विभासित हो रहा है। इसमे दृष्टान्त दिया है कि यह जगत् सूर्यके तेजसे प्रकाशित होनेपर भी अप्रकाशितके ही समान है। भावार्थ यह है कि आपका तेज सूर्यके तेजसे विलक्षण है ।।२१।।

स्पृशदपि परमोद्गमेन विश्वं वरद परस्य न तेऽस्ति बोधधाम ।
धवलयदपि सौधमिद्धधारं धवलगृहस्य सुधाम्बु न स्वभावः ।।२२।।

अन्वयार्थ—(वरद) हे इच्छितपदार्थके देनेवाले जिनेन्द्र ! (ते) आपका (बोधधाम) ज्ञानरूपी तेज (परमोद्गमेन) अपनी उत्कृष्ट सामर्थ्यसे (विश्व) समस्त विश्वका (स्पृशदपि) स्पर्श करता हुआ भी—उसे जानता हुआ भी (परस्य) अन्यका—विश्वका (न अस्ति) नही है जैसे (इद्धधारं) उज्ज्वल धारासे युक्त (सुधाम्बु) चूना का पानी (सौधं) भवनको (धवलयदपि) धवल करता हुआ भी (धवलगृहस्य) धवल महल—श्वेतभवन का (स्वभावः न) स्वभाव नही होता ।[१]

भावार्थ—जिस प्रकार कलई मकान को सफेद करती हुई भी मकानसे भिन्न रहती है, मकानका स्वभाव नही बन जाती उसी प्रकार आपका ज्ञान अपनी उत्कृष्ट सामर्थ्यसे यद्यपि पर पदार्थों को जानता है तथापि उनसे भिन्न रहता है परपदार्थरूप नहीं होता। यहाँ ज्ञान और ज्ञेयके पृथक्त्वभावका वर्णन किया गया है ।।२२।।

परिणतसकलात्मशक्तिसारः स्वरसभरेण जगत्त्रयस्य सिक्तः ।
तव जिन जरठोपयोगकन्दः श्रयति बहूनि समं रसान्तराणि ।।२३।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (परिणतसकलात्मशक्तिसारः) जिसकी अपनी समस्त शक्तियोंका सार परिणत हुआ है—पूर्णताको प्राप्त हुआ है तथा जो (स्वरसभरेण) आत्मरसके समूहसे (सिक्तः) सीचा गया है—आत्मस्वभावसे परिपूर्ण है ऐसा (तव) आपका (जरठोपयोगकन्द.) उपयोगरूपी पुराना कन्द (जगत्त्रयस्य) तीनो जगत्के (बहूनि) बहुसख्यक (रसान्तराणि) अन्य रसों को (सम) एकसाथ (श्रयति) ग्रहण करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार भूमिमे पडा हुआ पुराना जमीकन्द, पानीसे सीचा जानेपर समीप-वर्ती मिट्टी पानी आदि अन्य पदार्थोको अपना बनाकर अङ्कुरित हो उठता है उसी प्रकार आपका पुरातन—पूर्ववर्ती—ज्ञानोपयोग भी अपनी ज्ञातृत्वशक्तिके कारण तीनो लोकोंके अन्यपदार्थों को

१ शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्कि स्वभावस्य शेषमन्यद्रव्य भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभाव. ।
ज्योत्स्नारूप स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमिर्ज्ञान ज्ञेय कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ।।२१६।।
—समयसार कलश २१६

एक साथ ग्रहण करता है अर्थात् उन्हें अपने आपमे प्रतिबिम्बित कर अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानरूप परिणमा लेता है ।।२३।।

त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि स्फुटमहिमा परमागमप्रकाशः ।
अयमिह तव संविदेककोणो(णे)कलयति कीटमणेः किलाह्नि लीलाम् ।।२४।।

अन्वयार्थ—(स्फुटमहिमा) जिसकी महिमा अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकट है ऐसा (अयं) यह (परमागमप्रकाशः) परमागमरूप प्रकाश (इह) इस जगत्‌मे (त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि 'सन्') तीनकाल और तीनलोकके पदार्थोंको प्रकट करनेके लिये अद्वितीय दीपक होता हुआ भी (तव) आपके (संविदेककोणे) केवलज्ञानके एक कोनेमे (अह्नि) दिनमे (कीटमणेः) जुगनूकी (लीलां) लीलाको (कलयति) प्राप्त हो रहा है ।

भावार्थ—जिस प्रकार दिनके समय जुगनू निष्प्रभ रहता है उसी प्रकार आपके लोकालोकावभासी केवलज्ञानके सामने श्रुतज्ञानका प्रकाश निष्प्रभ है । यद्यपि श्रुतज्ञानका विषय भी बहुत है तथापि वह परोक्ष और सान्त होनेके कारण प्रत्यक्ष और अनन्त केवलज्ञानके सामने गौरवहीन ही रहता है ।।२४।।

निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविसं(शं)कटा[1] क्रमेण ।
अविकलविलसत्कलौघशाली वरद विशाशु ममैकवित् स्फुलिङ्गाम् ।।२५।।

अन्वयार्थ—(वरद) हे वरदायक भगवन् ! (अविकलविलसत्कलौघशाली) पूर्णरूपसे विलसित होने वाली कलाओंके समूहसे सुशोभित (एकवित्) अद्वितीय केवलज्ञान (आशु) शीघ्र ही (मम) मेरी उस (स्फुलिङ्गाम्) श्रुतज्ञानरूप चिनगारीमे (क्रमेण) क्रमसे (विश) प्रवेश करे जो कि (निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविशकटा) निज गौरवके निरन्तर अवपीडन—दबावसे हठपूर्वक होने वाले विकाशसे विशाल है ।

भावार्थ—यहाँ स्तुतिकर्त्ता आचार्य जिनेन्द्रसे प्रार्थना करते हैं कि हे वरदायक भगवन् ! आपका केवलज्ञान परिपूर्ण कलाओंके समूहसे सुशोभित है और मेरा श्रुतज्ञान उसके समक्ष एक चिनगारी (आगके निलगा) के समान है । फिर भी मेरा श्रुतज्ञान आत्मज्ञानके गौरवसे निरन्तर विकाशके सम्मुख हो रहा है । मैं चाहता हूँ कि केवलज्ञान शीघ्र ही मेरे श्रुतज्ञानरूपी चिनगारी मे प्रवेश करे अर्थात् मेरा श्रुतज्ञान केवलज्ञानरूप पर्यायसे युक्त हो जावे । यह उचित भी है क्योंकि श्रेणीमें आरूढ हुआ क्षपक जैसे-जैसे मोहजन्य कालिमाको दूर करता जाता है वैसे-वैसे ही उसका श्रुतज्ञान सराग दशासे वीतराग दशाको प्राप्त होता जाता है । यहाँ तक कि बारहवें गुण स्थानमे उसका श्रुतज्ञान पूर्णरूपसे वीतराग हो जाता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे केवलज्ञानके रूपमे परिवर्तित हो जाता है ।।२५।।

■

---

१. 'वेः शालच् शकटचौ' इति सूत्रेण वेः शङ्कटच् प्रत्ययः । विशाला विशङ्कटा इति पर्यायवाचिनौ शब्दौ ।

ॐ

(१७)

प्रहर्षिणी छन्दः

वस्तूनां विधिनियमोभयस्वभावादेकांशे परिणतशक्तयः स्खलन्तः ।
तत्त्वार्थं वरद वदन्त्यनुग्रहात्ते स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन शब्दाः ॥१॥

अन्वयार्थ—(वरद) हे वरदायक ! (परिणतशक्तयः) अभिधाशक्तिसे सम्पन्न (शब्दाः) शब्द (वस्तूनां) जीवाजीवादिपदार्थोंके (विधिनियमोभयस्वभावात्) विधि और निषेध—दोनो स्वभावरूप होनेसे (एकांशे) विधि या निषेधरूप एक अंशमे (स्खलन्त) स्खलित होते हुए (ते) आपके (अनुग्रहात्) अनुग्रहसे (स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन) स्याद्वादके प्रबल समर्थनके द्वारा (तत्त्वार्थं) वस्तुस्वरूपको (वदन्ति) कहते है ।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थ विधि और निषेध–दोनो स्वभावोसे युक्त है अर्थात् स्वकीय चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति आदि विधिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा निषेध आदि नास्तिरूप हैं। इधर वस्तुका स्वभाव ऐसा है उधर उसका कथन करनेवाले शब्द अभिधाशक्तिके कारण नियन्त्रित होनेसे दो विरोधी धर्मोंमे से एकको कह-कर क्षीणशक्ति हो जाते है—दूसरे धर्मको कहने-की उनमे सामर्थ्य नही रहती। एक अशके कहनेसे वस्तुका पूर्णस्वरूप कथनमे नही आ पाता। इस स्थितिमे हे भगवन् ! आपके अनुग्रहसे स्याद्वादका—कथंचित्वादका आविर्भाव हुआ। उसके प्रबल समर्थनसे शब्द दोनो स्वभावोसे युक्त तत्त्वार्थका प्रतिपादन करनेमे समर्थ होते है। स्याद्वाद-का समर्थन प्राप्त कर ही शब्द, यह कहनेमे समर्थ होते हैं कि अमुक अपेक्षासे पदार्थ अस्तिरूप है और अमुक अपेक्षासे नास्तिरूप है ॥१॥

आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्यः शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्परः सन् ।
प्रत्यक्षस्फुरदिदमेवमुच्चनीचं नीत्वास्तं त्रिभुवनमात्मनास्तमेति ॥२॥

अन्वयार्थ—(अनिवारितात्मवाच्य.) निर्बाध आत्मा ही जिसका वाच्य है ऐसा (आत्मेति ध्वनिः) आत्मा यह शब्द (शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्पर सन्) शुद्ध आत्मस्वभावको प्रकट करनेमे तत्पर होता हुआ (प्रत्यक्षस्फुरत्) प्रत्यक्षरूपसे स्फुरित होनेवाले (एवम्) इसी प्रकारके (उच्चनीचं) ऊँचे-नीचे (इदं त्रिभुवनं) इस त्रिलोकको (अस्तं नीत्वा) अस्तको प्राप्त कराकर (आत्मना) अपने आपके द्वारा (अस्तम् एति) अस्तको प्राप्त होता है ॥२॥

तस्यास्तगमनमनिच्छता त्वयैव स्यात्काराश्रयणगुणाद्विधानशक्तिम् ।
सापेक्षां प्रविदधता निषेधशक्तिर्दत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह ॥३॥

अन्वयार्थ—जो (तस्य) उस आत्माके (अस्तंगमनं) अस्तभाव—निषेधपक्षकी (अनिच्छता) इच्छा नही करते है तथा (स्यात्काराश्रयणगुणात्) स्याद्वादके आश्रयसे समुत्पन्न गुणसे (सापेक्षा) अपेक्षा सहित (विधानशक्ति) विधि शक्तिको (प्रविदधता) करते हैं ऐसे (त्वयैव) आपके द्वारा ही (असौ) यह (निषेधशक्तिः) निषेधशक्ति (दत्ता) दी गई है और वह निषेधशक्ति (इह) जगत्मे (स्वरसभरेण) स्वकीय महिमासे (वल्गति) क्रियाशील है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपको आत्माका नास्तित्व इष्ट नही है अत: आपने स्याद्वादका आश्रय लेकर कहा है कि आत्मा अस्ति और नास्ति-उभयरूप है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। जिस प्रकार अस्तिपक्षको सूचित करनेवाली विधि-शक्ति स्वरससमूह—स्वकीय महिमासे क्रियाशील है उसी प्रकार नास्तिपक्षको सूचित करनेवाली निषेधशक्ति भी स्वरससमूहसे क्रियाशील है ॥३॥

तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा अप्येते कटुककठोरमारटन्ति ।
स्वस्यास्तंगमनभयान्निषेधमुच्चैः स्वाकूतादवचनमेव घोषयन्तः ॥४॥

अन्वयार्थ—(तद्योगात्) उस निषेध शक्तिके योगसे (एते) ये शब्द (विधिमधुराक्षरं) विधि-पक्षके मिष्ट अक्षरोको (ब्रुवाणा अपि) कहते हुए भी (स्वस्य) अपने आपके (अस्तगमनभयात्) नष्ट होनेके भयसे (अवचनमेव) चुपचाप ही (स्वाकूतात्) अपनी चेष्टामात्रसे (निषेधं) निषेधपक्षकी (उच्चै.) उच्च (घोषयन्त.) घोषणा करते हुए (कटुककठोर आरटन्ति) कटुक और कठोर घोषणा करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि विधिपक्ष मधुर है और निषेधपक्ष कटुक और कठोर है फिर भी शब्द अपनी दोनो प्रकारकी शक्तियोके योगसे दोनो पक्षोका कथन करते है क्योकि इसके बिना उसका अस्तित्व सुरक्षित नही रह सकता है ॥४॥

त्रैलोक्यं विधिमयतां नयन्न चासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽर्थरूपम् ।
सत्येवं निरवधिवाच्यवाचकानां भिन्नत्व विलयमुपैति दृष्टमेतत् ॥५॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यं) तीनों लोकोको (विधिमयता) विधिरूपताको (नयन्) प्राप्त कराने-वाला (असौ) यह (शब्दोऽपि) शब्द भी (इह) इस जगत्मे (स्वय) अपने आप (अर्थरूप) अर्थरूपता-को (न च गाहते) प्राप्त नही होता क्योकि (एव सति) ऐसा होनेपर (निरवधिवाच्यवाचकाना) असख्य शब्द और अर्थोंकी (दृष्ट) देखी हुई (एतत्) यह (भिन्नत्वं) भिन्नता (विलय) विनाशको (उपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ—यद्यपि शब्द तीनो लोकोको विधिरूपताको प्राप्त कराते है—उनके अस्तिपक्षको सूचित करते है तो भी वे स्वय अर्थरूप नही होते अर्थात् शब्द, शब्द ही रहते है और अर्थ, अर्थ ही रहते है। इसके विपरीत यदि शब्द अर्थरूप होने लगें तो असंख्य शब्द और अर्थोमे जो भिन्न-रूपता दिखाई देती है वह नष्ट हो जावेगी, दोनोंमे एकरूपता हो जावेगी ॥५॥

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे भाव्येत भ्रम इति वाच्यवाचकत्वम् ।
किन्त्वस्मिन् नियममृते न जातु सिद्धयेद् दृष्टोऽयं घटपट (घट) शब्दयोर्विभेदः ॥६॥

अन्वयार्थ—(शब्दानां) घट आदि शब्दोकी (स्वयमपि) स्वयं भी (अर्थभावे कल्पिते 'सति') अर्थरूपता माननेपर (वाच्यवाचकत्वम्) उनमें जो वाच्यवाचकपना है वह (भ्रम इति भाव्येत) भ्रम है ऐसा समझा जावेगा (किन्तु) परन्तु (अस्मिन्) इस भ्रममें (नियमम् ऋते) नियमके बिना (दृष्ट:) देखा गया (अय) यह (घटघटशब्दयो:) घट पदार्थ और घट शब्दका (विभेद:) भिन्नपना (जातु) कभी (न सिद्धयेत्) सिद्धिके लिये नही हो सकता ।

भावार्थ—यदि ऐसा माना जावे कि जो शब्द हैं वे स्वयं ही अर्थरूप हो जाते हैं तो ऐसा माननेपर शब्द और अर्थमे जो वाचक और वाच्यका भेद है वह भ्रमरूप हो जावेगा अर्थात् असत्य-वत् हो जावेगा और उसके असत्यवत् होनेपर घटपदार्थ और घट शब्दमे देखा गया भेद असत्य हो जावगा ॥६॥

अप्येतत् सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत्सर्वं नहि सकलात्मना विधत्ते ।
अर्थानां स्वयमसतां परस्वरूपात् तत्कुर्यान्नियतमसद्वचोऽप्यपेक्षाम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस जगत्मे (सदिति वच) 'सत्' यह शब्द (विश्वचुम्बि अपि सत्) समस्त पदार्थोंका ग्राही होता हुआ भी (हि) निश्चयसे (सकलात्मना) सम्पूर्णरूपसे (सर्वं) सबको (सत् न विधत्ते) सत् नही करता है क्योकि (तत्) वह सत् शब्द (असत् वचोऽपि) असत् अर्थको भी कहता हुआ (परस्वरूपात्) पर स्वरूपसे (स्वयम् असताम्) स्वयं न रहनेवाले (अर्थानाम्) पदार्थोंकी (नियतम्) नियमसे (अपेक्षा कुर्यात्) अपेक्षा करता है ।

भावार्थ—यद्यपि 'सत्' शब्दके कहनेसे संसारके समस्त पदार्थोंका ग्रहण होता है तथापि वह सर्वरूपसे सबको सत् नही कह सकता क्योकि समस्त पदार्थ स्व-स्वरूपकी अपेक्षा ही सत् रूप होनेपर भी परस्वरूपकी अपेक्षा असत् रूप भी है—तात्पर्य यह है कि सत् और असत् ये दोनो पक्ष परस्पर सापेक्ष है। जहाँ किसी पदार्थको स्वस्वरूपकी अपेक्षा सत् कहा जाता है वहाँ उसी पदार्थको परस्वरूपकी अपेक्षा असत् भी कहा जाता है और जहाँ किसी पदार्थको परस्वरूपकी अपेक्षा असत् कहा जाता है वहाँ उसी पदार्थको स्वस्वरूपकी अपेक्षा सत् भी कहा जाता है ॥७॥

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(समन्तत:) सब ओरसे (अस्तीति) 'अस्ति' इस प्रकारका (विकल्पे स्फुरति) विकल्प स्फुरित होनेपर (स्वयं) अपने आप (उल्लसन्ती) प्रकट होती हुई (असौ) यह (स्पष्टा अनु-भूति:) स्पष्ट अनुभूति जहाँ (इद चित्तत्त्व) इस जीवतत्त्वको (निजात्मना) स्वस्वरूपसे (विहित) विधिपक्षमे युक्त (उच्चै:) उच्च स्वरसे (वदति) कहती है वहाँ उसे (परात्मना) परस्वरूपसे (प्रव्यक्त) स्पष्टरूपसे (निषिद्धं) नास्तिपक्षसे युक्त भी (वदति) कहती है ।

भावार्थ—यहाँ चेतनतत्त्व-जीवतत्त्वके अस्ति और नास्ति पक्षका उदाहरण देते हुए पदार्थों मे रहने वाले विधि और निषेध धर्मको स्पष्ट किया गया है । जब जीवतत्त्वको 'अस्ति' ऐसा कहा जाता है तब उसमे अस्तित्वका विकल्प सब ओरसे प्रकट होता है और अस्तित्वकी स्पष्ट अनु-भूति भी होती है परन्तु वह निजात्मा—स्वस्वरूपकी अपेक्षा होती है परन्तु जब उसी जीवतत्त्वको

परस्वरूपकी अपेक्षा 'नास्ति' ऐसा कहा जाता है तब उसमें नास्तित्वका विकल्प प्रस्फुरित होता है और नास्तित्वकी अनुभूति भी होने लगती है ॥८॥

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धं चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः ॥९॥

अन्वयार्थ—(समन्ततः) सब ओरसे (नास्तीति विकल्पे स्फुरति 'सति') 'नास्ति' ऐसा विकल्प स्फुरित—प्रकट होने पर (स्वयं) अपने आप (उल्लसन्ती) प्रकट होती हुई (असौ) यह (स्पष्टा) स्पष्ट (अनुभूति:) अनुभूति (चित्तत्त्वं) चेतनतत्त्वको (परात्मना) परस्वरूपकी अपेक्षा (प्रव्यक्तं) व्यक्त रूपसे (निषिद्धं) निषेधरूप—नास्तिपक्षसे युक्त (वदति) कहती है और (निजात्मना) स्व-स्वरूपकी अपेक्षा (इदं) इस चेतनतत्त्वको (उच्चैः) उच्चस्वरसे (विहित) विधिरूप—अस्तिपक्षसे युक्त (वदति) कहती है ।

भावार्थ—श्लोकका भाव पूर्वश्लोकके भावसे स्पष्ट है, विशेषता यह है कि यहाँ नास्ति-पक्षकी मुख्यता और विधिपक्षकी गौणता है ॥९॥

सत्यस्मिन् स्वपरविभेदभाजि विश्वे किं ब्रूयात् विधिनियमाद्वयात् स शब्दः ।
प्रब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेदः प्रब्रूते यदि नियमं जगत् प्रमृष्टम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् विश्वं स्वपरविभेदभाजि सति) जब कि यह विश्व—जगत्, स्व और परके भेदको प्राप्त है तब (स शब्दः) वह शब्द (विधिनियमाद्वयात्) विधि और निषेधके अद्वैतसे—विधि और निषेधमे-से किसी एक पक्षके द्वारा (किं ब्रूयात्) क्या कह सकता है ? अर्थात् कुछ नही । (यदि) यदि वह (विधिमेव प्रब्रूयात्) विधिपक्ष—भेदको ही (प्रब्रूयात्) कहता है तो (भेद नास्ति) 'भेद नही है', यह बात सामने आती है और यदि (नियम प्रब्रूते) निषेधपक्ष—अभेदको कहता है तो (जगत् प्रमृष्ट) ससार साफ होता है—ससारकी विविधता नष्ट होती है, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

भावार्थ—'ससार स्व और परके भेद को प्राप्त है' यह विधिपक्ष है आर 'संसार स्वपरके भेदको प्राप्त नही है', यह निषेधपक्ष है । इन दोनो पक्षोके रहते हुए शब्द किसी एक पक्षका निरूपण नही कर सकते क्योकि एक पक्षका निरूपण करने पर सर्वथा भेद या अभेदकी बात सामने आती है जो कि इष्ट नही है ॥१०॥

एकान्तात् सदिति वचो विसर्पि विश्वं स्पृष्ट्वापि स्फुटमवगाहते निषेधम् ।
सन्तोऽर्था न खलु परस्परानिषेधाद् व्यावृत्तिं सहजविजृम्भितां व्रजेयुः ॥११॥

अन्वयार्थ—(सदिति वचः) 'सत्' इसप्रकार का वचन (एकान्तात्) एकान्तसे (विसर्पि विश्वं) विस्तृत विश्वका (स्पृष्ट्वापि) स्पर्श करके भी (स्फुट) स्पष्टरूपमे (निषेध) निषेधपक्ष का (अवगाहते) अवगाहन करता है क्योकि (खलु) निश्चयसे (सन्तः अर्थाः) सत्रूप पदार्थ (परस्परा-निषेधात्) परस्पर एक दूसरे का निषेध न करनेसे (सहजविजृम्भिता) स्वभाव सिद्ध (व्यावृत्ति) पृथक्त्वको (न व्रजेयु:) प्राप्त नही हो सकेंगे ।

भावार्थ—यद्यपि सत् शब्द समस्त विश्वका वाचक है तथापि वह निषेध पक्षको भी प्रति-पादित करता है अर्थात् सबका वाचक नही है क्योकि एकान्तसे यदि ऐसा मान लिया जावे कि

सत् समस्त पदार्थों को विषय करता है तो एक पदार्थ की अन्य पदार्थसे व्यावृत्ति—पृथक्ता नही हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि महासत्ता की अपेक्षा सत् शब्द, समस्त विश्वको ग्रहण करता है परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा समस्त विश्वको ग्रहण न कर घट, पट आदि विशिष्ट पदार्थोंको ही ग्रहण करता है। ऐसा मानने पर घट पटादि पदार्थोंका परस्पर पार्थक्य सिद्ध हो जाता है उसमे कोई बाधा नही आती ॥११॥

एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं स्पृष्ट्वापि श्रयति विधिं पुरः स्फुरन्तम् ।
अन्योऽन्यं स्वयमसदप्यनन्तमेतत् प्रोत्थातुं न हि सहते विधेरभावात् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(एकान्तात्) एकान्तरूपसे (असदिति गीः) 'असत्' यह शब्द (समग्रं जगत्) समस्त संसारका (स्पृष्ट्वापि) स्पर्श करके भी (पुरःस्फुरन्तं) सामने स्फुरित होनेवाली विधि—सत्पक्षका (श्रयति) आश्रय लेता है क्योकि (एतत् अनन्तं) यह अनन्त जगत् (अन्योऽन्यं) परस्पर (स्वयं) स्वय (असदपि) असत् होता हुआ भी (विधेरभावात्) विधि—सत्पक्षके बिना (प्रोत्थातुं) उठनेके लिये (न हि सहते) समर्थ नही है।

भावार्थ—जगत् एकान्तसे असत् सिद्ध नही हो सकता क्योंकि सत् पदार्थ ही द्रव्यादि चतुष्टयमे भेद होनेसे असत् हुआ करता है। जो पदार्थ अभावरूप होता है वह भी किसी क्षेत्र आदिकी अपेक्षा भावरूप होता है जैसे [1]पुष्पका अभाव आकाशमे कहा जाता है उसका वृक्षपर सद्भाव पाया जाता है अर्थात् आकाशरूप क्षेत्रकी अपेक्षा पुष्प असत् है परन्तु वृक्षरूप क्षेत्रकी अपेक्षा सत्रूप है। तात्पर्य यह है कि सत् और असत्—दोनो परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे ही सिद्ध होते है सर्वथा रूपसे नही ॥१२॥

भिन्नोऽस्मिन्भुवनभरान्न भाति भावोऽभावो वा स्वपरगतव्यपेक्षया तौ ।
एकत्र प्रविचरतां द्विरूपशक्तिः शब्दानां भवति यथा कथञ्चिदेव ॥१३॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन्) इस जगत्मे (भाव) सद्भाव (वा) अथवा (अभावः) असद्भाव (भुवनभरात्) समारम्थ पदार्थोके समूहमे (भिन्नो न) भिन्न नही है क्योकि (तौ) वे दोनो भाव (स्वपरगतव्यपेक्षया) स्वगत और परगतकी अपेक्षा सिद्ध होते है अर्थात् स्वगतकी अपेक्षा सद्भाव और परगतकी अपेक्षा असद्भाव सिद्ध होता है। इस तरह (एकत्र) किसी एक अर्थमें (प्रविचरता) प्रवृत्त होनेवाले (शब्दाना) शब्दोकी (द्विरूपशक्तिः) सद्भाव और असद्भाव अर्थको सूचित करनेवाली शक्ति (यथाकथञ्चित्) किसी अपेक्षासे (भवति एव) होती ही है।

भावार्थ—भाव और अभाव ये दोनो धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी है तथापि ससारके प्रत्येक पदार्थमे रहते अवश्य है। स्वगतकी अपेक्षा भाव और परगतकी अपेक्षा अभाव, इस प्रकारकी विवक्षासे दोनो विरोधी धर्मोका अस्तित्व एक ही पदार्थमे सिद्ध हो जाता है। यह ठीक है कि अभिधाशक्तिके अनुसार शब्द किसी एक अर्थको ही सूचित करनेमे समर्थ होते है परन्तु स्याद्वादका आश्रय उनमे उभयअर्थको सूचित करनेकी शक्तिका अवतार करता है ॥१३॥

---

१ 'सत कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाण स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥'—स्वयम्भूस्तोत्र ।

अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्यान्यत् कुर्याद्विधिमयमेव नैव विश्वम् ।
स्वस्यार्थं परगमनान्निवर्तयन्तं तन्नूनं स्पृशति निषेधमेव साक्षात् ।।१४।।

अन्वयार्थ—(अस्तीति ध्वनि:) अस्ति-पदार्थ सद्रूप है इस प्रकारका शब्द (अनिवारितः) अनिवारितरूपसे (अन्यत्) असद्रूपको (प्रशम्य) शान्त कर-सर्वथा निषिद्ध कर (विश्वम्) विश्वको (विधिमयमेव) एकान्तसे विधिरूप ही (नैव कुर्यात्) नही कर सकता है क्योंकि (तत्) वह (स्वस्यार्थं) अपने अर्थको (परगमनात्) परगमनसे (निवर्तयन्त) दूर करनेवाले (निषेध) निषेधका (नूनं) निश्चयसे (साक्षात्) साक्षात् (स्पृशति एव) स्पर्श करता ही है ।

भावार्थ—'पदार्थ अस्तिरूप है' यह शब्द किसी रुकावटके बिना विश्वको अस्तिरूप सिद्ध करनेमे समर्थ नही है । क्योकि वह नास्तिरूपका भी साक्षात् आश्रय लेता है । 'घट अस्ति' यहाँ घटका स्वार्थ घटमे है पटमे नही है अत विधिपक्ष घटकी, पटादिसे निवृत्ति भी करता रहता है ।।१४।।

नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचाराद्यच्छून्यं झगिति करोति नैव विश्वम् ।
तन्नूनं नियमपदे तदात्मभूमावस्तीति ध्वनितमपेक्षते स्वयं तत् ।।१५।।

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण (नास्तीति ध्वनित) नास्ति यह शब्द (अनङ्कुशप्रचारात्) स्वच्छन्दगतिसे (विश्व) विश्वको (झगिति) शीघ्र ही (शून्य) अभावरूप (नैव करोति) नहीं ही करता है (तत्) उस कारण (तदा) उस समय (तत्) वह विश्व (आत्मभूमौ) स्वक्षेत्रमे (नियमपदे) नियममे (स्वय) अपने आप (अस्तीति ध्वनित) अस्ति इस शब्दकी (अपेक्षते) अपेक्षा करता है ।

भावार्थ—ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि जिसप्रकार 'अस्ति' शब्द 'नास्ति' शब्दकी अपेक्षा रखता है उसीप्रकार 'नास्ति' शब्द 'अस्ति' शब्दकी अपेक्षा रखता है ।।१५।।

सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तत्स्वस्यार्थं ननु विधिरेव नाभिधत्ते ।
विध्यर्थः स खलु परान्निषिद्धमर्थं यत स्वस्मिन्नियतमसौ स्वयं ब्रवीति ।।१६।।

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (सापेक्ष) निषेधपक्षकी अपेक्षासे सहित (विधिः) अस्तिका पक्ष (न विधीयते) नही किया जाता है (तत्) तो (ननु) निश्चयसे (स्वस्य अर्थ) अपने अर्थको (विधिरेव) मात्र विधिपक्ष (नाभिधत्ते) नही कहता है क्योकि (खलु) निश्चयसे (स. असौ विध्यर्थ) वह यह विधि—अस्तिका पक्ष (स्वस्मिन् नियत) अपने आपमे नियत अर्थको (परात् निषिद्ध) परसे निवृत्त (स्वय ब्रवीति) स्वय कहता है ।

भावार्थ—यदि विधिपक्षको निषेधपक्षसे सापेक्ष नही माना जावे तो वह अपने पक्ष का कथन करनेमे समर्थ नही हो सकता । क्योकि विधिपक्ष अपने आपमे रहने वाले जिस अर्थका निरूपण करता है वह दूसरे पदार्थसे उसे अपने आप व्यावृत्त सूचित करता है जैसे विधिपक्षने कहा—यह घट है । यहाँ बिना कहे ही निषेधपक्षने आकर कह दिया कि वह पट नही है ।।१६।।

स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं सतीं वा शब्दानामयमुभयात्मिकां स्वशक्तिम् ।
यद्यस्ति स्वरसत एव सा कृतिः किं नासत्याः करणमिह प्रसह्य युक्तम् ।।१७।।

अन्वयार्थ—(अयं) यह (स्यात्कारः) स्यात् शब्द (शब्दानां) शब्दों की जिस (उभयात्मिकां) विधि और निषेधरूप द्विविध शक्तिको (कुरुते) करता है सो (किमु) क्या (असती कुरुते सती वा) अविद्यमान शक्ति को करता है या विद्यमान शक्ति को करता है ? (यदि सा शक्तिः स्वरसत एव अस्ति) यदि वह शक्ति स्वभावसे ही उसमे विद्यमान है तो (किं कृतिः) स्यात् शब्द का क्या कार्य हुआ—उसने क्या किया ? और यदि वह शक्ति असती—अविद्यमान है तो (इह) इस ससारमें (असत्याः) अविद्यमान शक्ति का (प्रसह्य, हठपूर्वक (करणं) करना (युक्तं न) युक्त नही है—शक्य नही है ।

भावार्थ—शब्दोमे उभयात्मक शक्ति स्वतः, विद्यमान है । स्यात् शब्द उन्हे सूचितमात्र करता है क्योकि शक्तियों का सद्भाव यदि स्वयं न माना जावे तो अविद्यमान—नवीन शक्ति की उत्पत्ति संभव नही है ॥१७॥

शब्दानां स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्तिः शक्तस्तां स्वयमसतीं परो न कर्तुम् ।
न व्यक्तिर्भवति कदाचनापि किन्तु स्याद्वादं सहचरमन्तरेण तस्याः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(शब्दाना) शब्दो की (उभयात्मिका) द्विविधरूप शक्ति (स्वयं) स्वयं (अस्ति) है अतः (पर) दूसरा पदार्थ (ता) उसे (असती कर्तुम्) अविद्यमान करनेके लिये (स्वय न शक्तः) स्वय समर्थ नही है (किन्तु) परन्तु (तस्या व्यक्तिः) उस द्विविध शक्ति की व्यक्ति (स्याद्वादं सहचरमन्तरेण) स्याद्वादरूप मित्रके बिना (कदाचनापि) कभी भी (न भवति) नही होती है ।

भावार्थ—शब्दोमे जो शक्ति स्वय विद्यमान है उसे अविद्यमान करने की क्षमता किसी दूसरे पदार्थमे नही है क्योकि ऐसा नियम है कि असत्‌की उत्पत्ति और सत्‌का नाश कभी नही होता है । तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार शब्दोमे विधिशक्ति स्वयं है उसी प्रकार निषेधशक्ति भी स्वय है । कोई शक्ति न नवीन उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है । इतना अवश्य है कि उन शक्तियोकी व्यक्ति 'स्यात्' शब्दसे होती है । 'स्यात् घट.' यहाँ विधिपक्ष स्पष्ट है परन्तु नास्तिपक्ष स्यात् शब्दसे प्रकट होता है और 'स्यात् अघटः' यहाँ नास्तिपक्ष प्रकट है परन्तु विधिपक्ष स्यात् शब्दसे प्रकट होता है ॥१८॥

एकस्मादपि वचसो द्वयस्य सिद्धौ किन्न स्याद्विफल इहेतरप्रयोगः ।
साफल्यं यदि पुनरेति सोऽपि तत्किं क्लेशाय स्वयमुभयाभिधायितेयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगत्‌मे (एकस्मादपि वचसः) एक ही वचनसे (द्वयस्य सिद्धौ 'सत्यां') दो अर्थोकी सिद्धि होने पर (इतरप्रयोगः) दूसरे वचनका प्रयोग (विफलः) निष्फल (किं न स्यात्) क्यो नही होगा ? अवश्य होगा और (सोऽपि) वह दूसरे शब्दका प्रयोग भी (यदि पुन) यदि फिर (साफल्यम्) सफलता को (एति) प्राप्त होता है (तत्) तो (स्वय) अपने आप (इयं) यह (उभयाभिधायिता) शब्दोकी यह उभयाभिधायिता—दोनो अर्थोका प्रतिपादन (क्लेशाय किम्) क्लेशदायक क्यो है ।

भावार्थ—जब एक ही शब्दसे विधि और निषेध—दोनो अर्थों की प्रतीति हो जाती है तब अन्य शब्दके प्रयोगकी क्या आवश्यकता है ? जैसे 'घटः अस्ति' यह घड़ा है ऐसा कहनेसे घटके

अस्तित्वका बोध होता हैं वैसे ही उससे 'घटेतरो नास्ति' घटसे भिन्न पटादि नही है। इस अर्थकी प्रतीति हो जाती है। जब यह स्थिति है तब दूसरे शब्दका प्रयोग निष्फल हो जाता है। इसके विपरीत यदि दूसरे शब्दके प्रयोगको सफल माना जाता हैं तो फिर एक ही शब्द तो फिर शब्दोकी उभयअर्थको प्रतिपादित करनेवाली शक्तिसे क्लेश क्यो होता है ? ।।१९।।

तन्मुख्यं विधिनियमद्वयाद्यदुक्तं स्याद्वादाश्रयणगुणोदितस्तु गौणः ।
एकस्मिन्नुभयमिहानयोर्ब्रुवाणे मुख्यत्वं भवति हि तद्द्वयप्रयोगात् ।।२०।।

अन्वयार्थ—(यत्) जो (विधिनियमद्वयात् उक्त) विधि और निषेध इन दो स्वभावोंमे कहा गया है (तत्) वह (मुख्यं) मुख्य है (तु) किन्तु (स्याद्वादाश्रयणगुणोदित) जो स्याद्वादके आश्रयरूप गुणसे कहा जाता है वह (गौण) गौण कहलाता है। (इह) इस जगत्मे (अनयो.) विधि-निषेधमे (उभय) दोनों को (ब्रुवाणे) कहनेवाले (एकस्मिन्) एक शब्दमे (हि) निश्चयसे (तद्द्वय-प्रयोगात्) उन दोनोका प्रयोग होनेसे दोनो की (मुख्यत्व) मुख्यता (भवति) होती है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने मुख्य और गौण की परिभाषा बतलाते हुए कहा ह कि जो विधि और निषेध-दोनो स्वभावोकी अपेक्षा लेकर कहा जाता हैं वह मुख्य कहलाता है और गौण शब्द का अर्थ यह है कि जो स्याद्वादके आश्रयरूप गुणसे कहा गया है वह गौण है। आगे विवक्षित और अविवक्षितकी अपेक्षा मुख्य और गौण का कथन करते है ।।२०।।

मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात् गौणत्वं व्रजति विवक्षितो न यः स्यात् ।
एकस्मिंस्तदिह विवक्षितो(ते)द्वितीयो गौणत्वं दधदुपयाति मुख्यसख्यम् ।।२१।।

अन्वयार्थ—(साक्षात् विवक्षितस्य) वक्ता जिसे साक्षात् कहना चाहता है उसके (मुख्यत्व) मुख्यपना (भवति) होना है और (य.) जो (विवक्षितो न स्यात्) विवक्षित नही होता है वह (गौणत्व) गौणपने—अमुख्यपने को (व्रजति) प्राप्त होता है। (तत्) इसलिये (इह) इस जगत्मे (एकस्मिन्) एक धर्मके (विवक्षिते 'सति') विवक्षित होनेपर (द्वितीय.) दूसरा धर्म (गौणत्व) गौण-पने को (दधत्) धारण करता हुआ (मुख्यसख्यम्) मुख्य की मैत्री को (उपयाति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—वक्ता जिस धर्म को साक्षात् कहना चाहता है वह मुख्य कहलाता है और जिस धर्मको नही कहना चाहता है वह गौण या अमुख्य कहलाता है[१]। यहाँ विवक्षा और अविवक्षा की अपेक्षा मुख्य तथा गौण का निरूपण किया गया है। इस मुख्य और गौणके निरूपणमे यह बात ध्यानमे रखने योग्य हैं कि गौण धर्म मुख्यका बाधक न हो कर उसका साधक ही होता है अर्थात उसके साथ मैत्रीभावको प्राप्त होता है ।।२१।।

भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते सघट्टे महति परात्मनोरजस्रम् ।
सीमानं विधिनियमावसंस्पृशन्तौ स्यात्कारश्रयणमृते विसंवदाते ।।२२।।

---

१. 'विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते' । —स्वयभूस्तोत्र ।

अन्वयार्थ—(भावाना) भावोके (अनवधिनिर्भरप्रवृत्ते) असंख्यभारसे प्रवृत्त होनेवाले (महति संघट्टे 'सति') बहुत भारी संघट्टके रहते हुए यदि (विधिनियमौ) विधि और निषेध (अजस्रं) निरन्तर (परात्मनोः) पर और अपनी (सीमानं) सीमाका (अस्पृशन्तौ) स्पर्श नही करते है तो वे (स्यात्काराश्रयणम् ऋते) स्याद्वादके आश्रयके बिना (विसवदाते) बिसंवाद—विरोध करने लगते है।

भावार्थ—विधि और निषेध ये दोनों धर्म परस्पर विपरीत स्वभाववाले है अत इनमें विसंवादका अवसर निरन्तर रहता है। इस विसंवादको दूर करनेके लिये आचार्योंने दोनोंकी सीमाएँ निर्धारित करते हुए कहा है कि विधिकी सीमा स्व है और निषेधकी सीमा पर है। इन दोनोंको स्याद्वादकी आज्ञाका पालन करते हुए अपनी अपनी सीमामें स्थिर रहना चाहिये। यदि इस आज्ञाका उल्लंघन किया गया तो भावोका सघट्ट होकर विसंवाद उत्पन्न हो जावेगा ॥२२॥

धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्रीं साकाङ्क्षा वहति विधिं निषेधवाणी।
स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्यौ वाख्यातो विधिनियमौ निजार्थमित्थम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(असौ) यह (विधि.) अस्तिपक्ष (अधिकं) अधिक रूपसे (निषेधमैत्री) निषेधपक्षके साथ मित्रताको (धत्ते) धारण करता है और (साकाङ्क्षा निषेधवाणी) साकाक्षा निषेधवाचक शब्द (विधि) विधिपक्षको (वहति) धारण करता है। (इत्थ) इस प्रकार (स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्यौ) स्याद्वादके आश्रयसे अपनी शक्तिको बढ़ानेवाले (विधिनियमौ) विधि और निषेध (निजार्थं) अपने अर्थको (आख्यात) कहते है।

भावार्थ—स्यात् शब्दकी सामर्थ्यसे विधि और निषेध वाचक शब्द परस्पर मैत्रीभावको रखते हुए ही अपने-अपने अर्थका प्रतिपादन करते है ॥२३॥

इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं वस्त्वेकं विधिनियमो(भया)भिधेयम्।
स्यात्कारे निहितभरे विवक्षितः सन्नेकोऽपि क्षमत इहाभिधातुमेतत् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(इत्येव) इस प्रकार (इह) इस जगत्मे (स्यात्कारे निहितभरे 'सति') जिसके ऊपर भार निहित है ऐसे स्याद्वादके रहते हुए (स्फुटसदसन्मयस्वभाव) जिसका स्वभाव स्पष्ट ही सत् और असतसे तन्मय है तथा (विधिनियमोभयाभिधेयम्) विधि और निषेध दोनो ही जिसके वाच्य है ऐसी (एतत्) इस (एक वस्तु) एक वस्तुको (एकोऽपि) एक सत् शब्द ही (विवक्षितः सन्) विवक्षित होता हुआ (अभिधातु) कहनेके लिये (क्षमते) समर्थ है।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् स्वभावसे युक्त है तथा विधि और निषेधरूपसे वाच्य है। उसका कथन करनेके लिये स्यात्कारके आश्रयसे एक 'सत्' शब्द भी समर्थ है। तात्पर्य यह हे कि 'स्यात् वस्तु सत्'—'वस्तु कथंचित् सत् है' इस एक शब्दसे ही वस्तुके अस्तिपक्ष के साथ नास्तिपक्षका भी बोध हो जाता है ॥२४॥

स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः क्षेत्राद्यैरपि हि निजेतरैः क्रमोऽयम्।
इत्युच्चैः प्रथममिह प्रताड्य भेरीं निर्बाधं निजविषये चरन्तु शब्दाः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(स्वद्रव्यात्) स्वद्रव्यकी अपेक्षा (अयं) यह विधि—अस्तिपक्ष है और (अन्यथा) परद्रव्यकी अपेक्षा (निषेधः) नास्तिपक्ष है। (हि) निश्चयसे (निजेतरैः) निज और पर (क्षेत्राद्यैः अपि) क्षेत्र आदिकी अपेक्षा भी (अयं क्रमः) यह क्रम है अर्थात् स्व क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिपक्ष है और पर क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा नास्तिपक्ष है। (इति) इस प्रकार (इह) इस जगत्में (प्रथमं) पहले (उच्चैः) जोरसे (भेरीं प्रताड्य) डंका पीट कर (शब्दाः) शब्द (निजविषये) अपने विषयमे (निर्बाधं) निर्बाधरूपसे (चरन्तु) विचरण करें।

भावार्थ—'स्वचतुष्टयकी अपेक्षा विधिपक्ष है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिपक्ष है' इतना स्पष्ट कर देनेपर परस्पर विरोधी शब्दोका विरोध दूर हो जाता है और पदार्थमे परस्पर विरोधी धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है ॥२५॥

■

ॐ

(१८)

[1]मत्तमयूरं छन्दः

आद्यं ज्योतिर्द्वयात्मकदुर्गाद्भुततत्त्वं कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम् ।
मोहध्वान्तं ध्वंसयदत्यन्तमनन्तं पश्याम्येतन्निर्दयमन्तः प्रविदार्य ।।१।।

अन्वयार्थ—मैं (अन्त.) अन्तरङ्गमे विद्यमान (एतत्) इस (अनन्तं) बहुतभारी (मोहध्वान्तं) मोहरूपी तिमिरको (निर्दयं 'यथा स्यात्तथा') निर्दयता पूर्वक (अत्यन्तं) अत्यन्तरूपसे (प्रविदार्य) चीर कर—नष्ट कर (द्वयात्मकदुर्गाद्भुततत्वं) जिसका यथार्थरूप द्वयात्मक—विधि-निषेधात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक दुर्ग—गढ़से आश्चर्य कारक है (कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम्) जो कर्म—कर्मनय और ज्ञान—ज्ञाननयसे उत्तेजित योगागम शुक्लध्यानकी प्राप्तिसे सिद्ध है तथा (अनन्त) अन्तसे रहित है ऐसी (आद्यं ज्योतिः) केवलज्ञानरूप प्रथम ज्योतिका (पश्यामि) अवलोकन कर रहा हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं उस केवलज्ञानरूपी ज्योतिका अवलोकन कर रहा हूँ जिसका यथार्थरूप विधि-निषेधात्मक—सामान्य-विशेषात्मक दुर्ग—गढसे अद्भुत है अर्थात् जो पदार्थके उपर्युक्त द्विविधरूपको जानता है, जिसकी सिद्धि कर्मनय—क्रियारूप चारित्रका पालन तथा ज्ञाननय—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञाननय—निश्चयदृष्टिसे वृद्धिको प्राप्त होनेवाले शुक्लध्यानकी प्राप्तिसे होती है तथा जो होकर फिर कभी नष्ट न होनेसे अनन्त है। यह केवलज्ञानरूपी ज्योति, अन्तरङ्गमे विद्यमान मोहरूपी गाढ तिमिरका निर्दयतापूर्वक अत्यन्त- सर्वथा क्षय करनेसे ही प्रकट होती है इसलिये उसके क्षय करनेकी बात कही गई है। केवलज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम भी आगममे यही बताया गया है—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'—मोहकर्मका क्षय और उसके अनन्तर ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे दशम—सूक्ष्मसाम्पराय गुण-स्थानके अन्तमे मोहकर्मका सर्वथा क्षय होता है और उसके अन्तर्मुहूर्तके बाद 'एकत्ववितर्क-वीचार' नामक द्वितीय शुक्लध्यानके प्रभावसे बारहवें—क्षीणमोह नामक गुणस्थानके अन्तमे ज्ञानावरणादि शेष तीन घातिया कर्मोंका क्षय होनेपर केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान की विशेषता यह है कि वह विधि निषेधात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक उभय धर्मोसे युक्त पदार्थोंको जानता है और स्वयं भी उभयधर्मात्मक है। सर्वोत्कृष्ट होनेसे इस केवलज्ञानरूपी ज्योतिको आद्य ज्योति कहा जाता है ।।१।।

---

१. 'वेदैरन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्'—इति वृत्तरत्नकरे।

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्न्येकनिषन्नः (ण्णः) ।
यो नानेकव्यक्तिषु निष्णातमतिः स्यादेको भावस्तस्य तवैषो[1] विषयः स्यात् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तावक·) आपका (एष·) यह (एको भावः) एक भाव (व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्नि) प्रकट हुई अनेक पर्यायोकी महिमामे (एकनिषण्णः) एक पर निर्भर अर्थात् सामान्यग्राही होनेसे अनेकोमे एकत्वको स्थापित करनेवाला (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है (यो वा) जो पुरुष (अनेकव्यक्तिषु) अनेक पदार्थोंमे (निष्णातमतिः स्यात्) निपुणमति है—पदार्थोंके अनेकत्वको स्वीकृत करता है (तस्य एको भावः स्यात्) उसीके एक भाव है—एकत्वका अनेकत्वके साथ अविनाभाव स्वीकृत है और (एषः) यही एनेकात्मक भाव (तव विषय स्यात्) आपका ज्ञेय है।

भावार्थ—यहाँ एक और इन दो विरोधी धर्मोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका यह एक भाव अनेक पदार्थोंमे व्यापक रहनेसे उनके साथ अविनाभावी है और अनेक एकके साथ अविनाभावी है। यह एकानेकात्मक भाव आपका ज्ञेय है—आपके ज्ञानका विषय है। तात्पर्य यह है कि यह एकत्व और अनेकत्वभाव परस्पर सापेक्ष है, अतः पदार्थके एकत्वको वही ग्रहण कर सकता है जो अनेकत्वको भी ग्रहण करनेमे कुशल है और अनेकत्वको भी वही ग्रहण कर सकता है जो एकत्वके ग्रहण करनेमे निपुण है ॥२॥

नो सामान्यं भाति विनैवात्मविशेषैर्निःसामान्याः सन्ति कदाचिन्न विशेषाः ।
यत् सामान्यं भाति त एवात्र विशेषास्त्वं वस्तु स्याः स्वीकृतसामान्यविशेषः ॥३॥

अन्वयार्थ—(आत्मविशेषै विना) अपने विशेष रूपोंके बिना (सामान्य नो भाति) सामान्य नही होता है और (निःसामान्याः) सामान्यके बिना (विशेषा.) विशेष (कदाचित्) कभी भी (न सन्ति) नही होते है (अत्र) इस जगत्मे (यत् सामान्य) जो सामान्य ह (ते एव विशेषा) वे ही विशेष है अर्थात् सामान्य और विशेष पदार्थ पृथक्-पृथक् नही है। हे भगवन् ! (त्व) आप (स्वीकृत सामान्यविशेष.) सामान्य और विशेष दोनोको स्वीकृत करनेवाले है, अतः (वस्तु स्या) यथार्थ वस्तु स्वरूप हैं।

भावार्थ—पदार्थमे रहनेवाले सामान्य और विशेष धर्म परस्पर सापेक्ष है, क्योकि विशेषके विना सामान्य नही होता और सामान्यके बिना विशेष नही होते। अत· जो सामान्य है वही विशेष है और जो विशेष है वही सामान्य है। द्रव्यके बिना पर्याय नही होती और पर्यायके बिना द्रव्य नही रहता। द्रव्यको सामान्य और पर्यायको विशेष कहते है। इस प्रकार ससारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक है। विवक्षावश जब द्रव्यको प्रधानता दी जाती है तब पदार्थ सामान्य या एक अनुभवमे आता है और जब पर्यायको प्रधानता दी जाती है तब विशेष या अनेक अनुभवमे आता है। जिनेन्द्र भगवान् सामान्य और विशेषके एकान्तसे रहित हैं, अतः वे स्वयं वस्तुस्वरूप हैं ॥३॥

---

१. 'एषो विषय.' यहाँ सु का लोप आचार्य वैकल्पिक मानते हैं ऐसा जान पड़ता है, क्योकि 'एष प्रतिभाति' यहाँ लोप किया है। ऐसा ही एक प्रयोग पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भी पाया जाता है जैसे—'नैष. कदापि सङ्ग' सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्' ॥११७॥

द्रव्येणैको नित्यमपीशासि समन्ताद् देवानेकः स्फूर्जसि पर्यायभरेण ।
एकानेको वस्तुत एष प्रतिभासित्वं पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (द्रव्येण) द्रव्यकी अपेक्षा आप (नित्यमपि) सदा ही (समन्तात्) सब ओरसे (एकः असि) एक है और (देव) हे देव ! (पर्यायभरेण) पर्याय समूहकी अपेक्षा आप (अनेक स्फूर्जसि) अनेक प्रतिभासित होते हैं। (वस्तुतः) परमार्थसे (एष त्वं) यह आप (पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा) द्रव्य और पर्यायके समूहसे तन्मय हैं अतः (एकानेक प्रतिभासि) एक अनेक प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—'द्रव्यमेकं पर्यायास्त्वनन्ताः' इस सिद्धान्तके अनुसार द्रव्य एक और पर्याय अनेक है। हे नाथ ! जब द्रव्यकी अपेक्षा विचार करते है तब आप एक मालूम होते है और जब भूत-भविष्यत्कालकी अनन्त पर्यायोकी अपेक्षा विचार करते है तब अनेक प्रतीत होते है। यतः आप द्रव्य और पर्यायोके समूहरूप है अतः आप एकानेकः हैं अर्थात् कथंचित् एक हैं और कथंचित् अनेक है ॥४॥

दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन विनैको यश्चानेकः सोऽपि विनैकेन न सिद्धः ।
सर्वं वस्तु स्यात् समुदायेन सदैकं देवानेकं स्वावयवैर्भाति तदेव ॥५॥

अन्वयार्थ—(कश्चित् एकः) कोई एक (अनेकेन) अनेकके बिना (कस्मिन्) कहाँ (दृष्टः) देखा गया है ? अर्थात् कहीं नही। (यश्च अनेकः) और जो अनेक है (सोऽपि) वह भी (एकेन विना) एकके बिना (न सिद्धः) सिद्ध नही है। (समुदायेन) समुदायकी अपेक्षा (सर्वं वस्तु) सभी पदार्थ (सदा) सदा (एक स्यात्) एक है और (देव) हे देव ! (तदेव) वही एक पदार्थ (स्वावयवैः) अपने अवयवोकी अपेक्षा (अनेक भाति) अनेक मालूम होता है।

भावार्थ—संसारमे कही कोई एक ऐसा नही देखा गया है जो अनेकके बिना हो और ऐसा एक भी नहीं देखा गया है जो अनेकके बिना हो। तात्पर्य यह है कि संसारके समस्त पदार्थ एक और अनेकात्मक है। यह एक और अनेकपना जिस प्रकार द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा बनता है उसी प्रकार अवयवी और अवयवकी अपेक्षा भी बनता है। अवयवीके अपेक्षा पदार्थ एक है और अवयवोकी अपेक्षा अनेक है। जैसे शाखा प्रशाखा पत्ते फल तथा पुष्पोके समूहकी अपेक्षा वृक्ष एक है परन्तु अपने उपर्युक्त अवयवोकी अपेक्षा अनेक है ॥५॥

एकानेकौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने ।
एकं द्रव्यं नूनमनेके व्यतिरेका एकानेको न्यायत एवास्युभयात्मा ॥६॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) जो परस्परमे विरुद्ध है और (भिन्ने पथि वृत्तौ) भिन्न मार्गमे रहते हैं (तौ) वे (एकानेकौ द्वौ) एक और अनेक नामक धर्म (त्वयि) आपमे (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं क्योंकि (नून) निश्चयसे (द्रव्यम् एकम्) द्रव्य एक है और (व्यतिरेका) पर्याय (अनेके) अनेक है (त्वम्' उभयात्मा असि) आप उभयरूप है—द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः (न्यायत एव) न्यायसे ही (एकानेक.) एकानेक है।

भावार्थ—एक और अनेक ये दोनों धर्म पूर्व और पश्चिमकी तरह परस्पर विरोधी है तथा भिन्न-भिन्न मार्गमे स्थित हैं परन्तु आपमे एक साथ संगत होकर रहते हैं उसका कारण यह है कि एकत्व धर्म तो द्रव्यसे सम्बन्ध रखता है और अनेकत्व धर्म पर्याय से। द्रव्य एक है और पर्याय अनेक हैं और यतः आप द्रव्यपर्यायात्मक हैं अत. एकानेकात्मक हैं अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षा एक हैं और पर्यायकी अपेक्षा अनेक हैं ॥६॥

यत् तद्द्रव्यं रक्षति नित्यत्वमनन्तं पर्याया ये ते रचयन्ति क्षणभङ्गम्।
नित्यानित्यं वस्तु तवोदेति समन्तान्नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात् ॥७॥

अन्वयार्थ—(यत् द्रव्यं तत्) जो द्रव्य है वह (अनन्तं) कभी नष्ट न होनेवाले (नित्यत्वं) नित्यत्व धर्मको (रक्षति) रखता है और (ये पर्यायाः) जो पर्याय है (ते) वे (क्षणभङ्गम्) क्षण-क्षणमे नश्वरता—अनित्यवत्व धर्मको (रचयन्ति) रचती है। इसीलिये (तव) आपके मतमे (समन्तात्) सब ओरसे (नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात्) नित्य द्रव्य और अनित्य विशेष-पर्यायसे एकरूप होनेके कारण (वस्तु) पदार्थ (नित्यानित्यं) नित्यानित्य (उदेति) सिद्ध होता है।

भावार्थ—यहाँ नित्य और अनित्य इन दो विरोधी धर्मोंकी संगति सिद्ध करते हुए आचार्यने कहा है कि भगवन्! आपके मनमे वस्तु नित्यानित्यात्मक है क्योकि वह वस्तु, द्रव्य और पर्यायसे तन्मय है तथा द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है ॥७॥

नित्यं किं हि स्यात् क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं नित्यादन्यः स्यात्क्षणभङ्गी कतरोऽत्र।
नित्यावृत्तिः स्यान्न विनांशैः क्षणिकैः स्वैर्नित्यावृत्तिं स्युर्न विनांशाः क्षणिकास्ते ॥८॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (नित्यं) नित्य रहनेवाला द्रव्य (किं) क्या (क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं) अनित्य पर्यायसे पृथक् (स्यात्) है? अर्थात् नही है और (क्षणभङ्गी) क्षण क्षणमे नष्ट होने वाला (कतर·) कौनसा पर्याय(नित्यात्) नित्य-द्रव्यसे (अन्य.) पृथक् है? अर्थात् कोई नही है।(अत्र) इस जगत्मे (नित्यावृत्तिः) नित्य रहनेवाला द्रव्य (क्षणिकैः स्वैः अंशैः विना) क्षण-क्षणमे नष्ट होनेवाले पर्यायरूप अपने अंशोके बिना (न स्यात्) नही हो सकता और (क्षणिका ते अंशा) क्षण-क्षणमे नष्ट होने वाले वे अंश (नित्यावृत्तिं विना) द्रव्यके विना (न स्युः) नही हो सकते।

भावार्थ—यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, पर्यायसे और पर्याय, द्रव्यसे पृथक् नही है। जब दोनों पृथक् नही है तब द्रव्यकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व धर्म, एक साथ एक ही वस्तुमे सिद्ध होते है ॥८॥

नित्यानित्यौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने नित्यम्।
द्रव्यं नित्यमनित्या व्यतिरेका नित्यानित्यौ(त्यो)न्यायत एवास्युभयात्मा ॥९॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) परस्पर विरोधी तथा (नित्य) निरन्तर (भिन्ने पथि) भिन्न मार्गमे (वृत्तौ) प्रवृत्त होनेवाले (नित्यानित्यौ द्वौ) नित्य और अनित्य ये दो धर्म (त्वयि) आपमे (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं, क्योंकि (द्रव्यं) द्रव्य (नित्यं) नित्य है और (व्यतिरेका) पर्याय (अनित्या) अनित्य है। आप (उभयात्मा असि) द्रव्य और पर्याय रूप है अत (न्यायत एव) न्यायसे ही (नित्यानित्यः) नित्यानित्य है।

भावार्थ—ऊपर जिस प्रकार द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा आपमे एकानेकत्व धर्म सिद्ध किया गया है उसी प्रकार यहाँ द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा नित्यानित्यत्व धर्म सिद्ध किया गया है। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है और आप द्रव्यपर्यायात्मक है अत. आपमे एक साथ नित्यानित्यत्व धर्म सिद्ध है ॥९॥

स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि भावस्त्वमिहान्यद्रव्याद्यैस्तु व्यक्तमभावः प्रतिभासि ।
भावाभावो वस्तुतयासीश समन्ताद् भावाभावावैक्यमुपानीय कृतो यत् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (इह) इस जगत्मे (त्वम्) आप (स्वद्रव्याद्यै) स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे (भाव·) भावरूप-अस्तिरूप (स्फूर्जसि) प्रतीत होते है (तु) और (अन्यद्रव्याद्यैः) अन्य पदार्थके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा (व्यक्त) स्पष्ट ही (अभावः) अभावरूप—नास्तिरूप (प्रतिभासि) मालूम होते है (यत्) जिस कारण आपने (समन्तात्) सब ओरसे (भावाभावौ) भाव और अभावको (ऐक्यमुपानीय कृतः) एकरूपता प्राप्त करायी है अतः आप (वस्तुतया) परमार्थसे वस्तुस्वभावके कारण (भावाभाव. असि) भावाभावरूप हैं।

भावार्थ—यहाँ जिनेन्द्र देवमे आचार्यने भाव और अभाव इन दो विरोधी धर्मोकी सगति सिद्ध करते हुये कहा है कि आप स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा भावरूप है और परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अभावरूप है, अतः आप परमार्थसे भावाभावरूप हैं ॥१०॥

भावाद्भिन्नः कीदृगभावोऽत्र विधेयोभावो वा स्यात्कीदृग भावेन विनासौ ।
तौ वस्त्वंशौ द्वौ स्वपराभ्यां समकालं पूर्णं शून्यं वस्तु किलाश्रित्य विभातः ॥११॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस जगत्मे (भावात् भिन्नः) भावसे भिन्न (अभावः) अभाव (कीदृग् विधेय) कैसे किया जा सकता है ? (वा) अथवा (अभावेन बिना) अभावके विना (असौ भावः) यह भाव (कीदृग् विधेय.) केसा किया जा सकने योग्य (स्यात्) है ? (तौ द्वौ) वे दोनों भाव और अभाव (वस्त्वशौ) वस्तुके अंश हैं तथा (स्वपराभ्या) निज और पर चतुष्टयकी अपेक्षा (समकालं) एक ही साथ (पूर्णं) पूर्ण और (शून्यं) शून्यरूप (वस्तु) वस्तुका (किल) निश्चयसे (आश्रित्य) आश्रयकर (विभात·) सुशोभित होते है।

भावार्थ—भाव और अभाव ये दोनों वस्तुके अश हैं तथा परस्पर सापेक्ष हैं। भावसे भिन्न-पृथक् अभाव और अभावसे भिन्न भाव नही होता है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भाव-रूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु पूर्ण कहलाती है परचतुष्टयकी अपेक्षा शून्य कही जाती है इस प्रकार पूर्ण और शून्य वस्तुका आश्रय लेकर वे भाव और अभाव धर्म एक ही साथ सुशोभित होते है ॥११॥

भावाभावौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ सङ्गच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने ।
भावः स्वांशाद् व्यक्तमभावस्तु परांशाद् भावाभावो न्यायत एवास्युभयात्मा ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) जो परस्पर विरुद्ध है तथा (भिन्ने पथि वृत्तौ) भिन्न मार्गमें स्थित है (तौ) वे (भावाभावौ द्वौ) भाव और अभावरूप दोनों धर्म (त्वयि) आपमें (सम) एक साथ (संगच्छाते) सगत होते हैं (व्यक्तं) स्पष्ट ही (भावः) भाव (स्वाशात्) स्व अंश—निजचतुष्टयकी

अपेक्षा है (तु) और (अभावः) अभाव (परांशात्) पर अंशकी अपेक्षा है। यतश्च आप (उभयात्म दोनोरूप हैं अत. (न्यायत·) न्यायसे (भावाभाव.) भावाभावरूप (एव) ही (असि) है।

भावार्थ—भाव और अभाव धर्म यद्यपि परस्पर विरुद्ध है और भिन्न मार्गमे स्थित तथापि स्वांश और पराशकी अपेक्षा आपमे एक साथ सिद्ध होते हैं। उन दोनो धर्मोकी अपेक्ष आप भावाभावरूप है ॥१२॥

सर्वं वाच्यं द्वयात्मकमेतत्क्रमतः स्याद्देवावाच्यं तद्युगपद् वक्तुमशक्तेः।
तौ पर्यायौ द्वौ सह बिभ्रद् भगवंस्त्वं वाच्यावाच्यं वस्त्वसि किञ्चिज्जगतीर(ह) ॥१३॥

अन्वयार्थ--(देव) हे स्वामिन्! (द्वयात्मक) द्विविध रूपको धारण करनेवाली (एतत्) य (सर्वं) समस्त वस्तु (क्रमत·) क्रमसे (वाच्यं स्यात्) वाच्य है और (तद्) वही वस्तु (युगपत्) ए साथ (वक्तुमशक्ते.) कहनेकी असमर्थता होनेसे (अवाच्य) अवाच्य है (भगवन्) हे भगवन्! (त द्वौ पर्यायौ) उन दोनो वाच्य-अवाच्य धर्मोको (सह) एक साथ (बिभ्रद्) धारण करते हुये (त्वम् आप (इह जगति) इस संसारमे (किञ्चित्) कोई-विलक्षण (वाच्यावाच्यं) वाच्य और अवाच्यरू (वस्तु असि) वस्तु है।

भावार्थ—यहाँ वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मका समन्वय करते हुये कहा गया है कि विधि निषेध, एक अनेक, नित्य अनित्य और भाव अभाव आदि द्विविध रूपको धारण करने वाली वस् क्रमसे वाच्य है परन्तु एक साथ दोनों विरोधी धर्म नही कहे जा सकते, इसलिए अवाच्य है। य वाच्य और अवाच्य दोनो पर्याय है। इन दोनोंको एक साथ धारण करते हुए आप वाच्यावाच्य-वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मरूप कोई अद्भुत वस्तु हैं ॥१३॥

वाच्यादन्यत् किञ्चिदवाच्यं न हि दृष्टं वाच्यं चैतन्नेष्टमवाच्यव्यतिरिक्तम्।
वागाश्रित्य स्वक्रमवृत्त्यक्रमवृत्ती वस्तु द्वयात्मकं हि गृणीयान्न गृणीयात् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (किञ्चित्) कोई भी (अवाच्य) अवाच्य (वाच्यात् अन्यत वाच्यसे पृथक् (न दृष्ट) नही देखा गया है (च) और (एतत् वाच्यं) यह वाच्य (अवाच्यव्यतिरिक्त अवाच्यसे भिन्न (न इष्टम्) इष्ट नही है--माना नही गया है। (वाक्) वचन, (स्वक्रमवृत्त्यक्रम वृत्ती) अपनी क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्तिका आश्रय लेकर (हि) निश्चयसे (द्वयात्मक वस्तु) दो रू वस्तुको (गृणीयात्) निगीर्ण करता है और (न गृणीयात्) निगीर्ण नही करता है अर्थात् क्रमवृ का आश्रय लेनेपर वचन द्वयात्मक वस्तुको कहता है और अक्रमवृत्तिका आश्रय लेने पर नह कहता है।

भावार्थ—वस्तुमे अवक्तव्य और वक्तव्य ये दो धर्म है। ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष क्योंकि वाच्यमे भिन्न अवाच्य और अवाच्यसे भिन्न वाच्य देखनेमे नही आता। जब वचन, किन्हं दो विरोधी धर्मोका क्रमसे वर्णन करता है तब वस्तु वक्तव्य होती है और जब एक सा वर्णन करना चाहता है तब दोनों धर्मोंका वर्णन एक साथ न कर सकनेके कारण अवक्तव्य होती है ॥१४॥

वाच्यावाच्यौ द्वौ सममन्योऽन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
वाच्यौ व्यस्तौ व्यक्तमवाच्यस्तु समस्तो वाच्यावाच्यो न्यायत एवास्युभयात्मा ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) जो परस्पर विरुद्ध हैं और (भिन्ने पथि वृत्तौ) भिन्न मार्गमें स्थित है (तौ) वे (वाच्यावाच्यौ) वाच्य और अवाच्य—वक्तव्य और अवक्तव्य दो विरोधी धर्म (त्वयि) आपमें (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं। (व्यस्तौ) पृथक्-पृथक् रहते हुये स्पष्ट ही (वाच्यौ) वाच्य हैं (तु) और (समस्तः अवाच्यः) समस्त–मिले हुये (अवाच्यः) अवाच्य हैं। यतः आप (उभयात्मा) उभयरूप हैं अत (न्यायत एव) न्यायसे ही (वाच्यावाच्यः असि) वाच्य अवाच्य-रूप है।

भावार्थ—यद्यपि वाच्य और अवाच्य धर्म परस्पर विरोधी हैं और विरुद्ध मार्गमें स्थित हैं तथापि हे भगवन् ! आपमे दोनो धर्म एक साथ संगत है—अतः न्यायसे आप उभयात्मा हैं—वाच्या-वाच्य अथवा वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मसे सहित हैं ॥१५॥

सोऽयं भावः कर्म यदेतत् परमार्थाद्धत्ते योगं यद्भवनेन क्रियमाणम् ।
शुद्धो भावः कारकचक्रे तव लीनः शुद्धे भावे कारकचक्रं च निगूढम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(यदेतत् कर्म) जो यह कर्म है (सोऽयं भाव.) वही किया है क्योकि (यत् क्रियमाण) जो किया जा रहा कर्म है वह (परमार्थात्) वास्तवमे (भवनेन) क्रियाके साथ (योगं धत्ते) योग—सम्बन्धको धारण करता है (तव) आपका (शुद्धो भाव.) शुद्ध भाव (कारकचक्रे) कारकसमूहमे (लीन.) लीन है (च) और (कारकचक्रं) कारक समूह (शुद्धे भावे) शुद्ध भावमे (निगूढ़ं) निगूढ है।

भावार्थ—यहाँ कर्म और क्रियाका अभेद वर्णन करते हुये कहा गया है कि जो कर्म है वह भाव—क्रियाके साथ सम्बन्धको धारण करता है। परमार्थसे शुद्ध भाव—क्रिया कारक समूहमे लीन है और कारक समूह शुद्ध भावमे लीन है ॥१६॥

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम् ।
सर्वोऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि ॥१७॥

अन्वयार्थ—(कार्यतया) कार्यरूपमे (जातं) उत्पन्न हुआ (जन्य जन्य) उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक पदार्थ (कारणभावेन) कारणरूपसे (स्व परिणामं) अपने ही परिणामको (गृहीत्वा) ग्रहण कर (जात) उत्पन्न हुआ है अत. (त्व) आप (सर्वोऽपि) सम्पूर्णरूपसे (कारणमेव असि) कारण ही है और (कार्यम् एव असि) कार्य ही है जब कि (शुद्धो भाव.) शुद्ध भाव (कारणकार्याविषयोऽपि) कारण और कार्यका विषय नही है।

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे न कोई उत्पन्न होता है और न कोई विनशता है इसलिये उसमे कारण—कार्यभावकी चर्चा नही है। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि शुद्ध भाव कारण कार्यका विषय नही है परन्तु पर्यायार्थिक नयसे पदार्थ उत्पन्न होता है और विनशता है अतः उसमे कारण—कार्यभावकी चर्चा आती है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है और उसमे जो निमित्त पडता है वह कारण कहलाता है। यहाँ कारणके लिये उपादानकी दृष्टिसे कर्ता भी कहा जाता है। परमार्थसे जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है 'य परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म' ऐसा समयसार कलशा मे भी कहा है। उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक कार्य अपने परिणमनको ही कारणरूपसे स्वीकृत

करता है अन्य पदार्थको नहीं। जैसे मिट्टीसे घट बनता है। यहाँ घट कार्य है और मिट्टी उसका कारण अथवा कर्ता है। अध्यात्मकी दृष्टिमें कर्तृकर्म अथवा कारण कार्यभाव एक ही द्रव्यमें बनता है दो द्रव्योंमे नही। दो द्रव्योमे निमित्तनैमित्तिक भाव बनता है इसलिये जो द्रव्य कार्य है वही द्रव्य उसका कारण होता है मात्र पूर्व और उत्तर क्षणकी अपेक्षा उसमे कारण और कार्यका भेद होता है। पूर्वक्षणवर्ती पर्याय कारण है और उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है। जब इस प्रकार की तत्त्वव्यवस्था है तब हे भगवन्! आप ही संपूर्ण रूपसे कारण हैं और आप ही संपूर्णरूपसे कार्य है। सपूर्णरूपसे कहनेका तात्पर्य यह है कि आपकी आत्माके जितने असंख्य प्रदेश हैं वे पूर्वक्षणमे सबके सब कारण थे और उत्तर क्षणमे सबके सब कार्य हुए है। ऐसा नही है कि कुछ प्रदेश कारण रहे हो और कुछ प्रदेश कार्य हो गये हों[1] ।१७।।

वल्गन्त्वन्ये ज्ञाननिमित्तत्वमुपेता बाह्यो हेतुर्हेतुरिहान्तर्न किल स्यात्।
स्वस्मादेवोज्जृम्भितचिद्वीर्यविशेषाज्जातो विश्वव्यापकविज्ञानघनस्त्वम् ।।१८।।

अन्वयार्थ—(ज्ञाननिमित्तत्वम् उपेताः) ज्ञानके निमित्तपनेको प्राप्त हुए (अन्ये) अन्य पदार्थ भले ही (वल्गन्तु) गतिशील रहे परन्तु (किल) परमार्थरूपसे (इह) कार्योत्पत्तिमे (बाह्यो हेतुः) बाह्य कारण (अन्तः हेतु) अन्तरङ्ग कारण (न स्यात्) नही होता है। (देव) हे भगवन्! (त्वम्) आप (स्वस्मात्) अपने (उज्जृम्भितचिद्वीर्यविशेषात्) वृद्धिको प्राप्त हुए ज्ञान और बलके विशेषसे (विश्वव्यापकविज्ञानघनः) विश्वव्यापक अर्थात् लोकालोकको जाननेवाले केवलज्ञानसे सान्द्र (जातः) हुए हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप जो लोकालोकावभासी केवलज्ञानसे सान्द्ररूपताको प्राप्त हुए हैं इसमे अन्तरङ्ग कारण आप ही है। आप ही के ज्ञान और वीर्यगुणमे जो विशिष्ट परिणमन हुआ है उसीसे यह अवस्था प्रकट हुई है। यद्यपि बाह्य कारण अनेक होते है सो रहे उनका निषेध नही है परन्तु परमार्थसे कारण कार्यकी चर्चामें बाह्य कारणको कारण न मानकर अन्तरङ्ग कारण को कारण स्वीकृत किया गया है ।।१८।।

अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत् स्थितिरेषा यः कर्ता त्वं कर्म तदेवास्याविशेषात्।
देवाकार्षीस्त्वं किल विज्ञानघनं यः सोऽयं साक्षात् त्व खलु विज्ञानघनोऽसि ।।१९।।

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (कर्ता) कर्ता (अन्य) अन्य है और (कर्म) कर्म (अन्यत्) अन्य है (एषा स्थितिः) यह स्थिति है—व्यवहारनयकी यह मान्यता है परन्तु (यः त्वं कर्ता) जो आप कर्ता हैं (अविशेषात्) सामान्यकी अपेक्षा (तदेव कर्म असि) वही आप कर्म है (देव) हे नाथ! (यः त्व किल) जिन आपने (विज्ञानघनं) विज्ञान घनको (अकार्षीः) किया था (सोऽयं त्वं) वही तुम (खलु) निश्चयसे (साक्षात्) साक्षात् (विज्ञानघनः असि) विज्ञानघन है।

भावार्थ—व्यवहारनयके आश्रयसे कहा जाता है कि कर्ता अन्य होता है और कर्म अन्य होता है परन्तु निश्चयनयकी मान्यता है कि जो कर्ता होता है वही कर्म होता है क्योंकि परमार्थ से कर्ता क्रिया और कर्म ये तीनो पृथक्-पृथक् नही है। तात्पर्य यह है कि आप ही कर्ता है और

१. विशेष ज्ञानके लिये समयसारका कर्तृकर्माधिकार द्रष्टव्य है।

आप ही कर्म हैं। जैसे आपने विज्ञानघन स्वभावको किया। यहाँ आप कर्ता हैं और विज्ञानघन स्वभाव कर्म हैं परन्तु विज्ञानघन स्वभाव आपसे भिन्न नहीं है अतः आप ही कर्ता हैं और आप ही कर्म हैं। निश्चयनय कर्तृकर्मभावको एक ही द्रव्यमे स्वीकृत करता है क्योंकि व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें बनता है और व्याप्यव्यापकभाव ही कर्तृकर्मभावका आधार है ॥१९॥

विष्वग्व्याप्यः सत्यविशेषे स्वगुणानां देवाधारस्त्वं स्वयमाधेयभरोऽपि।
एकाधाराधेयतयैव ज्वलितात्मा तेनैवोच्चैर्वल्गसि विज्ञानघनोऽयम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (अविशेषे सति) समानताके रहते हुए (त्वं) आप (विश्वग् व्याप्य:) सब ओर व्याप्त होकर रहने योग्य (स्वगुणानां) अपने गुणोके (आधारः) आधार हैं और (स्वयं) स्वयं (आधेयभरोऽपि) आधेयके समूह भी है। यतश्च आप (एकाधाराधेयतया) एक आधाराधेयभावसे (ज्वलितात्मा) प्रकाशित आत्मावाले हैं (तेनैव) उसी कारण (अयं त्वम्) यह आप (उच्चै:) उच्चरूपसे (विज्ञानघनः) विज्ञानघन होते हुए (वल्गसि) प्रवर्तमान है।

भावार्थ—व्यवहारनय दो भिन्न पदार्थोंमें आधार-आधेयभावको स्वीकृत करता है, परन्तु निश्चयनय एक ही पदार्थमें आधारआधेयभावको स्वीकृत करता है। इस स्थितिके अनुसार निश्चयनयसे आप ही अपने गुणोके आधार हैं और आप ही आधेय हैं। आधार होनेसे आप ही व्यापक है और आधेय होनेसे आप ही व्याप्य है। गुण और गुणीमे प्रदेशभेद न होनेसे निश्चयनय अभेदको स्वीकृत करता है। विज्ञानघनस्वभाव आपका आधेय है और आप ही उसके आधार हैं क्योकि आपमे और विज्ञानघनस्वभावमे प्रदेशभेद न होनेसे पृथक् भाव नही है ॥२०॥

आत्मा माता मेयमिदं विश्वमशेषं सम्बन्धेऽस्मिन् सत्यपि नान्योन्यगतौ तौ।
प्रत्यासत्तिः कारणमैक्यस्य न सा स्यादर्थो वाच्यं वक्त्रभिधानं च विभिन्ने ॥२१॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (माता) ज्ञाता है और (इदं अशेषं विश्वं) यह समस्त विश्व (मेयम्) ज्ञेय है (अस्मिन् सम्बन्धे सत्यपि) इस माता-मेय अथवा ज्ञानज्ञेय सम्बन्धके रहनेपर भी (तौ) वे दोनो (अन्योन्यगतौ न) परस्पर एक दूसरेमे गत नही है। (ऐक्यस्य) एकताका कारण (प्रत्यासत्ति.) अत्यन्त निकटता है परन्तु (सा न स्यात्) वह प्रत्यासत्ति नही है क्योंकि (वाच्यं अर्थ.) वाच्यरूप अर्थ (च) और (वक्त्रभिधानं) वक्ताका वचन दोनों (विभिन्ने) पृथक्-पृथक् हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ को जानता है उसे माता और जो जाना जाता है उसे मेय कहते हैं। आत्मा माता है और समस्त विश्व मेय है। यद्यपि आत्मा और विश्वमे माता और मेय का सम्बन्ध है तथापि वे दोनों एक दूसरेमे अनुप्रविष्ट नही है। पृथक्-पृथक् हैं। दोनों की एकता का कारण प्रत्यासत्ति हो सकती है परन्तु वह नही हैं। यह बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा कथन है। अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा दोनोंमे अभेद माना जाता है जैसे वाच्य पदार्थ है और वाचक वक्ता का शब्द है इस तरह दोनोंमे भेद है फिर भी दोनोमें वाचकवाच्य सम्बन्ध माना जाता है। वैसे ही माता और मेयमें भेद होने पर भी परस्परमे मातामेय सम्बन्ध माना गया है ॥२१॥

यः प्रागासीर्नास्त्यदपेक्षः खलु सिद्धः प्रत्युत्पन्नः सम्प्रति सिद्धोऽसि स एव।
प्रत्युत्पन्नायतो[ते]बरक्तिरिहासीद् [या]भूतापेक्षा सम्प्रति[ते]सा किल रक्तिः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (य.) जो आप (वर्त्स्यदपेक्ष:) भविष्यत् की अपेक्षा (प्राक्) पहले (सिद्धः आसीः) सिद्ध थे (स एव) वही आप (सम्प्रति) अब (प्रत्युत्पन्नः सिद्धः असि) वर्तमान सिद्ध हैं। (इह) इस जगत्मे (ते) आपकी (या) जो (अवरक्ति·) विरक्त दशा (प्रत्युत्पन्नायते) वर्तमानके समान मालूम होती है (किल) वास्तवमें (सा) वह (भूतापेक्षा) भूतकाल की अपेक्षा (रक्तिः) सरागावस्था (आसीत्) थी।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आप पहले भविष्यत् की अपेक्षा सिद्ध कहे जाते थे वही अब वर्तमान सिद्ध कहलाते है। इस कालकी अपेक्षा पर्यायभेद होनेपर भी द्रव्यकी अपेक्षा दोनों पर्यायोमे एकत्व स्थापित किया गया है। इसी प्रकार वर्तमान की अपेक्षा जो विरक्त दशा है वह भूत की अपेक्षा सरागावस्था थी। इसलिए यहाँ भी पर्याय की अपेक्षा भेद होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा अभेद प्ररूपण किया गया है ॥२२॥

एकं भावं शाश्वतमुच्चैरभिषिञ्चन् भूत्वाभूत्वा त्वं भवसीश स्वयमेव।
एतद्भूत्वा यद्भवनं पुनरन्यन्न (तत्) त्रैकाल्यं सङ्कुलयन् त्वामनुयाति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ! (त्वं) आप (एकं शाश्वतं भावं) एक शाश्वत—त्रैकालिक भाव का (उच्चै. अभिषिञ्चन्) उत्कृष्ट अभिषेचन करते हुए अर्थात् सामान्य त्रैकालिक भावकी रक्षा करते हुए (भूत्वाभूत्वा) हो होकर (स्वयमेव) अपनेआप (भवसि) होते है सो (एतद् भूत्वा पुन. यद्भवनं) यह होकर पुनः जो होता है वह (अन्यत् न) अन्य नही है अर्थात् अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नही है (त्रैकाल्यं सङ्कुलयन् 'भावः') तीन कालका संग्रह करनेवाला भाव (त्वाम्) आपका (अनुयाति) अनुगमन करता है।

भावार्थ—पदार्थ द्रव्य और पर्यायरूप है। इनमे द्रव्याश त्रैकालिक है और पर्यायाश परिवर्तित होता रहता है। जब द्रव्यांशको प्रधानता देकर कथन किया जाता है तब कहा जाता कि पदार्थ अपरिवर्तनीय—त्रैकालिक है और जब पर्यायाश को प्रधानता देकर कथन होता है तब कहा जाता है कि पदार्थ परिवर्तनीय है। यतश्च द्रव्य पर्यायसे भिन्न नही है और पर्याय द्रव्यसे भिन्न नही है अत. यहाँ कहा गया है कि हे ईश! आप शाश्वतभाव—त्रैकालिक द्रव्याश की रक्षा करते हुए ही अपनी उपादान शक्तिसे स्वय हो रहे है, नूतन नूतन परिणतिसे युक्त हो रहे है परन्तु आपकी वह नूतन परिणति आपके द्रव्याशसे पृथक् नही है। इस प्रकार तीनो कालका सकलन करनेवाला जो द्रव्याश है वह सदा आपके साथ रहता है। तात्पर्य यह है कि आप द्रव्यपर्यायात्मक होनेसे भावाभावात्मक हैं ॥२३॥

एकः साक्षादक्षरविज्ञानघनस्त्वं शुद्धः शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः।
अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैरेकोऽप्युद्गच्छसि वैचित्र्यमनन्तम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वं) आप (एकः) एक है (साक्षात् अक्षरविज्ञानघन.) साक्षात् अविनाशी विज्ञानघन स्वभावसे युक्त है (शुद्ध) शुद्ध है तथा (शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः,) अपने शुद्ध अवयवोंमे ही निलीन है। इस तरह (एकोऽपि सन्) एक होते हुए भी (अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैः) अन्तरमे निमग्न होनेवाले दर्शन सुख और वीर्य आदि विशिष्ट गुणो की अपेक्षा (अनन्तं वैचित्र्यम्) अनन्त प्रकारकी विचित्रता—नानारूपता को (उद्गच्छसि) प्राप्त हो रहे हैं।

अन्वयार्थ—यहाँ एकानेक भङ्गकी अपेक्षा भगवान् की स्तुति करते हुए आचार्य कहते है कि हे भगवन् ! आप यद्यपि अपने विज्ञानघनस्वभाव की अपेक्षा एक हैं तथापि अन्तरङ्गमें विद्यमान दर्शन सुख और वीर्य आदि गुणों की अपेक्षा अनेक भी हैं ॥२४॥

अभ्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धोद्धतधर्मैः स्याद्वादेन प्रविभक्तात्मविभूतिः ।
स्वामिन् नित्यं त्वं निजतत्त्वैकपराणां किञ्चिद् दत्सेऽत्यन्तमगाधोऽप्यवगाहम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! यद्यपि (त्वं) आप (नित्यं) निरन्तर (अन्योऽन्यविरुद्धोद्धत-धर्मैः) परस्पर विरुद्ध अनेक उद्धत धर्मोंसे (अभ्यारूढः) सहित हैं तथापि (स्याद्वादेन) स्याद्वादसे (प्रविभक्तात्मविभूति) विभाग को प्राप्त आत्मवैभवसे युक्त है अतः (अगाधोऽपि) अत्यन्त गंभीर होते हुए भी (निजतत्त्वैकपराणां) स्वतत्त्व की एक आराधनामे तत्पर रहनेवालोके लिये (किञ्चिद्) कुछ (अवगाहं दत्से) प्रवेश देते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! ऊपर कहे अनुसार यद्यपि आप परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंसे युक्त है और वे धर्म इतने उद्धत है कि सब, आपके समस्त आत्मप्रदेशोंपर अधिकार जमाये हुए है तथापि स्याद्वादका आलम्बन लेकर आपने अपनी आत्मविभूतिका ऐसी सुन्दरताके साथ विभाग किया है कि सब विरोधी धर्मोंका पारस्परिक विरोध अपने आप शान्त हो गया है। इस तरह यद्यपि आपका समझना अत्यन्त कठिन है तथापि जो निरन्तर आत्मतत्व की आराधना मे तत्पर रहते है उन्हे आपका समझना सरल हो गया है, इसी दृष्टिसे कहा गया है कि आप अगाध होते हुए भी अपनी आराधनामे तत्पर रहनेवाले पुरुषोंके लिये कुछ अवगाह—प्रवेश देते हैं ॥२५॥

■

ॐ

(१९)

वियोगिनीछन्दः[1]

अजरः पुरुषो जिन स्वयं सहजज्योतिरजय्यचिद्भरः ।
अयमद्भुतसत्यवैभवस्त्वमसि द्वयात्मकदृष्टिगोचरः ॥१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे कर्मशत्रुओको जीतनेवाले जिनेन्द्र ! (अजर.) जो वृद्धावस्थासे रहित हैं, (पुरुष.) आत्मस्वरूप है, (स्वयं) अपने आप (सहजज्योतिरजय्यचिद्भर:) स्वाभाविक ज्ञानज्योतिसे जीता न जा सके ऐसे चैतन्यके समूहसे युक्त है और (अद्भुतसत्यवैभव.) आश्चर्य-कारक सत्यवैभवसे सहित है ऐसे (अय त्वम्) यह आप (द्वयात्मकदृष्टिगोचर) विधिनिषेधके भेद-से द्विविधरूपताको धारण करनेवाली दृष्टिके गोचर है ।

भावार्थ—अन्यत्र पुरुष अर्थात् आत्माका लक्षण लिखते हुए कहा है—'अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः । गुणपर्ययसमवेतः समाहित. समुदयव्ययध्रौव्यै.[2] ॥ अर्थात् चैतन्य जिसका स्वरूप है, जो स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे रहित है—अमूर्त है, गुण और पर्यायोसे तन्मय है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सहित है ऐसा पुरुष—आत्मा है । हे भगवन् ! आप इसी आत्म-द्रव्यरूप हैं, वृद्धावस्थासे रहित हैं क्योंकि वृद्धावस्था शरीररूप पुद्गलद्रव्यकी परिणति है, सहज चैतन्यसे सहित हैं आश्चर्यकारी आत्मवैभवसे सहित है—सबको आश्चर्यमे डालनेवाले केवलज्ञानादि गुणोसे तन्मय हैं । आपके इस स्वरूपको जाननेके लिये विधि और निषेध इन दोनो दृष्टियोका ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि उनके बिना आपका यथार्थरूप जानना सभव नही है ॥१॥

न पराश्रयणं न शून्यता न च भावान्तरसङ्करोऽस्ति ते ।
यदसंख्यनिजप्रदेशकैर्विहितो वस्तुपरिग्रहः स्वयम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके (न पराश्रयणं) न परका आश्रय है (न शून्यता) न शून्यरूपता है (च) और (न भावान्तरसङ्कर अस्ति) अन्य भावोका संकर—सममिश्रण है (यत) क्योकि (असख्य-निजप्रदेशकै·) अपने असंख्यात प्रदेशोके द्वारा (स्वय) स्वय (वस्तुपरिग्रह·) वस्तुका परिग्रहण (विहित:) किया गया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जो अनन्त गुण और पर्यायरूप वस्तुको ग्रहण कर रहे हैं अर्थात् उससे तन्मय हो रहे है सो इस कार्यमे आपको पर द्रव्यका आश्रय नही लेना पडा है, न इन गुणों का आपमे अभाव है और न अन्य भावोंसे आपका संकरपना है मात्र अपने असंख्यातप्रदेशों द्वारा स्वय ही उस चैतन्य वस्तुको ग्रहण कर रहे हैं ॥२॥

---

१ 'विषमे ससजा गुरु. समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी'—वृत्तरत्नाकर

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाये ।

यदमूर्त इति स्फुटोदयं सहजं भाति विशेषणं विभोः ।
तदिहात्मपरायणो भवान् सह भेदं समुपैति पुद्गलैः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण (विभो) आपका (अमूर्तः) अमूर्त (इति) यह (स्फुटोदयं) अत्यन्त स्पष्ट और (सहजं) स्वाभाविक (विशेषणं) विशेषण (भाति) सुशोभित होता है (तत्) इस कारण (इह) इस लोकमें (आत्मपरायणः) आत्माराधनामे लीन रहनेवाले (भवान्) आप (पुद्गलैः सह) पुद्गलोके साथ (भेदं) पृथक्त्वको (समुपैति) प्राप्त हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके अनेक विशेषणोमे 'अमूर्त' यह भी एक विशेषण है । जो स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे रहित है उसे अमूर्त कहते है । आपका यह 'अमूर्त' विशेषण अत्यन्त स्पष्ट और सहज--स्वाभाविक है । 'मूर्त' विशेषण पुद्गल द्रव्यमे सगत होता है क्योंकि वही स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे सहित है । अरहन्त अवस्थामे यद्यपि आप शरीररूप पुद्गलमे निवास करते हैं तथापि उससे आप सर्वथा पृथक् हैं । शरीररूप पुद्गलके साथ आपका एकत्व नही है ॥३॥

चिदितीस(श)विशेषणं दधत्सहजं व्यापि कुतोऽप्यबाधितम् ।
उपयासि भिदामचेतनैरखिलैरेव समं समन्ततः ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! जिस कारण आप (सहजं) स्वाभाविक (व्यापि) व्यापक और (कुतोऽपि) किसी भी कारणसे (अबाधित) बाधित न होनेवाले (चिद् इति विशेषण) 'चित्' इस विशेषणको (दधत्) धारण कर रहे है उस कारण आप (समन्ततः) सब ओरसे (अखिलैः एव अचेतनै) सभी अचेतन द्रव्योके (सम) साथ (भिदा) भेदको (उपयासि) प्राप्त हो रहे है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! अमूर्त विशेषणके समान एक 'चित्' यह भी आपका विशेषण है । आपका यह चित् विशेषण सहज है—स्वाभाविक है, सब अवस्थाओमे व्यापक है और किसी भी कारणसे उसमे बाधा नही आती हैं । इस विशेषण की महिमासे आप पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँचों अचेतन द्रव्योसे पृथक् सिद्ध होते है । 'अमूर्त' विशेषणसे तो आपका मात्र पुद्गलद्रव्यसे पृथक्त्व सिद्ध होता है—धर्म, अधर्म, आकाश और कालसे नही । परन्तु 'चित्' विशेषणसे जीवातिरिक्त सभी अचेतन द्रव्योसे पृथक्त्व सिद्ध होता है ॥४॥

विशदेन सदैव सर्वतः सहजस्वानुभवेन दीव्यतः ।
सकलैः सह चेतनान्तरैरुदितं दूरमिदं तवान्तरम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(सदैव) सदा ही (सर्वतः) सब ओरसे (विशदेन) निर्मल (सहजस्वानुभवेन) सहज स्वानुभवसे (दीव्यतः) रमण करनेवाले (तव) आपका (सकलैः) समस्त (चेतनान्तरैः सह) अन्य चेतन द्रव्योके साथ (इदं) यह (दूरं) बहुत दूरका (अन्तरं) अन्तर (उदितं) कहा गया है ।

भावार्थ—'चित्' विशेषणसे अचेतन द्रव्योके साथ तो आपका पृथक्त्व सिद्ध हो गया था परन्तु अन्य चेतन द्रव्योके साथ पृथक्त्व सिद्ध नही हुआ था । 'अब आप सहज स्वानुभवसे सहित हैं' इस विशेषणके द्वारा समस्त अन्य चेतन द्रव्योसे आपका बहुत दूरका अन्तर सिद्ध होता है, यह बात सिद्ध की गई है । संसारमे जितने चेतन द्रव्य हैं वे सब अपना-अपना स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व

लिए हुए है क्योंकि सबका स्वानुभव पृथक्-पृथक् है। यदि सब चेतन एक ही ब्रह्माके विवर्तरूप होते तो सबका अनुभव एकरूप ही होता परन्तु सबका अनुभव अपना-अपना जुदा-जुदा है अतः सब पृथक्-पृथक् हैं। हे भगवन्! आपका भी सहज स्वानुभव पृथक् है अतः आप अन्य चेतन द्रव्योंसे पृथक् है ॥५॥

निजभावभृतस्य सर्वतो निजभावेन सदैव तिष्ठतः।
प्रतिभाति परैरखण्डितः स्फुटमेको निजभाव एव ते ॥६॥

अन्वयार्थ—जो (सर्वतः) सब ओरसे (निजभावभृतस्य) निजभावसे भरे हुए है तथा (सदैव) सदा ही (निजभावेन) निजभावके साथ (तिष्ठतः) स्थित रहते है ऐसे (ते) आपका (परैः अखण्डितः) परसे खण्डित नहीं होनेवाला (एकः) एक (निजभाव एव) निजभाव ही (स्फुट) स्पष्टरूपसे (प्रतिभाति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—यतश्च प्रत्येक द्रव्य निजभावसे परिपूर्ण है, सदा निजभावसे ही युक्त रहता है और उसका वह निजभाव परके द्वारा खण्डित नहीं होता है। यह वस्तुस्वभावकी मर्यादा है तदनुसार आप भी एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य हैं अतः आपका भी निजभाव सदा परसे अखण्डित है ॥६॥

अजडादिविशेषणैरयं त्वमनन्तैर्युगपद्विशेषितः।
भवसि स्वयमेक एव चेत् प्रकटा तत्तव भावमात्रता ॥७॥

अन्वयार्थ—(अनन्तैः अजडादिविशेषणैः) अजड—चेतन आदि अनन्त विशेषणोंके द्वारा (युगपत्) एक साथ (विशेषितः) विशेषताको प्राप्त हुए (अयं त्वम्) यह आप (चेत्) यदि (स्वयं) स्वयं (एक एव भवसि) एक ही है (तत्) तो (तव) आपकी (भावमात्रता) सामान्यरूपता (प्रकटा) प्रकट है—स्पष्ट है।

भावार्थ—'यद्यपि शब्द-शब्दमे अर्थभेद होता है' इस मान्यताके अनुसार अनन्त विशेषणोसे युक्त होनेके कारण आपमे अनन्तरूपता होना चाहिए तथापि आप एक ही है अर्थात् एक ही व्यक्तिके अनन्त विशेषण है। इससे सिद्ध होता है कि उन विशेषताओके होने पर भी आपमे एक ऐसी सामान्यरूपता है जिसके कारण आपका सब विशेषणोमें अनुगमन होता रहता है ॥७॥

त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्निदमस्तीत्यविभिन्नधारया।
अविभावितपूर्वपश्चिमः प्रतिभासि ध्रुव एव पश्यताम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन्! (उपर्युपरि) ऊपर-ऊपर अर्थात् आगामी प्रत्येक क्षणमें (भवन्) होते हुए (त्वम्) आप (इदमस्ति) 'यह है' (इति अविभिन्नधारया) इस प्रकार अखण्डधारासे (अविभावितपूर्वपश्चिम) पूर्व और उत्तरके विकल्पसे रहित (प्रतिभासि) सुशोभित होते हैं अतः (पश्यताम्) देखनेवालोंके लिए (ध्रुव एव प्रतिभासि) ध्रुव—नित्यरूप ही प्रतीत होते है।

भावार्थ—द्रव्य स्वभावके कारण यद्यपि आपमे प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय होता रहता है और उसके कारण आप अध्रुवरूप हैं तथापि 'यह वही है' इस प्रकारकी अखण्डधारासे—अवि-

च्छिन्नरूपसे होने वाले प्रत्यभिज्ञानके कारण आपके पूर्व और उत्तरका विभाग अनुभवमें नही आता है इसलिए आप देखनेवालोके लिए एक ध्रुवरूप ही अनुभवमें आते हैं ॥८॥

अयमेकविशेष्यतां गतस्त्वमनन्तात्मविशेषणस्रजः ।
प्रभवन्नविमुक्तधारया भगवन् भासि भवन्निरन्तरः ॥९॥

अन्वयार्थ—(अनन्तात्मविशेषणस्रजः) अपने अनन्त विशेषणोंके समूहकी (एकविशेष्यतां गतः) एक विशेष्यताको प्राप्त हुए (अयं त्वम्) यह आप (अविमुक्तधारया प्रभवन्) अखण्डधारासे होते हैं अत (भगवन्) हे भगवन् ! (भवन्निरन्तरः) होते हुए भी अन्तरसे रहित (भासि) सुशोभित है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! विशेषणोंकी माला अनन्त है परन्तु उन सब विशेषणोंके विशेष्य आप एक ही है । यद्यपि उन विशेषणोंके कारण आप प्रतिसमय नवीन नवीनरूपसे उत्पन्न हो रहे हैं तथापि आपकी वह उत्पत्ति अखण्डधारासे हो रही है अर्थात् विशेषणजन्य नवीनताके होने पर भी आपकी एकरूपतामे कोई बाधा नही आती है अत. आप 'भवन् चासौ निरन्तर' इस समासके अनुसार होते हुए भी निरन्तर हैं—अन्तरसे रहित है । तात्पर्य यह है कि उत्पाद व्ययके होने पर भी आप किसी अपेक्षासे ध्रुवरूप हैं ॥९॥

अजडादिविशेषणैर्भृता निजधारा न तवैति तुच्छताम् ।
अजडादिविशेषणानि न क्षयमायान्ति धृतानि धारया ॥१०॥

अन्वयार्थ—(अजडादिविशेषणै· भृता) अजड आदि विशेषणोसे भरी हुई (तव निजधारा) आपकी वह धारा (तुच्छता) अभाव रूपताको (न एति) प्राप्त नही होती और (धारया) धारासे (धृतानि) धारण किये हुए (अजडादिविशेषणानि) अजड आदि विशेषण (क्षय न आयान्ति) क्षयको प्राप्त नही होते ।

भावार्थ—द्रव्यकी जो अनादिअनन्तरूपता है वह उसकी निजधारा कहलाती है और उसमे गुण तथा पर्यायके कारण जो नवीनता आती है उसे विशेषण कहते हैं । द्रव्यकी जो निज-धारा है वह अनेक विशेषणोसे परिपूर्ण रहती है तथा अनादि-अनन्त होनेसे कभी नष्ट नही होती है । विशेषणोसे द्रव्यमे जो नूतनता आती है वह उसकी निजधारासे सदा सबद्ध रहती है इसलिए वह भी सर्वथा क्षयको प्राप्त नही होती । हे भगवन् ! आप एक स्वतन्त्र आत्म-द्रव्य हैं उसकी जो अनादि अनन्त परिणति है वह आपकी निजधारा है और यह निजधारा 'अजड-चेतन' तथा अमूर्त आदि विशेषणोमे परिपूर्ण है । इन विशेषणोकी अपेक्षा आपकी निजधारा कभी नष्ट नही होती और निजधाराकी अपेक्षा कभी विशेषण नष्ट नही होते अर्थात् 'अजड' तथा अमूर्तत्व आदि ऐसे विशेषण है जो सदा काल आपमे विद्यमान रहते है ॥१०॥

अजडादिविशेषणानि ते परतो भेदकराणि न स्वतः ।
दधतः स्वयमद्वयं सदा स्वमसाधारणभावनिर्भरम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके (अजडादिविशेषणानि) अजड आदि विशेषण (परत.) अन्य द्रव्यो से (भेदकराणि) भेद--पृथक्त्व करनेवाले है (स्वत न) स्वद्रव्यसे नही । क्योंकि आप (सदा) निरन्तर (अद्वयं) अन्य द्रव्यसे रहित और (असाधारणभावनिर्भरम्) असाधारण भावोसे परिपूर्ण (स्व) अपने आत्म द्रव्यको (स्वय) अपने आप (दधत.) धारण करते है ।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका आत्मद्रव्य एकत्व-विभक्त है अर्थात् स्वकीय गुण पर्यायोंसे अभिन्न तथा परद्रव्योंसे विभक्त है। इस प्रकार जब आप परसे रहित और अपने असाधारण-भावोंसे सहित आत्मद्रव्यको सदा धारण करते हैं तब आपके अजड आदि विशेषण आपको पर-द्रव्योंसे तो पृथक् सिद्ध करते है परन्तु अपने आत्मद्रव्यसे नही। कही द्रव्यके गुण पर्याय भी क्या उससे पृथक् होते हैं? अर्थात् नही होते ॥११॥

अजडाद्यविभागतः स्थितस्तव भावोऽयमनंश एककः।
अजडाद्यविभागभावनादनुभूतिं समुपैति नान्यथा ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अजडाद्यविभागत. स्थित) अजड आदि विशेषणोके अपृथक्त्व—अविभेदसे स्थित (तव) आपका (अय) यह (अनंश) अखण्ड (एकक.) एक (भाव:) आत्मद्रव्य (अजडाद्यविभाग-भावनात्) अजडादि विशेषणोके अभेदकी भावना करनेसे ही (अनुभूतिं) स्वानुभूतिको (समुपैति) प्राप्त होता है (अन्यथा न) अन्य प्रकारसे नही।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका यह एक अखण्ड आत्मद्रव्य, अजड–चैतन्य–ज्ञानरूपता आदि विशेषणोसे अभिन्न है, न्याय वैशेषिक दर्शनकी मान्यताके अनुसार गुणोंसे सर्वथा भिन्न नही है और बौद्धदर्शनकी मान्यताके अनुसार क्षण-क्षणमे नष्ट होकर अनेकत्वको प्राप्त नही है इसीलिए उसमे आत्मानुभूति तथा अतीत कार्योंकी स्मृति आदि होती है। गुणगुणीमे तथा पूर्वोत्तर क्षणमे सर्वथा भेद माननेसे अनुभूति आदिकी सिद्धि नही हो सकती ॥१२॥

भवनं भवतो निरङ्कुशं सकला मार्ष्टि सकारकाः क्रियाः।
भवनं द्वयतामवाप्यते क्रियया नैव न कारकैरपि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(भवत:) आपका (निरङ्कुश) निर्बाधरूपसे (भवन) होना (सकला:) सम्पूर्ण (सकारका) कारक सहित (क्रिया:) क्रियाओको (मार्ष्टि) साफ करता है क्योंकि (भवन) आपका होना (नैव क्रियया) न क्रियाके द्वारा और (न कारकै अपि) न कारकोके द्वारा भी (द्वयता) द्वि-रूपताको (अवाप्यते) प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ—भेददृष्टिके कथनमे द्रव्यकी परिणति कर्ता कर्म आदि कारको और क्रियाकी अपेक्षा रखती है परन्तु अभेददृष्टिके कथनमे द्रव्यकी परिणति स्वत होती है, उसमे कारक और क्रियाकी अपेक्षा नही रहती। यहाँ अभेददृष्टिकी अपेक्षा स्तुति करते हुए आचार्य कहते है कि हे भगवन्! आपकी जो परिणति है वह स्वतन्त्र है किसी बाह्य द्रव्यके आश्रित नही है अतः उसमे कारक और क्रियाओका विकल्प नही है ॥१३॥

भवने भवतो निरङ्कुशे क्व लसेत् कारणकार्यविस्तरः।
न किलाभवनं करोति तत् क्रियतेऽत्राभवनं च तेन नः (न) ॥१४॥

अन्वयार्थ—(भवतो भवने निरङ्कुशे सति) आपका परिणमन निर्बाध होने पर (कारणकार्य-विस्तर:) कारण और कार्यका विस्तार (क्व लसेत्) कहाँ विराजता है? अर्थात् कही नही। क्योंकि (किल) निश्चयसे (तत्) कारण (अभवनं) कार्यकी अनुत्पत्तिको (न करोति) नही करता है (च)

और (अत्र) इस लोकमे (तेन) कार्यके द्वारा (अभवनं) कारणकी अनुत्पत्ति (न क्रियते) नही की जाती है।

भावार्थ—लोकमे जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है उसका उसके साथ कारण-कार्यभाव माना जाता है परन्तु यह मान्यता भेददृष्टिकी अपेक्षा है। अभेददृष्टिकी अपेक्षा पदार्थकी उस प्रकारकी योग्यता ही कार्योत्पत्तिमें कारण मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि अभेददृष्टिमे कारण कार्यका विकल्प ही नही है। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आपकी जो परिणति हो रही है उसमे कारण-कार्यका विकल्प नहीं है ॥१४॥

भवतीति न युज्यते क्रिया त्वयि कर्त्रादिकरम्बितोदया।
भवनैकविभूतिभारिणस्तव भेदो हि कलङ्ककल्पना ॥१५॥

अन्वयार्थ—(कर्त्रादिकरम्बितोदया) कर्ता आदि कारकोंसे जिसका उदय व्याप्त है ऐसी (क्रिया) क्रिया (त्वयि) आपमे (भवति) होती है (इति न युज्यते) ऐसा कहना युक्त नही है (हि) क्योंकि (भवनैकविभूतिभारिण) परिणमन मात्र एक विभूतिको धारण करनेवाले (तव) आपके (भेद) कर्ता कर्म आदिका भेद करना (कलङ्ककल्पना) कलङ्ककी कल्पना है।

भावार्थ—अभेदनयकी दृष्टिमे कर्ता कर्म और क्रिया तीनों एक ही पदार्थ है भिन्न-भिन्न नही है इसलिए आपमें उनका भेद करना उचित नही है ॥१५॥

अजडादिमयः सनातनो जिन भावोऽस्यवकीर्णकश्मलः।
अयमुच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (अजडादिमयः) जो अजड अर्थात् चैतन्य आदि रूप है, (सनातन) त्रैकालिक है, (अवकीर्णकश्मलः) मोह परिणामोसे रहित है और (उच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रम) जिसके छलकते हुए निर्मल चैतन्यकी प्रभाके समूहमे निज और परके पर्याय और गुण निमग्न है ऐसा जो (अयं) यह (भावः) भाव है उस रूप आप (असि) है।

भावार्थ—यहाँ भाव और भाववान्मे अभेद कर भागवान्को भावरूप कहा है। जिनेन्द्र भाववान् है और उनका अजडादिरूप—चैतन्य तथा अमूर्तत्वरूप जो परिणाम है वह भाव है। जिनेन्द्रका वह भाव, सब कश्मल-मोह अथवा दुःखोंसे रहित है तथा स्वपर द्रव्योके गुण और पर्यायों को अन्तर्निमग्न करनेवाला है ॥१६॥

भगवन्नवकीर्णकश्मलो यदि भावोऽसि विभामयः स्वयम्।
तदयं स्वयमेव विस्फुरन् न विमोहं समुपैषि कुत्रचित् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (यदि) यदि आप (अवकीर्णकश्मल) मोह रहित तथा (विभामयः) ज्ञानरूप दीप्ति से सहित (स्वयं) स्वयं (भावः असि) भावरूप हैं (तत्) तो (अयं) यह भाव (स्वयमेव) स्वयं ही (विस्फुरन्) प्रकट होता है—अन्यके द्वारा किया हुआ नही है। आप (कुत्रचित्) कहीं भी (विमोहं) कर्तृत्वजन्य भ्रमको (न समुपैषि) प्राप्त नही होते है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप जिस वीतराग भावरूप है वह भाव भी आपमे स्वयं प्रकट हुआ है किसी अन्य द्रव्यके उपादानसे उसकी उत्पत्ति नही हुई है क्योंकि उपादानोपादेयभाव एक ही

द्रव्यमें बनता है दो द्रव्योंमें नही। दो द्रव्योंमे निमित्तनैमित्तिक भाव बनता है, परन्तु अभेदनयके कथनमे उसकी विवक्षा नहीं है ॥१७॥

स विभाति विभामयोऽस्ति यो न विभायादविभामयः क्वचित् ।
ननु सर्वमिदं विभाति यत् तदियं भाति विनैव (विभैव) निर्भरम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(य.) जो (विभामयः अस्ति) विभामय है (स) वह (विभाति) सुशोभित होता है (अविभामयः) अविभावमय (क्वचित्) कही भी (न विभायात्) सुशोभित नही हो सकता। (यत्) जो (इदं सर्वं) यह सब (ननु) निश्चयसे (विभाति) सुशोभित हो रहा है (तत्) वह (इय विभा एव) यह विभा ही (निर्भरं) अत्यन्त (भाति) सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—विभा और विभामय ये दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् नही है क्योंकि गुण और गुणीमे प्रदेशभेद न होनेसे अभेद स्वीकृत किया गया है। जो विभासे तन्मय है उसे विभामय कहते है और उसकी जो दीप्ति है वह विभा कहलाती है। विभामय, विभासे तन्मय है इसलिए विभामय की शोभासे विभाकी शोभा स्वयं सिद्ध हो जाती है। यहाँ विभा और विभामयमे अभेद स्वीकृत कर कथन किया गया है ॥१८॥

इदमेव विभाति केवलं न विभातीदमिति क्व कल्पना ।
इदमित्यमुना विभाति तद् द्वितयं नास्ति विभाविभागकृत् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(केवलं) मात्र (इदमेव) यही (विभाति) सुशोभित होता है (इद न विभाति) यह सुशोभित नही होता (इति कल्पना क्व) ऐसी कल्पना कहाँ होती है? अर्थात् कही नही। (इदम्) यह (अमुना) इससे (विभाति) सुशोभित होता है (इति) इस प्रकारका जो (द्वितयं) गुण और गुणीका युगल है (तत्) वह (विभाविभागकृत्) विभामयसे विभाके विभागको करनेवाला (नास्ति) नही है।

भावार्थ—जब अभेद दृष्टिसे विभा और विभामय पदार्थमे अभेद है तब यह नही कहा जा सकता कि विभा ही सुशोभित होती है, विभामय पदार्थ सुशोभित नही होता। अथवा विभामय पदार्थ ही सुशोभित होता है विभा नही। कदाचित् ऐसा भी कहा जावे कि 'यह इससे सुशोभित होता है' और ऐसा कहनेसे विभा तथा विभामय पदार्थमे द्वैतपना सिद्ध होता है तथापि वह द्वैतपना विभाको विभामयसे पृथक् करनेमे समर्थ नही है, क्योकि उन दोनोमे प्रदेशभेद नही है ॥ १९ ॥

सहजा सततोदिता समा स्वसमक्षा सकला निराकुला ।
इयमद्भुतधाममालिनी ननु कस्यास्तु विभा विभावरी ॥२०॥

अन्वयार्थ—जो (सहजा) स्वाभाविक है, (सततोदिता) निरन्तर उदयरूप रहती है, (समा) न्यूनाधिकतासे रहित है, (स्वसमक्षा) अपने आपके लिए जिसका प्रत्यक्ष होता है, (सकला) परिपूर्ण है (निराकुला) आकुलतासे रहित है तथा (अद्भुतधाममालिनी) विस्मयकारी तेजकी मालासे सहित है ऐसी (इयं) यह (विभा) विभा-दीप्ति (ननु) निश्चयसे (कस्य) किसके लिए (विभावरी) रात्रिरूप (अस्तु) हो अर्थात् किसीके लिए नही।

भावार्थ—जो विभा प्रत्यक्ष अनुभवमें आ रही है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकरणमें विभा शब्दसे आत्माकी ज्ञानज्योति ग्राह्य है शरीरकी दीप्ति नहीं ॥२०॥

विधिवद् दधती स्ववैभवाद् विधिरूपेण निषेधमप्यसौ ।
परिशुद्धचिदेकनिर्भरा तव केनात्र विभा निषिध्यते ॥२१॥

अन्वयार्थ—जो (स्ववैभवात्) अपने वैभवसे (विधिवत्) विधिपक्षके समान (निषेधमपि) निषेधपक्षको भी (विधिरूपेण) विधिरूपसे (दधती) धारण कर रही है तथा (परिशुद्धचिदेकनिर्भरा) जो अत्यन्त शुद्ध एक चेतनद्रव्य—आत्मद्रव्यके निर्भर है ऐसी (तव) आपकी (विभा) ज्ञानज्योतिरूप विभा (अत्र) इस लोकमे (केन) किसके द्वारा (निषिध्यते) निषिद्ध की जाती है ? अर्थात् किसीके द्वारा नहीं।

भावार्थ—जो विधिपक्ष और निषेधपक्ष—दोनोंको धारण करती है तथा अत्यन्त शुद्ध एकचेतन द्रव्यपर निर्भर करती है ऐसी आत्माकी ज्ञानज्योतिरूप विभाका अपलाप कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नही ॥२१॥

अभितः स्फुटितस्वभावया च्युतदिक्कालविभागमेकया ।
विभया भवतः समन्ततो जिन सम्पूर्णमिदं विभाव्यते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (अभितः स्फुटितस्वभावया) जिसका स्वभाव सब ओरसे प्रकट हो रहा है ऐसी (भवत) आपकी (एकया) एक—अद्वितीय (विभया) विभाके द्वारा (च्युतदिक्कालविभाग) दिशाओं और कालके विभागसे रहित (इद सम्पूर्ण) यह समस्त जगत् (समन्ततः) सब ओरसे (विभाव्यते) देखा जाता है विभासित होता है।

भावार्थ—हे जिन ! आपकी स्वाभाविक ज्ञानज्योतिरूप विभाके द्वारा समस्त लोकालोक सब ओरसे जाना जाता है ॥२२॥

न खलु स्वपरप्रकाशने मृगयेतात्र विभा विभान्तरम् ।
भवतो विभयैव धीमतः क्रमतः कृत्स्नमिदं प्रकाशते ॥२३॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (अत्र) इस जगत्मे (स्वपरप्रकाशने) निज और परको प्रकाशित करनेके लिए (विभा) विभा (विभान्तर) दूसरी विभाको (न मृगयेत) नही खोजती है। (धीमत.) लोकोत्तरज्ञानसे युक्त (भवतः) आपकी (विभयैव) ज्ञानज्योतिरूप विभाके द्वारा ही (इदं) यह (कृत्स्नं) सम्पूर्ण जगत् (क्रमतः) क्रमसे—पदार्थोंकी परिणतिके क्रमानुसार (प्रकाशते) प्रकाशित होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक स्वपरप्रकाशक होता है उसी प्रकार आपकी ज्ञानज्योतिरूप विभा भी स्वपरप्रकाशक है। हे भगवन् ! आपकी तथोक्त विभाके द्वारा ही समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है, यहाँ विभाको क्रमसे प्रकाशित करनेकी जो बात कही है वह ज्ञेयके क्रमानुसार समझना चाहिए अर्थात् ज्ञेयका जिस क्रमसे परिणमन होता है उसी क्रमानुसार वह उसे युगपत् प्रकाशित करती है ॥२३॥

अनया विचरन्ति नित्यशो जिन ये प्रत्ययमात्रसत्तया ।
सकलं प्रतियन्ति ते स्वयं न हि बोधप्रतिबोधकः क्वचित् ।।२४।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे कर्मशत्रुओंके विजेता ! (प्रत्ययमात्रसत्तया) ज्ञानमात्रकी सत्तास्वरूप (अनया) इस ज्ञानज्योतिरूप विभाके द्वारा (ये) जो (नित्यश:) निरन्तर (विचरन्ति) विचरण करते हैं—जाननेका उद्योग करते है (ते) वे (स्वयं) स्वयं ही (सकलं) सब पदार्थोंकी (प्रतियन्ति) प्रतीति करने लगते है अर्थात् उन्हे यह श्रद्धा हो जाती है कि आपकी विभा स्वपरप्रकाशक है। (हि) वास्तवमे (बोधप्रतिबोधक) ज्ञानको प्रकाशित करनेवाला (क्वचित् न) कही नही है।

भावार्थ—विभा क्या है ? ज्ञान मात्रकी सत्तारूप है और ज्ञान स्वपरावभासी है अतः विभा भी स्वपरावभासिनी है ।।२४।।

अभितोऽनुभवन् भवद्विभामहमेषोऽस्मि मुहुर्मुहुः समः ।
जिन यावदुपैमि पुष्कलं स (स्व) मनन्तस्वविभामयं स्वयम् ।।२५।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे भगवन् ! (एषोऽहम्) यह मै (समः) मध्यस्थ—इष्टानिष्टके विकल्प से रहित होता हुआ (तावत्) तब तक (मुहुर्मुहुः) बार-बार (अभितः) सब ओरसे (भवद्विभाम्) आपकी विभाका (अनुभवन् अस्मि) अनुभवन करता रहूँ (यावत्) जब तक (स्वयं) स्वय (पुष्कलं) परिपूर्ण और (अनन्तस्वविभामयं) अनन्त स्वकीय विभा—ज्ञानज्योतिसे तन्मय (स्वम्) अपने आपको (उपैमि) प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी विभाका अनुभवन आत्मोपलब्धिमे कारण है इसलिए स्तुतिके फलस्वरूप मै चाहता हूँ कि मुझे इसकी तब तक उपलब्धि होती रहे जबतक कि मै अनन्त स्वकीय-विभासे तन्मय आत्मस्वरूपको प्राप्त न कर लूँ ।।२५।।

■

ॐ

(२०)

वंशस्थछन्दः[1]

अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात् तवेश तत्त्वप्रतिपत्तये परम् ।
विषं वमन्त्योऽप्यमृतं क्षरन्ति यत् पदे पदे स्यात्पदसंस्कृता गिरः ॥१॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (तव) आपके (प्राणिधानसौष्ठवात्) उपयोगकी कुशलतासे (अतत्त्वमेव) अतत्त्व ही (तत्त्वप्रतिपत्तये) वस्तु स्वरूपकी यथार्थ प्रतिपत्तिके लिए (पर) समर्थ है (यत्) क्योकि (स्यात्पदसस्कृता) स्यात् पदसे सुशोभित (गिर.) वचन (पदे पदे) प्रत्येक पदमे (विषं) अतत्त्व एकान्तरूप विषयको (वमन्त्योऽपि) उगलते हुए भी (अमृतं) अनेकान्तरूप अमृतको (क्षरन्ति) प्रवाहित करते है।

भावार्थ—स्यात्पदसे चिह्नित जिनेन्द्र भगवान्‌की वाणीका अच्छी तरह उपयोग किया जावे तो उससे अनादिकालीन अतत्त्व-एकान्त दूर होकर यथार्थतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इसीको लक्ष्यमे रखकर आचार्यने कहा है कि हे स्वामिन् ! जो वचन एकान्तरूप विषको उगलते है। इस अध्यायमे एकान्तवादियोके द्वारा स्वीकृत कुछ तत्त्वोका स्याद्वादकी शैलीसे प्रतिपादन किया गया है। वे भी स्यात्पदसे अलंकृत होने पर अनेकान्तरूप अमृतको प्रवाहित करने लगते हैं ॥१॥

परापरोल्लेखविनाशकृद् बलाद् विलीनदिक्कालविभागकल्पनः ।
विभात्यसौ संग्रहशुद्धदर्शनात् त्वमीश चिन्मात्रविभूतिनिर्भरः ॥२॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! जो (बलात्) बलपूर्वक (परापरोल्लेखविनाशकृत्) पर और अपर—पूर्व और उत्तर क्षणके उल्लेखका विनाश करने वाले है, (विलीनदिक्कालविभाग-कल्पन:) जिनमें दिशा और कालके विभागकी कल्पना नष्ट हो चुकी है तथा जो (चिन्मात्रविभूति-निर्भर:) चैतन्यमात्र विभूतिसे परिपूर्ण हैं ऐसे (असौ त्वम्) यह आप (सग्रहशुद्धदर्शनात्) संग्रहनयकी शुद्धदृष्टिसे (विभासि) अतिशय सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—जो पदार्थके विशेष अंशको गौण कर प्रधानरूपसे उसके सामान्य अंशको ग्रहण करता है वह संग्रहनय कहलाता है। उस संग्रहनयकी शुद्धदृष्टिसे जब आपका विचार किया जाता है तब आप पूर्वापरके विभागसे रहित तथा दिशा और काल सम्बन्धी विभागकी कल्पनासे शून्य प्रतीत होते है। साथ ही एक चैतन्यमात्र विभूतिसे युक्त प्रतीत होते है ॥२॥

विशुद्ध्यतिव्याप्तिरसेन वल्गिता अपि स्खलन्त्योऽस्खलिता इवोच्छिखाः ।
निरंशतत्त्वांशनिवेशदारुणास्त्वयीश मूर्च्छन्त्यृजुसूत्रदृष्टयः ॥३॥

---

१. 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ'—वृत्तरत्नाकर।

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (त्वयि) आपमे (ऋजुसूत्रदृष्टयः) ऋजुसूत्रनयकी वे दृष्टियां (मूर्च्छन्ति) वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं जो (विशुद्धयतिव्याप्तिरसेन वल्गिता·) विशुद्धताके अधिक प्रसार रूप रससे युक्त है तथा (स्खलन्त्य अपि) स्खलित होती हुई भी (अस्खलिता इव) अस्खलितके समान (उच्छिखा) प्रकाशमान है और (निरंशतत्त्वाशनिवेशदारुणा·) अखण्ड तत्त्वके अंशको उपस्थित करनेके कारण दारुण—कठिन है।

भावार्थ—जो द्रव्यकी समय समयवर्ती पर्यायको ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय कहलाता है। यह नय, पदार्थको मात्र वर्तमान पर्यायरूप मानता है उसके आगे और पीछे होनेवाले पर्यायरूप अशोको यह गौण कर देता है। इस नयकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे छद्मस्थके ज्ञानमे नही आती अर्थात् छद्मस्थका ज्ञान द्रव्यकी समय-समयवर्ती पर्यायोंको ग्रहण करनेमे असमर्थ है, अतः यह दृष्टि स्खलित-सी जान पडती है परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय होनेसे यह अस्खलित ही रहती हुई प्रकाशमान रहती है। इस नयकी दृष्टि विशुद्धिके अतिरेकसे परिपूर्ण रहती है और निरंश वस्तुके अंशको प्रस्तुत करनेके कारण कठिन भी है ॥३॥

समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो विभज्यमानस्य विशीर्णसञ्चयाः ।
प्रदेशमात्रा ऋजवः पृथक्-पृथक् स्फुरन्त्यनन्ताः स्फुटबोधधातवः ॥४॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे नाथ ! (स्वावयवैः) अपने अवयवोके द्वारा (समन्ततः) सब ओरसे (विभज्यमानस्य) विभागको प्राप्त होनेवाले (तव) आपके (अनन्ताः स्फुटबोधधातवः) प्रत्यक्षज्ञानके अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (पृथक्-पृथक्) जुदे-जुदे (स्फुरन्ति) प्रकाशित होते है। वे अविभाग प्रतिच्छेद, (विशीर्णसञ्चयाः) सचयसे बिखरे हुए हैं (प्रदेशमात्राः) प्रदेशमात्र है और (ऋजवः) सरल—वर्तमानरूप हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! संग्रह नयकी दृष्टिमे आप असंख्यातप्रदेशी एक अखण्ड आत्मद्रव्य है और आपके समस्त प्रदेशोमे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त अखण्ड केवलज्ञान सुशोभित हो रहा है, परन्तु ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे आप अपने असंख्य प्रदेशोमे विभाजित है और आपका केवलज्ञान एक अखण्डपिण्डमे न रहकर अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंमे विभक्त है। उदाहरणके लिये संग्रहनयकी दृष्टिमे वृक्ष, एक दिखाई देता है परन्तु ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे वह वृक्ष शाखा, प्रशाखा, फल-फूल, पत्ते और पल्लवोंकी अपेक्षा अनेकरूप दिखाई देता है ॥४॥

विशीर्यमाणैः सहसैव चित्कणैस्त्वमेष पूर्वापरसंगमाक्षमः ।
अनादिसन्तानगतोऽपि कुत्रचित् परस्परं संघटनां न गाहसे ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (एष त्वम्) यह आप (सहसैव) शीघ्र ही (विशीर्यमाणैः) बिखरते हुए (चित्कणैः) चैतन्यकणोंके द्वारा—ज्ञानप्रदेशोके द्वारा (पूर्वापरसङ्गमाक्षमः) पूर्व और उत्तर क्षणवर्ती चैतन्य कणोके मिलानेमे असमर्थ है और (अनादिसन्तानगतोऽपि 'सन्') अनादि सन्ततिसे युक्त होनेपर भी (कुत्रचित्) कही (परस्परं) परस्पर उन चैतन्यकणोंके साथ (सङ्घटना) मेलको (न गाहसे) प्राप्त नही होते हैं।

भावार्थ—ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि—ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे द्रव्य अखण्ड न रहकर अपने समस्त अवयवों—प्रदेशोंमे विभक्त रहता है और पूर्वोत्तरक्षणोंमे सन्ततिरूपसे न रहकर मात्र समयवर्ती वर्तमान पर्यायमें रहता है। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा जा रहा है कि आपके चित्कण सहसा ही बिखर गये हैं और इस प्रकार बिखर गये है कि उनमे आगे-पीछेका भी भेद नही किया जा सकता है तथा कालकी अपेक्षा अनादि सन्ततिसे युक्त होनेपर भी आप पूर्वोत्तर क्षणवर्ती चित्कणोंको परस्पर मिलानेमे असमर्थ हैं ॥५॥

क्षणक्षयोत्संगितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया निरन्वयम् ।
भवन्तमालोकयतामसिक्षत विभाति नैरात्म्यमिद बलात् त्वयि ॥६॥

अन्वयार्थ—(निरन्वय 'यथा स्यात्तथा') निरन्वयरूपसे (क्षणक्षयोत्सङ्गितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया) क्षणक्षयके द्वारा अङ्गीकृत चैतन्यके अश समूहसे सामान्यके सर्वथा नष्ट हो जानेसे (त्वयि) आपके विषयमे (बलात्) बलपूर्वक स्थापित किया गया (इदं नैरात्म्यं) यह नैरात्म्यपना (भवन्तम्) आपको (आलोकयता) देखनेवाले मनुष्योके लिये (असिक्षत) तलवारका घाव (विभाति) मालूम होता है।

भावार्थ—जहाँ सग्रह और ऋजुसूत्रनयमे मैत्री होती है वहाँ ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विशेषमे परिवर्तन होनेपर भी संग्रहनयकी अपेक्षा सामान्य सुरक्षित रहा आता है परन्तु जहाँ ऋजुसूत्रनयको सग्रहनयसे निरपेक्ष मान लिया जाता है वहाँ सामान्यका निरन्वय नाश होनेसे नैरात्म्यवाद आता है। जैसे सामान्यरूपसे आत्मा नामक द्रव्यका अस्तित्व, उसके क्षण क्षणमे होनेवाले चित्कणोके आश्रयसे उत्पन्न होता है। इसके विपरीत यदि सामान्यको सर्वथा अस्वीकृत कर क्षण क्षयसे युक्त चिदशोको ही आत्मा स्वीकृत किया जाय तो इन चिदशोका आधारभूत कोई पदार्थ स्वीकृत करना आवश्यक होगा। यदि उसे स्वीकृत नही किया जायगा तो ऋजुसूत्रनयके द्वारा प्रतिपादित क्षणक्षयी चिदश किसके आश्रय रहेगे ? इस प्रकार आपके विषयमे प्रस्तुत किया हुआ यह नैरात्म्यवाद आपका अवलोकन करनेवालोके लिये तलवारके घावके समान जान पडता है ॥६॥

गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन प्रभो भविष्यन्ननुपस्थितत्वतः ।
स नूनमर्थक्रिययेश युज्यते प्रवर्तमानक्षणगोचरोऽस्ति यः ॥७॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे नाथ ! (गत) गत पदार्थ (गतत्वात्) गत हो जानेके कारण (किञ्चन न करोति) कुछ नही करता है और (भविष्यन्) अनागत पदार्थ (अनुपस्थितत्वतः) अनुपस्थित होनेसे (किञ्चन न करोति) कुछ नही करता है। (ईश) हे भगवन् ! (यः 'त्वम्') जो आप (प्रवर्तमानक्षणगोचर. अस्ति) वर्तमान क्षणके विषय है (सः 'त्वम्') वह आप (नून) निश्चित ही (अर्थक्रियया) अर्थक्रियासे (युज्यते) युक्त है।

भावार्थ—'अर्थक्रियाकारित्वं हि वस्तुनः स्वरूपम्' इस लक्षणके अनुसार जो अर्थक्रियाकारी होती है वही वस्तु कहलाती है। भूत भविष्यत् और वर्तमान काल की अपेक्षा वस्तु तीन रूपमे विभक्त है। इनमे जो भूत है अर्थात् गत हो चुका है वह गत हो जानेके कारण कुछ करनेमे समर्थ नही है और जो भविष्यत् है अर्थात् आगे होनेवाला है वह अनुपस्थित होनेसे कुछ नही कर

सकता । शेष रहा वर्तमान, सो वही अर्थ क्रियासे युक्त होता है। इसप्रकार हे भगवन् ! आप **वर्तमान क्षणरूप होनेसे अर्थक्रियाकारी वस्तु है** ॥७॥

क्षणक्षयस्थेषु कणेषु संविदो न कार्यकालं कलयेद्धि कारणम् ।
तथापि पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणैर्हठाद्धृता कारणकार्यता त्वयि ॥८॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (हि) निश्चयसे (क्षणक्षयस्थेषु संविद कणेषु) क्षणस्थायी चिदशोमे (कारण) कारण (कार्यकाल) कार्यके काल को (न कलयेत्) नही प्राप्त करता है (तथापि) तो भी (पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणै) पूर्व और उत्तरकालमे रहनेवाले चिदशोके द्वारा (हठात्) हठपूर्वक (त्वयि) आपमे (कारणकार्यता) कारण-कार्यभाव (धृता) धारण किया गया है।

भावार्थ—पूर्वक्षणवर्ती चिदश कारण और उत्तरक्षणवर्ती चिदश कार्य माना जाता है क्योकि पूर्वक्षणवर्ती चिदश ही उत्तरक्षणमे कार्यरूप परिणत होता है। परन्तु पूर्वक्षणवर्ती चिदश जब पूर्वक्षणमे ही नष्ट हो जाता है तब वह उत्तरक्षणवर्ती चिदंश का कारण कैसे हो सकता है ? इसप्रकार क्षणस्थायी चिदशोकी अपेक्षा यद्यपि आपमे कारण-कार्यपना सिद्ध नही होता है तथापि उन क्षणस्थायी चिदशोके पूर्वोत्तरक्षणवर्ती चिदशोमे हठपूर्वक कारणकार्यपना अवस्थित है ॥८॥

गलत्यबोधः सकले कृते बलादुपर्युपर्युद्यति चाकृते स्वयम् ।
अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे तवैष निर्वाणमितोऽन्त्यचित्क्षणः ॥९॥

अन्वयार्थ—(सकले) सम्पूर्णरूपसे (अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे कृते) अनादिकालीन रागाग्निके शान्त होनेका क्षण उपस्थित होनेपर (अबोध.) अज्ञान (गलति) नष्ट होता है (च) और अनादिकालीन रागाग्निके शान्त होनेका क्षण (अकृते) अनुपस्थित होनेपर (अबोध) अज्ञान (बलात्) बलपूर्वक (स्वय) अपनेआप (उपर्युपरि) ऊपर ऊपर (उद्यति) उठता है—वृद्धिको प्राप्त होता है। इसप्रकार अज्ञानके नष्ट हो जानेपर (तव) आपका (एष) यह (अन्त्यचित्क्षण:) अन्तिम चिदश (निर्वाणम्) मोक्ष को (इत) प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—निर्वाण प्राप्तिका क्रम यह है कि पहले अनादिकालीन रागरूप अग्निको सम्पूर्ण रूपसे शान्त किया जावे। उसके शान्त होने ही अज्ञान स्वय नष्ट हो जाता है और उसके शान्त न होनेपर अज्ञान नष्ट न होकर वृद्धिको प्राप्त होता है। इसप्रकार रागक्षय, अज्ञान निवृत्ति का कारण है और अज्ञाननिवृत्ति निर्वाणका कारण है। दशम गुणस्थानके अन्तमे रागका सर्वथा क्षय हो जानेपर यह जीव बारहवें गुणस्थानमे पहुँचता है वहाँ अन्तमुर्हूर्त रुक कर शुक्लध्यानके द्वितीय भेदके प्रभावसे ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मोका एक साथ क्षय कर तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन कोटिवर्ष पूर्व व्यतीत कर चौदहवें गुणस्थानमे पहुंचता है और वहा लघु अन्तर्मुहूर्त तक ठहरकर अन्त समयमे निर्वाणको प्राप्त होता है। उपादान कारणकी अपेक्षा विचार करनेपर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय कार्य और पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उपादान कारण होती है इसतरह अन्तिम क्षणवर्ती जो चिदंश है वही निर्वाणको प्राप्त होता है ॥९॥

प्रदीपवन्निर्वृतिमागतस्य ते समस्तमेवागमदेकशून्यताम् ।
न साहसं कर्म तवेति कुर्वतो मम प्रभो जल्पत एव साहसम् ।।१०।।

अन्वयार्थ—(प्रदीपवत्) दीपकके समान (निर्वृतिमागतस्य) निर्वाण को प्राप्त हुए (ते) आपके (समस्तमेव) अज्ञान तथा रागादिक सभी विकार (एकशून्यताम्) एक शून्यता को (अगमत्) प्राप्त हुए थे। (प्रभो) हे नाथ! (इति) इसप्रकारका आश्चर्यजनक (कर्म) कार्य (कुर्वतः) करते हुए (तव) आपको (साहसं न) साहस नही करना पड़ा किन्तु (मम) मुझे (जल्पत एव) कहते हुए ही (साहसम्) साहस करना पड रहा है।

भावार्थ--प्रदीपवत् निर्वाणकी मान्यता बौद्धदर्शनमें भी आती है परन्तु वहाँ इस मान्यता का यह अर्थ किया गया है कि जिस प्रकार दीपक बुझनेपर न किसी दिशाको जाता है, न विदिशा मे जाता है, न अन्तरीक्षमे जाता है और न भूमिके भीतर जाता है किन्तु स्नेह—तैल का क्षय हो जानेसे वही शान्त हो जाता है उसीप्रकार निर्वाण होनेपर आत्मा दिशा विदिशा अन्तरीक्ष अथवा भूमिके भीतर कही नही जाता, किन्तु क्लेशो का क्षय होनेसे वही समाप्त हो जाता है। इसप्रकार आत्माके उच्छेद को बौद्धदर्शनमे निर्वाण माना गया है। यहाँ उपर्युक्त अर्थमे प्रदीपवन्निर्वाण की व्याख्या नही है यहाँ इतनी ही व्याख्या है कि जिसप्रकार स्नेह—तेलके क्षयसे दीपक शान्त हो जाता है उसी प्रकार स्नेह—रागभावके क्षयसे आत्मा शान्त हो जाता है। हे भगवन्! इन रागादिक विकारी भावों को नष्ट करनेके लिये आपने जो उग्र तपश्चरणादि कार्य किये है उनके करनेमे आपको साहस नही करना पड़ा? आत्मबलकी बहुलतासे वे कार्य अनायास हो गये, परन्तु मुझे उन कार्योको कहते हुए भी साहस करना पड़ रहा है।।१०।।

विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो व्रजन्निहार्थक्रियया समागमम् ।
त्वमेक एवाप्रतिषेधवैभवः स्वयं हि विज्ञानघनोऽवभाससे ।।११।।

अन्वयार्थ—(इह) इस ससारमें जो (अर्थक्रियाया) अर्थ क्रियाके द्वारा (समन्ततः) सब ओरसे (विचित्ररूपाकृतिभिः) नानारूपवाली आकृतियोके साथ (समागमं) समागम को (व्रजन्) प्राप्त हो रहे है, (अप्रतिषधवैभव) जो अप्रतिहत वैभवके धारक है और (विज्ञानघन) वीतराग विज्ञानसे परिपूर्ण है ऐसे (त्वम्) आप (एक एव) एकही (हि) निश्चयसे (स्वयं) (अवभाससे) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अन्तर्ज्ञेयो की अपेक्षा नानाज्ञेयाकृतियोके समागम को प्राप्त हो रहे है अर्थात् आपके दिव्यज्ञानमे नानाज्ञेयों की आकृतियाँ प्रतिफलित हो रही है आपके वैभव का कोई निषेध नही कर सकता है तथा वीतराग विज्ञान—केवलज्ञानसे आप परिपूर्ण है। आपकी ऐसी परिणति आत्मद्रव्य की योग्यतासे स्वय प्रकट हुई है।।११।।

न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो बहिर्विचित्राकृतिरेक एव सन् ।
स्वयं हि कुर्वन् जलधारणादिकं त्वमीश कुम्भादितयावभाससे ।।१२।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन्! (बोधतो बहिः) ज्ञानके बाहर (किञ्चनापि) कुछ भी (न प्रतिभाति) नही प्रतिभासित होता है अर्थात् अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा सब ज्ञानके ही परिणमन है (त्वम्

एक एव) आप एक ही (विचित्राकृतिः सन्) विचित्र आकृतिरूप होते हैं तथा (स्वयं) स्वयं ही (हि) निश्चयसे (जलधारणादिक कुर्वन्) जलधारण आदि कार्य करते हुए (कुम्भादितया) कुम्भ आदिरूप से (अवभाससे) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—बौद्धसंमत ज्ञानाद्वैतका निराकरण कर यहाँ जैनसंमत ज्ञानाद्वैतका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञानके बाहर कुछ भी नही है। जिस प्रकार दर्पणमे प्रतिबिम्बित मयूर आदि, दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार ज्ञानमें प्रतिफलित संसारके समस्त पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं। हे ईश ! जिस प्रकार बाह्य घट जलधारणादि क्रिया करता है उसी प्रकार अन्तर्घट भी जलधारणादि क्रिया करता है अर्थात् घटकी जलधारणरूप परिणति ज्ञानमे भी आती है और उस परिणतिके कारण हो ज्ञानको घटादिरूप कहा जाता है ॥१२॥

स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम् ।
त्वयीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो किमर्थं बहिरर्थसाधनम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (हि) निश्चयसे (भवान्) आप (स्वय) स्वयं (कुम्भादितया) घटादि-रूप (न भवेत्) न हों अर्थात् घटादिक आपके ज्ञानमे प्रतिफलित न हो तो (कि) क्या (बहिरर्थ-साधनम्) बाह्य घटादिकी सिद्धि (भवेत्) हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। (ईश) हे नाथ ! (त्वयि) आप जब स्वयं (कुम्भादितया) घटादिरूपमे (स्थिते) विद्यमान है तब (प्रभो) हे प्रभो ! (बहिरर्थसाधनम्) बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि (किमर्थं) किसलिये है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आप अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा घटादिरूप परिणत होते है तभी घटा-दिक बाह्य ज्ञेयोकी सिद्धि होती है, क्योंकि जो पदार्थ आपका अन्तर्ज्ञेय नही है वह बाह्य ज्ञेय भी नही है। जैसे खर विषाण आपका अन्तर्ज्ञेय नही है तो बाह्यमे भी उसकी सिद्धि नही है। यतश्च अन्तर्ज्ञेय, ज्ञानकी ही परिणति है अतः ज्ञानाद्वैतका सिद्धान्त ठीक है, ऐसा एकान्त भी नही है क्योकि अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा घटादिकके रहनेपर भी फिर बाह्य ज्ञेयकी क्या आवश्यकता रह जाती है ? उसकी निरर्थकता सिद्ध होती है, परन्तु परमार्थसे निरर्थकता नही है, क्योकि जलधारणादिक कार्य बाह्य घटादिकसे ही संपन्न होते हैं। भोजन, अन्तर्ज्ञेय बनकर ज्ञानकी परिणति कही जा सकती है पर उससे किसीकी क्षुधा निवृत्ति नही हो सकती। क्षुधानिवृत्तिके लिये बाह्य भोजनका अस्तित्व आवश्यक है। इसलिये ज्ञानाद्वैतका एकान्त जैनसिद्धान्तको स्वीकृत नही है ॥१३॥

त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात् समस्तमेतज्जडतां परित्यजत् ।
अभिन्नवैचित्र्यमनन्तमर्थकृत् पृथक् पृथग्बोधतयाऽवभासते ॥१४॥

अन्वयार्थ—(त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात्) आपके एक विज्ञानघनमे समागत होनेसे जो (जडता परित्यजत्) जडता—अचेतनताका परित्याग कर रहा है, (अभिन्नवैचित्र्य) जिसने अपनी विचित्रता—विविधरूपताको नही छोड़ा है, (अनन्तं) जिसका अन्त नही होता है और जो (पृथक्-पृथक्) पृथक् पृथक् (अर्थकृत्) अर्थक्रियाकारी है ऐसा (एतत् समस्त) यह समस्त जगत्—समस्त पदार्थोंका समूह (बोधतया) ज्ञानरूपसे (अवभासते) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके केवलज्ञानमे जितने चेतन-अचेतन पदार्थ अन्तर्ज्ञेय बनकर प्रतिफलित हो रहे हैं वे सब चेतनरूप ही हैं अर्थात् चेतन पदार्थ तो चेतन हैं ही किन्तु अचेतन

पदार्थ भी अपनी जडताको छोडकर चेतनताको प्राप्त होते है । परन्तु आपके अन्तर्ज्ञेय होनेपर भी चेतन अचेतन पदार्थ अपनी विचित्रताको नही छोड़ते हैं, सब अन्तसे रहित हैं और सभी अपना अपना अर्थक्रियाकारित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं । मात्र ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होनेसे ज्ञानरूप प्रतीत होते हैं । यहाँ 'सब चैतन्यरूप ही हैं' इस एकान्तका निराकरण करते हुए आचार्यने कहा है कि आपके ज्ञानमें आनेसे यद्यपि समस्त पदार्थ जडताको छोड़कर चेतनरूप प्रतीत होते हैं तथापि इतने मात्र से वे चैतन्यरूपताको प्राप्त नही हो जाते, क्योंकि वे अपनी अपनी विचित्रता और अर्थक्रिया-कारिताको छोड़ते नही है । बहिर्ज्ञेयकी अपेक्षा सब चेतन अचेतन पदार्थ अपना अपना पृथक् अस्तित्व रखते है और तदनुरूप ही उनमे अर्थक्रियाकारित्व रहता है ।।१४।।

त्वयीश विज्ञानघनौघघस्मरे स्फुटीकृताशेषविशेषसम्पदि ।
स्फुरत्यभिव्याप्य समं समन्ततो बलात् प्रवृत्तो बहिरर्थनिह्नवः ।।१५।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे प्रभो ! (विज्ञानघनौघघस्मरे) जो विज्ञानघनरूप होनेसे अपने आपमें सबको निमग्न करनेवाले है तथा (स्फुटीकृताशेषविशेषसम्पदि) जिसमे समस्त विशिष्ट पदार्थ स्फुटीकृत हैं—पृथक् पृथक् भासमान है ऐसे (त्वयि) आपके (समं) सबको (समन्तत.) सब ओरसे (अभिव्याप्य) प्राप्त कर (स्फुरति 'सति') स्फुरित होनेप॰ (बहिरर्थनिह्नव) बाह्य पदार्थोंका निह्नव (बलात्) हठपूर्वक (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ है ।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानाद्वैतवादीके एकान्तका निराकरण करते हुए कहा गया है कि हे प्रभो ! यत आपके विज्ञानघनमें समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड रहे हैं अत. सभी पदार्थ आपके अन्तर्ज्ञेय बन रहे है इस अपेक्षासे बहिरर्थनिह्नव है, बाह्य पदार्थोंका अभाव होनेकी अपेक्षा नही ।।१५।।

तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते प्रभो परापोहतया विभासि यत् ।
परस्य रूपं तु तदेव यत्परः स्वयं तवापोह इति प्रकाशते ।।१६।।

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभो ! (यत्) जो आप (परापोहतया) परकी व्यावृत्तिसे (विभासि) सुशोभित हो रहे है (तदेव) वही (तव) आपका रूप है अर्थात् परसे व्यावृत्तपना ही आपका वस्तुत्व है (तु) और (पर) पर पदार्थ, (तव अपोह.) 'आपकी व्यावृत्ति है' (इति) इस रूपसे (यत्) जो (प्रकाशते) प्रकाशित होता है (तदेव) वही (परस्य रूपम्) परका रूप है ।

भावार्थ—परसे पृथक्पना आपका स्वरूप है और आपसे पृथक्पना परका स्वरूप है । बौद्ध-दर्शनमे अन्यापोहके द्वारा वस्तुकी व्यवस्था की गई है । यह अन्यापोह अन्यव्यावृत्तिरूप है जैसे घट, अघट अर्थात् पटादिसे व्यावृत्तिरूप है और पट, अपट अर्थात् घटादिसे व्यावृत्तिरूप है । इस तरह अन्यापोह द्वारा बौद्धदर्शनमे वस्तुके स्वरूपका कथन किया गया है । यहाँ आचार्य महोदयने उसी अन्यापोहको दृष्टिमे रखकर कहा है कि आप परकी व्यावृत्तिरूप हैं और पर आपकी व्यावृत्तिरूप हैं । जैनदर्शनमे स्याद्वादकी दृष्टिसे इस प्रकारका कथन किया जा सकता है, उसमे कोई विरोध नही है ।।१६।।

अभाव एवैष परस्पराश्रयो व्रजत्यवश्यं स्वपरस्वरूपताम् ।
प्रभो परेषां त्वमशेषतः स्वयं भवस्यभावोऽल्पधियामगोचरः ।।१७।।

अन्वयार्थ—(एषः) यह (परस्पराश्रयः) परस्परके आश्रय रहनेवाला (अभाव एव) अभाव ही (अवश्यं) अवश्यरूपसे (स्वपररूपना) निज और पररूपताको (व्रजति) प्राप्त होता है अर्थात् निजमे परका अभाव होना निरूपता है और परमें निजका अभाव होना पररूपता है। (प्रभो) हे भगवन् ! (त्व) आप (परेषां) दूसरोके (अशेषतः) सम्पूर्णरूपसे (अभावः भवसि) अभावरूप हैं। आप (अल्पधियामगोचरः) अल्पबुद्धियोंके अविषय हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! एक पदार्थकी दूसरे पदार्थमे जो व्यावृत्ति है उसे अन्यापोह कहते है। इस अन्यापोहसे ही पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थिर रहता है आप अन्य पदार्थों के पूर्णत स्वय अभावरूप है। यह अल्पबुद्धि वालोके लिये जाननेमे नही आता ॥१७॥

इतीदमत्यन्तमुपप्लवावहं सदोद्यतस्यान्यदपोहितुं तव ।
स्फुरत्यपोहोऽयमनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभिद् विपश्चिताम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (अत्यन्तं) अत्यधिक (उपप्लवावहं) उपद्रवको धारण करने वाले (इदं) इस (अन्यत्) अन्य पदार्थके (अपोहितु) अपोह करनेके लिये (सदोद्यतस्य) निरन्तर तत्पर रहनेवाले (तव) आपका (अयं) यह (अपोह) अन्यापोह (स्फुरति) प्रकट होता है। यह अन्यापोह (विपश्चिता) विद्वानोके (अनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभित्) अनादि सन्ततिसे चले आये तीव्रभ्रमको भेदनेवाला है—नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—बौद्धदर्शनके द्वारा स्वीकृत अपोहवादका निराकरण करते हुए यहाँ यथार्थ अपोहवादका निरूपण किया गया है। विज्ञानघनस्वभावसे अतिरिक्त अन्य कर्म नोकर्म आदि पदार्थो से आत्माको पृथक् अनुभव करना ही सच्चा अपोहवाद है। यह अपोह, ज्ञानी जनोके अनादि-कालीन विभ्रम-मिथ्याबुद्धिको तत्काल नष्ट कर देता है ॥१८॥

परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः परे न काञ्चिज्जनयन्ति विक्रियाम् ।
त्वमेक एव क्षपयन्नुपप्लवं विभोऽखिलापोहतयाऽवभाससे ॥१९॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो ! (परस्परापोहतया) परस्परके अपोहरूपसे (त्वयि) आपमें (स्थिताः) स्थित रहनेवाले (परे) अन्य पदार्थ (काञ्चित् विक्रिया) किसी विकारको—विक्रियाको (न जनयन्ति) नही उत्पन्न करते हैं (उपप्लव) उपप्लवको (क्षपयन्) नष्ट करते हुए (त्वमेक एव) आप एक ही (अखिलापोहतया) समस्त पदार्थोके अपोहरूपसे (अवभाससे) सुशोभित होते है।

भावार्थ—आपमे जो कर्म नोकर्मरूप अन्य पदार्थ स्थित है वे परस्परके अपोह रूपसे स्थित है अर्थात आप, कर्ममे स्थित नही हैं और कर्म, आपमें स्थित नही है—दोनो ही अपने अपने गुण पर्यायोमे स्थित है। इसप्रकारसे स्थित पर पदार्थ कुछ भी विकार उत्पन्न करनेमे समर्थ नही है। समस्त उपद्रवोंको नष्ट करते हुए आप एक ही समस्त पदार्थोंसे अपने आपको दूर अनुभव करते हैं ॥१९॥

गतं तवापोहतया जगत्त्रयं जगत्त्रयापोहतया गतो भवान् ।
अतो गतस्त्वं सुगतस्तथागतो जिनेन्द्र साक्षादगतोऽपि भाससे ॥२०॥

अन्वयार्थ—(तव) आपके (अपोहतया) अपोहरूप होनेसे (जगत्त्रय) तीनों लोक (गतं) गत है और (जगत्त्रयापोहतया) तीनों लोकोंकी अपोहरूपतासे (भवान् गत·) आप गत है (अत:) इसलिये (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र ! आप (साक्षात्) साक्षात् रूपसे (अगतोऽपि) अगत होते हुए भी (गतः सुगतः तथागतः) गत, सुगत और तथागत (भाससे) भासित होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपसे व्यावृत्तरूप होनेके कारण तीनो लोक गत है अर्थात् आपसे पृथक् हैं और आप तीनो लोकोसे व्यावृत्तरूप होनेके कारण गत है अर्थात् आपसे भिन्न हैं इसलिये आप गत, सुगत और तथागत हैं परन्तु परमार्थसे आप अगत ही है क्योंकि आप अपने ज्ञायकस्वभावसे हटकर कही गये नही हैं ॥२०॥

समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु सत् प्रसह्य निह्नुत्य निरंकुशा सती ।
न किञ्चिदस्तीति समस्तशून्यतामुपेयुषी संविदिहावभासते ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अन्तश्च बहिश्च) भीतर और बाहर (सत्) विद्यमान (समन्त) समस्त वस्तुका (प्रसह्य) हठपूर्वक (निह्नुत्य) अपलाप कर जो (निरंकुशा सती) निरंकुश—स्वच्छन्द हो रही है तथा (किञ्चित् नास्ति) कुछ नही है (इति) इस प्रकारकी (समस्तशून्यताम्) समस्त शून्यताको जो (उपेयुषी) प्राप्त है ऐसी (संवित्) ज्ञानकी धारा (इह) इस लोकमे (अवभासते) प्रतिभासित है ।

भावार्थ—शून्याद्वैतवादी बौद्धोका कहना है कि इस जगत्मे भीतर और बाहर कुछ भी नही है सब शून्य ही शून्य है । यहाँ स्तुतिकार अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनोको इसलिये शून्य प्रकट करते है कि वे दोनो ज्ञानमे समाविष्ट हैं । ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी प्रतिभासित नही होता । इसी दृष्टिसे शून्याद्वैतवादी बौद्धोका मत स्वीकार न कर स्याद्वाददृष्टिसे उसका यथार्थरूप प्रकट किया है ॥२१॥

उपप्लवायोच्छलिताः समं बलात् किलेश शून्यं परिमार्ष्टि कल्पनाः ।
क्व किं कियत् केन कुतः कथं कदा विभातु विश्वेऽस्तमिते समन्ततः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (किल) निश्चयसे (शून्य) शून्य (उपप्लवाय) उपद्रवके लिये (उच्छलिता) उछलती हुई (कल्पनाः) कल्पनाओको (समं) एक साथ (बलात्) हठ पूर्वक (परिमार्ष्टि) साफ कर देता है, क्योकि (समन्तत·) सब ओरसे (विश्वे अस्तमिते सति) विश्व—समस्त ससारके अस्तमित हो जानेपर (किं) कौन वस्तु (क्व) कहाँ (कियत्) कितने परिमाणवाली (केन) किसके द्वारा (कुत·) कहाँसे (कथं) कैसे और (कदा) कब (विभातु) सुशोभित हो ?

समस्तमेतद्भ्रम एव केवलं न किंचिदस्ति स्पृशतां विनिश्चयात् ।
पिपासवोऽमी मृगतृष्णिकोदकं श्रयन्ति नूनं प्रतिमामृगाः श्रमम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(एतत् समस्त) यह सब (केवलं) मात्र (भ्रम एव) भ्रम ही है (विनिश्चयात्) निश्चयसे (स्पृशताम्) स्पर्श करने वालोंके लिये (किञ्चित् नास्ति) कुछ भी नही है । (मृगतृष्णिकोदकं) मृगतृष्णारूप जलको (पिपासव.) पीनेके लिये इच्छुक (अमी) ये (प्रतिमामृगा·) मृगतुल्य प्राणी (नूनं) निश्चयसे (श्रमं श्रयन्ति) खेदको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—यहाँ भी शून्य सिद्धान्तका स्पष्टीकरण किया गया है। आगे इस शून्याद्वैत-सिद्धान्तका निराकरण करते हैं ॥२३॥

इतीदमुच्चावचमस्तमामृशत् प्रसह्य शून्यस्य बलेन सर्वतः।
न किञ्चिदेवात्र विभोऽवशिष्यते न किञ्चिदस्तीत्यवशिष्यते मुधीः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (इदं) इस शून्याद्वैतके सिद्धान्तने (उच्चावचं) ऊँची-नीची समस्त वस्तुओंको (प्रसह्य अस्तम् आमृशत्) बलपूर्वक नष्ट कर दिया है। (विभो) हे प्रभो! (शून्यस्य बलेन) उपर्युक्त शून्य सिद्धान्तके बलसे (सर्वत.) सभी ओर (अत्र) इस संसारमें (किञ्चिदेव) कुछ भी (न अवशिष्यते) शेष नही रहता है (तु) और (किञ्चित् अस्ति) कुछ है ऐसी (धीः) बुद्धि भी (नावशिष्यते) शेष नही रहती है।

भावार्थ—हे प्रभो! शून्याद्वैतका सिद्धान्त प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओका अपलाप करने वाला है ॥२४॥

न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा स वेत्ति निर्निक्ततमं न किञ्चन।
असीमविश्वास्तमयप्रमार्जिते प्रवेश्य शून्ये कृतिनं कुरुष्व माम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस पुरुषकी (विश्वास्तमयोत्सवे) समस्त वस्तुओंके अस्तरूप उत्सवमे (स्पृहा) इच्छा (न) नही है अर्थात् अन्तर्बहिर्ज्ञेयके विकल्पसे शून्य मात्र ज्ञानके अस्तित्वमे रुचि नही हैं (सः) वह (निर्निक्ततमं किञ्चन) अत्यन्त शुद्ध किसी तत्त्वको नही (न वेत्ति) नही जानता है। हे भगवन्! आप (अनन्तविश्वास्तमयप्रमार्जिते) अनन्त विश्व—समस्त पदार्थोंके अस्तमयभावसे साफ किये हुए—अतिशय निर्मल किये हुए (शून्ये) शून्यमे (प्रवेश्य) प्रवेश कराकर (मा) मुझे (कृतिनं) कृतकृत्य (कुरुष्व) कीजिये।

■

ॐ

(२१)

वंशस्थवृत्तम्

सुनिस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतो निरन्तरोत्सर्पमुपर्युपर्यमू ।
विमोहयन्त्योऽन्यमनन्यगोचराः स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभूमयः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपकी (सुनिस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतः) आत्मारूप परम-शुद्ध मूलकारणसे (उपर्युपरि) ऊपर ऊपर (निरन्तरोत्सर्पं) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुईं (अमूः) वे (अनन्ताः) अनन्त (तत्त्वभूमयः) तत्त्वभूमियाँ-आत्मपरिणतियाँ (स्फुरन्ति) प्रकट हो रही हैं जो (अन्य विमोहयन्त्यः) अन्य मिथ्यादृष्टि जीवोको विमोहमें डालने वाली हैं तथा (अनन्यगोचराः) अन्य—मिथ्यादृष्टि पुरुषोंमे नही पायी जाती।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप निरन्तर ऊँचे उठते हुए, जो उपरितन गुणस्थानों को प्राप्त हुए हैं उसमे मूलकारण आत्माकी उच्चकोटि की विशुद्धता है। उसके बिना इस अरहन्त अवस्थाको प्राप्त करना कठिन है। यहाँ आत्मा को निस्तुषान्तावधि कहा है उसका तात्पर्य यह है कि जिसकी अन्तिम पर्याय—सिद्धावस्था तुष-छिलकेके समान कर्म और नोकर्मसे रहित है वह आत्मा है। हे प्रभो ! आपको जा अनन्त परिणतियाँ हैं वे दूसरो को विभ्रममे डालने वाली है तथा दूसरोके अगोचर है। आपकी आत्मविशुद्धिके कारण आपमे ही उनका विकास हुआ है ॥१॥

यदि स्वयं नान्त्यविशेषतां व्रजेस्तदा न सामान्यमिदं तवादिमम् ।
स्थिताः स्वशक्त्योभयतोऽपि धावतस्तवेत्यनन्ताः परिणामभूमिकाः ॥२॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो (यदि) यदि आप (स्वयं) स्वय (अन्त्यविशेषता) अन्तिम पर्यायको (न व्रजेः) प्राप्त नही हैं (तदा) तो (तव) आपका (इद) यह (सामान्य) द्रव्य भी (आदिमं) आदि-युक्त (न) नही है (इति) इस प्रकार (स्वशक्त्या) अपनी शक्तिसे (उभयतः अपि) द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेष—दोनो की ओर (धावतः) प्रवृत्त होनेवाले (तव) आपकी (अनन्ता) अनन्त (परिणामभूमिकाः) पर्यायो की भूमिकाएँ (स्थिता) विद्यमान है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य-पर्यायात्मक है। द्रव्य की अपेक्षा आपकी आदि नही हैं और पर्याय की अपेक्षा आपका अन्त नही हैं। यद्यपि संसार की दृष्टिसे अरहन्त पर्याय अन्तिम पर्याय है तथापि जब क्षण-क्षणव्यापी पर्याय की अपेक्षा विचार होता है तब आपकी पर्यायों का भी अन्त नही है। द्रव्य और पर्याय दोनो साथ रहते हैं। ऐसा अवसर नही आता जब द्रव्य, किसी न किसी पर्यायसे सहित न हो। आप अपनी शक्तिसे द्रव्य और पर्याय—दोनोका आलम्बन लेकर प्रवर्तमान हैं अतः आपकी पर्यायरूप अनन्त भूमिकाएँ स्वतः सिद्ध है।

इस पद्य द्वारा आचार्यने आत्मा की सामान्य विशेषरूपता सिद्ध की है क्योंकि विशेषके बिना सामान्य, और सामान्यके बिना विशेष का अस्तित्व सिद्ध नहीं है ॥२॥

अखण्डितद्रव्यतया त्वमेकतामुपैषि पर्यायमुखादनेकताम् ।
त्वमेव देवान्तिमपर्ययात्मना सुनिस्तुषांशः परमोऽवभाससे ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे प्रभो ! (त्वम्) आप (अखण्डितद्रव्यतया) अखण्ड द्रव्यकी अपेक्षा (एकताम्) एकत्व को और (पर्यायमुखात्) पर्याय की अपेक्षा अनेकत्व को (उपैषि) प्राप्त होते हैं। तथा (अन्तिमपर्यायात्मना) ससार सम्बन्धी अन्तिम पर्याय की अपेक्षा (परमः सुनिस्तुषांशः) परम शुद्धात्मरूप (अवभाससे) सुशोभित है।

भावार्थ—जब द्रव्यस्वरूप की अपेक्षा आपका विचार करते हैं तब आप एक जान पडते हैं और कालक्रमसे होने वाली अनन्त पर्यायों की अपेक्षा जब विचार किया जाता है तब आप अनेक प्रतीत होते हैं। हे देव ससार सम्बन्धी पर्यायोमे आपकी यह अन्तिम पर्याय है। इसके बाद आपको ससार की दूसरी पर्याय नही धारण करना है। इस अन्तिम पर्याय की अपेक्षा आप परमात्मा संज्ञा को प्राप्त है। अरहन्त अवस्थामे शरीर सहित होनेसे यद्यपि आप सकल परमात्मा कहलाते है तथापि अनन्तचतुष्टयकी अपेक्षा निष्कल परमात्मा—सिद्धपरमेष्ठीसे आपमे कोई न्यूनता नही है। आप निष्तुष—निष्कल परमात्माके अश ही है यहा एकत्व और अनेकत्व इन दो विरोधी धर्मोका समन्वय करते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है ॥३॥

त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा तदा प्रणश्यन्ति विशेषणानि ते ।
विशेषणानां विरहे विशेष्यतां विहाय देवास्तमुपैषि निश्चितम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (यदि त्वम्) यदि आप (सर्वथा) सब प्रकार से (एकता) एकत्व को (यासि) प्राप्त होते है (तदा) तो (ते) आपके (विशेषणानि) विशेषण (प्रणश्यन्ति) नष्ट हो जाते है और (विशेषणाना विरहे) विशेषणोका अभाव होनेपर (देव) हे देव ! आप (विशेष्यता) विशेष्यताको (विहाय) छोड़कर (निश्चित) निश्चितरूपसे (अस्तमुपैषि) अस्तको प्राप्त होते है।

भावार्थ—ऊपर द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा एकत्व तथा अनेकत्वकी सगति कर यहाँ विशेष्य और विशेषणकी अपेक्षा उनकी सगति बैठाते है। हे भगवन् ! आप विशेष्यकी अपेक्षा एक है और विशेषणोकी अपेक्षा अनेक है। इसके विपरीत यदि आप सर्वथा एकत्वको प्राप्त होते है तो आपके नाना विशेषण नष्ट हो जाते है और जब नाना विशेषण नष्ट हो जाते है तो उनका आधारभूत विशेष्य भी नष्ट हो जाता है। अत विशेष्य और विशेषणोकी अपेक्षा आप एक तथा अनेकरूपता को प्राप्त है ॥४॥

ध्रुवं तव द्वयात्मकतैव यद् भवान् स्वयं विशेष्योऽपि विशेषणान्यपि ।
विशेष्यरूपेण न यासि भिन्नतां पृथक् पृथक् भासि विशेषणश्रिया ॥५॥

अन्वयार्थ—(ध्रुवं) निश्चित ही (तव) आपके (द्वयात्मकतैव) एकानेकरूपता है (यत्) क्योंकि (भवान्) आप (स्वय) स्वयं (विशेष्योऽपि) विशेष्य होते हुए भी (विशेषणान्यपि) विशेषण भी हैं। आप

(विशेष्यरूपेण) विशेष्यरूपसे (भिन्नता न यासि) भिन्नताको प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु (विशेषण-श्रिया) विशेषणरूप लक्ष्मीके कारण (पृथक्-पृथक्) पृथक्-पृथक् (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें विशेष्य और विशेषणकी अपेक्षा जो एकानेकरूपता कही गई थी उसीका इस श्लोकमे समर्थन किया गया है। साथ ही विशेष्य और विशेषणकी अपेक्षा भेदाभेद रूपताका भी निर्देश किया गया है ॥५॥

विभो विशेष्यस्य तवाविशेषतो विशेषणानामविशेष एव न।
त्वया समं यान्ति न तानि भिन्नतां परस्परं भिन्नतयैवमीशते ॥६॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्! (विशेष्यस्य तव) विशेष्यरूप आपकी (अविशेषत.) अविशेषतासे (विशेषणाना) विशेषणोमे (अविशेषः) अविशेषता (नैव) नही है क्योकि (तानि) वे विशेषण (त्वया सम) आपके साथ (भिन्नता न यान्ति) भिन्नताको प्राप्त नही है परन्तु (एव) इस तरह (परस्पर) परस्परमे वे (भिन्नतया) भिन्नरूपसे (ईशते) अपना प्रभुत्व रखते है।

भावार्थ—यहाँ विशेषणोंमे भेदाभेदकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे प्रभो! विशेष्यरूपताको धारण करनेवाले आपमें भी अविशेष—अभेद है उससे विशेषणोमे अविशेष–अभेद सिद्ध नही होता। क्योकि वे आपके साथ यद्यपि अभेदको प्राप्त होते है तथापि परस्पर भेदरूप ही हैं अर्थात् एक विशेषण दूसरे विशेषणसे भिन्न ही है। अन्यथा उन विशेषणोकी नानारूपता सिद्ध न होकर एकरूपता ही सिद्ध होती है ॥६॥

विभाति वृत्तिं न विनैव वृत्तिमान् न चास्ति वृत्तिः क्रममन्तरेण सा।
विगाह्य नित्यक्षणिकान्तरं महल्लसन्त्यनन्तास्तव कालपर्ययाः ॥७॥

अन्वयार्थ—(वृत्तिमान्) वर्तनाका आधारभूत द्रव्य (वृत्ति विना) वर्तनाके बिना (नैव विभाति) सुशोभित नही होता (च) और (सा वृत्तिः) वह वर्तना (क्रममन्तरेण) क्रमके बिना (नास्ति) नही होती है। इस प्रकार (तव) आपकी (अनन्ताः कालपर्यया.) कालद्रव्यकी अपेक्षा होनेवाली अनन्त पर्यायें (महत् नित्यक्षणिकान्तरं) नित्य और क्षणिकके महान् अन्तरका (विगाह्य) अवगाहन कर (लसन्ति) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ—कालद्रव्यके अपेक्षासे पदार्थमें जो प्रतिसमय वर्तना होती है उसे वृत्ति कहते हैं और वह वृत्ति जिसमे पायी जाती है उसे वृत्तिमान् कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार संसारका प्रत्येक पदार्थ वृत्तिमान् कहलाता है। वह वृत्तिमान् पदार्थ, वृत्तिके बिना नही होता है अर्थात् उसमे वृत्ति—वर्तना नियमसे होती है। यह वृत्ति क्रमसे होती है। इस प्रकार कालद्रव्यकी अपेक्षासे आपकी अनन्त वृत्तियाँ उल्लसित हो रही है। इन वृत्तियोंमे पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा एक समयका और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा बहुत कालका अन्तर विद्यमान रहता है ॥७॥

सतो न नाशोऽस्ति न चासदुद्भवो व्ययोदयाभ्यां च विना न किञ्चन।
त्वमीश सन्नेव विवर्तसे तथा व्ययोदयौ ते भवतः स्वयं यथा ॥८॥

अन्वयार्थ—(सतः नाशो न अस्ति) सत्का नाश नही होता (च असदुद्भवः न) और असत् की उत्पत्ति नहीं होती (च व्ययोदयाभ्यां विना किञ्चन न) तथा व्यय और उत्पादके बिना कोई पदार्थ नही है। (ईश) हे नाथ ! (त्वम्) आप (सन् एव) सत्रूप होते हुए ही (तथा विवर्तसे) उसप्रकार परिवर्तन करते हैं (यथा) जिसप्रकार कि (भवत.) आपके (व्ययोदयौ) व्यय और उत्पाद (समं भवतः) साथ ही हो जाते हैं।

भावार्थ—संसारसे सत् पदार्थका कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा सत्का नाश प्रतीत होना है तथापि द्रव्यकी अपेक्षा उसका नाश नही होता है अर्थात् किसी न किसी पर्याय मे वह द्रव्य रहता ही है। इसीप्रकार जो पदार्थ असत् है उसकी कभी उत्पत्ति नही होती। संसारमे ऐसा भी कोई पदार्थ नही है जो उत्पाद और व्ययसे रहित हो अर्थात् सभी पदार्थोमे उत्पाद व्यय होते हैं। हे भगवन् ! आप सत्रूप ही हैं यह निश्चित है और वस्तुस्वभावके कारण आपमे उत्पाद व्यय भी नियमसे होते हैं। यहाँ विरोधाभास यह है कि जब आप सत्रूप है तब आपमें उत्पाद और व्यय कैसे हो सकते हैं ? विरोधाभासका परिहार यह है कि आप द्रव्यकी अपेक्षा सत्रूप ही हैं और पर्यायकी अपेक्षा आपमे उत्पाद व्यय भी एकसाथ हो रहे है ॥८॥

उदीयमानव्ययमानमेव सत् विवर्तशून्यस्य न जातु वस्तुता।
क्षणे क्षणे यन्नवतां न गाहते कथं हि तत्कालसहं भवेदिह ॥९॥

अन्वयार्थ—(उदीयमानव्ययमानमेव सत्) उत्पाद और व्ययसे युक्त ही सत् होता है क्योकि (विवर्तशून्यस्य) उत्पाद व्ययरूप परिवर्तनसे शून्य वस्तुमे (जातु) कभीकी (वस्तुता न) वस्तुपना नही रहता है (हि) निश्चयसे (इह) इस लोकमे (यत्) जो वस्तु (क्षणे क्षणे) क्षण-क्षणमे (नवता) नवीनताको (न गाहते) प्राप्त नहीं होती है (तत्) वह (कालसहं) कालद्रव्य को सहन करनेवाली (कथं भवेत्) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—सत्की परिभाषा ही यही है कि जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सहित हो उसे सत् कहते हैं। सत् ध्रौव्यरूप तो होता ही है परन्तु वह ध्रौव्यरूप सत् उत्पाद व्ययकी भी अपेक्षा रखता है क्योंकि उसके बिना उसका अस्तित्व सुरक्षित नही रह सकता। कालद्रव्यकी सहायतासे वस्तु क्षण-क्षणमे नवीनताको प्राप्त होती रहती है अर्थात् क्षण-क्षणमे नवीन पर्यायको धारण करती रहती है। इसके विपरीत यदि वस्तुको सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जावे तो फिर कालद्रव्यकी उपयोगिता ही क्या रह जाती है ? अर्थात् कुछ नही ॥९॥

क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक् ध्रुवत्वमैक्यं नयते निरन्तरम्।
अनन्तकालं कलयेति वाहयन् विभास्युभाभ्यामयमीश धारितः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे प्रभो ! (क्षणक्षयः) क्षण क्षणमे होनेवाला क्षय (त्वाम्) आपको (पृथक् पृथक्) पृथक् पृथक करता है और (ध्रुवत्वं) ध्रौव्य (निरन्तर) सदा (ऐक्यं नयते) एकत्वको प्राप्त कराता है। (इति कलया) इसप्रकार क्षण-क्षणके द्वारा (अनन्तकाल वाहयन्) अनन्तकालको व्यतीत करते हुए (अयं) यह आप (उभाभ्यां) पृथक्त्व और अपृथक्त्व अथवा एकत्व और अनेकत्व इन दो धर्मोसे (धारितः) धारण किये हुए (विभासि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्षण-क्षमे होनेवाला उत्पाद और व्यय आपको पृथक्-पृथक् सिद्ध करना है और ध्रुवपना एकत्वको प्राप्त कराता है। इसप्रकार उत्पाद और व्यय की अपेक्षा पृथक्त्व अथवा अनेकत्व, और ध्रौव्यकी अपेक्षा अपृथक्त्व अथवा एकत्व–इन दो विरोधी धर्मोंसे आप युक्त हैं ॥१०॥

अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यगादभूदसन्नेव च सिद्धपर्ययः ।
तथापि सन्म्लानिमसद्विसर्पणं विनेश सन्नेव भवान् विभासते ॥११॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (हि) निश्चयसे (तव) आपका (अयं) जो यह (भवः) मनुष्यभव (व्यगात्) व्यतीत हुआ है वह (सन् एव) सत्रूप होता हुआ ही व्यतीत हुआ है (च) और (सिद्धपर्ययः) जो सिद्धपर्याय (अभूत्) हुई है वह (असन् एव) असत् रूप होकर ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार सत्का नाश और असत्की उत्पत्ति सिद्ध होती है (तथापि) तो भी (ईश) हे प्रभो! (भवान्) आप (सन्म्लानि) सत्का नाश और (असद्विसर्पणं) असत्की उत्पत्तिके (विना) बिना (सन् एव विभासते) सत्रूप ही सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—ऊपर जो कहा गया है कि सत्का नाश और असत्की उत्पत्ति नही होती, वह द्रव्यकी अपेक्षा कहा गया है क्योकि किसी विद्यमान द्रव्यका सर्वथा नाश और अविद्यमान द्रव्यकी उत्पत्ति नही होती परन्तु पर्यायकी अपेक्षा विद्यमान पर्यायका ही नाश होता है और अविद्यमान पर्यायकी ही उत्पत्ति होती है। क्रमवर्ती होनेसे आगामी पर्यायका पिछली पर्यायमे अभाव ही रहता है। जैसे किसीने मनुष्य पर्यायके बाद सिद्धपर्याय प्राप्त की ? यहाँ जिस मनुष्य पर्यायका नाश हुआ वह सत् रूप ही थी और जिस सिद्धपर्यायकी उत्पत्ति हुई वह मनुष्यपर्यायमे असत्रूप ही थी। इस तरह यद्यपि पर्यायकी अपेक्षा सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति देखी जाती है तथापि आप सत्के विनाश और असत्की उत्पत्तिके बिना सदा सत्रूप ही रहते है। इसका कारण यह है कि आप न केवल पर्यायात्मक है और न केवल द्रव्यात्मक हैं किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक है अतः पर्यायकी अपेक्षा आपमे उत्पादव्यय सिद्ध होते हैं—सत्का नाश और असत्की उत्पत्ति सिद्ध होती है परन्तु द्रव्यकी अपेक्षा आपका न नाश होता है और न उत्पत्ति—सदा सत्रूप ही रहते है ॥११॥

न भासि सामान्यविशेषवत्तया विभास्यसौ त्वं स्वयमेव तद्द्वयम ।
न वस्तु सामान्यविशेषमात्रतः परं किमप्येति विमर्शगोचरम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(असौ त्वम्) यह आप (सामान्यविशेषवत्तया) सामान्य और विशेषसे युक्त होनेके कारण (न भासि) सुशोभित नही हो रहे है किन्तु (स्वय) स्वय (तद्द्वयमेव) उन दोनों रूप ही—सामान्य-विशेषरूप ही (विभासि) सुशोभित हो रहे है, क्योकि (सायान्यविशेषमात्रत. पर) सामान्य और विशेषमात्रसे अतिरिक्त (किमपि वस्तु) कोई भी वस्तु (विमर्शगोचरम्) विचारके विषयको (न एति) नही प्राप्त होती है।

भावार्थ—धर्म और धर्मी अथवा गुण और गुणीका जब भेदविवक्षासे कथन किया जाता है तब कहा जाता है कि हे प्रभो! आप सामान्य-विशेष धर्मसे सहित हैं परन्तु जब अभेदविवक्षासे उनका कथन होता है तब यह कहा जाता है कि आप स्वयं ही सामान्य-विशेषरूप है। इसका

कारण भी यह है कि अभेदविवक्षामें सामान्य-विशेष धर्मके अतिरिक्त कोई वस्तु है यह बात विमर्शकोटी-विचारकोटीमे नही आती है ॥१२॥

स्वयं समानैरिह भूयते हि यत् तदेव सामान्यमुशन्ति नेतरत् ।
समा विशेषास्तव देव यावता भवन्ति सामान्यमिहासि तावता ॥१३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (इह) इस जगत्मे (समानैः) समान वस्तुओके द्वारा (यत्) जो (स्वयं) अपने आप (भूयते) हुआ जाता है अर्थात् वस्तुओंका जो स्वतःसिद्ध सादृश्य परिणमन है (तदेव) उसे ही (सामान्यम्) सामान्य (उशन्ति) कहते है (इतरत् न) अन्यको नही। (देव) हे भगवन् ! (तव) आपके (विशेषाः) विशेष (यावता) जितने अंशके द्वारा (समाः) समान (भवन्ति) होते हैं (तावता) उतने अंशसे आप (इह) इस लोकमे (सामान्यम् असि) सामान्यरूप है ।

भावार्थ—यहाँ सामान्यका लक्षण बताते हुए आचार्य कहते है कि वस्तुके विशेषोमे जो स्वतःसिद्ध सादृश्य है वही सामान्य कहलाता है। सामान्यका निरुक्त अर्थ ऐसा है 'समानानां भाव सामान्यम्' अर्थात् समान धर्मोका जो भाव है वह सामान्य है। हे भगवन् ! आप सामान्य-विशेषरूप हैं यह ऊपर कह आये है। यहाँ यह बतला रहे है कि आपमे रहनेवाला सामान्य क्या है ? आपमे रहनेवाले विशेषोमे जो साम्य—सादृश्य है वही सामान्य है, उसी सादृश्यके कारण आप सामान्यरूप है ॥१३॥

यथैकतां यासि तथा समानता तथा विशेषाश्च यथा विशिष्यसे ।
स्वविक्रिया भाति तवैव सोभयी न भिन्नसामान्यविशेषभागसि ॥१४॥

अन्वयार्थ—आप (यथा) जिस प्रकार (एकता यासि) एकत्वको प्राप्त होते है (तथा) उसी प्रकार (समानता) समानता है अर्थात् जिसरूपमे आपमे एकत्व है उसीरूपमे आपमे सामान्य धर्म स्थित है (च) और (यथा विशिष्यसे) जिस प्रकार विशेषरूपताको प्राप्त है—(तथा विशेषा) उसी प्रकार विशेषरूप है। (तव) आपकी [या] जो (स्वविक्रिया) अपनी परिणति (भाति) सुशोभित है (सा उभयी एव) वह सामान्य-विशेषरूप ही है क्योंकि आप (भिन्नसामान्यविशेषभाग्) पृथग्वर्ती सामान्य और विशेषसे युक्त नही हैं।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते है कि आपमे एकत्व स्थापित करनेवाला धर्म सामान्य कहलाता है और विशेषता स्थापित करनेवाला धर्म विशेष कहलाता है। यह सामान्य और विशेष्य धर्मरूप परिणति आपकी स्वयं है और उसका कारण है कि ये दोनों धर्म आपसे पृथक् नही है। अर्थात् आप सामान्य-विशेषात्मक ही है ॥१४॥

समा विशेषा भवतो भवन्ति ये व्रजन्ति ते भावमुखात् सामानताम् ।
विशेषरूपेण सदाऽसमानता विभो भवन्ती भवतो न भिद्यते ॥१५॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ ! (भवतः) आपके (ये) जो (विशेषाः) विशेष (समाः) समान-सदृश (भवन्ति) है (ते) वे (भावमुखात्) भावकी अपेक्षा (समानतां) समानताको (व्रजन्ति) प्राप्त होते है (विशेषरूपेण) विशेषरूपसे (सदा) निरन्तर (भवन्ती) रहनेवाली (असमानता) असदृशता (भवतः) आपसे (न भिद्यते) भिन्न नही है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके विशेषोमें जो समानता है वह सत्की अपेक्षा है। परन्तु वे ही विशेष, विशेषकी अपेक्षा असमान भी है। यदि उनमें समानता ही रहे तो उनकी विशेषता ही सुरक्षित नही रह सकती। यह आपकी असमानता भी आपसे भिन्न है क्योकि असमानताका आधार जो विशेष है वह आपसे भिन्न नही है ॥१५॥

समग्रसामान्यमुपैति वस्तुतां न तन्मयद्रव्यभरात् पृथग्भवन् (त्) ।
विशेषतां द्रव्यभरे तदर्प्पयद् विभागतस्तेष्वपि देव लीयते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (तन्मयद्रव्यभरात्) सामान्यसे तन्मय द्रव्यके समूहसे (पृथग्-भवत्) पृथग् होता हुआ (समग्रसामान्यं) समस्त सामान्य (वस्तुतां न उपैति) वस्तुपनेको प्राप्त नही होता है क्योंकि (द्रव्यभरे) द्रव्यों के समूहमे (विशेषतां) विशेषताको (अर्पयत्) अर्पित करता हुआ (तद्) वह समग्र सामान्य (विभागतः अपि) विभागरूपसे भी पृथक्-पृथक् (तेषु लीयते) उन द्रव्योंमे भी लीन रहता है।

भावार्थ—समस्त द्रव्योमे पाया जानेवाला जो सादृश्य है वह समग्र सामान्य कहलाता है। यह समग्र सामान्य भी द्रव्योसे पृथक् नही है। किन्तु उनमे विशेषताको प्रदान करता हुआ उन्हीमे लीन रहता है ॥१६॥

न चैकसामान्यमिद तव प्रभो स्वपर्ययेभ्यः पृथगेव भासते ।
स्वपर्ययाणां दृढयद् विशेषतामभागवृत्तं तदिहावभासते ॥१७॥

अन्वयार्थ—(च) और (प्रभो) हे प्रभो ! (तव) आपके मतमे (इदं एकमामान्यं) यह एक सामान्य भी (स्वपर्ययेभ्य.) अपनी पर्यायोसे (पृथक्) जुदा (नैव भासते) नही सुशोभित होता है क्योकि (तद्) वह (इह) इस लोकमे (स्वपर्ययाणा) अपनी पर्यायोकी (विशेषता) विशेषताको (दृढयत्) दृढ करता हुआ (अभागवृत्त) अपृथक् ही (अवभासते) प्रतीत होता है।

भावार्थ—एक द्रव्यकी कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोमे जो समानता है उसे एक सामान्य कहते है। यह एक सामान्य भी अपनी पर्यायोसे पृथक् नही है किन्तु उन्हीमे अविभक्त होकर रहता है ॥१७॥

तवेति सत् प्रत्ययपीतमञ्जसा समस्तमेतत्प्रतिभाति तन्मयम् ।
अखण्डितः प्रत्यय एष ते तु सन् भवन्मयत्वं न जहाति जातुचित् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(सत्) सत्—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ (तव) आपके (प्रत्ययपीतं) ज्ञानके द्वारा पीत है—जाना गया है (इति) इसलिये (अज्जसा) वास्तवमे (एतत् समस्त) यह सब (तन्मय) ज्ञानमय (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है (तु) और (ते) आपके (अखण्डितः प्रत्ययः) अखण्ड ज्ञानरूप (एषः सन्) यह सत् (भवन्मयत्व) आपकी तन्मयताको (जातुचित्) कभी भी (न जहाति) नही छोड़ता है।

भावार्थ—ज्ञान जिस ज्ञेयको जानता है अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञेय ज्ञानरूप होता है और ज्ञान ज्ञातासे अभिन्न रहता है इसलिये ज्ञानको ज्ञातृरूप कहा जाता है। हे भगवन् ! यह सत् आपके ज्ञानके द्वारा जाना गया है इसलिये अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञानरूप ही है और ज्ञान आपसे अभिन्न है अतः यह ज्ञान आपरूप है आपसे तन्मय है ॥१८॥

असौ स्वतो भाववतस्तव प्रभो विभाति भावोऽत्र विशेषणं यथा।
तथान्यतोऽभाववतोऽनिवारितो भवत्वभावोऽपि विशेषणं तव ॥१९॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन् ! (स्वतः) स्वचतुष्टयसे (भाववतः) भावसे युक्त (तव) आपका (अत्र) इस लोकमे (यथा) जिस प्रकार (असौ भावः) यह भाव (विशेषण विभाति) विशेषण सुशोभित है (तथा) उसी प्रकार (अन्यत) परचतुष्टयसे (अभाववत.) अभावसे युक्त (तव) आपका (अनिवारितः) जिसे रोका न जा सके ऐसा (अभाव अपि) अभाव भी (विशेषणं) विशेषण (भवतु) हो।

भावार्थ—हे भगवन् ! स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सद्भावरूप होनेसे आपका जैसा 'भाव' विशेषण है वैसा ही परचतुष्टयकी अपेक्षा असद्भावरूप होनेसे आपका अभाव विशेषण भी है। तात्पर्य यह है कि आपमे भाव और अभाव ये दोनो विरोधी धर्म स्थित है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भाव है और परचतुष्टयकी अपेक्षा अभाव है ॥१९॥

विभाति भावो न निराश्रयः क्वचित् तदाश्रयो यः स तु भाववानिति।
न जात्वभावोऽपि निराश्रयः स्फुरेदभाववानापतितस्तदाश्रयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(भाव) भाव (क्वचित्) कही भी (निराश्रय) आश्रयसे रहित (न विभाति) नही रहता है इसलिये (यः) जो (तदाश्रयः) भावका आश्रय है (स तु) वह (भाववान्) भगवान् है—भावसे युक्त है (इति) ऐसा प्रसिद्ध है इसी प्रकार (अभावोऽपि) अभाव भी (जातु) कभी (निराश्रयः) आश्रयसे रहित (न स्फुरेत्) नही रह सकता है इसलिये (तदाश्रयः) अभावका जो आश्रय है वह (अभाववान्) अभाववान् है—अभावसे युक्त है ऐसा (आपतितः) आ उपस्थित होता है।

भावार्थ—भाव और अभाव ये दोनो धर्म बिना आधारके नही रह सकते इसलिये जिस प्रकार भावका आधार भाववान् कहलाता है उसी प्रकार अभाव का आधार अभाववान् कहलाता है। यतश्च आप भाव और अभाव दोनोके आधार है इसलिये भाववान् और अभाववान्—दोनों हैं ॥२०॥

तयोः सहैवापपतोर्विरुद्धयोर्न निर्विरोधं तव वस्तु शीर्यते।
उदीयते देव तथैव तत्परं भवत् किलात्मा पर एव चाभवत् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(विरुद्धयो.) परस्पर विरुद्ध रहनेवाले (तयोः) उन भाव और अभावरूप धर्मोके (निर्विरोधं) निर्विरोधरूपसे (सहैव) साथ ही (आपततोः) आनेपर—सिद्ध होनेपर (तव) आपके मतमे (वस्तु) वस्तु (न शीर्यते) नष्ट नही होती है किन्तु (देव) हे प्रभो ! (तत्) वह वस्तु (परं भावाभावभवत्) पररूप-होती हुई (तथैव उदीयते) उसी प्रकार उत्पन्न होती है (किल) निश्चय से (आत्मा च) आपका आत्मा भी (पर एव अभवत्) पररूप होता हुआ उत्पन्न हुआ है—भावाभावरूपसे सिद्ध हुआ है।

भावार्थ—यद्यपि भाव और अभाव ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं तथापि स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा दोनों एक साथ ही वस्तुमें सिद्ध होते है और उनके सिद्ध होनेपर वस्तु बिखरती नही है—नष्ट नही होती है किन्तु भावाभाववान्के रूपमे सिद्ध होती है। इसी प्रकार

आपका आत्मा भी, भाव और अभाव इन दो विरोधी धर्मोंके एक साथ सिद्ध होनेपर विखरकर नष्ट नहीं होता है किन्तु भावाभाववान्‌के रूपमे सिद्ध होता है ॥२१॥

न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता स्वयं हि वस्त्वाश्रयतोर्जित नयात् ।
यथास्ति भावः सकलार्थमण्डली तथाऽस्त्यभावोऽपि मिथो विशेषणात् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जातु) कभी (अभावस्य) अभावकी (तुच्छता) तुच्छरूपता (न विभाति) नही है (हि) क्योंकि (नयात्) नय विवक्षासे वह (स्वय) स्वयं ही (वस्त्वाश्रयतोर्जित) वस्तुकी आश्रयतासे शक्ति सम्पन्न रहता है अर्थात् अभाव, सर्वथा अभावरूप नही होता है किन्तु वस्तुके आश्रयसे रहनेके कारण वह भी भावके समान बलिष्ठ होता है। (यथा) जिस प्रकार (सकला) सम्पूर्ण (अर्थमण्डली) पदार्थ समूह (भावः अस्ति) भावरूप है (तथा) उसी प्रकार (मिथो विशेषणात्) परस्पर विशिष्ट होनेसे—परस्पर भेद करनेसे (अभावोऽपि) अभावरूप भी (अस्ति) है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके मतमे अभावको तुच्छाभावरूप नही माना है क्योकि जो अभाव है वह भी किसी वस्तुके आश्रयसे रहता है अतः उस आधारभूत वस्तुकी अपेक्षा वह अभाव भी कथंचित् भावरूप होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार संसारके समस्त पदार्थ भावरूप है उसी प्रकार अभावरूप भी हैं और उसका कारण है कि समस्त पदार्थ परस्पर विशिष्ट हैं अर्थात् एक दूसरेसे भिन्न हैं अत एकमे दूसरेका अभाव रहता है। इस स्थितिमे जो पदार्थ परकी अपेक्षा अभावरूप है वही पदार्थ स्वकी अपेक्षा भावरूप भी होता है ॥२२॥

स्फुरत्यभावः सकलस्य यः प्रभो स्थितः समस्तेऽपि परस्पराश्रयात् ।
नयत्यय त्वां स्वमुखेन दारुणः स्फुटैकसंविन्मयमीश शून्यताम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन्! (परस्पराश्रयात्) परस्परके आश्रयसे (समस्तेऽपि) सभी पदार्थोंमे (स्थित.) स्थित रहनेवाला (यः सकलस्य अभाव.) जो सर्वाभाव (स्फुरति) स्फुरित हो रहा है (दारुणः) तीक्ष्णताको धारण करनेवाला (अय) यह सर्वाभाव (ईश) हे नाथ! (स्फुटैक-सविन्मयं त्वा) स्पष्ट ही एक ज्ञानसे तन्मय रहनेवाले आपको (स्वमुखेन) अपने रूपसे (शून्यता नयति) शून्यताको प्राप्त करा रहा है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थमे उसके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थोंका अभाव रहता है। यदि ऐसा न माना जावे तो उस पदार्थका अन्य पदार्थोंसे व्यतिरेक सिद्ध नही हो सकता। हे प्रभो! आप ज्ञानसे तन्मय हैं अतः ज्ञेयरूप अन्य पदार्थोंका आपमे अभाव है। इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि ईश! यह सर्वाभाव इतना दारुण है—इतना कठोर है कि वह आपमे समस्त ज्ञेयोकी शून्यताको सिद्ध करता है ॥२३॥

करोति भावस्तव बोधवस्तुतां करोत्यभावोऽप्यविशेषतोऽत्र ताम् ।
उभौ समं तौ लि (नि) हतो भृताभृतौ प्रसह्य सर्वं सह संविदर्चिषा ॥२४॥

अन्वयार्थ—(भावः) भाव, (तव) आपकी (बोधवस्तुता) ज्ञानरूपताको (करोति) करता है अर्थात् भावकी अपेक्षा आप ज्ञानरूप हैं और (अभावः अपि) अभाव भी (अविशेषत.) सामान्य-रूपसे (अत्र) इस जगत्‌मे आपकी (ता) ज्ञानरूपता करता है (सम) एक साथ (भृताभृतौ) धारण

किये हुए (तौ) वे दोनों भाव-अभावरूप धर्म (संविदर्चिषा सह) ज्ञानरूप ज्योतिके साथ (सर्वं) सबको (प्रसह्य) बलपूर्वक (निहतः) नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—जब भावकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब हे भगवन्! आप ज्ञानरूप हैं ऐसा सिद्ध होता है और अभावकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब आप ज्ञेयरूप नहीं हैं—उनकी शून्यता आपमें है ऐसा सिद्ध होता है। ये भाव और अभाव एक ही साथ आपमें रहते हैं इसलिये ये बलपूर्वक सबका अभाव करते हैं। अर्थात् आप ज्ञानरूप हैं इस पक्षमें ज्ञेयका अभाव करते है और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञेयरूप हैं इस पक्षमे ज्ञानका अभाव करते हैं ॥२४॥

त्वदंशसंधुक्षणदारुणो भवन् ममानिशं वर्द्धत एष भस्मकः।
प्रसीद विश्वैककरम्बितः समं विश प्रभोऽन्तस्त्वमनन्त एव मे ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वदंशसंधुक्षणदारुण. भवन्) जो आपके एक अंश—भाव या अभावके सधुक्षण–समुत्तेजन से कठिन हो रहा है ऐसा (मम) मेरा (एष भस्मकः) यह भस्मक रोग (अनिशं) निरन्तर (समं) एक साथ (वर्द्धते) बढ़ता जा रहा है इसलिये (त्वम्) आप (प्रसीद) प्रसन्न हो और (विश्वैककरम्बित. 'सन्') समस्त पदार्थों–समस्त अन्तर्ज्ञेयोसे एकाकार होते हुए (मम अन्तः) मेरे भीतर–मेरे अन्त.करणमे (विश) प्रवेश करें (प्रभो) हे विभो! आप (मे) मेरे लिये (अनन्त एव) अनन्त ही है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके एक अंशके ज्ञानसे मेरी जिज्ञासा—जाननेकी उत्कण्ठा शान्त न होकर बढ़ती ही जा रही है अतः आप प्रसन्न होकर मेरे हृदयमे पूर्णरूपसे प्रवेश कीजिये अर्थात् मुझमे इतनी बुद्धि प्रकट कीजिये जिससे मै आपके भाव-अभाव आदि परस्पर विरोधी धर्मोंको समझ सकूं। मेरी दृष्टिमे आप एक नही है किन्तु अनन्त है अर्थात् अनन्त धर्मोसे सहित हैं ॥२५॥

■

ॐ

(२२)

मन्दाक्रान्ता

प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितैकान्त निष्कम्पदीव्यद्-
बाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य ।
मग्नां मग्नां दृशमतिशयान्मज्जयनन्तरन्तः
स्वामिन्नर्हन् वहति भवतः कोऽयमानन्दवाहः ।।१।।

अन्वयार्थ—(स्वामिन् अर्हन्) हे अर्हन्त देव ! (प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितैकान्तनिष्कम्पदीव्यद्बाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य) प्रत्यक्ष ज्योतिके समूहसे सहित, अत्यन्त निश्चल और प्रतिफलित होनेवाले बाह्य पदार्थोंके अनुभवन सम्बन्धी रागसे पराङ्मुख है अविनाशी ज्ञान जिनका ऐसे (भवत.) आपका (मग्ना मग्नां) अत्यन्त मग्न (दृशम्) दृष्टिको (अतिशयात्) अत्यधिकरूपसे (अन्तरन्तः) भीतर-भीतर (मज्जयन्) निमग्न करता हुआ (अयं क.) यह कौन सुख (आनन्दवाहः) अनन्त सुखका पूर (वहति) बह रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके सर्वदेश प्रत्यक्ष केवलज्ञानमे संसारके अनन्तानन्त पदार्थ ज्ञेय बनकर यद्यपि सदाके लिये प्रतिबिम्बित हो रहे हैं तथापि मोहजन्य विकारका अभाव हो जानेसे आप उनके स्पर्शन—अनुभवनसे सदा विमुख रहते हैं। जिस प्रकार दर्पण अपने आपमे प्रतिबिम्बित पदार्थोंके अनुभवनसम्बन्धी रागसे रहित होता है उसी प्रकार आप भी अपने प्रत्यक्ष ज्ञानमे प्रतिबिम्बित बाह्य पदार्थोंके अनुभवनसम्बन्धी रागसे रहित हैं इसी कारण आप अक्षीणसंवेदन हैं—अनन्त ज्ञेयोके ज्ञायक होकर भी उनके अनुभवनसे रहित है। बारहवें गुणस्थानमे आपकी जो दृष्टि बाह्य पदार्थोंसे हटकर स्वरूपमे निमग्न हो रही थी उस दृष्टिको आप और भी अधिक स्वरूपमे निमग्न कर रहे हैं। इस दशामें जो आपके निराकुलतारूप अनन्त सुखका प्रवाह प्रकट हो रहा है वह अभूतपूर्व है—उसकी महिमा वचनोके द्वारा नहीं कही जा सकती है ।।१।।

किञ्च ब्रूमः किमिह दहनादिन्धनं स्याद् विभिन्नं
येन व्याप्तं भवति दहनेनेन्धनं नाग्निरेव ।
ज्ञेयं ज्ञानात् किमु च भवतो विश्वमेतद्विभिन्नं
येन व्याप्तं भवति भवतो नेश विश्वं त्वमेव ।।२।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (किञ्च ब्रूमः) हम कुछ कहते हैं कि (इह) इस जगत्में (किम्) क्या (इन्धनं) ईन्धन (दहनात्) दाहसे (विभिन्नं स्यात्) पृथक् है (येन) जिससे (दहनेन) दाहके द्वारा (इन्धनं व्याप्तं न भवति) ईन्धन व्याप्त नही होता है किन्तु (अग्निरेव 'व्याप्तो भवति') अग्नि

ही व्याप्त होती है। (च) और (एतत् विश्वं ज्ञेयं) यह समस्त विश्वरूप ज्ञेय (किमु) क्या (भवतो ज्ञानात् विभिन्नं) आपके ज्ञानसे पृथक् है (येन) जिससे (भवतः ज्ञानेन) आपके ज्ञानसे (विश्वं व्याप्तं न भवति) यह विश्व व्याप्त नही है किन्तु (त्वमेव) आप ही व्याप्त है।

भावार्थ—अग्नि, दाह और ईन्धन ये तीन पदार्थ है इनमें जिस प्रकार अग्नि दाहसे अभिन्न है इसी प्रकार क्या दाहसे ईन्धन भी अभिन्न है ? इसका उत्तर नयविवक्षासे यह दिया जाता है कि जब ईन्धन, अग्निसे व्याप्त होकर अग्निरूप हो जाता है तब दाह भी ईन्धनसे अभिन्न हो जाता है। इसी तरह आप, आपका ज्ञान और ज्ञेय ये तीन पदार्थ है। इनमे जिस प्रकार आप, अपने ज्ञानसे अभिन्न हैं इसी प्रकार क्या ज्ञेयसे भी अभिन्न है ? इसका उत्तर यह है कि जिस समय ज्ञान, ज्ञेय को जानता है उस समय ज्ञान, ज्ञेयाकार होनेके कारण ज्ञेयसे अभिन्न होता है ओर उस प्रकारके ज्ञानसे आप अभिन्न है अतः आप भी ज्ञेयसे अभिन्न है। तात्पर्य यह है कि बहिर्ज्ञेय और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञेयके दो भेद है। घट-पटादि बाह्य पदार्थ बहिर्ज्ञेय है और ज्ञानमे प्रतिबिम्बित घट-पटादि अन्तर्ज्ञेय है। बहिर्ज्ञेय तो आपसे तथा आपके ज्ञानसे स्पष्ट ही भिन्न है परन्तु अन्तर्ज्ञेय, ज्ञानकी परिणतिरूप होनेसे ज्ञान ही है और जब ज्ञान, ज्ञेयरूप हो जाता है तब ज्ञानसे अभिन्न रहनेवाले आप भी ज्ञेयरूप हैं—उससे अभिन्न हैं····यह सिद्ध है ॥२॥

नूनं नान्तर्विशति न बहिर्याति किन्त्वान्त एव (किन्त्वन्तरेव)
व्यक्तावर्तं मुहुरिह परावृत्तिमुच्चैरुपैति ।
ज्ञानास्याद्वः क्व किल निपतेत् पीतसर्वावकाशः
सर्वद्रव्यस्वरसविशदो विश्वगण्डूष एषः ॥३॥

अन्वयार्थ—(पीतसर्वावकाशः) जिसने ज्ञानके समस्त अवकाशको व्याप्त कर लिया है तथा जो (सर्वद्रव्यस्वरसविशद) समस्त द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपसे युक्त है ऐसा (एष) यह (विश्वगण्डूष.) विश्वरूपी कुरला (वः) आपके (ज्ञानास्यात्) ज्ञानरूपी मुखसे निकलकर (किल) निश्चयसे (क्व) कहाँ (निपतेत्) गिरे ? अर्थात् कही नही (नूनं) निश्चयसे वह विश्वरूपी कुरला (न अन्तर्विशति) न तो भीतर प्रवेश करता है और (न बहिर्याति) न बाहर जाता है (किन्तु) परन्तु (अन्तरेव) भीतर ही (इह) ज्ञानरूपी मुखमे (मुहुः) बारबार (व्यक्तावर्तं) आवर्तको प्रकट करता हुआ (उच्चै) अत्यधिक (परावृत्ति) परिवर्तनको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसीके मुखमे स्थित पानीका कुरला न भीतर जा रहा हो और न बाहर आ रहा हो किन्तु मुखके भीतर ही लोट-पोट होरहा हो उसी प्रकार हे भगवन् ! आपके ज्ञानरूपी मुखमे जो विश्वरूपी कुरला समस्त प्रदेशोमे व्याप्त होकर भरा हुआ है अर्थात् आपके ज्ञानमे जो समस्त द्रव्योसे युक्त विश्व व्याप्त हो रहा है वह न तो ज्ञानके भीतर प्रवेश करता है—बहिर्ज्ञेय होनेके कारण ज्ञानसे तन्मय नही होता है और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानरूप हो जाने के कारण उससे बाहर भी नही जाता है। इस तरह वह ज्ञानरूपी मुखसे निकल कर कहाँ गिरे ? अर्थात् कही नही। भाव यह है कि केवलज्ञानमे जो पदार्थ प्रतिफलित होते है वे सदाके लिये प्रतिफलित हो जाते है। बहिर्ज्ञेयकी अपेक्षा वे उसके भीतर प्रवेश नही करते और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा बाहर नही निकलते तथा स्वयं परिवर्तनशील होनेसे उसीके भीतर परिवर्तन करते रहते है ॥३॥

निर्भागोऽपि प्रसभमभितः खण्ड्यसे त्वं नयौघैः
खण्डं खण्डं कृतमपि विभुं संदधाति प्रमैव ।
देवाप्येवं भवति न भवान् खण्डितायोजितश्री-
रन्यैव श्रीः स्फुरति सहजाखण्डखण्डैव भर्तुः ॥४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (त्वं) आप (निर्भागोऽपि) भाग रहित होनेपर भी (अभितः) सब ओरसे (नयौघैः) नयोंके समूह द्वारा (प्रसभं) हठपूर्वक (खण्ड्यसे) खण्ड-खण्ड होते है—भाग-सहित किये जाते है । और (खण्डं खण्ड कृतमपि विभुं) खण्ड खण्ड किये हुए भी आपको (प्रमैव) एक ज्ञान ही (संदधाति) मिलाता है (एवमपि) ऐसा होनेपर भी (भवान्) आप (खण्डितायोजित-श्री.) खण्डित होकर पश्चात् मिली हुई लक्ष्मीसे युक्त (न भवति) नही है (भर्तुः) आपकी (श्रीः) लक्ष्मी (अन्यैव) अन्य ही (स्फुरति) प्रकट होती है जो (सहजाखण्डखण्डैव) स्वाभाविकरूपसे अखण्ड खण्ड ही है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आप प्रदेशभेद न होनेसे अखण्डरूप हैं तथापि गुण गुणी, धर्म धर्मी, तथा द्रव्य पर्याय आदिको विषय करनेवाले नयसमूहके द्वारा बलपूर्वक खण्डरूपको प्राप्त होते है । इस तरह आप नयसमूहकी अपेक्षा यद्यपि खण्ड खण्ड हो रहे है तथापि प्रमा—ज्ञानरूप परिणति आपको मिलाती रहती है अर्थात् गुण गुणी आदिका भेद होनेपर भी ज्ञान परिणति आपको अखण्ड बनाये रखती है । इस तरह यद्यपि आप नयसमूहकी अपेक्षा खण्ड खण्ड है तथापि खण्डित होकर मिलनेवाली लक्ष्मीसे युक्त नही है । आपकी लक्ष्मी एक दूसरी ही है जो स्वाभाविकरूपसे अखण्ड खण्ड ही है ॥४॥

भिन्नोऽभेदं स्पृशति न विभो नास्त्यभिन्नस्य भेदो
भेदाभेदद्वयपरिणतस्त्वं तु नित्यं तथापि ।
भिन्नैर्भावैर्वरद भवतो भिन्नभावस्य साक्षात्
स्वामिन् कान्या गतिरिह भवेत् तद्द्वयं ते विहाय ॥५॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो ! यद्यपि (भिन्न अभेद न स्पृशति) भिन्न पदार्थ अभेदका स्पर्श नही करता है और (अभिन्नस्य भेदो नास्ति) अभिन्न पदार्थका भेद नही होता है (तु) किन्तु (तथापि) तो भी (त्व) आप (नित्य) निरन्तर (भेदाभेदद्वयपरिणत) भेद और अभेद दोनोंरूप परिणत है (वरद) हे उत्कृष्ट पदार्थोंके दायक ! (स्वामिन्) नाथ (भिन्नै भावै) भिन्न भावोके द्वारा (भवत.) संसारसे (साक्षात्) प्रत्यक्ष ही (भिन्नभावस्य) पृथक्त्वको धारण करनेवाले और (भिन्नै-र्भावै. भवत) अपने नाना गुणोके द्वारा साक्षात् (अभिन्नभावस्य) अभिन्नभावको धारणकरनेवाले (ते) आपकी (इह) इस जगत्मे (तद्द्वय) भेदाभेदको (विहाय) छोडकर (अन्या का गतिः भवेत्) दूसरी कौन गति हो सकती है ? अर्थात् कोई नही ।

भावार्थ—हे भगवन् ! वस्तुसमूहकी ऐसी मर्यादा है कि जो वस्तु भेदरूप है वह अभेदरूप नही होती और जो अभेदरूप है वह भेदरूप नही होती किन्तु आप निरन्तर भेदाभेद—दोनो रूप हैं । इसका कारण है कि आप भिन्न—कर्म नोकर्म आदिसे पृथक् भावोके द्वारा साक्षात् ही संसारके अन्य पदार्थोंसे पृथक् जान पड़ते है और अपने नाना प्रकारके भाव—गुणोके द्वारा अभिन्न

भावको प्राप्त प्रतीत होते हैं अर्थात् आप अपने गुणोंसे भिन्न—पृथक् नही हैं इसलिये आप भेदाभेद-रूप हैं। यहाँ तृतोय चरणके 'भवतो भिन्नभावस्य' इन पदोका एक पक्षमे भव—संसारसे पृथक्त्वको धारण करनेवाले यह अर्थ है और दूसरे पक्षमे भवतः—आपके अर्थात् अपने 'भावैः'—गुणोंके द्वारा अभिन्नभावको—अपृथक्त्व भावको धारण करनेवाले, यह अर्थ है। अथवा भाव और भाववान् अर्थात् गुण और गुणीमे प्रदेशभेद नही है इसलिये अभेदरूप हैं और संज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है अतः भेदरूप हैं ॥५॥

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं विनासौ विशेषै-
निःसामान्याः स्वमिह किममी धारयन्ते विशेषाः ।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जो
दृक्संवित्तिस्फुरितसरसस्त्वं हि वस्तुत्वमेषि ॥६॥

अन्वयार्थ—(विशेषैर्विना) विशेषोके बिना (किं) क्या (सामान्यस्य) सामान्यकी (महिमा) (उल्लसति) उल्लसित होती है ? अर्थात् नही होती, और (इह) इस लोकमे (निःसामान्याः) सामान्यसे रहित (अमी विशेषाः) ये विशेष (किम्) क्या (स्वम्) अपने आपको (धारयन्ते) धारण करते हैं ? अर्थात् नही करते। (हि) निश्चयसे (एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जः) जिनके एक द्रव्यकी विस्तृत अनन्त पर्यायोंका समूह बीत चुका है अर्थात् जो नाना पर्यायोके द्वारा विशेषरूप हैं और (दृक्संवित्तिस्फुरितसरस) जो दर्शन और ज्ञानके चमत्कारसे सरस है अर्थात् दर्शन और ज्ञानकी अपेक्षा सामान्यरूप हैं ऐसे (त्वम्) आप (वस्तुत्वम्) वस्तुपनेको (एषि) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है। सामान्य के बिना विशेष और विशेषके बिना सामान्य अथवा द्रव्यके बिना पर्याय और पर्यायके बिना द्रव्य नही होता। हे भगवन् ! यद्यपि आप एक अखण्ड द्रव्य हैं। तथापि उसकी अनन्त पर्याय बीत चुकी हैं उन पर्यायोकी अपेक्षा आप विशेषरूप हैं और उन समस्त पर्यायोमे आप दर्शन ज्ञानरूप चैतन्य चमत्कारसे युक्त रहते हैं इसलिये उसकी अपेक्षा सामान्यरूप है। इस तरह आप सामान्य विशेष-रूप होकर ही वस्तुपनेको प्राप्त हैं। शास्त्रमे वस्तुका लक्षण 'सामान्यविशेषात्मकं वस्तु' कहा भी है ॥६॥

एकोऽनेको न भवति न चानेक एकत्वमेति
व्यक्तं ह्येतत्तदुभयमयस्त्वं तु किं स्यान्न विद्मः ।
जानीमोऽन्यद्भवति किल यो यत्समाहारजन्मा
तस्यावश्यं भवति युगपत्तत्स्वभावोऽनुभावः ॥७॥

अन्वयार्थ—(एकः अनेकः न भवति) एक अनेक नही होता है (च) और (अनेकः) अनेक (एकत्व न एति) एकत्वको प्राप्त नही होता है (एतत् व्यक्तं) यह स्पष्ट है (तु) किन्तु (हि) निश्चयसे) तदुभयमयः त्वम्) इन दोनोंरूप—एकानेकरूप रहनेवाले (किं स्यात्) क्या हैं यह (न विद्मः) हम नहीं जानते (अन्यत् जानीमः) यह जानते हैं कि (यः) जो (किल) निश्चयसे (यत्समाहारजन्मा भवति) जिनके समूहसे उत्पन्न होता है (तस्य) उसका (अनुभावः) परिणमन (युगपत्) एक साथ (अवश्यं) अवश्य ही (तत्स्वभावः) उस स्वभाववाला (भवति) होता है।

भावार्थ—संसारका ऐसा नियम है कि जो एक है वह अनेक नहीं होता और जो अनेक है वह एक नहीं होता परन्तु आप एकानेकरूप हैं। क्योंकि सामान्य गुणोंकी अपेक्षा आप एक हैं और नाना गुणोंके समूहसे युक्त होनेके कारण आप अनेकरूप हैं ॥७॥

अन्यो नश्यत्युदयति परः शश्वदुद्भासतेऽन्य-
स्तीव्रस्तस्मिंस्तव समतया पक्षपातस्त्रयोऽपि।
तेन ध्रौव्यप्रभवविलयालिङ्गितोऽसि स्वयं त्वं
त्वत्तो बाह्यं त्रितयमपि तच्छून्यमेवान्यथा स्यात् ॥८॥

अन्वयार्थ—(अन्यः नश्यति) अन्य पदार्थ नष्ट होता है (परः) अन्य (उदयति) उत्पन्न होता है और (अन्यः) अन्य (शाश्वत्) निरन्तर (उद्भासते) विद्यमान रहता है किन्तु (तस्मिन्) उस पदार्थ मे (समतया) समानरूपसे (त्रय अपि) व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य—तीनों होते है ऐसा (तव) आपका (तीव्रः) अत्यधिक (पक्षपातः) पक्षपात है (तेन) इसलिये (त्वम्) आप (स्वयं) स्वयं (ध्रौव्यप्रभव-विलयालिङ्गितः असि) ध्रौव्य उत्पाद और व्यय इन तीनोंसे युक्त है (अन्यथा) यदि ऐसा न माना जावे तो (तत् त्रितयमपि) वह त्रिक भी (त्वत्तो बाह्यं) आपसे पृथक् होता हुआ (शून्यमेव स्यात्) शून्य ही हो जावेगा।

भावार्थ—पदार्थकी उत्पत्तिको उत्पाद, विनाशको व्यय और सदा विद्यमान रहनेको ध्रौव्य कहते हैं। किसीका मत है कि ये तीनों, पृथक्-पृथक् पदार्थमें होते हैं परन्तु आपका मत है कि ये तीनों समानरूपसे एक ही पदार्थमे होते हैं अर्थात् एक ही द्रव्यमे पर्यायोंकी अपेक्षा ये तीनो होते हैं। यही कारण है कि आप स्वयं इन तीनोंसे आलिङ्गित हैं—युक्त हैं यदि आपसे इन तीनों-को सर्वथा पृथक् माना जाता है तो निराश्रय होनेसे ये तीनों ही नष्ट हो जाते है ॥८॥

भावाभावं तव रचयतः कुर्वतो भावभावं
नूनं भावो भवति भगवन् भावनाशोऽस्ति कोऽन्यः।
अस्तित्वस्यास्खलितभवनोल्लासमात्रं यथैतद्
भङ्गोत्पादद्वयमपि तथा निश्चितं तत्त्वमेव ॥९॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (भावाभावं) पदार्थके अभावको (रचयतः) रचनेवाले और (भावभावं) पदार्थके उत्पादको (कुर्वतः) करनेवाले (तव) आपके (नूनं) निश्चित ही (भावो भवति) उत्पाद होता है इसके अतिरिक्त (अन्यः भावनाशः कः अस्ति) इसके सिवाय भावका नाश—व्यय क्या है? अर्थात् कुछ भी नही। (यथा) जिस प्रकार (एतत्) यह (अस्तित्वस्य) अस्तित्वधर्मका (अस्खलितभवनोल्लासमात्रं) अस्खलितरूपसे उल्लसित होना—ध्रौव्यरूप होना तत्त्व है (तथा) उसी प्रकार (भङ्गोत्पादद्वयमपि) व्यय और उत्पाद ये दोनों भी (निश्चित) निश्चित-रूपसे (तत्त्वमेव) तत्त्व ही हैं।

भावार्थ—जो पदार्थके अभाव—व्ययको करता है अथवा भावके भाव—उत्पादको करता है उसके निश्चित ही उत्पाद होता है क्योंकि पूर्व पर्यायका नाश होना ही उत्तर पर्यायका उत्पाद है और उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना ही पूर्व पर्यायका व्यय है। इसके अतिरिक्त उत्पाद और व्यय क्या

है ? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सत्ताका निरन्तर विद्यमान रहनेरूप ध्रौव्य पदार्थका स्वरूप है उसी प्रकार पूर्वोत्तर पर्यायके नाश और उत्पत्तिरूप व्यय और उत्पादसे दोनों भी पदार्थके स्वरूप हैं। मात्र ध्रौव्यके स्वीकृत करनेसे पदार्थमे कूटस्थ नित्यता आती है और मात्र उत्पाद व्ययके स्वीकृत करनेसे अनित्यता आती है। पदार्थ नित्यानित्यात्मक है इसलिये वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनोसे तन्मय है ॥९॥

एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा प्रागभावाद्यभावै—
राक्रान्तोऽपि स्फुरसि भगवंस्त्वं सदा भाव एव।
एकोऽपि त्वं प्रसभमभितः प्रागभावाद्यभावै—
र्भिन्नः स्वामिन् कृतपरिणतिर्भासि रूपैश्चतुर्भिः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभो ! (अस्खलितमहिमा) अखण्ड महिमाके धारक (कोऽपि एकः त्वम्) कोई एक आप (प्रागभावाद्यभावैः) प्रागभाव आदि अभावोसे (आक्रान्तोऽपि) व्याप्त होने पर भी (सदा भाव एव स्फुरसि) सदा भावरूप ही सुशोभित होते है। (स्वामिन्) हे नाथ ! (त्वम्) आप (एकोऽपि) एक होने पर भी (अभितः) सब ओरसे (प्रसभ) हठपूर्वक (प्रागभावाद्यभावैः) प्रागभाव आदि अभावोसे (भिन्नः) नानारूप होकर (चतुर्भिः रूपैः) चार रूपो से (कृतपरिणतिः) परिणत (भासि) प्रतीत हो रहे है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी महिमा अनिर्वचनीय है क्योकि आप प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोसे युक्त होकर भी सदा भावरूप ही रहते है अर्थात् पर्यायकी अपेक्षा आप उपर्युक्त अभावोसे युक्त होकर भी द्रव्यकी अपेक्षा सदा भावरूप ही रहते है। इसी प्रकार यद्यपि द्रव्यकी अपेक्षा आप एक है तथापि पर्यायकी अपेक्षा उपर्युक्त चार अभावोसे युक्त होनेके कारण चाररूप अनुभवमे आते है ॥१०॥

पूर्णः पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो
रिक्तः पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासि रिक्तः।
यल्लोकानां प्रकटमिह ते तत्त्वघातोद्यतं तद्
यत्ते तत्त्वं किमपि न हि तल्लोकदृष्टं प्रमार्ष्टि ॥११॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (पूर्णः नियतं पूर्णः भवति) जो पूर्ण होता है वह नियमसे पूर्ण ही होता है और (रिक्तः रिक्त एव अस्ति) जो रिक्त है वह रिक्त ही रहता है। परन्तु (त्वम्) आप (रिक्तः पूर्णः असि) रिक्त होकर भी पूर्ण हैं और (पूर्ण एव रिक्तः असि) पूर्ण होकर भी रिक्त हैं। (इह) इस जगत्मे (लोकाना यत् प्रकटं) लोगोके मध्य जो प्रकट है कि पूर्ण, पूर्ण ही रहता है और रिक्त, रिक्त ही रहता है (तद्) वह (ते) आपके (तत्त्वघातोद्यत) तत्त्वका घात करनेवाला है परन्तु (ते यत् किमपि तत्त्वं) आपका जो कोई अनिर्वचनीय महिमासे युक्त तत्त्व है (तत्) वह (हि) निश्चयसे (लोकदृष्टं) लोकमे देखे गये तत्त्वको (न प्रमार्ष्टि) नष्ट नही करता है। अर्थात् आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व लोकसिद्ध तत्त्वका प्रतिपादन करता है।

भावार्थ—कुछ दर्शनकारोकी मान्यता है कि जो पूर्ण है वह सदासे पूर्ण है और सदा पूर्ण रहेगा तथा किन्हीकी मान्यता है कि जो रिक्त है वह सदासे रिक्त है और सदा रिक्त रहेगा परन्तु हे भगवन्! आप रिक्त होकर भी पूर्ण हैं अर्थात् कर्मोदयजन्य विकारी भावोंसे रहित होकर भी स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण हैं और पूर्ण होकर भी—स्वाभाविक गुणोसे पूर्ण होकर भी रिक्त हैं—उपाधिजन्य विकारी भावों तथा द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित हैं। लौकिक जनोकी जो उपर्युक्त मान्यता है वह आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वका उपघात करती है परन्तु आपका जो तत्त्व है—आपने जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया है वह लोकमे देखे गये प्रत्यक्ष दृष्टका व्याघात नही करता अर्थात् लोकमे यह जो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि रागादि दोषोंसे परिपूर्ण आत्मा भी अपनी साधनाके द्वारा उनसे विरक्त-शुद्ध वीतराग भावको प्राप्त करता है और शुद्ध वीतराग भावसे पूर्णताको प्राप्त हुआ आत्मा कर्म नोकर्मसे रिक्त अवस्थाको प्राप्त होता है, उसका व्याघात नही करता है। इन सब कारणोंसे आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व कोई अनिर्वचनीय लोकोत्तर महिमासे युक्त सिद्ध है ॥११॥

सर्वे भावाः सहजनियताऽन्योन्यसीमान एते
संश्लेषेऽपि स्वयमपतिताः शश्वदेव स्वरूपात्।
ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः सर्वदा विश्वमेतद्
विश्वाद् भिन्नः स्नपय भगवन् सङ्करस्ते कुतः स्यात् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सहजनियताऽन्योन्यसीमानः) जिनकी परस्परकी सीमा स्वभावसे ही नियत है ऐसे (एते) ये (सर्वे भावाः) समस्त पदार्थ (संश्लेषेऽपि) परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट होनेपर भी (स्वयं) स्वयं (शश्वदेव) निरन्तर ही (स्वरूपात्) अपने स्वरूपसे (अपतिताः) अस्खलित ही रहते है—अन्यरूप नही होते है। (भगवन्) हे प्रभो! (विश्वाद् भिन्नः) जगत्से भिन्न रहनेवाले आप (ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः) ज्ञानरूपी चांदनीके स्वरस समूहसे (सर्वदा) सदा (एतत् विश्वं) इस विश्वको (स्नपय) नहलाओ—प्रकाशित करो (ते) आपके (सङ्करः) अन्य पदार्थोंके साथ समिश्रण (कुतः स्यात्) कैसे हो सकता है?

भावार्थ—एक पदार्थका अन्यरूप हो जाना सङ्कर दोष कहलाता है। यह सङ्कर दोष संसारके पदार्थोमे सिद्ध नही होता है। यद्यपि वे परस्पर एक दूसरेसे संश्लिष्ट है तथापि सबकी परस्परकी सीमा सहज रूपसे नियत है, इसलिये वे स्वरूपसे कभी च्युत नही होते है। यह चर्चा स्पष्ट भिन्न पदार्थोंकी रही परन्तु जो ज्ञेय आपके ज्ञानमे आकर अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानाकार परिणम रहे है उनमे भी संकर दोष नही है क्योकि स्वभावसे ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय, ज्ञेय ही रहता है। हे भगवन्! आप जगत्से भिन्न है तो भी अपने ज्ञानरूपी चाँदनीके प्रकाशसे इस जगत्को प्रकाशित करो अर्थात् सबको जानो क्योकि जानने मात्रसे आपमे संकर दोष नही आता है ॥१२॥

मोहः कर्मप्रकृतिभरतो मोहतः कर्मकिट्टं
हेतुत्वेन द्वयमिति मिथो भावदात्मा न तावत्।
क्षीणे त्वस्मिंस्तव विलसतो नूनमात्मैव नान्यो
निःसीम्न्यस्मिन्निवस सहजज्ञानपुञ्जे निमग्नः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(कर्मप्रकृतिभरतः) कर्म प्रकृतियोंके समूहसे (मोहः) मोह उत्पन्न होता है और (मोहतः) मोहसे (कर्मकिट्टं) कर्मरूप कालिमाका सम्बन्ध होता है (इति) इस प्रकार (द्वयम्) कर्म और मोह—दोनों (मिथो) परस्पर (हेतुत्वेन) हेतुरूपसे (यावत्) जबतक विद्यमान रहते हैं (तावत्) तबतक (आत्मा न) आत्मा, आत्मा नहीं है—शुद्धस्वरूपमें परिणत नहीं है (तु) किन्तु (अस्मिन्) इन दोनोंके (क्षीणे) क्षीण होनेपर (विलसतः) स्वभाव परिणतिसे सुशोभित रहनेवाले (तव) आपका आत्मा (नून) निश्चयसे (आत्मैव) आत्मा ही रह जाता है (अन्यः न) अन्य नहीं। हे आत्मन्! तूं (निःसीम्नि) सीमा रहित (अस्मिन्) इस (सहजज्ञानपुञ्जे) स्वाभाविक ज्ञान राशिमें (निमग्नः 'सन्') निमग्न होता हुआ (निवस) निवास कर।

भावार्थ—द्रव्यकर्मके उदयसे आत्मामे मिथ्यात्व तथा रागद्वेषरूप मोह उत्पन्न होता है और उस मोहसे नवीन द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता है। इन दोनोंमे परस्पर हेतुहेतुमद्भाव है। जबतक यह दोनों विद्यमान रहते हैं तबतक आत्मा अपने शुद्धस्वरूपमे परिणत न होकर विभावरूप परिणत होता है परन्तु जब उपर्युक्त दोनों नष्ट हो जाते है तब आत्मा अपने शुद्धस्वरूपमें परिणत होकर स्वभावरूप परिणत हो जाता है। इस समय आत्मा, आत्मा ही रह जाता है और उसमें सीमा रहित सहज ज्ञान प्रकट हो जाता है। हे आत्मन्! तूं उसी सहज ज्ञानमे निमग्न होकर निवास कर ॥१३॥

ज्ञानक्रीडारभसलसितैर्वल्गतः सर्वतस्ते
मोहाभावाद् भवति भगवन् कर्तृभावो न भूयः।
कर्तृत्वे वा स्वयमपि भवन् केवलो ज्ञानपुञ्जो
ज्ञानादन्यत् किमिह कुरुषे निर्विशङ्को रमस्व ॥१४॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभो! (ज्ञानक्रीडारभसलसितैः) ज्ञानसम्बन्धी क्रीडाकी सवेग चेष्टासे (सर्वतः) सब ओर (वल्गत) संचार करनेवाले (ते) आपके (मोहाभावात्) मोहका अभाव हो जानेसे (भूयः) पुन. (कर्तृभावो) कर्तृत्व (न भवति) नही होता है अर्थात् जिस प्रकार मोहके रहते हुए कर्तृत्व भाव रहता था उस प्रकार मोहके नष्ट हो जानेपर कर्तृत्व भाव नही रहा। (वा) अथवा (कर्तृत्वे) विवक्षावश कर्तृत्व भावके स्वीकृत करने पर (स्वयमपि) स्वयं भी (केवलो ज्ञानपुञ्जो भवन्) मात्र ज्ञानसमूहरूप होते हुए आप (इह) इस जगत्मे (ज्ञानात् अन्यत्) ज्ञानसे भिन्न (किम् कुरुषे) क्या करते हैं? अर्थात् कुछ नही। अतः (निर्विशङ्कः रमस्व) निःशङ्क होते हुए ज्ञानमे क्रीड़ा करो।

भावार्थ—अपने क्षयोपशमके अनुसार पदार्थोंको जाननेवाला मोही जीव, अज्ञानवश परपदार्थोंका कर्ता बनता है परन्तु हे भगवन्! आपके मोहका अभाव हो गया है अतः केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको जानने पर भी आप परपदार्थोंके कर्ता नही बनते हैं। कर्तृत्वका साक्षात् कारण मोहभाव है और मोहभावका आपके अभाव हो चुका है अतः केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानने पर भी आपके कर्तृत्व भाव नही रहा है। यदि किसी तरह आपमे कर्तृत्वभाव मानना ही है तो यतः आप स्वयं मात्र ज्ञानरूप हो रहे हैं अतः ज्ञानके ही कर्ता हैं अन्य

पदार्थोंके नही।[1] तात्पर्य यह है कि आप ज्ञानसे बन्धकी आशंका कर लोकालोकको जाननेसे विरत न होओ क्योंकि बन्धका कारण जानना नही है, मोह है ॥१४॥

देवालम्बो भवति युगपत् विश्वमुत्तिष्ठतस्ते
बाह्यस्पर्शाद् विमुखमहिमा त्वं तु नालम्ब एव।
स्वात्मालम्बो भवसि भगवन्नुज्जिहानस्तथापि
स्वात्मा त्वेष ज्वलति किल ते गूढविश्वस्वभावः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (युगपत्) एक साथ (उत्तिष्ठत.) उन्नत दशाको प्राप्त करने वाले (ते) आपके लिये (विश्वम्) यह विश्व (आलम्बो भवति) आलम्बन होता है—सहायक होता है—ऐसा कहा जाता है (तु) परन्तु (बाह्यस्पर्शात्) बाह्य पदार्थोंके स्पर्शसे (विमुखमहिमा) पराङ्मुख महिमावाले (त्वम्) आप (नालम्ब एव) आलम्बनसे रहित ही हैं—आपको किसी बाह्य पदार्थके आलम्बनकी आवश्यकता नही हुई है। (भगवन्) हे भगवन्! यद्यपि (उज्जिहानः) ऊपर उठते हुए आप (स्वात्मालम्बो भवसि) अपनी आत्माका आलम्बन लेनेवाले हैं (तथापि तु) तो भी (ते) आपकी (एष स्वात्मा) यह स्वात्मा (किल) निश्चयसे (गूढविश्वस्वभावः) जिसमे समस्त पदार्थोंके स्वभाव छिपे हुए है ऐसा, (ज्वलति) प्रकाशमान है—ज्ञानपुञ्जसे देदीप्यमान है।

भावार्थ—लोकमे देखा जाता है कि जो मनुष्य ऊपर उठता है वह किसी बाह्य पदार्थका आलम्बन लेकर ही ऊपर उठता है परन्तु हे देव! आप बाह्य पदार्थोंके स्पर्शसे ही विमुख है अतः आपको बाह्य पदार्थोंका आलम्बन किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? तात्पर्य यह है कि आप अपने आत्माके आलम्बनसे ही ऊँचे उठे हैं—इस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए है। परन्तु आपका यह आत्मा भी साधारण आत्मा नही है। उसके अनेक स्वभाव गूढ है—अपनी अनन्त सामर्थ्यसे वह युक्त हैं ऐसे सातिशय आत्माके उपादानसे आप इस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए है ॥१५॥

यस्मिन् भावास्त्रिसमयभुवस्तुल्यकालं प्लवन्ते
यत्कल्लोलाः प्रसभमभितो विश्वसीम्नि स्खलन्ति।
स त्वं स्वच्छस्वरसभरतः पोषयन् पूर्णभावं
भावाभावोपचितमहिमा ज्ञानरत्नाकरोऽसि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसमे (त्रसमयभुवः) तीन कालमे होने वाले (भावाः) पदार्थ (तुल्यकालं) एकसाथ (प्लवन्ते) तैरते हैं—जाने जाते है, (यत्कल्लोलाः) जिसकी लहरें (प्रसभं) हठपूर्वक (अभितः) चारों ओर (विश्वसीम्नि) संसारकी सीमामे (स्खलन्ति) टकराती हैं, जो (स्वच्छस्वरस-

१. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्?
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७॥—समयसारकलश
यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥५१॥—समयसार कलश

भरतः पूर्णभावं पोषयन्) स्वच्छ स्वरसके भारसे पूर्णताको पुष्ट कर रहा है अर्थात् आत्मरसके भारसे जो लवालव भरा हुआ है तथा जो (भावाभावोपचितमहिमा) भाव और अभावसे बढ़ी हुई महिमासे युक्त है (स त्वं) वह आप (ज्ञानरत्नाकरः असि) ज्ञानके सागर है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप ज्ञानरत्नाकर-ज्ञानके समुद्र है क्योंकि जिसप्रकार समुद्रमें अनेक पदार्थ तैरते हैं उसी प्रकार आपके ज्ञानमे भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त पदार्थ प्रतिसमय तैर रहे हैं अर्थात् तीनों काल सम्बन्धी पदार्थ आपके ज्ञानमे प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। जिस प्रकार समुद्रकी लहरें चारों ओर सीमासे टकराती हैं उसी प्रकार आपके ज्ञान-सागरकी लहरें लोकालोकरूप विश्वकी सीमामें टकराती हैं। जिसप्रकार समुद्र अपने स्वच्छ सलिलसे भर कर पूर्ण होता है उसीप्रकार आप भी अपने आत्मरससे—आत्मसम्बन्धी गुणोंसे भरकर पूर्ण हैं और जिसप्रकार समुद्र भाव-जलके आगमन और अभाव—मलिन पदार्थोंके बाहर उछलानेसे युक्त होता है—इन दोनों कार्योंसे उसकी महिमा बढ़ती है अथवा तरङ्गोंके उन्नमन और अवनमन-ऊँची उठना तथा नीचे बैठना से जिसप्रकार समुद्र अपनी महिमाको बढ़ाता है उसी प्रकार आपका ज्ञानसागर भी भाव—नये नये भावोंकी उत्पत्ति तथा अभाव—मलिन भावोंके विनाशसे युक्त है—इन दोनो कार्योंसे उसकी महिमा बढ़ रही है अथवा अगुरुलघु गुणके कारण होनेवाली वृद्धि और हानिसे वह युक्त है ॥१६॥

संविद्वीच्यस्तव तत इतो देव वल्गन्त्य एताः
शुद्धज्ञानस्वरसमयतां न क्षमन्ते प्रमाष्टुंम्।
विश्वच्छायाघटनविकसत्पुष्कल व्यक्तिगूढां
प्रौढिं विन्दत् तदभिदधति ज्ञानसामान्यमेव ॥१७॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ! (इतस्ततः) इधर-उधर अर्थात् समस्त ज्ञेयोंमे (वल्गन्त्यः) संचार करनेवाली (तव) आपकी (एताः) ये (संविद्वीच्यः) ज्ञानरूप तरङ्गें (शुद्धज्ञानस्वरसमयतां) शुद्ध ज्ञानरूपी स्वरससे तन्मयताको (प्रमाष्टुं) छोड़नेके लिये (न क्षमन्ते) समर्थ नही हैं। वे (तद्) उस (ज्ञानसामान्यमेव) ज्ञान सामान्यको ही (अभिदधति) धारण करती हैं जो कि (विश्वच्छाया-घटनविकसत्पुष्कलं) समस्त पदार्थोंकी छायाके पड़नेसे विकसित तथा पूर्ण है और (व्यक्तिगूढा) प्रकटतासे युक्त (प्रौढिं) पूर्ण सामर्थ्यको (विन्दत्) प्राप्त है।

भावार्थ—हे भगवन्! व्यवहारनयसे यद्यपि आपका ज्ञान समस्त पदार्थोंमे संचार करता है अर्थात् उन्हे अपना ज्ञेय बनाता है तथापि वह निश्चयनयसे आत्मज्ञानरूप ही होता है। आपके ज्ञानकी कोई ऐसी अद्भुत महिमा है कि वह अनेक पदार्थोंको अपने आपमे प्रतिबिम्बित करता हुआ भी शुद्ध सामान्य ज्ञानरूप ही रहता है। जिसप्रकार दर्पणमे अनेक पदार्थ झलकते हैं पर दर्पण उन पदार्थोंके विकल्पसे रहित होता हुआ दर्पणरूप ही रहता है। उन पदार्थोंके विषयमें दर्पणका कुछ भी ममत्वभाव नही होता है उसीप्रकार आपके ज्ञानमे स्वच्छताके कारण विश्वके समस्त पदार्थ झलकते है परन्तु आपका ज्ञान ज्ञान ही रहता है—उन अनन्त ज्ञेयोंमें उसका ममत्वभाव नहीं होता है॥१७॥

अन्यद्विश्वं बहिरिह तव ज्ञानविश्वं तथान्यत्
संविद्विश्वं यदिह किल सा संविदेवावभाति ।
सिंहाकारो मदननिहितः किं मधूच्छिष्टतोऽन्यो
विश्वाकारस्त्वयि परिणतः किं परस्त्वन्महिम्नः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगत्मे (बहि. विश्वं) बाह्य विश्व (अन्यद्) अन्य है (तथा) और (ज्ञानविश्वं) ज्ञानविश्व (अन्यत्) अन्य है। (इह) इनमे (यत्) जो (संविद्विश्वं) ज्ञानरूपी विश्व है (किल) निश्चयसे (सा संविदेव अवभाति) वह ज्ञानरूप ही रहता है। जिस प्रकार (मदननिहितः) मैन (मोम)के द्वारा धारण किया हुआ—मैन (मोम)से निर्मित (सिंहाकार.) सिंहका आकार (किं) क्या (मधूच्छिष्टत अन्य) मेन (मोम)से पृथक् है ? अर्थात् नही है, उसीप्रकार (त्वयि परिणतः) आपमे प्रतिबिम्बित (विश्वाकारः) विश्वका आकार (किं) क्या (त्वन्महिम्नः) आपकी महिमासे (परः) पृथक् है ? अर्थात् नही है।

भावार्थ—बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे ज्ञेयके दो भेद है। संसारके दृश्य और अदृश्य पदार्थ बाह्य ज्ञेय हैं और ज्ञानके भीतर झलकने वाले उनके आकार अभ्यन्तर ज्ञेय है। इन दोनो ज्ञेयोमे बाह्य ज्ञेय स्पष्ट ही ज्ञानसे पृथक् पदार्थ है परन्तु ज्ञानके भीतर झलकने वाला अन्तर्ज्ञेय निश्चयसे ज्ञान ही है उससे भिन्न नही है। जैसे मेन (मोम)से बनाया हुआ सिंहका आकार मेन (मोम)से पृथक् नही है उसी प्रकार आपके ज्ञानमे आये हुए ज्ञेय आपके ज्ञानसे भी भिन्न नही है ॥१८॥

मित्वा मेयं पुनरपि मितेः किं फलं ज्ञातुरन्यत्
मातुं विश्वं स्वयमिह मितं नासि नित्योद्यतस्त्वम् ।
दृक्संवित्त्योः स्खलितमखिलं रक्षतस्ते स्ववीर्य-
व्यापारोऽसौ यदसि भगवन्नित्यमेवोपयुक्तः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(मेयं) जानने योग्य पदार्थको (मित्वा) जानकर (पुनरपि) पश्चात् प्रकट होने वाला (मितेः फलं) जाननेका फल (किं) क्या (ज्ञातु.) जानने वालेसे (अन्यत्) पृथक् होता है ? अर्थात् नही। परन्तु (इह) इस जगत्मे (विश्वं) विश्वको (मातुं) जाननेके लिये (नित्योद्यत) निरन्तर उद्यत रहने वाले (त्वम्) आप (स्वयं) स्वय (मितं नासि) जाने हुए पदार्थ नही है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानका फल ज्ञातासे अभिन्न है उसप्रकार ज्ञेय, ज्ञातासे अभिन्न नही है—बहिर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञातासे भिन्न ही है। (भगवन्) हे प्रभो ! (यत्) जिस कारण (दृक्संवित्त्योः) दर्शन और ज्ञानके (अखिलं) समस्त (स्खलितं) स्खलनकी (रक्षत) रक्षा करने वाले—उन्हे स्खलनसे दूर रखने वाले आपका (असौ) यह (स्ववीर्यव्यापारः) आत्मबलका प्रभाव है जिससे आप (नित्यमेवोपयुक्तः असि) दर्शन और ज्ञानमे नित्य ही उपयुक्त रहते हैं।

भावार्थ—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चार पदार्थ हैं जो पदार्थको जानता है उसे प्रमाता, जो जानने योग्य है उसे प्रमेय, जिसके द्वारा जाना जाता है उसे प्रमाण और जो जाननेरूप क्रिया है उसे प्रमिति कहते हैं। यह प्रमिति हि प्रमाणका फल है। यह फल साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो प्रकारका है। साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है और परम्परा फल हान,

उपादान और उपेक्षा है। यहाँ अभेद विवक्षासे प्रमितिरूप फलकी चर्चा करते हुए आचार्यने कहा है कि प्रमेयको जाननेके पश्चात् अज्ञान निवृत्तिरूप जो फल होता है वह प्रमातासे भिन्न नहीं है क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति प्रमाताकी ही परिणति विशेष है। परन्तु जिस प्रकार प्रमितिका फल प्रमातासे पृथक् नही है उसीप्रकार प्रमेय प्रमातासे पृथक् नही है, यह नियम नही है क्योंकि प्रमाता जिस प्रकार स्वद्रव्यको जानता है उसी प्रकार पर द्रव्यको भी जानता है। तात्पर्य यह है कि बहिर्मेयकी अपेक्षा प्रमाता और प्रमेय पृथक्-पृथक् है। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार क्षायोपशमिक दर्शन और ज्ञानका धारक पुरुष निरन्तर किसी पदार्थमे उपयुक्त नहीं रहता किन्तु क्रम-क्रमसे ही उपयुक्त रहता है उस प्रकार क्षायिक दर्शन और ज्ञानका धारक पुरुष क्रम क्रमसे उपयुक्त नही रहता। किन्तु निरन्तर ही उपयुक्त रहता है। निरन्तर उपयुक्त रहनेका कारण यह है कि उसके ज्ञान और दर्शनके साथ जो क्षायिक अनन्त वीर्य प्रकट हुआ है वह उन्हें स्खलित नही होने देता। इन्ही दृष्टियोकी अपेक्षासे यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आप विश्वको जाननेके लिये निरन्तर उपयुक्त रहते हुए भी विश्वरूप नही है तथा आप ज्ञान और दर्शनमे निरन्तर उपयुक्त रहते है ॥१९॥

नानारूपैः स्थितमतिरसाद् भासयद् विश्वमेतत्
शब्दब्रह्म स्वयमपि समं यन्महिम्नाऽस्तमेति।
नित्यव्यक्तस्त्रिसमयभवद्वैभवारम्भभूम्ना
निस्सीमापि ज्वलति स तव ज्योतिषा भावपुञ्जः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(नानारूपैः स्थितम्) नानारूपोंसे स्थित (एतद् विश्वम्) इस विश्व—लोकालोकको (अतिरसात्) अत्यन्त स्पष्ट रूपसे (भासयत्) प्रकाशित करने वाला (शब्दब्रह्म अपि) शब्दब्रह्म भी (स्वयं) अपने आप (यन्महिम्ना) जिसकी महिमासे (सम) एक साथ (अस्तमेति) अस्तको प्राप्त हो जाता है तथा (त्रिसमयभवद्वैभवारम्भभूम्ना) त्रिकालवर्ती आपके वैभवारम्भकी बहुलतासे जो युक्त है ऐसी (तव) आपकी (ज्योतिषा) केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा (नित्यव्यक्तः) निरन्तर प्रकट रहने वाला (स भावपुञ्जः) वह पदार्थोंका समूह (निस्सीमापि) सीमा रहित होने पर भी (ज्वलति) प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति इतनी विशाल है कि उसकी महिमा से नानारूपोमे स्थित समस्त विश्वको प्रकाशित करनेवाला शब्दब्रह्म भी स्वय एक साथ समाप्त हो जाता है। साथ ही वह ज्योति आपके त्रिकालवर्ती ऐश्वर्यको प्रारम्भ करनेवाली है अर्थात् आपके आर्हन्त्यपदका प्रारम्भ इस केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा ही होता है। इस केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा विश्वके अनन्त पदार्थ निरन्तर प्रकाशित रहते हैं ॥२०॥

उद्यद्विश्वस्वरसमनिशं मर्मसु व्याप्य गाढं
लब्धप्रौढिस्तडिति परितस्ताडयन् सर्वभावान्।
देवात्यन्तं स्फुरति सततं निर्निमेषस्तवोच्चै-
रेकः कोऽयं त्रिसमयजगद्वस्मरो दृग्विकाशः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (उद्यद्विश्वस्वरसम्) उभरते हुए विश्वके यथार्थरूपको (अनिशं) निरन्तर (गाढं) गाढरूपसे (मर्मसु व्याप्य) अपने मर्म स्थानोंमे व्याप्त कर (लब्धप्रौढि:) जिसने पूर्ण-सामर्थ्यको प्राप्त किया है, जो (परितः) सब ओरसे (सर्वभावान्) समस्त पदार्थोंको (तडिति) तड़-तड़कर—शीघ्र ही (ताड़यन्) ताड़ितकर रहा है—अपना विषय बना रहा है। जो (सततं) निरन्तर (निर्निमेषः) टिमकारसे रहित है—निरन्तर उपयोगरूप रहता है तथा जो (त्रिसमयजगदुस्मर) त्रिकालवर्ती लोकको जाननेवाला है ऐसा (तव) आपका (अयं कः) यह कोई (दृग्विकाश) दर्शन गुणका विकाश—केवलदर्शन (उच्चै) उत्कृष्टरूपसे (अत्यन्त स्फुरति) अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है।

भावार्थ—ऊपरके पद्यमे केवलज्ञानकी महिमाका वर्णन था और इस पद्यमे केवलदर्शनकी महिमाका वर्णन किया जा रहा है। आचार्य कहते हैं कि हे देव ! आपका केवलदर्शन समस्त विश्वको अपना विषय बनाकर पूर्ण सामर्थ्यको प्राप्त है। वह शीघ्र ही समस्त पदार्थोंको देख रहा है, निरन्तर उपयोगात्मक है और त्रिकालवर्ती समस्त जगत्को अपने आपमे निलीन करने वाला है ॥ २१ ॥

सर्वत्राप्यप्रतिघमहिमा स्वप्रकाशेन शुम्भन्
दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरैर्द्रावयन् सर्वभावान् ।
विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तितश्री-
रेकः कोऽयं विलसति विभोर्जात्यचैतन्यपुञ्जः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(सर्वत्रापि) लोक-अलोक-सभी स्थानोंपर (अप्रतिघमहिमा) जिसकी महिमा निर्बाध है, जो (स्वप्रकाशेन शुम्भन्) अपने प्रकाशसे सुशोभित हो रहा है (दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरैः) बहुत दूर तक प्रकट होनेवाले आत्मरसके समूहसे जो (सर्वभावान्) समस्त पदार्थोंको (द्रावयन्) द्रवीभूत करता है—उन्हे अपना विषय बनाता है और (विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तित-श्रीः) समस्त पदार्थोंके आलम्बनसे झलकते हुए अनन्त पदार्थोसे जिसकी अन्तर्लक्ष्मी बढ़ रही है ऐसा (विभोः) आपका (अयम् कः एकः) यह कोई एक अद्वितीय (जात्यचैतन्यपुञ्जः) उत्कृष्ट चैतन्य का समूह (विलसति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ केवलज्ञान और केवलदर्शनके मूलाधाररूप चैतन्यगुणकी महिमाका वर्णन करते हुए आचार्य कह रहे है कि विभुका शुद्ध चैतन्यपुञ्ज सर्वत्र निर्बाध है अर्थात् समस्त लोक अलोकको जानता है। आत्मप्रकाशसे सुशोभित है। अपनी उत्कृष्ट महिमासे समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है और अपने आपके भीतर प्रतिबिम्बित होनेवाले अनन्त पदार्थोसे अपनी लक्ष्मीको सुशोभित करनेवाला है। हे प्रभो ! इन सब विशेषताओंसे आपका चैतन्यपुञ्ज अद्वितीय और अनिर्वचनीय है ॥२२॥

एकाकारस्वरसभरतोऽनन्तचैतन्यराजीः
सज्जः कर्तुं प्रतिपदममूर्निर्विभागावभासाः ।
आ विश्वान्तान्निविडनिकषैर्विष्वगुद्भासमानः
स्वामिन्नेकः स्फुरदपि भवान् कृत्स्नमन्यत् प्रमार्ष्टि ॥२३॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे प्रभो ! (एकाकारस्वरसभरतः) एकाकार आत्मरसके भारसे जो (प्रतिपदं) पद-पदपर (अमूः) इन (अनन्तचैतन्यराजीः) अनन्त चैतन्यके विकल्पोंको (निर्विभागावभासाः) निरंश प्रकाशसे युक्त (कर्तुं) करनेके लिए (सज्जः) तत्पर हैं तथा जो (आ विश्वान्तान्निविडनिकषैः) लोकान्त तक प्रसरित सघन संघर्षके द्वारा (विष्वग्) सब ओरसे (उद्भासमानः) सुशोभित हैं ऐसे (भवान्) आप (एकः) एक ही (स्फुरदपि) स्पष्ट प्रकाशमान होनेवाले (अन्यत् कृत्स्नम्) सूर्यादि अन्य समस्त पदार्थोंको (प्रमार्ष्टि) साफ कर रहे हैं—उन्हें निष्प्रभ कर रहे हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! चैतन्य—ज्ञान दर्शनमे ज्ञेयके आलम्बनसे जो अनन्त विकल्प उठ रहे हैं उन्हे आप एकाकार आत्मरसके भारसे एकरूप करनेके लिए सदा उद्यत हैं। आपका कहना है कि यतश्च वे विकल्प एक चैतन्यकी ही परिणति है अतः उनमे भेद नही है। 'ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण है, और ज्ञेय, लोकालोक प्रमाण है अतः ज्ञान भी लोकालोक प्रमाण है'[1] इस सिद्धान्तके अनुसार आपका ज्ञान विश्वके अन्त तक बड़ी सघनतासे व्याप्त हो रहा है। इसी ज्ञानसे आप सब ओरसे शोभायमान है। इस ज्ञानके द्वारा आपने विश्वके सूर्यादि अन्य समस्त प्रकाशमान पदार्थोंको निष्प्रभ कर दिया है ॥२३॥

पीतं पीतं वमतु सुकृती नित्यमत्यन्तमेतत्
तावद्यावज्ज्वलति वमनागोचरो ज्योतिरन्तः ।
तस्मिन् देव ज्वलति युगपत् सर्वमेवास्य वान्तं
भूयः पीतं भवति न तथाप्येष वान्ताद एव ॥२४॥

अन्वयार्थ—(नित्यं) निरन्तर (पीतं-पीतं) बार-बार पिये हुए (एतत्) इस विकारी भावको (सुकृती) पुण्यशाली जीव (अत्यन्तं) अत्यन्तरूपसे (तावत्) तब तक (वमतु) उगलता रहे (यावत्) जब तक (वमनागोचरः) वमनका अगोचर–जिसका वमन न किया जा सके ऐसी (ज्योतिः) केवलज्ञानरूपी ज्योति (अन्तः) भीतर (ज्वलति) प्रकाशमान होती है। (देव) हे भगवन् ! (तस्मिन् ज्वलति 'सति') उस केवलज्ञानरूपी ज्योतिके देदीप्यमान होनेपर (अस्य) इस जीवका (सर्वमेव) सभी विकारी भाव (युगपत्) एकसाथ उस तरह (वान्त) वान्त हो जाता है—बाहर निकल जाता है कि जिस तरह वह (भूयः) पुनः (पीतं न भवति) ग्रहणमे नही आता। इस प्रकार इस आत्माने यद्यपि समस्त पर पदार्थोंका त्याग किया है तथापि (तथापि एष वान्ताद एव) ममत्वभावसे छोडे हुए पदार्थोंका ज्ञाता होनेसे उन्हे ज्ञेयके रूपमे ग्रहण करता ही है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने पुण्यशाली जीवोंको उन समस्त विकारी भावोंके उगलनेकी प्रेरणा दी है जिन्हें उन्होंने अनादिकालसे ग्रहण कर रक्खा है। विकारी भावोंके उगलनेका उपदेश तब तकके लिए है जब तक अन्तरंगमे दिव्यज्योति प्रकट नहीं हुई है क्योंकि उस दिव्यज्योतिके प्रकट होनेपर समस्त विकारीभाव स्वयं ही बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार बाह्य पदार्थोंका स्वामित्वकी अपेक्षा त्याग होनेपर भी यह आत्मा उन पदार्थोंको जानता रहता है अर्थात् ज्ञेयके रूप मे ग्रहण करता रहता है ॥२४॥

१. प्रवचनसार गाथा २३ ।

एकानेकं गुणवदगुणं शून्यमत्यन्तपूर्णं
नित्यानित्यं विततमततं विश्वरूपैकरूपम् ।
चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गै-
रुन्मज्जन्तं कलयति किल त्वामनेकान्त एव ।।२५।।

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (अनेकान्त एव) अनेकान्त ही (त्वाम्) आपको (एकानेकं) एक-अनेक, (गुणवदगुणं) गुण सहित, गुण रहित, (शून्यमत्यन्तपूर्णं) शून्य-अशून्य, (नित्यानित्यं) नित्य-अनित्य, (विततमततं) व्यापक अव्यापक, (विश्वरूपैकरूपम्) विश्वरूप एकरूप तथा (चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गैः उन्मज्जन्त) चैतन्यके समूहसे संसारके आभोग विस्तार को क्षीण करनेवाली ज्ञानकी उठती हुई तरंगोसे (उन्मज्जन्तं) उन्मग्न होता हुआ (कलयति) सिद्ध करता है।

भावार्थ—एक ही पदार्थमे परस्पर विरोधी दो धर्मोंके अस्तित्वका विवक्षावश निरूपण करना अनेकान्त है। यह अनेकान्त ही आपको द्रव्यकी अपेक्षा एक और पर्यायकी अपेक्षा अनेक सिद्ध करता है। भेदनयकी अपेक्षा गुणसहित और अभेदनयकी अपेक्षा गुणरहित बताता है। परकीय चतुष्टय अथवा विभावभावोकी अपेक्षा शून्य और स्वकीय चतुष्टय अथवा स्वभावभावोंकी अपेक्षा पूर्ण सिद्ध करता है। सामान्यकी अपेक्षा नित्य और विशेषकी अपेक्षा अनित्य सूचित करता है। शरीर प्रमाण होनेकी अपेक्षा अव्यापक और लोकालोकावभासी ज्ञानकी अपेक्षा व्यापक बतलाता है तथा ज्ञेयकी अपेक्षा विश्वरूप और ज्ञानकी अपेक्षा एकरूप कहता है। इनके अतिरिक्त आप लोकाकोकव्यापी ज्ञानकी तरगोसे सदा उन्मग्न रहते है यह भी अनेकान्त ही बतलाता है ।। २५ ।।

■

ॐ

(२३)

हरिणी छन्दः

जयति परमं ज्योतिर्जैत्रं कषायमहाग्रह-
ग्रहविरहिताकम्पोद्योतं दिवानिशमुल्लसत् ।
ज्वलति परितो यस्मिन् भावा वहन्ति तदात्मतां
हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत् समम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(जैत्रं) जो कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके कारण विजयशील है, (कषायमहाग्रहग्रहविरहिताकम्पोद्योतं) जिसका उद्योत—प्रकाश कषायरूपी महाग्रहकी चपेटसे रहित होनेके कारण अकम्प है—निश्चल है और जो (दिवानिशम्) रातदिन (उल्लसत्) सुशोभित रहती है ऐसी (परम ज्योतिः) केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति (जयति) जयवन्त है (यस्मिन् परितः ज्वलति 'सति') जिसके चारो ओर प्रकाशित रहने पर (भावाः) पदार्थ (हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत्) अग्निके द्वारा हठ पूर्वक सर्वांगरूपसे ग्रस्त ईंधनके समान (समम्) एकसाथ (तदात्मता) ज्योतिः स्वरूपताको (वहन्ति) धारण करते है ।

भावार्थ—यहाँ आचार्य, भगवान्के केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका यशोगान करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी वह केवलज्ञानरूपी ज्योति कर्मशत्रुओंको जीतनेके कारण विजयशील है, कषायरूपी महापिशाचकी पकड़से रहित होनेके कारण निश्चल प्रकाशसे सहित है, रातदिन देदीप्यमान रहती है और जिसप्रकार अग्निसे व्याप्त ईंधन अग्निरूप हो जाता है उसीप्रकार उसके भीतर प्रतिफलित होनेवाले पदार्थ उसीरूप हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होते हैं वे अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानाकार ही हो जाते है ॥१॥

त्वमसि भगवन् विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमो
मृदुरसदृशप्रज्ञोन्मेषैः स्खलद्भिरयं जनः ।
तदलमफलैर्वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः
कतिपयपदन्यासैराशु त्वयीश विशाम्ययम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (त्वम्) आप (विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमः) लोकालोकमे व्याप्त चैतन्यके उद्गम—केवलज्ञानसे सहित है और (अयं जनः) यह मैं (स्खलद्भिः) स्खलित होनेवाले (असदृशप्रज्ञोन्मेषैः) हीनाधिक प्रज्ञाके उन्मेषोंसे—अल्पतम क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे (मृदुः) कोमल—मन्दबुद्धि है (तत्) इसलिए (त्वयि) आपके विषयमे (अफलैः) निष्फल (वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः) वचनक्रीडाके विकारको विडम्बित करनेवाले (कतिपयपदन्यासैः) कुछ पदोकी रचना करना

(अलम्) व्यर्थ है (ईश) हे नाथ ! (अयम्) यह मैं तो (आशु) शीघ्र ही—कुछ कहे बिना ही (त्वयि) आपमें (विशामि) प्रवेश कर रहा हूँ—चुपचाप आपकी शरणमें आ रहा हूँ।

भावार्थ—आप अनन्त ज्ञानके स्वामी हैं और स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ मैं अत्यन्त अल्पज्ञानी हूँ अतः कतिपय शब्दोंके द्वारा आपकी स्तुति करना व्यर्थ है। मै ज्ञान और शब्द दोनोसे न्यून हूँ, अतएव शब्दों द्वारा आपकी स्तुति करना मेरे लिए शक्य नहीं है। यही सब विचारकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥२॥

किमिदमुदयत्यानन्दौघैर्मनांसि विघूर्णयत्
सहजमनिशं ज्ञानैश्वर्यं चमत्कृतिकारितैः ।
प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया
तुलयति दृशा विश्वं विश्वं यदित्यवहेलया ॥३॥

अन्वयार्थ—(चमत्कृतिकारितैः) चमत्कारके द्वारा उत्पादित (आनन्दौघैः) आनन्दके समूहों से जो (मनांसि) मनोंको (विघूर्णयत्) घुमा रहा है—चञ्चल कर रहा है ऐसा आपका (इद) यह (सहजं) स्वाभाविक (ज्ञानैश्वर्यं) ज्ञानरूपी ऐश्वर्य (किम्) क्या (अनिशं) निरन्तर (उदयति) उदयको प्राप्त हो रहा है (यत्) जिस कारण वह (इति) इस तरह (अवहेलया) अनादर भावसे (प्रसभविल-सद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया दृशा) हठपूर्वक प्रकट होनेवाले वीर्यके आरम्भसे अत्यन्त गंभीर दृष्टिके द्वारा (विश्वं विश्व) सम्पूर्ण विश्वको (तुलयति) तुलित करता है—जानता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञानसाम्राज्य अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तबलसे परिपूर्ण है ॥३॥

ललितललितैरात्मन्यासैः समग्रमिदं जगत्—
त्रिसमयलसद्भावव्याप्तं समं ज्वलयन्नयम् ।
तदुपधिनिभाद् वैचित्र्येण प्रपञ्च्य चिदेकतां
ज्वलसि भगवन्नेकान्तेन प्रसह्य निरिन्धनः ॥४॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (त्रिसमयलसद्भावव्याप्तं) तीन कालसम्बन्धी पदार्थोंसे व्याप्त (इदं) इस (समग्रं) सम्पूर्ण (जगत्) जगत्को जो (ललितललितैः) अत्यन्त सुन्दर (आत्म-न्यासैः) ज्ञानरश्मियोंसे (समं) एक साथ (ज्वलयन्) प्रकाशित कर रहे है ऐसे (अयम्) यह आप (एकान्तेन) नियमसे (निरिन्धनः) अन्य सहायकोके बिना ही (तदुपधिनिभात्) जगत्रूप उपधिके छलसे (चिदेकतां) चैतन्यकी एकताको (वैचित्र्येण) नानारूपसे (प्रपञ्च्य) विस्तृत कर (ज्वलसि) देदीप्यमान हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीन कालसम्बन्धी पदार्थोंसे व्याप्त समस्त जगत्को किसी बाह्य पदार्थोंकी सहायताके बिना ही जानते हैं और जानते समय एकरूपताको धारण करनेवाले उस ज्ञानको ज्ञेयोंकी विभिन्नतासे अनेकरूपताको प्राप्त कराते है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, एक और अनेक इन दो परस्पर विरोधी भंगोसे सहित है। ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा वह एक है और अनेक ज्ञेयोंके प्रतिबिम्बित होनेसे अनेकरूप है। यहाँ अनेक भंगका उल्लेख किया गया है ॥४॥

समपतितया स्फीतस्फीतोद्विलासलसद्दृशा
स्वरसकुसुमं विश्वं विश्वात्तवेश विचिन्वतः ।
किमपि परतो नान्तस्तत्त्वग्रहं प्रतिपद्यते
विकसति परं भिन्नाभिन्ना दृगेव समन्ततः ।।५।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (समपतितया) समानरूपसे पड़नेवाली (स्फीतस्फीतोद्विला-सलस दृशा) अत्यधिक उत्कृष्ट विलाससे सुशोभित दृष्टिके द्वारा (विश्वात्) समस्त जगत्से (विश्वं) सम्पूर्ण (स्वरसकुसुमं) आत्मस्वभावरूपी पुष्पको (विचिन्वतः) चुननेवाले (तव) आपकी (दृग्) दृष्टि (परतः) अन्य बाह्य परद्रव्यसे (किमपि) कुछ भी (अन्तस्तत्त्वग्रहं) अन्तरंग तत्त्वके ग्रहणको (न प्रतिपद्यते) प्राप्त नही होती है (परं) किन्तु (भिन्नाभिन्ना) भिन्न होकर भी अभिन्न रहनेवाली (दृगेव) दृष्टि ही (समन्ततः) सब ओर (विकसति) विकसित होती है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! यह संसार एक उद्यान है इस उद्यानसे आप अपनी प्रखर दृष्टिके द्वारा देखकर आत्मस्वभावरूपी पुष्पको चुन रहे हैं। इस चुननेकी क्रियामें आपकी दृष्टि किसी बाह्य पदार्थकी सहायता नही लेती है किन्तु वह स्वयं ही सब ओर विकसित होती है । हे भगवन् ! आपके जो केवलदर्शन प्रकट हुआ है वह परनिरपेक्ष है—उसे किसी अन्य सहायककी आवश्यकता नहीं है तथा उस केवलदर्शनके द्वारा आप संसारके अन्य पदार्थोसे पृथक् शुद्ध आत्मस्वरूपको ही ग्रहण करते है। क्योंकि परमार्थसे केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्माको ही विषय करते है व्यवहार से लोकालोकको विषय करते हैं। वह केवलदर्शन गुणगुणीके भेदकी अपेक्षा आपके आत्मासे भिन्न है और प्रदेशभेद न होनेसे अभिन्न भी है ।।५।।

इदमतिभरान्नानाकारं समं स्नपयन् जगत्
परिणतिमितो नानाकारैस्तवेश चकास्त्ययम् ।
तदपि सहजव्याप्त्या रुन्धन्नवान्तरभावनाः
स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारसः ।।६।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन् ! (नानाकारं) नाना आकारोंसे युक्त (इदम्) इस (सम) समस्त (जगत्) जगत्को (अतिभरात्) अत्यधिक रूपसे (स्नपयन्) नहलाने वाला—जानने वाला (तव) आपका (अयम्) यह (चिदेकमहारसः) चैतन्यरूप अद्वितीय महान् रस यद्यपि (नानाकारैः) नाना आकारोंसे (परिणतिमितः) परिणतिको प्राप्त हुआ है अर्थात् नाना पदार्थोंको जाननेसे नाना रूप हुआ है (तदपि) तोभी (सहजव्याप्त्या) सहज-स्वभावकी व्याप्तिसे (अवान्तरभावनाः) अवान्तर —अन्तर्गत भावनाओंको–ज्ञेयाश्रित (रुन्धन्) विकल्पोंको रोकता हुआ (परितोऽपि) सभी ओर (एकाकारः) एकाकार ही (स्फुरति) सुशोभित है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान नाना पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा यद्यपि नाना-रूप परिणतिको प्राप्त हुआ है तथापि अपने सहज स्वभावसे जब घटपटादि अन्य अवान्तर पदार्थों-की विवक्षाको गौण कर दिया जाता है तब वह एकाकार ही रहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक दर्पण, नाना पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करनेसे नानारूप परिणमन करता हुआ प्रतीत

होता है परन्तु परमार्थसे वह एक ही रहता है इसीप्रकार नाना पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा केवलज्ञान नानारूप परिणमन करता हुआ प्रतीत होता है परन्तु परमार्थसे वह एकाकार ही रहता है ॥६॥

समसुदयतः शान्तातङ्कैः स्वभावविलासिभि—
श्चिदचलकलापुञ्जैः पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः ।
अयमतिभरक्षोभारम्भैः स्फुटानुभवस्तव
प्रलयमगमच्चित्राकारः कषायपरिग्रहः ॥७॥

अन्वयार्थ—(शान्तातङ्कैः) जिनमे समस्त भय शान्त हो गये है (स्वभावविलासिभि.) जो स्वभावमे विलसित हो रहे है और (पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः) जिनमे आत्माकी विशुद्धता एकत्रित हुई है ऐसे (चिदचलकलापुञ्जैः) चैतन्यकी अविनाशी कलाओके समूहके (समं) साथ (उदयत) अभ्युदयको प्राप्त होनेवाले (तव) आपका (अतिभरक्षोभारम्भैः) अत्यधिक क्षोभके आरम्भसे (स्फुटानुभवः) स्पष्ट ही अनुभवमे आनेवाला (चित्राकारः) नाना प्रकारका (अयम्) यह (कषायपरिग्रहः) कषायरूप परिग्रह (प्रलयम्) विनाशको (अगमत्) प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप निर्भय, स्वभावमे लीन तथा आत्मविशुद्धिसे युक्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोके साथ इस आर्हन्त्य अवस्थारूप ऐश्वर्यको प्राप्त हुए है इससे सिद्ध है कि आपका वह कषायरूप परिग्रह पहले ही नष्ट हो गया था जो रागद्वेषके कारण स्पष्ट ही अनुभवमे आ रहा था तथा इष्ट अनिष्ट विषयोंके भेदसे नाना प्रकारका था । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार देदीप्यमान ज्वालाओके प्रकट होते ही अग्निकी सधूम अवस्था नष्ट हो जाती है उसी प्रकार केवलज्ञानादि गुणोके प्रकट होते ही आत्माकी सकषाय अवस्था नष्ट हो जाती है ॥७॥

उदयसि यदा ध्वस्ताधारं भरात् परितः (तोऽ)स्खलत्
प्रविततमिदं सम्यक् संविद्वितानमुदञ्चयन् ।
अयमभिभवन्नन्तस्तत्त्वं जनस्य निराश्रय-
ष्टसिति कपटग्रन्थिर्गाढस्तदा प्रविलीयते ॥८॥

अन्वयार्थ—(ध्वस्ताधारं) जिसने बाह्य आधारको नष्ट कर दिया है तथा जो (भरात्) बड़ी प्रबलतासे (परित. अस्खलत्प्रविततम्) चारों ओर अस्खलितरूपसे विस्तृत हो रहा है ऐसे (इदं) इस (सम्यक् संविद्वितानम्) सम्यग्ज्ञानके समूहको (उदञ्चयन्) प्रकट करते हुए आप (यदा) जिस समय (उदयसि) उदयको प्राप्त होते है (तदा) उस समय (जनस्य) जीवोके (अन्तस्तत्त्वम्) अन्तस्तत्त्वको (अभिभवन्) अभिभूत—तिरस्कृत करनेवाली (अयम्) यह (गाढः) मजबूत (कपटग्रन्थिः) कपटरूपी गॉठ (निराश्रयः) निराधार होती हुई (टसिति) शीघ्र ही (प्रविलीयते) बिलकुल नष्ट हो जाती है ।

भावार्थ—जिस समय लोकालोकावभासी, असहाय केवलज्ञान प्रकट होता है उस समय लोगोके अन्तस्तत्त्वको आच्छादित करनेवाली मोहरूपी मजबूत गाँठ अपने आप खुल जाती है । तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान मोहक्षयपूर्वक ही होता है ॥८॥

विषयततयो भान्त्योऽत्यन्तं विमुक्तपरिग्रहे
भवति विकृतिव्यापाराय प्रभो न भवन्त्यमूः ।
प्रकृतिममितः संश्रित्येव स्फुटं तव चिन्मयीं
स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः ॥९॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन् ! (अत्यन्तं विमुक्तपरिग्रहे) जिनका परिग्रह—मूर्च्छाभाव बिलकुल छूट गया है ऐसे (भवति) आपमे (भान्त्यः) प्रकट होनेवाली (अमूः) ये (विषयततयः) विषयोंकी पङ्क्तियाँ (विकृतिव्यापाराय) विकार उत्पन्न करनेके लिये (न भवन्ति) समर्थ नही हैं सो जान पड़ता है कि वे (तव) आपकी (चिन्मयीं प्रकृति स्फुट संश्रित्येव) चैतन्यरूप प्रकृतिका स्पष्ट आश्रय लेकर ही मानों (स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः) आत्मस्वभावसे विकसित होनेवाले शुद्ध और निश्चल शुद्धोपयोगसे व्याप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञानमे जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण तथा शब्दरूप विषय आते थे वे सराग अवस्थामे विकारके कारण हो जाते थे परन्तु अब आपके क्षायिक ज्ञानमे जो विषय आते हैं वे सराग अवस्थाके नष्ट हो जानेसे कुछ भी विकार उत्पन्न नही करते है इससे ऐसा जान पड़ता है मानों वे विषय आपके चैतन्य स्वभावका आश्रय करके ही विकार उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यसे रहित हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि स्पर्शादि विषय आपके ज्ञेय मात्र रह गये है भोग्य नही ॥९॥

निविडनिविडे मोहग्रन्थौ प्रसह्य विलायिते
तव परमिदं ज्ञातृ ज्ञानं न कर्तृ न भोक्तृ च ।
यदिह कुरुते भुङ्क्ते वा तत्तदेव सदैव तत्
किल परिणतिः कार्यं भोगः स्फुटोऽनुभवः स्वयम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(निविडनिविडे) अत्यन्त सघन (मोहग्रन्थौ) मोहरूपी गाँठके (प्रसह्य) हठ पूर्वक (विलायिते) नष्ट किये जाने पर (तव) आपका (इदं) यह (परं) उत्कृष्ट (ज्ञानं) ज्ञान, (ज्ञातृ) ज्ञाता ही रह गया है (कर्तृ न) कर्ता नही है (च) और (भोक्तृ न) भोक्ता नही है। (इह) इस जगत्मे (तत्) वह ज्ञान (यत् कुरुते) जिसे करता है (वा) अथवा (यत् भुङ्क्ते) जिसे भोगता है (तत्) वह (सदैव) सदा ही (तदेव) ज्ञान ही है, अन्य नहीं क्योंकि (किल) निश्चयसे (परिणतिः) परिणति ही (कार्यं) कार्य है और जो (स्वयं अनुभवः) स्वय अनुभव होना है वही (स्फुटः भोगः) स्पष्ट भोग है।

भावार्थ—जबतक मोह रहता है तभी तक ज्ञानमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका भाव रहता है मोहके निकल जानेपर ज्ञान, मात्र ज्ञाता रह जाता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी विवक्षामे वह ज्ञान ही कर्ता और ज्ञान ही भोक्ता होता है अन्य नही ॥१०॥

त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः
स्फुरसि भगवन्नेकोऽपि त्वं समग्रभरक्षमम् ।
प्रतिपदमिदं वस्त्वेवं स्यादिति स्पृशतो दृशं
सहजकलनक्रीडा मूर्तेर्नचास्ति श्र(प)रस्तव ॥११॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे नाथ ! (त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः) तीनों कालोंमें सुशोभित समस्त क्रीडाओं सम्बन्धी सुखके अद्वितीय पर्वत (त्वम्) आप (एकोऽपि) एक होते हुए भी (समग्रभरक्षमम् 'यथा स्यात्तथा') समग्र भारके धारण करनेमे समर्थ जिस तरह हों उस तरह (स्फुरसि) देदीप्यमान हो रहे हैं। (प्रतिपदं) पद-पद पर (इदं वस्तु एवं स्यात्) यह वस्तु ऐसी है इस प्रकार (दृशाम्) दर्शनका (स्पृशतः) स्पर्श करने वाले—धारण करने वाले (तव) आपकी (सहजकलनक्रीडा) सहज स्वभावमे रमणरूप जो क्रीडा है वह (मूर्तेः) ज्ञानदर्शनरूप मूर्तिसे (पर. न चास्ति) भिन्न नही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! त्रिकाल सम्बन्धी क्रीडाओंके सुखके आधारभूत आप एक होकर भी समस्त भार धारण करनेमे समर्थ हैं। आपके ज्ञानमे वस्तुका जैसा परिणमन अवभासित है वैसा ही उसका स्वभाव है। आत्माकी जो सहज स्वभावमे रमणरूप क्रीडा है वह आपके ज्ञायक स्वभावसे पर नही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ज्ञान दर्शन गुण आपसे अभिन्न है उसी प्रकार सुख गुण भी आपसे अभिन्न हैं ॥११॥

स्फुरति परितो बाह्यार्थानां य एष महाभरः
स्वरससरसा ज्ञानस्यैतास्तवैव विभूतयः ।
स्फुरति न जडश्चित्संस्काराद्विनैव निराकुलः
कलय युगपल्लोकालोकौ परैरकलङ्कितः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(परित·) चारों ओर (बाह्यार्थाना) बाह्य पदार्थोंका (य एष महाभरः) जो यह महान् भार (स्फुरति) स्फुरायमान होता है (एताः) ये (तव) आपके (ज्ञानस्यैव) ज्ञानकी ही (स्वरससरसाः) आत्मरससे सरस (विभूतय) विभूतियाँ है क्योकि (चित्संस्कारात् विना) चैतन्यके सस्कारके बिना (जड.) केवल जड अचेतन पदार्थ (नैव स्फुरति) चेष्टा नही करता है अतः (निराकुल.) परकी आकुलतासे रहित और (परैः) अन्य पदार्थोसे (अकलङ्कित)—निरपेक्ष होते हुए आप (युगपत्) एक साथ (लोकालोकौ) लोक और अलोकको (कलय) जानें।

भावार्थ—हे भगवन् ! चारो ओर जो बाह्य पदार्थोंका महान् समूह विद्यमान है वह सब अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानका ही परिणमन है क्योंकि ज्ञानकी चेष्टाओके बिना केवल जड़की चेष्टाएं नही होती हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार छद्मस्थ जीव, इन्द्रियोंके आधारभूत शरीरकी चेष्टाओंसे पदार्थोंको जानते है उसप्रकार आप शरीरकी चेष्टाओसे पदार्थोंको नही जानते। आप परसे निरपेक्ष रहकर ही लोकालोक को जानते है। इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञानका धारक छद्मस्थ क्रमसे ही पदार्थोंको जानता है परन्तु आप क्षायिकज्ञानके धारक हैं तथा इन्द्रियोकी सहायतासे निरपेक्ष है अतः एक ही साथ लोकालोकको जाननेवाले है ॥१२॥

दलितदलनैश्छिन्नच्छेदैर्विभिन्नविभेदनै-
रनवधिलसत्पर्यायौघैर्विभक्तमनन्तशः ।
निशितनिशितैः शक्त्युद्गारैरवारितविक्रमैः
कलय कलशः कुर्वन्नेतत्समस्तमतन्द्रितः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(दलितदलनैः) खण्डितको खण्डित करनेवाले (छिन्नच्छेदैः) छिन्नको छेदनेवाले और (विभिन्नविभेदनैः) विभिन्नको विभिन्न करनेवाले अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म (अनवधिलसत्पर्यायौघैः) सीमातीत एवं शोभायमान पर्यायोंके समूहसे (अनन्तशः) अनन्तोंबार (विभक्तं) विभाग को प्राप्त हुए (एतत् समस्तं) इन समस्त पदार्थोंको (अतन्द्रितः 'सन्') आलस्य रहित होते हुए आप (निशितनिशितैः) अत्यन्त तीक्ष्ण और (अवारितविक्रमैः) जिनके विक्रमको कोई रोक नही सकता ऐसे (शक्त्युद्गारैः) शक्तिके उद्गारोंसे (कलशः कुर्वन्) खण्ड-खण्ड करते हुए (कलय) जानो।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थको अपनी तीक्ष्ण ज्ञान शक्तिके द्वारा और भी सूक्ष्म करते हुए जानते है ॥१३॥

चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं परितो हठा-
द्यदतिकलनात् त्रैलोक्यं ते भवत्यतिमुर्मुरः ।
स्वयमतिशयस्फीर्ति संश्रिद्विशेषगरीयसीं
जगदविषयं ज्ञानानन्त्यं तवैव विभाति तत् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(परितः) सब ओरसे (हठात्) हठ पूर्वक (चितिहुतवहस्य) चैतन्यरूपी अग्निके (एकाङ्गारीकृतम्) प्रमुख अङ्गाररूप किया हुआ (त्रैलोक्यं) तीन लोकका समूह (यदतिकलनात्) जिसके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे ज्ञान होनेके कारण (ते) आपके लिये (अतिमुर्मुर) अत्यन्त सूक्ष्म तिलगा (अंगार) रूप (भवति) होता है, जो स्वयं (विशेषगरीयसी) अत्यधिक गुरुतर (अतिशयस्फीर्ति) बहुतभारी विस्तारको (संश्रित्) प्राप्त हो रहा है तथा जो (जगदविषय) जगत्का अविषय है अर्थात् जगत्के अन्य जीवोको प्राप्त नही है (तत्) वह (ज्ञानानन्त्य) ज्ञानका अनन्तपना (तवैव) आपके ही (विभाति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो तीन लोकका समूह ज्ञानरूपी अग्निके भीतर अङ्गारके समान था वह ज्ञानकी जिस आनन्तताके कारण खण्ड-खण्डरूपसे ज्ञान होनेके कारण तिलगा (अगार) के समान जान पड़ने लगा तथा जो ज्ञानका अनन्तपना स्वयं अतिशय विस्तारको प्राप्त है, जगत्मे जो किसी अन्यको प्राप्त नही है ऐसा ज्ञानका अनन्तपना आपके ही है। तात्पर्य यह है कि आपही अनन्त ज्ञानके धारक हैं ॥१४॥

ककुभि ककुभि न्यस्यन् धामान्ययं न नभोमणिः
कलयति तव ज्ञानाग्न्येकस्फुलिङ्गतुलामपि ।
स्वयमुपयती प्राधान्येन प्रकाशनिमित्तता-
मजडकणिकामात्रापि स्यान्न जातु जडोपमा ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ककुभि ककुभि) प्रत्येक दिशामे (धामानि) किरणों अथवा तेजको (न्यस्यन्) बिखेरनेवाला (अयं) यह (नभोमणिः) सूर्य (तव) आपके (ज्ञानाग्न्येकस्फुलिङ्गतुलामपि) ज्ञानरूप अग्निके एक तिलगेकी उपमाको भी (न कलयति) नही प्राप्त होता है, क्योंकि (प्राधान्येन) प्रधानतासे (प्रकाशनिमित्तताम्) प्रकाशकी निमित्तताको (स्वयम् उपयती) स्वयं प्राप्त होनेवाली

(अजडकणिकामात्रापि) चैतन्यकी एक कणिका भी (जातु) कभी (जडोपमा) जड़के तुल्य (न स्यात्) नही हो सकती है।

भावार्थ—हे भगवन्! चारों दिशाओमे अपरिमित तेजको बिखेरनेवाला सूर्य, आपके ज्ञानरूपी अग्निके एक तिलगाके समान भी नही है। ठीक ही है क्योकि ज्ञानकी प्रधाननिमित्तताको प्राप्त होनेवाली चेतनकी एक कणिका भी कभी जड़की उपमाको प्राप्त नही हो सकती। तात्पर्य यह है कि सूर्य जड़ है अतः वह ज्ञानकी उपमाको प्राप्त नहीं कर सकता है ॥१५॥

अगुरुलघुभिः षट्स्थानस्थैर्गुणैः सहजैर्व्रजन्
क्रमपरिणतिं संविच्चक्रे नियत्युपवेशितः।
प्रभवविलयावासाद्यापि प्रतिक्षणमक्षरस्त्यजसि
न मनाक् टङ्कोत्कीर्णां कदापि चिदेकताम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—जो (षट्स्थानस्थैः) अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, इन छह स्थानोंमे स्थित (सहजैः) सहजस्वभाविक (अगुरुलघुभिः गुणैः) अगुरुलघु गुणोंके द्वारा (संविच्चक्रे) ज्ञानके समूहमे (क्रमपरिणतिं) क्रमपूर्ण परिणमनको (व्रजन्) प्राप्त होते हुए (नियत्युपवेशित) सामान्यकी अपेक्षा अपरिणमनशीलतासे युक्त है तथा (प्रभवविलयौ) उत्पाद और व्यय को (आसाद्य अपि) प्राप्त करके भी (प्रतिक्षणं) प्रत्येक समय (अक्षर) अविनाशी है—ध्रौव्यरूप हैं ऐसे आप (कदापि) कभी भी (टङ्कोत्कीर्णां) टाँकीके द्वारा उकेरी हुईके समान नित्य (चिदेकताम्) चैतन्यकी एकताको (मनाक्) कुछ भी (न त्यजसि) नही छोड़ते है।

भावार्थ—यद्यपि द्रव्यस्वभावके कारण अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानोमे परिवर्तन करनेवाले सहज सिद्ध अगुरुलघुगुणोके द्वारा आप ज्ञानादि गुणोमे क्रमसे परिणमन करते हैं तथापि नियतिसे सहित है अर्थात् सामान्यदृष्टिसे अपरिणमनशील है और यद्यपि प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्ययको प्राप्त हो रहे है तथापि ध्रौव्यरूप है ऐसे आप अपने चैतन्य स्वभाव-ज्ञानादि गुणोमे रञ्चमात्र भी सामान्यचित्स्वभावताको नहीं छोड़ते है—सामान्यकी अपेक्षा आप एक नित्य चैतन्यस्वभावको धारण करनेवाले है ॥१६॥

क्रमपरिणतैर्भावैर्भावस्समं न विगाह्यते
सममतिभरात्तैराक्लान्तो भवांस्तु विभाव्यते।
तदिदमुभयं भूतार्थं सन्मिथो न विरुध्यते
कलयसि सदा यद्भावानां विभो क्रममक्रमात् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(भावः) कोई भी पदार्थ (क्रमपरिणतैः) क्रमसे परिणत होने वाले (भावैः) भावोंके द्वारा (समं) एकसाथ (न विगाह्यते) युक्त नही होता है (तु) किन्तु (भवान्) आप (तैः) उन क्रमवर्ती भावोसे (समं) एक साथ (अतिभरात्) अत्यधिकरूपसे (आक्लान्तः) युक्त (विभाव्यते) जान पड़ते हैं (इदं तद् उभयं) यह दोनों बातें (भूतार्थं सत्) यथार्थ होती हुई (मिथो न विरुध्यते(

परस्पर विरुद्ध नही हैं (यत्) क्योंकि (विभो) हे प्रभो ! आप (सदा) निरन्तर (अक्रमात्) एकसाथ (भावाना क्रमं) पदार्थोंके (क्रमं) क्रमको (कलयसि) धारण करते हैं।

भावार्थ—संसारके अन्य पदार्थोंमे जो परिणमन होता है वह एक साथ न होकर क्रमसे ही होता है परन्तु आप उन क्रमवर्ती भावोंसे एकसाथ युक्त हैं। यह यद्यपि विरोधरूप मालूम पड़ता है तथापि विरोधरूप नही है क्योंकि क्रम-क्रमसे परिवर्तित होने वाले पदार्थ आपके ज्ञानमें एक साथ समाये हुए है अर्थात् प्रत्येक पदार्थके त्रिकालवर्ती परिणमन आपके ज्ञानमें आ रहे हैं इस दृष्टिसे यह कहा जाता है कि आप क्रमवर्ती भावोसे एकसाथ युक्त प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि आप पदार्थोंके त्रिकालवर्ती परिणमनको अपने केवलज्ञानके द्वारा एकसाथ जानते है ॥१७॥

स्वयमपि परात् प्राप्याकारं परोपकृतं वहन्
परविरहितः सर्वाकारैः परस्य सुनिर्भरः।
अवगमरसः शुद्धोऽत्यन्तं तवैष विजृम्भते
स्वभररभसव्यापारेण स्फुरन् सममात्मनि ॥१८॥

अन्वयार्थ—जो (स्वयं) स्वय (परात्) पर पदार्थसे (परोपकृतं) परके द्वारा उपकृत (आकारं प्राप्य) आकारको प्राप्त कर (वहन् अपि) धारण करता हुआ भी (परविरहितः) परसे रहित है तथा (परस्य) पर पदार्थके (सर्वाकारैः) समस्त आकारोंसे (सुनिर्भरः) अत्यन्त परिपूर्ण है (शुद्धः) रागादिक विकारोसे रहित होनेके कारण शुद्ध है और (स्वभररभसव्यापारेण) स्वस्वभावके वेगपूर्ण व्यापारसे (आत्मनि) अपने आत्मामे (समम्) एकसाथ (स्फुरन्) प्रकट है ऐसा (तव) आपका (एषः) यह (अवगमरसः) ज्ञानस्वभाव (अत्यन्तं) अत्यधिक (विजृम्भते) वृद्धिको प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञान अपनी स्वच्छताके कारण दर्पणके समान परपदार्थसे उसके आकारको ग्रहण कर यद्यपि अपने आपमें धारण करता है तो भी वह परमार्थसे पर पदार्थसे रहित है तथा रहित होनेपर भी उसके आकारसे परिपूर्ण है अर्थात् अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा परपदार्थोंके आकार आपके ज्ञानमे समाये हुए है। रागादिक विकारी भावोंका समूल नाश हो जानेसे आपका ज्ञान अत्यन्त शुद्ध है तथा अपने शुद्ध स्वभावरूप परिणमनसे आत्मामे सदा विद्यमान रहता है। ऐसा यह आपका वीतराग विज्ञान है ॥१८॥

अवगमसुधाधारासारैर्लसन्नपि सर्वत-
स्तदतिभरतो ज्ञानैकत्वं न नाम विगाहसे।
अवधिरहितैरेकद्रव्यश्रितैर्निजपर्ययै-
र्युगपदपरैरप्युल्लासं प्रयासि सुखादिभिः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(अवगमसुधाधारासारैः) ज्ञानरूप अमृतकी धाराओंकी अनवरत वृष्टिके द्वारा (सर्वतः) सब ओरसे (लसन्नपि) सुशोभित होते हुए भी आप (तदतिभरतः) उसके अत्यधिक भारसे (ज्ञानैकत्वं) मात्र ज्ञानके साथ एकत्वको (न नाम विगाहसे) नही प्राप्त होते है किन्तु (अवधिरहितैः) सीमातीत (एकद्रव्यश्रितैः) एक द्रव्य सम्बन्धी (निजपर्ययैः) अपनी पर्यायोसे उपलक्षित

(सुखादिभिः अपरैः अपि) सुखादिक अन्य गुणोंके द्वारा भी (युगपत्) एकसाथ (उल्लासं) उल्लास-को (प्रभासि) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप ज्ञानामृतकी धाराओंसे निरन्तर आप्लावित रहते हैं इसलिये ऐसा लगता है कि आप मात्र ज्ञानरूप ही हैं, परन्तु परमार्थ ऐसा नहीं है क्योंकि अपने अवान्तर परिणमनोंसे युक्त सुखादि अन्य गुणोंके साथ भी आपकी तन्मयता अनुभवमे आती है। तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणोंसे युक्त हैं तथा वे सब गुण अगुरुलघु-गुणोंके कारण अपने आपमे परिवर्तित होते रहते हैं ॥१९॥

सततमभितो ज्ञानोन्मेषैः समुल्लसति त्वयि
द्वयमिदमतिव्याप्त्यव्याप्ती विभो न विभाव्यते।
बहिरपि पतन् यच्छुद्धोऽसि स्वरूपपरायणः
पतसि च बहिर्विष्वक् शुद्धस्वरूपपरोऽपि यत् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो! (सततं) निरन्तर (ज्ञानोन्मेषैः) ज्ञानके उन्मेषो–विकल्पोसे (समुल्लसति) सुशोभित होनेवाले (त्वयि) आपमे (अतिव्याप्त्यव्याप्ती) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति (इद द्वयम्) यह दोनो दोष (न विभाव्यते) प्रतीत नही होते (यत्) क्योकि (बहिः पतन् अपि) बाह्य पदार्थोमे पडते हुए भी—बाह्य पदार्थोको जानते हुए भी आप (स्वरूपपरायणः शुद्धः असि) आत्म-रूपमें तत्पर रहनेवाले शुद्ध हैं (च) और (यत्) क्योंकि (शुद्धस्वरूपपरोऽपि) शुद्ध स्वरूपमे तत्पर होते हुए भी (विष्वक्) सब ओरसे (बहिः पतसि) बाह्य पदार्थोंमे पड़ते हैं—उन्हे जानते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप निरन्तर ज्ञानके उन्मेषोसे समुल्लसित हो रहे हैं अर्थात् निर-न्तर ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानते है। परन्तु आपका वह ज्ञान बाह्य पदार्थोंमे फैल कर अति-व्याप्ति दोषसे और स्वरूपमे न रह कर अव्याप्ति दोषसे दूषित नही है क्योंकि जब वह बाह्य पदार्थोंको जानता है तब स्वरूपको भी जानता है और जब स्वरूपको जानता है तब बाह्य पदार्थों-को भी जानता है। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान स्वपरव्यवसायी है—निज और पर दोनोंको जाननेवाला है ॥२०॥

सममतिभरादेतत् व्याप्य प्रभास्यबहिर्बहि-
स्तदपि न भवान् देवैकोऽन्तर्बहिश्च विभाव्यते।
प्रभवविलयारम्भे विष्वग् भवत्यपि यद्बहि-
स्त्रिसमयभुवष्टङ्कोत्कीर्णाः पराकृतयस्त्वयि ॥२१॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! यद्यपि (भवान्) आप (समम्) एकसाथ (अतिभरात्) अत्य-धिकरूपसे (अबहिः) भीतर और (बहिः) बाहर (व्याप्य) व्याप्त होकर (प्रभासि) सुशोभित हो रहे हैं (तदपि) तो भी (अन्तः च बहिः) भीतर और बाहर (एको न विभाव्यते) एक नही मालूम होते हैं (यत्) क्योकि (बहिः) बाहरमे (विष्वक्) सब ओर (प्रभवविलयारम्भे) उत्पाद और व्ययके आरम्भोंके (भवति अपि) होनेपर भी अन्तरङ्गमें (त्वयि) आपमें (त्रिसमयभुवः) तीन कालोंमें

होनेवाली (पराकृतय:) पर पदार्थोंकी आकृतियाँ (टङ्कोत्कीर्णा:) टांकीसे उकेरी हुईके समान निरन्तर विद्यमान है। अर्थात् बाह्यमें उत्पाद और व्ययसे सहित होने पर भी आप अन्तरङ्गमें उनसे रहित हैं—केवल ध्रुवरूप हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप यद्यपि भीतर और बाहर दोनो ओर एकसाथ व्याप्त होकर सुशोभित है तथापि एक नहीं हैं क्योंकि बाह्यमे तो आप उत्पाद और व्ययसे युक्त पदार्थाकृतियोंको जानते है अतः तद्रूप हैं और अन्तरंगमे पदार्थोंकी त्रिकाल सम्बन्धी आकृतियाँ आपमे टङ्कोत्कीर्ण हैं अतः ध्रौव्यरूप हैं ॥२१॥

त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः करम्बिततेजसि
स्फुरति परितोऽप्येकत्रात्मन्यसौ पुनरुक्तता।
वदति पुरुषानन्त्यं किन्तु प्रभो त्वमिवेतरै-
र्विषयपतितैः प्रत्येकं ते स्फुरन्त्यकृतद्वयाः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः) त्रिकाल और त्रिलोकके समस्त आकारोंसे (करम्बिततेजसि) जिसका तेज व्याप्त है ऐसे (एकत्र आत्मनि) एक आत्माके (परितः स्फुरति अपि) सब ओर प्रकट होने पर भी (असौ पुनरुक्तता) यह पुनरुक्तता (पुरुषानन्त्यं वदति) आत्माकी अनन्तता को कहती है (किन्तु) किन्तु (प्रभो) हे नाथ ! (ते) वे (प्रत्येकं) प्रत्येक अन्य आत्माएँ (त्वमिव) आपके ही समान (विषयपतितैः) विषयमें आये हुए (इतरैः) अन्य पदार्थोंके द्वारा (अकृतद्वया:) उत्पाद और व्ययको न करते हुए ध्रुवरूप (स्फुरन्ति) स्फुरित होती हैं—अनुभवमें आती हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! यद्यपि पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती आकृतियोंसे युक्त आत्मा एक ही है तथापि ज्ञेयोकी विभिन्नतासे आत्मा भी विभिन्न हैं ऐसा उपचारसे कहा जाता है परन्तु वे विभिन्न आत्माएँ भी आपके इसी आत्माके समान हैं अर्थात् जिस प्रकार आपका यह आत्मा ज्ञेय बनकर आये हुए अन्य द्रव्योंकी आकृतियोंसे सहित है उसी प्रकार वे आत्माएँ भी ज्ञेय बनकर आये हुए अन्य द्रव्योंकी आकृतियोंसे सहित हैं और अन्य द्रव्योंसम्बन्धी उत्पाद व्ययको करनेवाली नही हैं ॥२२॥

दृगवगमयोर्दिव्योच्छ्वासा निरावरणस्य ते
भृशमुपचिताः स्फूर्यन्ते तेऽप्रकम्पमहोदयैः ।
अपि हि बहुना तन्माहात्म्यं परेण न खण्ड्यते
यदतिभरतो गत्वाऽऽनन्त्यं पुरैव विजृम्भिताः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(निरावरणस्य) ज्ञानावरण और दर्शनावरणसे रहित (ते) आपके (भृशमुपचिताः) अत्यधिक संचयको प्राप्त हुए (ते) वे (दृगवगमयोः) दर्शन और ज्ञानके (दिव्योच्छ्वासाः) दिव्य विकल्प (अपि हि) यद्यपि (अप्रकम्पमहोदयैः) निश्चल—स्थायी महान् अभ्युदयके साथ (स्फूर्यन्ते) वृद्धिको प्राप्त होते हैं तथापि (बहुना परेण) बहुतभारी अन्य पदार्थके द्वारा (तन्माहात्म्यं) उनका माहात्म्य (न खण्ड्यते) खण्डित नही होता है (यत्) क्योंकि वे (अतिभरतः) अत्यधिक भारसे

(आनन्त्यं गत्वा) अनन्तपनेको प्राप्त कर (पुरैव) पहले ही (विजृम्भिताः) विस्तारको प्राप्त हो चुके हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञानावरण और दर्शनावरणके नष्ट हो जानेसे आपके जो केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हुए हैं उनके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं अथवा अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा उनके अनन्त अवान्तर विकल्प हैं। वे सब विकल्प स्थायीरूपसे स्फुरित हो रहे हैं—प्रकट हो रहे हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शनके उन अवान्तर विकल्पोंकी महिमा अन्य द्रव्यके द्वारा खण्डित नहीं होती क्योंकि वे अन्य द्रव्यके सहयोगके बिना स्वयं ही अनन्तपनेको प्राप्त कर विस्तृत हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि इनके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद स्वतःसिद्ध हैं ॥२३॥

युगपदखिलैरेकः साकं पदार्थकदम्बकैः
स्वरसविसरैस्त्वं व्यातुक्षीं भरादिव दीव्यसि।
अथ च न परान् सिञ्चस्युच्चैः परैश्च न सिच्यसे
स्फुरसि मिलिताकारैरेकोपयोगमहारसैः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (एकः) एक होकर भी (युगपत्) एक साथ (अखिलैः पदार्थकदम्बकैः साकं) समस्त पदार्थसमूहोंके साथ (स्वरसविसरैः) आत्मस्वभावरूप रसके समूहसे (भरादिव) जोरसे मानो (व्यातुक्षीं) फाग (दीव्यसि) खेल रहे है (अथ च) फिर भी (परान् न सिञ्चसि) आप दूसरे पदार्थोंको नही सीचते है (च) और आप स्वयं भी (परैः) दूसरे पदार्थोंके द्वारा (न सिच्यसे) नही सीचे जा रहे हैं। मात्र (मिलिताकारैः) जिसमे पदार्थसमूहोके आकार मिले हुए हैं ऐसे (एकोपयोगमहारसैः) एक उपयोगरूप महारससे (स्फुरसि) सुशोभित हो रहे है।

भावार्थ—परस्पर एक दूसरेपर रङ्ग डालना फाग खेलना कहलाता है। हे भगवन् ! आप अकेले ही अनन्त पदार्थोंके साथ फाग खेलते है। फाग खेलनेका रङ्ग निजस्वभाव रस है परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि इस फागमें न तो आपने ही पर पदार्थोको अपने रंगसे रगा है और न परपदार्थोंके द्वारा आप हो रंगे जा सके है। मात्र परपदार्थोंके आकार आपके ज्ञानोपयोगमे आकर मिल गये है। तात्पर्य यह है कि आप अपने ज्ञातृस्वभावसे ससारके समस्त पदार्थोंको जानते है परन्तु जानते समय आपका ज्ञातृस्वभाव आपके पास रहता है और ज्ञेय बने हुए समस्त पदार्थ अपने स्थानपर रहते है। ज्ञान, ज्ञेयरूप नही होता और ज्ञेय, ज्ञानरूप नही होते। ऐसा ही पदार्थका स्वभाव है। मात्र ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ज्ञानमे ज्ञेयोके आकार प्रतिफलित होते हैं ॥२४॥

अविरतमिमाः सम्यग्बोधक्रियोभयभावना-
भरपरिणमद्भूतार्थस्य स्फुरन्तु ममाद्भुताः।
परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवन-
मिलितामन्दानन्दाः सदैव तव श्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(सम्यग्बोधक्रियोभयभावनाभरपरिणमद्भूतार्थस्य) सम्यग्ज्ञान और सम्यक् क्रिया इन दोनोंकी भावनाओंके समूहसे जिसे भूतार्थ—परमार्थ तत्त्वकी प्राप्ति हुई है ऐसे (मम) मेरे (अवि-

रतं) निरन्तर (तव) आपकी (अद्भुताः) आश्चर्यकारक तथा (परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवनमिलितामन्दानन्दाः) उत्कृष्ट स्वाभाविक अवस्थामें लगे हुए उपयोगरूपी रसमे तैरनेसे जिनमे बहुत भारी आनन्द आकर मिला है ऐसी (इमा) ये (श्रियः) अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मियां (सदैव) निरन्तर ही (स्फुरन्तु) प्रकट हो।

भावार्थ—इस पच्चीसिकाके अन्तमे आचार्य स्तुतिके फलस्वरूप यह आकांक्षा प्रकट करते हैं कि हे भगवन्! मैं ज्ञाननय और क्रियानयके एकान्तसे विमुक्त हो दोनोंकी भावनासे यथार्थता को प्राप्त करूँ अर्थात् दोनों नयोकी भावनासे ही मैं यथार्थरूपताको प्राप्त हो सकता हूँ क्योकि मात्र ज्ञाननय की चर्चा करनेवाले अथवा मात्र क्रियानयकी चर्चा करनेवाले जीव इसी ससार समुद्रमे मग्न रहते है किन्तु इसके विपरीत जो दोनोका आलम्बन लेते है वे ही संसार समुद्रसे पार होते हैं[१]। आचार्यने दूसरी आकाक्षा यह प्रकट की है कि जब मैं उभय नयोके आश्रयसे भूतार्थताको प्राप्त कर लू तब मेरे भी आपकी ये आश्चर्यकारक अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मियां निरन्तर प्रकट हों। इन लक्ष्मियोंकी विशेषता यह है कि इनके द्वारा अपने सहज स्वभावमे लीन उपयोगरूपी रसमे तैरनेसे बहुत भारी आनन्दकी प्राप्ति स्वय हो जाती है ॥२५॥

■

---

१. मग्ना. कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति य—
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१२॥
—कलश, पुण्यपापाधिकार ।

ॐ

(२४)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

एकानेकमपूर्णपूर्णमततप्रस्तीर्णगूढस्फुटं
नित्यानित्यमशुद्धशुद्धमभितस्तेजो दधत्यद्भुतम् ।
दिव्यानन्तविभूतिभासिनि चितिद्रव्ये जिनेन्द्रेऽधुना
मज्जामः सहजप्रकाशभरतो भातीह विश्वस्पृशि ॥१॥

अन्वयार्थ—(एकानेकम्) एक और अनेक (अपूर्णपूर्ण) अपूर्ण और पूर्ण (अततप्रस्तीर्णगूढस्फुटम्) अविस्तृत और विस्तृत, गूढ और प्रकट (नित्यानित्यं) नित्य और अनित्य (अशुद्धशुद्धम्) अशुद्ध और शुद्ध तथा (अद्भुत) आश्चर्यकारक (तेज:) तेजको (अभित:) सब ओरसे (दधति) धारण करनेवाले (दिव्यानन्तविभूतिभासिनि) दिव्य तथा अनन्त विभूतिसे विभूषित, (सहजप्रकाशभरत:) सहज स्वाभाविक प्रकाशके भारसे (भाति) सुशोभित होनेवाले तथा (विश्वस्पृशि) समस्त विश्वका स्पर्श करनेवाले—सर्वज्ञ, (चितिद्रव्ये) चैतन्यद्रव्यरूप (इह जिनेन्द्रे) इन जिनेन्द्र भगवान्मे हम (अधुना) इस समय (मज्जाम) निमग्न होते है—भक्तिसे उनके गुण चिन्तनमे तल्लीन होते है।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान् जिस तेजको धारण करते है वह सामान्यसे एक है, विशेषकी अपेक्षा अनेक है, विभाव भावोसे रहित होनेके कारण अपूर्ण है, स्वभाव भावोसे सहित होनेके कारण पूर्ण है, शरीर प्रमाण होनेसे अतत है, लोकालोकावभासी ज्ञानसे सहित होनेके कारण प्रस्तीर्ण—विस्तृत है, अल्पज्ञानियोके अगोचर होनेसे गूढ है, ज्ञानी जनोके द्वारा ग्राह्य होनेसे स्फुट-प्रकट है, सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है, अन्तर्ज्ञेयोके सपर्कसे सहित होनेके कारण अशुद्ध है, अन्य द्रव्यके सपर्कसे रहित होनेके कारण शुद्ध है इस प्रकार विरोधी धर्मोसे युक्त होनेके कारण आश्चर्यकारक है। श्री जिनेन्द्रदेव अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे विभूषित है, सहज प्रकाशके भारसे सुशोभित है, सर्वज्ञ है तथा चैतन्य द्रव्यरूप हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवमे हम इस समय भक्तिसे निमग्न होते है। सर्वतोभावसे हम अपना उपयोग उन्हीमे स्थिर करते है ॥१॥

एकस्याक्रमविक्रमैकरसिनस्त्रैलोक्यचक्रक्रम-
क्रीडारम्भगभीरनिर्भरहठोत्फुल्लोपयोगात्मनः ।
आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य ते
नाथन्याः प्रपिबन्ति सुन्दरमिदं रूप सुगुप्तं स्वतः ॥२॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) जो एक—अद्वितीय हैं, (अक्रमविक्रमैकरसिन) क्रमहीन पराक्रमसे परिपूर्ण है, (त्रैलोक्यचक्रक्रमक्रीडारम्भगभीरनिर्भरहठोत्फुल्लोपयोगात्मन.) तीनो लोकरूपी चक्रकी

क्रमपूर्ण क्रीडाके आरम्भसे गम्भीर तथा अत्यधिक हठसे विकसित उपयोग ही जिनका स्वरूप है और (आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य) जिनका अत्यन्त स्पष्ट स्वभाव आनन्दरूपी उत्कृष्ट कलिकाओंके समूहसे विकसित हो रहा है ऐसे (ते) आपके (सुन्दरं) मनोज्ञ तथा (स्वतः सुगुप्तं) अपने आपसे सुरक्षित (इदं रूपं) इस रूपका (अधन्याः) भाग्यहीन प्राणी (न प्रपिबन्ति) पान नही करते है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप तीनों लोकोंमे अद्वितीय हैं, अनन्तवीर्यसे युक्त हैं, तीन लोकके ज्ञाता उत्कृष्ट केवलज्ञानरूपी उपयोगसे सहित हैं तथा आपका स्वभाव अनन्तसुखसे परिपूर्ण है। हे नाथ! आपके स्वत सुरक्षित इस सुन्दर रूपका दर्शन भाग्यहीन नही करते हैं। निकटभव्य जीव ही आपके इस सुन्दर रूपका दर्शन कर सकते हैं, भाग्यहीन मनुष्य नहीं ॥२॥

निःसीम्नोऽस्य भरात् स्खलद्भिरभितो विश्वस्य सीम्न्युज्ज्वलै-
र्वल्गद् वल्गुनिराकुलैककलनक्रीडारसस्योर्मिभिः।
चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं स्फीतं स्वभावश्रिया
पीत्वैतत् तव रूपमद्भुततमं माद्यन्ति के नाम न ॥३॥

अन्वयार्थ—(अस्य निःसीम्नः विश्वस्य सीम्नि) इस सीमातीत विश्वकी सीमापर (भरात्) जोरसे (अभितः) चारो ओर (स्खलद्भिः) टकरानेवाली (उज्ज्वलैः) निर्मल (वल्गुनिराकुलैक कलनक्रीडारसस्य) सुन्दर और निराकुल अद्वितीय परिणमनसम्बन्धी क्रीडारसकी (ऊर्मिभिः) तरंगोंसे जो (वल्गत्) चञ्चल है (चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं) चैतन्यरूप अमृतके पूरसे जो अत्यन्त भरा हुआ है, (स्वभावश्रिया स्फीतं) जो स्वाभाविक लक्ष्मीसे विस्तृत है तथा (अद्भुततम) अत्यन्त आश्चर्यको करनेवाला है ऐसे (तव) आपके (एतत् रूपं पीत्वा) इस रूपको पीकर (के नाम न माद्यन्ति) कौन नही मत्त होते हैं? अर्थात् सभी मत्त होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके इस अत्यन्त अद्भुत रूपके दर्शन कर सभी लोग हर्षसे विभोर हो जाते हैं ॥३॥

एकः कोऽपि हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशस्त्वया
चिद्वीर्यातिशयेन केवलसुधापिण्डः किलालोडितः।
यस्याद्याप्यतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली
त्रैलोक्योदरकन्दरास्वतिभरभ्रश्यद्भ्रमं भ्राम्यति ॥४॥

अन्वयार्थ—(हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशः) जिसके विशाल प्रकाशका वेग हठपूर्वक रोका गया था ऐसा (कोऽपि) कोई (एकः) अद्वितीय (केवलसुधापिण्डः) केवलज्ञानरूपी अमृतका समूह (किल) निश्चयसे (त्वया) आपके द्वारा (चिद्वीर्यातिशयेन) आत्मवीर्यके अतिरेकसे (आलोडितः) आलोडित किया गया है—मथा गया है (यस्य) जिसकी (अतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली) अत्यन्त सुन्दर उठती हुई चञ्चल तरंगोंकी पंक्तियोंका समूह (त्रैलोक्योदरकन्दरासु) तीन लोकके मध्यरूपी गुफाओंमें (अद्यापि) आज भी (अतिभरभ्रश्यद्भ्रमं 'यथास्यात्तथा') अत्यन्त भारसे भँवरको नष्ट करता हुआ (भ्राम्यति) घूम रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने आत्मवीर्यसे उस केवलज्ञानको प्राप्त किया था जिसका प्रकाश अत्यधिक विस्तृत था तथा जिसकी तरंगावली आज भी तीन लोकोंके भीतर अनवरत घूम रही है ॥४॥

दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुख-
व्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः ।
उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुलाः संभूय मुञ्चन्ति ते
स्पष्टोद्योतविकाशमांसलरुचश्चैतन्यनीराजनाः ॥५॥

अन्वयार्थ— (दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुखव्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः) ज्ञान दर्शनकी दृढतासे आलिङ्गित अत्यन्त विस्तृत तीन लोकका भार धारण करनेके सन्मुख बहुतभारी प्रचण्ड वीर्यके वेगसे जिनकी ज्योति विशाल हो रही है तथा (उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुलाः) जो अत्यन्त तेजस्वी ज्वालाओंके समूहसे परिपूर्ण है ऐसी (ते) आपकी (चैतन्यनीराजनाः) चैतन्यरूपी आरतियाँ (संभूय) मिलकर (स्पष्टोद्योतविकाशमासलरुच) स्पष्ट प्रकाशके विस्तारसे परिपुष्ट कान्तियोंको (मुञ्चन्ति) छोड़ रही हैं—प्रकट कर रही हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्के सामान्य चैतन्य गुणको आरतियोका रूपक दिया गया है जिस प्रकार आरतियोंमे अनेक कलिकायें होती है उसी प्रकार चैतन्यरूपी आरतियोंमे भी ज्ञान-दर्शन वीर्य तथा सुख आदि अनेक कलिकाएँ है। ये सभी कलिकाएँ अत्यन्त तेजस्वी हैं। इनकी किरणावली अत्यधिक विस्तृत है तथा ये सभी मिलकर स्पष्ट प्रकाशसे विस्तृत रुचि—कान्ति अथवा आत्मश्रद्धाको प्रकट कर रही है ॥५॥

एकस्योच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मनोन्मज्जतः
कोऽनेकान्तदुराशया तव विभो भिन्द्यात्स्वभावं सुधीः ।
उद्गच्छद्भिरनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयै-
र्देवत्वं यदि नाद्यतः स्वयमपि स्वादान्तरैः साधयेत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन्! (उद्गच्छद्भिः) प्रकट होने वाले तथा (अनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयैः) अनन्त धर्मरूप ऐश्वर्यके प्राग्भारसे जिनका उदय विभिन्न प्रकारका हो रहा है ऐसे (स्वादान्तरैः) विशिष्ट सुखोंसे (यदि) यदि (आद्यत.) प्रारम्भसे (स्वयमपि) स्वयं भी (देवत्वं) देवपनेको (न साधयेत्) सिद्ध नही करता है तो (कः सुधीः) कौन बुद्धिमान् (अनेकान्तदुराशया) अनेकान्तकी दुराशासे (एकस्य) एक और (उच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मना) बढ़ते हुए निर्मल ज्ञान से मनोहर द्रव्य स्वरूपकी अपेक्षा (उन्मज्जत.) प्रकट होनेवाले (तव) आपके (स्वभावं) स्वभावको (भिन्द्यात्) भिन्न करेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—अनेकान्त कहता है कि स्वभाव, स्वभाववान्से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है। दोनोंमें प्रदेशभेद नही है इसलिए तो अभिन्न है और संज्ञा संख्या लक्षण आदिमे भेद होनेसे भिन्न है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे विभो ! आपके स्वभावको आपसे भिन्न कहनेवाला पुरुष यदि सुखादि गुणोंके कारण आपमे देवपना सिद्ध नही कर लेता है तो मात्र अनेकान्तकी सिद्धिके लिए स्वभावको आपसे भिन्न सिद्ध करना दुराशामात्र है ॥६॥

अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो मूर्च्छद्भिरुच्चावचै-
देंव स्वस्य विरुद्धधर्मनिवहैर्निर्माणमुद्दामयन् ।
भावाभावकरम्बितैकविकसद्भावस्वभावस्य ते
भात्युच्चैरनवस्थितोऽपि महिमा सम्यक् सदावस्थितः ॥७॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (भावाभावकरम्बितैकविकसद्भावस्वभावस्य) उत्पाद और व्यय अथवा अस्तित्व और नास्तित्वसे व्याप्त मुख्यरूपसे विकसित होनेवाला ध्रुवभाव जिनका स्वभाव है ऐसे (ते) आपकी वह (महिमा) महिमा, जो कि (अन्योन्यात्मकतारसादिव) परस्पर एक रूपताके स्नेहसे ही मानों (मिथो मूर्च्छद्भिः) परस्पर मिलते हुए (उच्चावचैः) उच्च तथा हीन—मुख्य गौण (विरुद्धधर्मनिवहैः) विरुद्ध धर्मोके समूहसे (स्वस्य निर्माणम् उद्दामयन्) अपने आपके निर्माणको बढाती है, (उच्चैः) उत्कृष्ट है और (अनवस्थितोऽपि) स्थिर न होकर भी (सदावस्थित) सदा स्थिर रहनेवाली है, (सम्यक्) अच्छी तरह (भाति) सुशोभित हो रही है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! उत्पाद और व्ययसे सहित ध्रौव्यरूपसे सदा विकसित रहनेवाला ज्ञान स्वभावसे युक्त आपकी उत्कृष्ट महिमा अत्यधिक सुशोभित हो रही है । हे प्रभो ! आपकी यह महिमा, परस्परकी एकरूपताके स्नेहसे ही मानों मिले हुए परस्पर विरोधी धर्मोके समूहसे समुत्पन्न है तथा उत्पाद और व्ययकी अपेक्षा अनवस्थित होकर भी ध्रौव्यरूपसे सदा अवस्थित है ॥ ७ ॥

चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरसप्राग्भारमेकं सदा
चिच्छक्तिप्रकरैरनेकमपि च क्रीडत्क्रमादक्रमात् ।
द्रव्याप्त्याऽतिनिरुत्सुकस्य वसतश्चित्पिण्डचण्डत्विषि
स्वात्मन्यद्य तवेश शाश्वतमिदं तेजो जयत्येव नः ॥८॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन् ! (द्रव्याप्त्या) स्वात्मोपलब्धि होनेसे जो (अतिनिरुत्सुकस्य) अत्यन्त निरुत्सुक हैं—बाह्य वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए अनुत्कण्ठित है, तथा (चित्पिण्डचण्डत्विषि) चैतन्यके पिण्डसे सूर्यतुल्य (स्वात्मनि) अपने आपमे जो (वसतः) निवास कर रहे है ऐसे (तव) आपका (चिन्मात्र) चैतन्यमात्र, (परिशुद्धं) सब ओरसे शुद्ध (उद्धतरसप्राग्भार) उत्कट आत्मरससे परिपूर्ण (एक) एक (सदा) निरन्तर (क्रमात् अक्रमात्) क्रम और अक्रमसे (चिच्छक्तिप्रकरैः) आत्मशक्तियोंके समूहके साथ (क्रीडत्) क्रीडा करनेवाला, तथा इस दृष्टिसे (अनेकमपि) अनेकरूपताको भी प्राप्त, (शाश्वतमिदम्) यह स्थायी (तेजः) तेज (अद्य) आज (नः) हम लोगोके समक्ष—हमारी श्रद्धाका विषय बनता हुआ (जयत्येव) जयवन्त ही प्रवर्तता है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने भगवज्जिनेन्द्रके वास्तविक रूप और उनके तेजका वर्णन करते हुए कहा है कि हे भगवन् ! आपको द्रव्यकी प्राप्ति हो चुकी है अर्थात् परपदार्थसे भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायसे अभिन्न एकत्व विभक्त आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हो चुकी है अतः आप अन्य वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त निरुत्सुक हैं तथा आप चैतन्यके पिण्डसे सूर्यके समान देदीप्यमान अपने आपमे निवास करते है—आपका उपयोग परपदार्थोंसे हटकर स्वरूपमें ही रम

रहा है। इस प्रकारकी विशेषताको प्राप्त करनेवाले आपका तेज भी अपनी खास विशेषता रखता है। वह चैतन्यमात्र है—उसमेंसे रागद्वेषरूप विकारी भावोंकी पुट निकल गई है, अत्यन्त शुद्ध है, अत्यन्तरूपसे प्रकट हुए आत्मस्वभावसे परिपूर्ण है, सामान्यकी अपेक्षा एक है तथा क्रम और अक्रमसे आत्मशक्तियोंके समूहके साथ क्रीडा करनेसे अनेक भी है और शाश्वत है, स्थायी है। हे प्रभो! ऐसा आपका तेज आज हमारी श्रद्धाका विषय बनता हुआ नियमसे जयवन्त हो रहा है ॥८॥

वर्त्स्यद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा द्रव्येण गुप्तायतिः
पर्यायैरवकीर्यमाणमहिमा नावस्थितिं गाहसे।
एकोऽपि त्वमखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः स्फुर-
च्चिद्भारोऽद्भुतमातनोषि परमं कस्येश नोत्पश्यतः ॥९॥

अन्वयार्थ—(वर्त्स्यद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा) भावी और भूतपर्यायोंमे व्याप्त तेजसे युक्त (द्रव्येण) आत्मद्रव्यकी अपेक्षा जो (गुप्तायतिः) दीर्घताको सुरक्षित रखते हैं अर्थात् अवस्थित है और (पर्यायैः) पर्यायोकी अपेक्षा (अवकीर्यमाणमहिमा) जिनकी महिमा बिखरी हुई है ऐसे (त्व) आप (अवस्थितिं न गाहसे) स्थायित्वको प्राप्त नही हैं अर्थात् अनवस्थित है। इस प्रकार (ईश) हे प्रभो! (अखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः) विवक्षावश अविभक्त और विभक्त आत्मस्वभावसे धीर तथा (स्फुरच्चिद्भारः) देदीप्यमान चैतन्यके समूहसे युक्त आप (एकोऽपि) एक होकर भी (उत्पश्यतः) अवलोकन करनेवाले (कस्य) किस मनुष्यके (परमं) अत्यधिक (अद्भुतं) आश्चर्यको (न आतनोषि) विस्तृत नही करते है अर्थात् सभीके आश्चर्यको विस्तृत कर रहे है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप द्रव्यकी अपेक्षा अवस्थित है और पर्यायोंकी अपेक्षा अनवस्थित है तथा आपका निज शुद्धस्वभाव, स्वभाव और स्वभाववान्मे प्रदेशभेद न होनेसे अविभक्त है और सज्ञा सख्या आदिका भेद होनेसे विभक्त है, साथ ही आपका चैतन्यपुञ्ज अतिशय देदीप्यमान है—केवलज्ञानादि गुणोसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुशोभित हो रहा है इस तरह आप एक होकर भी सभी दर्शकोको आश्चर्य उत्पन्न कर रहे हैं ॥९॥

यन्नास्तीति विभासि भासि भगवन्नास्तीति यच्च स्वयं
भावाभावमयं ततोऽसि किमपि त्वं देव जात्यन्तरम्।
भाव (वा) भावमयोऽप्यभावमहसा नाभावतां नीयसे
नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्डचण्डोद्गमः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (यत्) जिस कारण आप (नास्ति इति विभासि) नास्तिरूप सुशोभित है (च) और (यत्) जिस कारण (अस्तीति भासि) अस्तिरूप सुशोभित हैं (तत) उस कारण (देव) हे देव! (त्वं) आप (भावाभावमयं) अस्ति-नास्तिरूप (किमपि) कोई (जात्यन्तरम्) विलक्षण द्रव्य (असि) हैं इस प्रकार (नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्डचण्डोद्गमः) नित्य प्रकाशके विकाशरूपी हाससे सुशोभित चैतन्यपिण्डके द्वारा जिनका अभ्युदय अत्यन्त तेजपूर्ण है

ऐसे आप (भावाभावमयोऽपि) भाव-अभाव—दोनों रूप होते हुए भी (अभावमहसा) अभावके प्रभावसे (अभावतां न नीयसे) अभावरूपताको प्राप्त नहीं कराये जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप हैं इस तरह उभयरूप होनेपर भी आप निरन्तर प्रकाशमान चैतन्य पिण्डसे युक्त होनेके कारण अभावरूपताको कभी प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् आपकी यह परम शुद्ध अवस्था शाश्वत है, क्षण-स्थायी नहीं है। आपमें अभावरूपताका जो भंग है वह मात्र परचतुष्टयके अभावकी अपेक्षा है, स्वचतुष्टयके अभावकी अपेक्षा नहीं ॥१०॥

विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावना-
दन्तर्गूढमपि प्रकाशमभितस्तत्तत्स्वभावश्रिया।
भावाभावपिनद्धबोधवपुषि प्रद्योतमाने स्फुटं
त्वय्येतच्चितिवल्लिपल्लवतुलां त्रैलोक्यमालम्बते ॥११॥

अन्वयार्थ—(भावाभावपिनद्धबोधवपुषि) उत्पाद-व्यय अथवा अस्ति-नास्तिसे व्याप्त ज्ञान ही जिनका शरीर है ऐसे (त्वयि) आपके (स्फुटं 'यथा स्यात्तथा') स्पष्टरूपसे (प्रद्योतमाने 'सति') प्रकाशित रहनेपर (विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावनात्) समस्त पदार्थोंके आकार सम्बन्धी विकाशके बहुतभारी परिज्ञानरूपी प्रभाके सद्भावसे (अन्तर्गूढमपि) अन्तर्निमग्न होनेपर भी जो (तत्तत्स्वभावश्रिया) उस उस स्वभावरूप लक्ष्मीके द्वारा (अभितः) सब ओर (प्रकाश) प्रकाशमान हो रहा है ऐसा (एतत्) यह (त्रैलोक्य) तीनों लोकोका समूह (चितिवल्लिपल्लवतुलाम्) चैतन्य-ज्ञानदर्शनरूपी लताके एक पल्लवकी उपमाको (आलम्बते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! पदार्थोंके उत्पाद व्यय अथवा आस्ति-नास्ति पक्षको जाननेवाले ज्ञानसे युक्त आपके विद्यमान रहते हुए यह लोकत्रितय अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा यद्यपि आपके ज्ञानमे अन्तर्नि-मग्न है तो भी बाह्यमे अपने-अपने पृथक् स्वभावसे प्रकाशमान है और आपके ज्ञानमे झलकता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानों ज्ञान-दर्शनरूपी लताका एक पल्लव ही हो। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान अनन्त है तथा उसके भीतर झलकनेवाला लोकत्रय अत्यन्त अल्प है। आपका ज्ञान इतना अधिक विस्तृत है कि उसमे ऐसे-ऐसे अनन्त लोकत्रितय झलक सकते हैं ॥११॥

अन्तःस्तम्भितसावधानहृदयैर्देवासुरैस्तर्कित-
श्चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः कोऽयं स्वभावस्तव।
एकस्मिन् स्वमहिम्नि मग्नमहसः सन्त्योऽपि चिच्छक्तयः
स्वे स्फूर्त्या यदनन्तमेतदभितो विश्वं प्रकाश्यासते ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अन्त स्तम्भितसावधानहृदयैः) अन्तरंगमे निश्चल तथा प्रमादसे रहित हृदयवाले (देवासुरैः) देव और असुरोंके द्वारा (तर्कितः) तर्कका विषय बनाया हुआ तथा (चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः) चैतन्य-ज्ञानदर्शनके संकोच और विकाशके कारण आश्चर्यको करने वाला (तव) आपका (अयं) यह (कः स्वभावः) कौन स्वभाव है? कि (यत्) जिससे (चिच्छक्तयः) आत्माकी शक्तियाँ (एकस्मिन् स्वमहिम्नि) अपनी एक महिमामे (मग्नमहसः सन्त्यः अपि) निमग्न

तेज होती हुई भी (स्फूर्त्या) अपने बलसे (एतत् अनन्तं विश्वं) इस अनन्त विश्वको (अभितः प्रकाश्य) सब ओरसे प्रकाशित कर (स्वे) अपने आपमें (आसते) स्थित हो रही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! सुर और असुर अपने हृदयको अपने भीतर निश्चल और सावधान कर आपके स्वभावका विचार करते हैं परन्तु अशक्तिवश विचार नहीं कर सकते हैं। आपका स्वभाव ज्ञानकी दृष्टिसे विस्ताररूप है तो दर्शनकी दृष्टिसे संकोचरूप भी है। इस परस्पर विरुद्धताके कारण आपका स्वभाव सबको आश्चर्यमें डालनेवाला है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आत्माकी अनन्त शक्तियाँ अपने-अपने स्वभावमें स्थिर रहती हुईं भी इस समस्त विश्वको प्रकाशित करती हैं और आपमें निर्बाधिरूपसे विद्यमान रहती हैं। तात्पर्य यह है कि आप परस्पर विरोधी अनन्त शक्तियोंके भाण्डार है ।।१२।।

निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणार्प्पणास्फोटिताः
स्पष्टानन्तरुचः स्वशक्तय इमा विष्वक् स्फुटन्त्यस्तव ।
आक्रम्य क्रमसन्निवेशवशतो विश्वं समस्तं भराद्
भान्त्योऽपि प्रसभावरुद्धरभसा लीयन्त एव त्वयि ।।१३।।

अन्वयार्थ—(निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणार्पणास्फोटिताः) निश्चल एक दृढ उपयोगके सर्वस्व समर्पणसे जो प्रकट हुई हैं (स्पष्टानन्तरुचः) जिनकी अनन्त किरणे स्पष्ट है और जो (विष्वक् स्फुटन्त्यः) सब ओर प्रकाशमान है ऐसी (इमाः) ये (तव) आपकी (स्वशक्तयः) आत्मशक्तियाँ (क्रमसन्निवेशवशतः) क्रमिक सन्निवेशके वशसे (भरात्) बलपूर्वक (समस्तं विश्वं) समस्त लोका-लोकको (आक्रम्य) व्याप्त कर (भान्त्योऽपि) सुशोभित होने पर भी (प्रसभावरुद्धरभसाः) जिनका वेग हठपूर्वक रुक गया है ऐसी होती हुईं (त्वयि एव) आपमे ही (लीयन्ते) विलीन हो जाती हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी जो अनन्त आत्मशक्तियाँ सब ओर अनुभवमे आ रही हैं वे उपयोगकी अत्यन्त स्थिरतासे प्रकट हुई हैं, स्वय अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद से युक्त है और ज्ञानदर्शनके द्वारा अपना विषय बनानेके कारण समस्त विश्वमे व्याप्त है। अर्थात् लोक-अलोकको जानने-देखनेवाली है। इसप्रकार व्यवहारनयसे यद्यपि ये सर्वत्र व्यापक हैं तथापि निश्चयनयसे आपके निज आत्मामे ही विलीन है अर्थात् आत्माको छोड़ अन्यत्र व्याप्त नही हैं ।।१३।।

दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधिः सान्तः प्रदेशश्रिया
देव क्वाऽप्यवधिर्न भाति भवतस्तेनोपयोगात्मना ।
किन्त्वत्रापि निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयो
वश्यन्त्यक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासाः स्वयं सान्तताम् ।।१४।।

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मना) दर्शन और ज्ञानसे देदीप्यमान आत्माके द्वारा आप (अनवधि) सीमासे रहित अर्थात् अनन्त और (प्रदेशश्रिया) प्रदेशोंकी लक्ष्मीके द्वारा (सान्तः) सीमासहित अर्थात् सान्त (असि) हैं। इसप्रकार (तेन उपयोगात्मना) उस उपयोग-

स्वरूपकी अपेक्षा (क्वापि) कही भी (भवतः) आपकी (अवधिः) अवधि (न भाति) सुशोभित नही है यह ठीक है (किन्तु) किन्तु (अत्रापि) इस लोकमे (निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयः) जिनकी अनन्त उत्कृष्ट क्रीड़ाएँ अपने प्रदेशोमे नियत हैं—उन्हें छोड़ अन्यत्र नही जाती हैं ऐसे (अक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासा.) अखण्डरूपसे समस्त विश्वको अपना विषय बनानेवाले चैतन्यगुणके विलास—ज्ञानदर्शन गुणके विकल्प (स्वयं) अपने आप (सान्तताम्) अन्तसहितपने को (वक्ष्यन्ति) धारण करते है अर्थात् उनकी अपेक्षा आप सान्त है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन और ज्ञान अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेदोसे सहित होने तथा समस्त लोकालोकको अपना विषय बनानेसे अनन्त है और उनसे अभिन्न होनेके कारण आप भी अनन्त है परन्तु जब प्रदेशोकी अपेक्षा विचार करते हैं तब मात्र असख्यात प्रदेशोके धारक होनेसे आप सान्त है। इसतरह उपयोग—ज्ञानदर्शनकी अपेक्षा सीमा-रहित होनेपर भी आप आत्मप्रदेशो की अपेक्षा सान्त ही हैं ॥१४॥

मज्जन्तीव जगन्ति यत्र परितश्चिच्चन्द्रिकासागरे
दूरोन्मग्न इवैष भाति तदपि त्वय्येव मग्नः सदा ।
लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा त्वं तु प्रभो भाससे
भावानामचलाविचिन्त्यमहिमा प्रायः स्वभावोऽद्भुतः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस (चिच्चन्द्रिकासागरे) चैतन्यरूप चाँदनीके सागरमे (जगन्ति) तीनो लोक (मज्जन्तीव) मानो डूब रहे है उसमे (एष.) यह लोक यद्यपि (दूरोन्मग्न इव) दूरसे उखरा हुआ सा (भाति) सुशोभित होता है (तदपि) तो भी (त्वय्येव) आपमे ही (सदा मग्नः) निरन्तर मग्न रहता है। (प्रभो) हे स्वामिन् (लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा) लोकके अन्ततक जिनकी पुण्य महिमा निमग्न-व्याप्त हो रही है ऐसे (त्वं) आप (भाससे) अतिशय सुशोभित हो रहे है। सो ठीक ही है क्योकि (भावनां) पदार्थोंकी (अचलाविचिन्त्यमहिमा) अविनाशी और अचिन्तनीय महिमासे युक्त (स्वभाव) स्वभाव (प्रायः) प्राय कर (अद्भुत) आश्चर्यकारी होता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके चैतन्यरूपी चाँदनीके सागरमे ये तीनो जगत् ऐसे जान पडते हैं मानो डूब रहे हो और यह लोक यद्यपि आपसे उन्मग्न हुआ है—आपके ज्ञानसे ही प्रकाशित हुआ है तथापि आपमे ही निमग्न हो रहा है—आपके ज्ञानमे निरन्तर आता रहता है। आपकी महिमा लोकान्त तक व्याप्त है इससे जान पडता है कि पदार्थोंकी अविनाशी और अचिन्त्य महिमासे युक्त स्वभाव प्रायः आश्चर्यकारी होता ही है ॥१५॥

स्वान्तःकुड्मलितेऽपि केवलकलाचक्रेऽक्रमव्यापिनि
क्रीडत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा कोऽयं भवान् भासते ।
लीनस्य स्वमहिम्नि यस्य सकलानन्तत्रिकालावली
पूजासन्मकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं गाहते ॥१६॥

अन्वयार्थ—जिनके (केवलकलाचक्रं) केवलज्ञानकी कलाओंका समूह (स्वान्तःकुड्मलितेऽपि) अपने आपमें नियन्त्रित होनेपर भी (अक्रमव्यापिनि) एकसाथ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है (स्वमहिम्नि) अपनी महिमामें (लीनस्य) लीन रहनेवाले (यस्य) जिनके लिये यह (सकलानन्तत्रिकालावली) समस्त तथा अनन्त त्रिकालावली—तीनों कालोंकी पंक्ति (पूजास्रङ्मकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं) पूजाकी मालाके मकरन्दकी बिन्दुओंकी कणसन्ततिकी शोभाको (गाहते) प्राप्त हो रही है तथा (क्रीत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा) जिनके सुशोभित अन्तरात्मामें समस्त पदार्थोंकी महिमा गृहीत है—प्रतिबिम्बित है ऐसे (अयं भवान्) यह आप (कः) कौन (भासते) सुशोभित हो रहे है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप कौन हैं यह मै निर्धार नही कर पा रहा हूँ क्योकि आपके समस्त कार्य आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे आपके केवलज्ञानकी कलाओंका समूह यद्यपि आत्मप्रदेशोकी अपेक्षा अपने आपमे नियन्त्रित है अर्थात् जितने क्षेत्रमे आपके आत्मप्रदेश है उतनेमे ही व्याप्त हैं तथापि जाननेकी अपेक्षा वह सर्वत्र युगपद् व्याप्त हो रहा है अर्थात् लोकालोकको जानता है। आप अपने आपकी महिमामे स्वयं लीन है तथापि समस्त विश्वकी महिमा आपमें अन्तर्निलीन है और यह तीनो कालोकी आवलियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानों पूजाकी मालाके मकरन्द की बूंदोंके कण ही हो ॥१६॥

पूर्वश्चुम्बति नापरत्वमपरः पूर्वत्वमायाति नो
नैवान्या स्थितिरस्ति सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः ।
दूरोद्गच्छदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदय-
स्त्वं नित्योऽपि विवर्तसे स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(पूर्वः) पूर्व परिणमन (अपरत्वं) पश्चात् होनेवाले परिणमनका (न चुम्बति) स्पर्श नही करता है और (अपरः) पश्चात् होनेवाला परिणमन (पूर्वत्वं) पूर्व परिणमनको (नो आयाति) नही प्राप्त होता है। पदार्थोंमे (सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः) निरन्तर होनेवाले पूर्वापरीभावसे (अन्या स्थितिः नैव अस्ति) अन्य स्थिति नही है अर्थात् जिनमे पूर्वापरी भाव होता है उनमे यही स्थिति चलती है। परन्तु (दूरोद्गच्छदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदयः) दूर तक विस्तृत अनन्त चेतन्यरूपी घनरसकी अतिशयितासे जिनका उदय अत्यन्त रमणीय है तथा (स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः) अपनी महिमासे जिन्होने तीनो कालोके क्रमको व्याप्त कर रक्खा है ऐसे (त्वं) आप (नित्योऽपि) नित्य होकर भी (विवर्तसे) परिवर्तित हो रहे हैं।

भावार्थ—जिन पदार्थोमे पूर्वपरीभाव होता है उनमे आगे-पीछे होनेका क्रम रहता है परन्तु आप अपने अनन्त चैतन्य स्वभावसे सदा विद्यमान रहनेके कारण नित्य है—आपमे आगे-पीछे होनेका क्रम नही है। साथ ही यह बात भी है कि आप नित्य होकर भी परिवर्तित होते है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे आप अपरिवर्तित है तो पर्यायदृष्टिसे परिवर्तित भी है। द्रव्यदृष्टिसे आपकी महिमा त्रिकालवर्ती है ॥१७॥

गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्-
प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात् ।
आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितै-
रात्मन्येव विवृत्तिमेति किल ते चिद्वारिपूरः स्फुरन् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात्) जिसका मध्य भाग अत्यन्त गहरा है ऐसे विश्वरूप गहरी गुहामें परिवर्तित होनेसे निरन्तर उठती हुई बहुत भारी विकल्पावलिरूप तरंगोंके समूहसे सुशोभित कालरूपी वायुके द्वारा चलाये जानेके कारण (आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितैः) प्रारम्भ किये हुए क्रमिक संचारके भ्रमसे किये हुए परिवर्तनकी लीलासे जो (स्फुरन्) सुशोभित हो रहा है ऐसा (ते) आपका (चिद्वारिपूरः) चैतन्यरूपी जलका प्रवाह (आत्मन्येव) आत्मामे ही (किल) निश्चयसे (विवृत्तिम्) परिवर्तनको (एति) प्राप्त है।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌के चैतन्यको जलप्रवाहका रूपक दिया गया है। जिस प्रकार किसी गहरी गुफामें निरन्तर उलट-फेर करनेवाला जलका प्रवाह निरन्तर उठती हुई कल्लोलोंसे युक्त होता है उसी प्रकार भगवान्‌का चैतन्य भी इस विश्वके मध्यभागरूपी गहरी गुफामे निरन्तर पदार्थोंके उठते हुए विकल्पोंसे उलट-फेर करता है। इस उलट-फेरकी अपेक्षा वह अनित्य भी है और सामान्य स्वभावकी अपेक्षा नित्य भी है ॥१८॥

अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुला
बारम्बारमनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः ।
कालास्फालचलत्कलाः कलयसि स्वामिन् सदा तूलव-
च्चिचत्वाच्चलितैकचण्डिमगुणाद् द्रव्येण निष्कम्पितः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! यद्यपि आप (द्रव्येण) द्रव्यकी अपेक्षा (सदा) सदा (निष्कम्पितः) निश्चल है—ध्रुवरूप है तथापि पर्यायकी अपेक्षा (तूलवच्चित्तत्वात्) तूलके समान चञ्चलचित्तसे युक्त होनेके कारण (चलितैकचण्डिमगुणात्) चञ्चलताको प्राप्त हुए प्रमुख तेजस्विता गुणसे (कालास्फालचलत्कलाः) कालके थपेड़ेसे चञ्चल उन कलाओंको (कलयसि) प्राप्त हो रहे हैं जो (अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुलाः) अन्तर्गत क्षोभसमूहके आघातसम्बन्धी विवशतासे उत्पन्न चञ्चलतासे व्याकुल है तथा (बारम्बार) बार-बार (अनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः) अनन्त आघातोंसे जिनके समस्त स्वभावोमे अन्तर उत्पन्न हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! द्रव्यदृष्टिसे यद्यपि आप निष्कम्प है—आपमे कोई परिवर्तन नही होता है तथापि पर्यायदृष्टिसे आप अनेक अवान्तर परिणमनोंको प्राप्त हो रहे हैं। उन परिणमनों मे कालद्रव्यकी सहायतासे प्रत्येक समय सूक्ष्म परिवर्तन जारी रहता है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समय-समयमें वे परिवर्तन होते रहते हैं तथा बार-बारके इस परिवर्तनसे ऐसा जान पड़ने लगता है जैसा कि आपके समस्त स्वभावमे अन्तर पड रहा हो ॥१९॥

स्वैरेवोल्लसितैरनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभि-
स्तृप्यन् विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा सौहित्यमस्यागतः ।
सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महाः
स्वस्मिन्नेव निराकुलः कलयसि स्वस्मिन् सदैव स्थितिम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(अनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभिः) अनन्त विस्तृत ज्ञानरूपी अमृतको झरानेवाले (स्वैरेवउल्लसितैः) अपने ही उल्लासोंसे जो (तृप्यन्) तृप्त हो रहे हैं ऐसे आप (विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा) सब ओर विस्तृत होनेवाली दृष्टिके द्वारा (सौहित्यम् आगतः असि) परम तृप्तिको प्राप्त हैं तथा (सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महा.) प्रगाढ़ आनन्दके भारसे छलकते हुए आत्मरसके आस्वादसे जिनका आत्मतेज आर्द्र होता हुआ वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ऐसे आप (स्वस्मिन् एव निराकुलः) अपने आपमे ही निराकुल है तथा (स्वस्मिन् एव सदा स्थितिं कलयसि) अपने आप में ही सदा स्थितको प्राप्त हो रहे है—आत्मस्वरूपमें ही लीन हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अपने ज्ञानानन्दस्वभावमें लीन होकर आत्मरसका आस्वादन कर रहे हैं ॥२०॥

निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य सततं गाढोपयोगग्रह-
ग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतोऽप्यन्येन कार्यं न ते।
शुद्धैकास्खलितोपयोगमहसः सोऽयं स्वभावः किल
ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुषः साक्षाद् यदुद्वीक्षणम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य) कर्तृत्व बुद्धिसे रहित होनेके कारण जो इच्छाओंसे रहित हैं ऐसे (ते) आपको (सतत) निरन्तर (गाढोपयोगग्रहग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवत' अपि) गाढ उपयोगरूपी ग्रहसे अनन्त त्रिभुवनको ग्रस्त करनेपर भी (अन्येन कार्यं न) अन्य पदार्थोंसे कार्य नही है। (ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुष') ज्ञेयोके आकारसे युक्त आत्मस्वरूपका (यद्) जो (साक्षात्) साक्षात् (उद्वीक्षणम्) अवलोकन है (सोऽयं) यह (किल) निश्चयसे (शुद्धैकास्खलितोपयोगमहस') शुद्ध अद्वितीय तथा कभी स्खलित न होनेवाले उपयोगरूपी तेजका (स्वभावः) स्वभाव है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप परपदार्थोंके मात्र ज्ञाता है कर्ता नही, अतः अपने केवलज्ञानरूप उपयोगके द्वारा तीनो लोकोके ज्ञाता होनेपर भी आपको किसो अन्य पदार्थसे प्रयोजन नही है। ज्ञेयाकारसे युक्त आत्मस्वरूपका जो अवलोकन है यही शुद्ध अद्वितीय तथा कभी नष्ट न होनेवाले उपयोगका स्वभाव है ॥२१॥

उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारित–
स्फारस्फारमहोर्मिमांसलदृशां चक्रे तव क्रीडति[1]।
आक्रम्याकुलकृष्टमर्ममहिमप्रोत्पानितां नस्त्विषो
भावानां ततयो निरन्तरमिमा मुञ्चन्ति जीवं किल ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपकी (उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारितस्फारस्फारमहोर्मिमासलदृशां) अत्यधिकरूपसे प्रकट होनेवाले अनन्त वीर्यके उत्कृष्ट व्यापारसे विस्तारित बहुत भारी बड़ी-बड़ी तरंगोंसे परिपुष्ट दृष्टियोंके (चक्रे) समूहके (क्रीडति 'सति') क्रीडा करते

१. सप्तम्यन्तः प्रयोगः।

रहते हुए (नः) हमारी (त्विषः) कान्तिकी (आकुलकुष्टमर्ममहिमप्रोत्तानितां) अत्यधिक खींची हुई मर्मसम्बन्धी महिमाके विस्तार पर (आक्रम्य) आक्रमण कर (भावानां इमाः ततयः) विविध विकारी भावोंकी ये पंक्तियाँ (निरन्तरं) सदा (किल) निश्चयसे (जीवं) प्राण (मुञ्चन्ति) छोड़ रही हैं।

भावार्थ– हे प्रभो! अनन्त वीर्यके व्यापारस्वरूप आपमें जो अनन्त दृष्टियोंका समूह प्रकट हुआ है उसे देख कर—उसका अनुभव कर हमारे ये विकारी भाव स्वयं अपने विस्तारको छोड़ निष्प्राण हुए जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी विविध दृष्टियोका विचार करते ही हमारे विकारीभाव समाप्त हो रहे है ॥२२॥

दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि व्याजृम्भमाणेऽभित–
स्तैक्ष्ण्यं संदधतस्तवेश रभसादत्यन्तमुद्यन्त्यमूः।
विश्वव्याप्तिकृते कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बरा–
दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसम्मूर्च्छनाः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ! (दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि अभितः व्याजृम्भमाणे 'सति') केवलदर्शन और केवलज्ञानकी एकतासे तन्मय उपयोगरूपी तेजके सब ओर विस्तृत होनेपर (तैक्ष्ण्यं संदधतः तव) तीक्ष्णताको अच्छी तरह धारण करनेवाले आपकी (अमूः) ये, (विश्वव्याप्तिकृते) समस्त जगत्‌मे व्याप्त होनेके लिए (कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बरा.) जिन्होने अद्‌भुत रसकी प्रस्तावनाके आडम्बरको किया है ऐसी (दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसंमूर्च्छनाः) दूर तक बढे हुए अनन्त वीर्यसम्बन्धी गौरवकी विस्तृत संमूर्च्छनाएँ—अत्यधिक चेष्टाएँ (रभसात्) वेगपूर्वक (अत्यन्त) अतिशयरूपसे (उद्यन्ति) प्रकट हो रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! एक साथ प्रकट होनेके कारण एकरूपताको प्राप्त हुए आपके केवल-दर्शन और केवलज्ञान प्रकट हो रहे है तथा साथ ही अनन्त वीर्यकी गरिमाका भी अत्यधिक विस्तार हो रहा है ॥२३॥

निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमावष्टम्भसम्भावित–
स्वात्मारामममहोदयस्य भवतः किं नाम निर्वर्ण्यते।
यस्याद्यापि मनागुदञ्चितचलज्ञानाञ्चलक्रीडया
हेलाऽऽन्दोलितमाकुलं तत इतो विश्वं बहिर्घूर्णति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमावष्टम्भसम्भावितस्वात्मारामहोदयस्य) निश्चल और निर्बाध उपयोगकी गरिमाके आलम्बनसे जिनके आत्मरमणका महान् उदय सम्पन्न हो रहा है ऐसे (भवन) आपका (किं नाम निर्वर्ण्यते) क्या वर्णन किया जाय? (यस्य) जिनके कि (अद्यापि) आज भी (मनागुदञ्चितचलज्ञानाञ्चलक्रीडया) कुछ प्रकट चंचल ज्ञानके एक अंचलकी क्रीड़ासे (हेलान्दोलितं) अनायास ही चंचलताको प्राप्त हुआ (आकुल) व्यग्र (विश्वं) जगत् (इतस्ततः) इधर-उधर (बहिर्घूर्णति) बाहर ही झूमता रहता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके क्षायिक ज्ञानोपयोगकी महिमा तो निराली है ही परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोगकी महिमा भी कम नही थी क्योंकि उसमें भी यह विश्व प्रतिफलित होता था और प्रतिफलित होकर भी उस ज्ञानोपयोगसे बाह्य ही रहता था। भाव यह है कि ज्ञानोपयोग चाहे क्षायिक हो और चाहे क्षायोपशमिक हो, उसमे प्रतिबिम्बित होनेवाले ज्ञेय उससे भिन्न ही रहते हैं ॥२४॥

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे ।
लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन-
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववद् विष्वग् विलीनात्मनः ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपके (ज्यायसि) श्रेष्ठ (उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे) मध्यमे छलकते हुए निर्मल केवलज्ञानरूपी जलके पूरमे (अत्यन्त स्नात.) जो अत्यन्त स्नान कर रहा है, (सततम् अतन्द्रितस्य) जो निरन्तर आलस्यसे रहित है, (लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालनक्रीडाजर्जरितस्य) लीलापूर्वक चचलताको प्राप्त चैतन्य विलासकी तरंगावलीसम्बन्धी स्पष्ट उछालनेकी क्रीडामे जो जर्जरित हो रहा है, तथा (विष्वक्) सब ओरसे (विलीनात्मनः) जिसका आत्मा विलीन हो रहा है ऐसे (मे) मेरा ([1]शीतशिववत्) सैन्धव नमकके समान (उत्तार एव नास्ति) निकलना ही नही है ।

भावार्थ—जिस प्रकार सैन्धव नमककी डली पानीमे डाली जानेपर उसीमे घुलकर विलीन हो जाती है उसी प्रकार हे भगवन् ! मै भी आपके केवलज्ञानरूपी जलके पूरमे अवगाहन कर उसीमे विलीन हो जाना चाहता हूँ अर्थात् आपके केवलज्ञानका यशोगान कर मैं केवलज्ञानी बननेकी आकाक्षा करता हूँ ॥२५॥

■

१. "सैन्धवोऽस्त्री शीतशिव माणिबन्ध च सिन्धुजे ।" इत्यमर द्वितीयकाण्ड, वैश्यवर्ग श्लोक ४२ ।

ॐ

(२५)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

स्पष्टीकृत्य हठात् कथं कथमपि त्वं यत् पुनः स्थाप्यसे
स्वामिन्नुत्कटकर्मकाण्डरभसाद् भ्राम्यद्भिरन्तर्बहिः ।
तद्देवैककलावलोकनबलप्रौढीकृतप्रत्ययै-
स्तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलैः सर्वोदितः प्राप्यसे ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! (उत्कटकर्मकाण्डरभसात्) तीव्र कर्मसमूहके वेगसे (अन्तर्बहिः) भीतर और बाहर (भ्राम्यद्भिः) भ्रमण करनेवाले अर्थात् भीतर भ्रमरूप प्रवृत्ति करनेवाले और बाहर चतुर्गतिमे भ्रमण करनेवाले पुरुषोके द्वारा (त्वम्) आप (कथ कथमपि) किसी-किसी तरह (हठात्) हठपूर्वक अर्थात् पुरुषार्थकी प्रबलतासे (स्पष्टीकृत्य) स्पष्ट कर (यत्) जिस कारण (पुनः) फिर (स्थाप्यसे) रख दिये जाते हैं—छोड दिये जाते है (तत्) उस कारण (देवैककलावलोकनबलप्रौढीकृतप्रत्ययै) आपकी एक कलाके अवलोकनके बलसे जिनका श्रद्धान दृढ हो गया है तथा (तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलै.) अत्यधिक उत्सादना—निर्जरासे जिनका अपना कर्मसमूह नष्ट हो रहा है ऐसे मनुष्योंके द्वारा (सर्वोदित 'त्वम्') सब प्रकारसे उदित हुए—सर्वोदयरूप अवस्थाको प्राप्त हुए आप (प्राप्यसे) प्राप्त किये जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! तीव्र कर्मोदयके कारण जिनकी आत्मा सशयसे परिपूर्ण है और उसी कारण जो चारो गतियोमे परिभ्रमण कर रहे है ऐसे लोग यदि पुरुषार्थकी प्रबलतासे जिस किसी तरह आपका साक्षात्कार करते भी हैं तो वे आपको पुन छोड देते है—कर्मोदयके कारण आपके प्रति उनकी श्रद्धा दृढ नही रह पाती है परन्तु आपकी अनन्त कलाओमे-से एक कलाके भी अवलोकनसे जिनकी श्रद्धा सुदृढ हो गई है तथा तीव्र उत्सादना—अत्यधिक निर्जरासे जिनका अपना कर्मपटल क्षीण हो गया है ऐसे लोग आपके सन्मुख आते है—आपकी श्रद्धा रखते हैं क्योंकि आप सर्वोदयरूप है सबका कल्याण करते है ॥१॥

देवावारकमस्ति किञ्चिदपि ते किञ्चिज्ज्ञगम्यं न यद्
यस्यासौ स्फुट एव भाति गरिमा रागादिरन्तर्ज्वलन् ।
तद्घातायतपश्यतामहरहश्चण्डः क्रियाडम्बरो (रः)
स्पष्टः स्पष्टसमामृतस्तव किल स्पष्टत्वहेतुः क्रमात् ॥२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! [तस्य] उस मनुष्यके लिए (ते आवारकं किञ्चिदपि अस्ति) आपके साक्षात्कारमे 'आवरण' करनेवाला कोई कारण है (यत्) जो कि (किञ्चिज्ज्ञगम्यं न) अल्पज्ञ

मनुष्योंके लिए गम्य नहीं है अर्थात् सूक्ष्म होनेसे जिसे अल्पज्ञ मनुष्य नही समझ सकते है। (यस्य) जिसके (अन्तः) भीतर (ज्वलन्) प्रकाशमान (रागादिः गरिमा) रागादिरूप विपुलता (स्फुट एव भाति) स्पष्ट ही प्रतिभासित है—[उसे आपका साक्षात्कार नही होता] किन्तु (तद्घातायतपश्यताम्) उस रागादिरूप गरिमाके घात द्वारा दूर तक विचार करनेवाले पुरुषोंका वह (क्रियाडम्बर.) क्रियाकलाप जोकि स्पष्टसमामृत.) स्पष्ट समता भावरूपी अमृतसे सहित है और (क्रमात्) क्रमसे (अहरहः) प्रतिदिन-उत्तरोत्तर (चण्डः) वृद्धिको प्राप्त हो रहा है (किल) निश्चयसे (तव) आपके (स्पष्टः स्पष्टत्वहेतु) साक्षात्कारका स्पष्ट हेतु है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप इतने स्पष्ट हैं फिर भी सबको आपका साक्षात्कार नही होता-सबको आपकी प्रतीति नही होती, इसका कुछ भी तो कारण होना चाहिए और वह कारण इतना अन्तर्निहित—अन्तर्गूढ है जिसे साधारण मनुष्य समझ नही पाते है। वह कारण यही है कि जिसके भीतर रागादि दोष विद्यमान है तथा जो व्यर्थके क्रियाकाण्डमे फँसा हुआ है उसे आपका साक्षात्कार नही होता। आपके साक्षात्कारका स्पष्ट कारण यह है कि अन्तरगमे विद्यमान रागादि विकारी भावोको क्रमसे दूर किया जाय और चरणानुयोगमे प्रतिपादित क्रियाओको करते हुए उन्हे समता भावरूपी अमृतसे युक्त किया जाय। अज्ञानी जीव इस वास्तविक कारणको समझ नही पाते है इसलिए वे आपके साक्षात्कारसे वञ्चित रहते हैं। हे प्रभो ! मेरे यह सब बाधक कारण दूर हुए हैं अत मै आपका साक्षात्कार कर रहा हूँ अर्थात् आपके शुद्ध स्वरूपकी मुझे अनुभूति हो रही है ॥२॥

पूर्वासंयमसञ्चितस्य रजसः सद्यः समुच्छित्तये
दत्त्वा दुर्द्धरभूरिसंयमभरस्योरः स्वयं सादराः।
ये पश्यन्ति बलाद् विदार्य कपटग्रन्थिं श्लथत्कश्मला-
स्ते विन्दन्ति निशातशक्तिसहजावस्थास्थमन्तर्महः ॥३॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (पूर्वासंयमसञ्चितस्य) पूर्ववर्ती असयम द्वारा सचित (रजसः) कर्मरूप धूलिको (सद्य.) शीघ्र ही (समुच्छित्तये) नष्ट करनेके लिए (दुर्धरभूरिसयमभरस्य) कठिन उत्कृष्ट संयमके समूहको (उरः दत्त्वा) हृदय देकर अर्थात् हृदयमे उत्कृष्ट संयम धारण कर (स्वयं सादरा) स्वयं आदरसे युक्त होते हुए (बलात्) बलपूर्वक (कपटग्रन्थि विदार्य) कपटकी गाँठको विदीर्ण कर (श्लथत्कश्मलाः) क्षीण पाप होते हुए (पश्यन्ति) देखते है (ते) वे (निशातशक्तिसहजावस्थास्थ) तीक्ष्ण शक्तियोसे युक्त सहज अवस्थामे स्थित (अन्तर्महः) अन्तस्तेजको (विन्दन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष असंयम अवस्थामे बद्ध कर्मपटलको नष्ट करनेके लिए उत्कृष्ट संयम धारण करते है तथा उत्साह पूर्वक कपटकी गाठको विदीर्ण कर अपने पापभारको कम करते हैं वे ही अनन्त शक्तियोसे युक्त सहज-स्वभावमे स्थित आभ्यन्तर तेज—आत्म प्रकाशको प्राप्त करते हैं ॥३॥

ये नित्योत्सहनात् कषायरजसः सान्द्रोदयस्पर्द्धक-
श्रेणीलङ्घनलाघवेन लघयन्त्यात्मानमन्तर्बहिः।
ते विज्ञानघनीभवन्ति सकलं प्राप्य स्वभावं स्वयं
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः ॥४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (नित्योत्सहनात्) निरन्तरके उत्साहसे (कषायरजसः) कषायरूपी धूलि के (सान्द्रोदयस्पर्द्धकश्रेणीलङ्घनलाघवेन) तीव्र उदयवाले स्पर्द्धक समूहके निराकरण सम्बन्धी शीघ्रतासे (आत्मानं) अपने आत्माको (अन्तर्बहि.) भीतर और बाहर (लघयन्ति) भारहीन करते हैं (ते) वे (स्वयं) अपने आप (सकलं स्वभावं) समस्त स्वभावको (प्राप्य) प्राप्तकर (प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः 'सन्त.') अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकट उपयोगकी गरिमा-महिमासे आत्मलक्ष्मीको प्राप्त करते हुए (विज्ञानघनीभवन्ति) विज्ञानघन—पूर्णज्ञानमय हो जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! निरन्तर चलनेवाले आत्मपुरुषार्थसे जो कषायरूपी धलिके उदयागत स्पर्द्धकोको नष्टकर आत्माको भीतर-बाहर भारहीन करते है—द्रव्य और भाव निर्जरा करते हैं उनका उपयोग अन्य विषयोंसे हटकर एक आत्मस्वरूपमे ही लीन होता है और ऐसे जीव अपने स्वभावको प्राप्तकर विज्ञानघन—पूर्णज्ञानमय हो जाते है ।।४।।

बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्ददृक्सम्विदः
श्रामण्यं सकलं विगाह्य सहजावस्थां विपश्यन्ति ये ।
पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षान्नयन्तः शमं
मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशलाः कर्मद्रुमस्य क्रमात् ।।५।।

अन्वयार्थ—(बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्ददृक्सम्विद) जिनके स्वाधीन दर्शन और ज्ञान बाह्य और अभ्यन्तरके परिणमनमात्रसे सुशोभित हो रहे है अर्थात् रागद्वेषके वशीभूत हो पदार्थासक्त नही है ऐसे (ये) जो जीव (सकलं श्रामण्यं विगाह्य) पूर्ण मुनित्वको प्राप्त कर (सहजावस्था विपश्यन्ति) अपनी स्वाभाविक अवस्थाका अवलोकन करते है अर्थात् अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर लक्ष्य रखते हैं तथा (कर्मकुशला) चरणानुयोग प्रतिपादित क्रियाओके करनेमे कुशल हैं (ते) वे जीव (सपदि) शीघ्र ही (पूर्वावाप्त) पहले प्राप्त हुए (शम) शान्तभावको (साक्षात्) स्वयं (अपूर्वता नयन्तः) अपूर्वताको प्राप्त कराते हुए (क्रमात्) क्रमसे (कर्मद्रुमस्य) कर्मरूपी वृक्षकी (मूल्यान्येव) जड़ोंको ही (लुनन्ति) काट देते है ।

भावार्थ—'अन्तर्मुख प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख प्रकाशको ज्ञान कहते है' इस परिभाषा से जिनके दर्शन और ज्ञान गुण मात्र बाह्य और आभ्यन्तर परिणमनसे सुशोभित हो रहे है ऐसे जो जीव मुनिपदको धारणकर आत्माकी सहज—स्वाभाविक वीतराग सर्वज्ञदशाकी ओर लक्ष्य रखते हैं, चरणानुयोगमे प्रतिपादित क्रियाओके करनेमे कुशल है और पूर्व प्राप्त आंशिक वीतरागता को निरन्तर बढाते रहते है वे ही क्रमसे कर्मरूपी वृक्षकी जड़ोंको काटकर निर्वाणधामको प्राप्त होते हैं ।।५।।

ये गृह्णन्त्युपयोगमात्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुण—
ग्रामण्यं परितः कषायकषणादव्यग्रगाढग्रहाः ।
ते तत्तैक्ष्ण्यमखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं श्रिताः
पश्यन्ति स्वयमीश शान्तमहसः सम्यक् स्वतत्त्वाद्भुतम् ।।६।।

अन्वयार्थ—(परितः कषायकषणात्) सब ओरसे कषायके नष्ट होनेसे (अव्यग्रगाढग्रहाः) जिनकी दृढ पकड व्यग्रतासे रहित है ऐसे (ये) जो जीव (आत्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुणग्रामण्य) आत्मगरिमासे युक्त भीतर ही भीतर प्रकट होनेवाले गुणसमूहसे युक्त (उपयोगं) केवलज्ञानरूप उपयोगको (गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं (ईश) हे नाथ ! (अखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं तत्तैक्ष्ण्य श्रिताः) अखण्डरूपसे एकत्रित आत्मसम्बन्धी श्रेष्ठ व्यापारसे युक्त उस उपयोगकी तीक्ष्णताको प्राप्त हुए (ते) वे जीव (शान्तमहस. 'सन्तः') प्रशान्त तेजसे सहित होते हुए (स्वयं) अपने आप (स्वतत्वादभुतम्) आत्मतत्त्वके आश्चर्यको (सम्यक्) अच्छी तरह (पश्यन्ति) देखते है—उसका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—जब तक कषायका उदय विद्यमान रहता है तब तक यह जीव निश्चल भावसे अपना उपयोग अपने आपमे स्थिर करनेके लिए असमर्थ रहता है परन्तु जब कषायका उदय सर्वथा नष्ट हो जाता है तब शुक्लध्यानके द्वारा यह जीव अपने उपयोगको अपने आपमे बड़ी दृढतासे स्थिर करता है और उसी दृढताके कारण इसे केवलज्ञानरूपी वह उपयोग प्राप्त हो जाता है जिसमे आत्माकी गरिमासे समस्त अन्तर्गत गुणोका समूह प्रकट हो जाता है। हे भगवन् ! जो जीव उस केवलज्ञानरूप उपयोगकी तीक्ष्णताको प्राप्त हो जाते है उनकी आत्माकी समस्त प्रवृत्तियाँ आत्मामे ही केन्द्रित हो जाती है और वे रागद्वेषसे रहित शान्तचित्त होते हुए आत्मतत्त्वके चमत्कारको स्वय देखने लगते है ॥६॥

चित्सामान्यविशेषरूपमितरत्संस्पृश्य विश्वं स्वयं
व्यक्तिष्वेव समन्ततः परिणमत् सामान्यमभ्यागताः।
अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागराः
कृत्यं यत्तदशेषमेवकृतिनः कुर्वन्ति जानन्ति च ॥७॥

अन्वयार्थ—(चित्सामान्यविशेषरूपम् अभ्यागता·) चैतन्यके सामान्य और विशेषरूपको अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप परिणतिको प्राप्त हुए जो पुरुष (इतरत्) आत्मासे भिन्न (विश्व) विश्व का (सस्पृश्य) अच्छी तरह स्पर्शकर—उसे जानकर (समन्ततः) सब ओरसे (स्वय व्यक्तिष्वेव) स्वयं अपने आपमे (परिणमत्) परिणत होनेवाले (सामान्यं) सामान्य दर्शनरूप परिणतिको (अभ्यागताः) प्राप्त हुए है तथा (अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागरा) अन्तरङ्ग और बहिरंग गम्भीर संयम समूहके धारण करनेमें जो निरन्तर सावधान रहते है ऐसे (कृतिनः) कुशल मनुष्य (यत् कृत्य) जो करने योग्य है (तत् अशेषमेव) उसे समस्तरूपसे ही (कुर्वन्ति) करते है (च) और (जानन्ति) जानते है।

भावार्थ—आत्माके चेतना गुणकी दो परिणतियाँ होती हैं एक दर्शनरूप और दूसरी ज्ञानरूप। दर्शनरूप परिणति आत्माको विषय करती हैं और ज्ञानरूप परिणति समस्त अन्य पदार्थोंको विषय करती है। दर्शनरूप परिणतिको सामान्य और ज्ञानरूप परिणतिको विशेष कहते हैं। प्रथम यह जीव, आत्मा और उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थोंको विषय बनाता है—उन्हे जानता है परन्तु जैसे-जैसे शुक्लध्यानमे तल्लीनता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही इसका उपयोग अन्य पदार्थोंसे हटकर एक आत्मामे ही केन्द्रित होने लगता है। इस प्रकार अन्य पदार्थोंसे उपयोग हटने पर जो

आत्माको ही विषय करते हैं और इस कारण चैतन्यकी आत्मग्राही सामान्य परिणतिको जो पुनः प्राप्त हुए हैं तथा अन्तरंग बहिरंग चारित्रके धारण करनेमे जो निरन्तर जागृत रहते हैं—सदा सावधानी बरतते है ऐसे कुशल मनुष्य अपने करने योग्य कार्यको सम्पूर्णरूपसे जानते हैं और करते भी हैं तथा उसके फलस्वरूप कर्मकालिमाको नष्टकर मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥७॥

चित्सामान्यमुदञ्च्य किञ्चिदभितो न्यञ्चन्निजव्यक्तिषु
स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा त्व दृश्यसे केवलम् ।
व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमस्ति न पुनः सामान्यमेक क्वचिद्
व्यक्त(व्यक्त)व्यक्तिभरः प्रसह्य रभसाद् यस्याशयाऽपोह्यते ॥८॥

अन्वयार्थ—(चित्सामान्यम्) चैतन्य सामान्यको (किञ्चित्) कुछ (उदञ्च्य) ऊँचा उठाकर-उसे कुछ प्राधान्य देकर जो (अभित.) सब ओरसे (निजव्यक्तिषु) अपने विशिष्टरूपोमे (न्यञ्चन्) निमग्न हो रहे है ऐसे (त्वम्) आप (केवलं) मात्र (स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा) अत्यन्त स्पष्ट स्थिर उपयोगकी महिमासे युक्त (दृश्यसे) दिखाई देते है । (पुन·) फिर (एक सामान्य) एक सामान्य (क्वचित्) कही (व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्त) विशेषोसे भिन्न (न अस्ति) नही है (यस्य आशया) जिसकी आशासे (व्यक्तव्यक्तिभर·) स्पष्ट अनुभवमे आनेवाले विशेषोका समूह (प्रसह्य) हठपूर्वक (रभसात्) वेगसे (अपोह्यते) दूर किया जाता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! ऐसा एकान्त नही है कि आप सामान्यको विषय करनेवाले दर्शनोपयोगसे ही सहित है और विशेषको विषय करनेवाले ज्ञानोपयोगसे रहित है । आपके सुदृढ उपयोगकी महिमा अत्यन्त स्पष्ट है उस महिमाके बलसे आप चित् सामायन्यको कुछ प्रधानता देकर अपने विशिष्ट रूपोंमे निमग्न हो जाते है । दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक चैतन्य सामान्य की दो पर्यायें है अत· जब पर्यायकी ओर लक्ष्य रहता है तब ये दो उपयोग अनुभवमे आते है परन्तु जब चैतन्य सामान्यकी ओर लक्ष्य रहता है तब उपयोगके इन दोनो विकल्पोसे दृष्टि हटकर मात्र एक उपयोग हीमे रम जाती है । यह बात जुदी है कि कभी सामान्यको प्राधान्य दिया जाता है और कभी विशेषको । ऐसा एकान्त अभिप्राय इष्ट नही है कि मात्र सामान्य ही ग्राह्य है विशेष नही क्योंकि विशेषसे भिन्न ऐसा कोई सामान्य नही है जिसकी आशासे स्पष्ट अनुभवमे आनेवाले विशेषोंको सर्वथा छोड़ा जा सके ॥८॥

बाह्यार्थं स्फुटयन् स्फुटस्यहरहस्त्वं यत् स्वभावः स ते
दृष्टः केन निरिन्धनः किल शिखी किं क्वापि जातु ज्वलन् ।
बाह्यार्थं स्फुटयन्नपि त्वमभितो बाह्यार्थभिन्नोदय-
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा सीमन्तितः शोभसे ॥९॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (यत्) जो (अहरह·) प्रतिदिन—प्रतिसमय (बाह्यार्थं स्फुटयन्) बाह्य पदार्थको स्पष्ट करते हुए (स्फुटसि) प्रकट हो रहे हैं—अनुभवमें आरहे है सो (सः ते स्वभावः) वह आपका स्वभाव है अर्थात् बाह्य पदार्थोंको स्पष्ट जानना आपका स्वभाव है क्योंकि (किल) निश्चयसे (किं) क्या (क्वचित् जातु अपि) कही कभी भी (केन) किसीके द्वारा (निरिन्धनः) ईंधनके

बिना (ज्वलन्) जलती हुई (शिखी) अग्नि (दृष्टः) देखी गई है ? अर्थात् नही देखी गई है। इतना अवश्य है कि (त्वम्) आप (बाह्यार्थ स्फुटयन् अपि) बाह्य पदार्थोंको जानते हुए भी (अभित) सब ओर (बाह्यार्थभिन्नोदयः) बाह्य पदार्थोंसे भिन्न रहते हैं तथा (प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा) स्पष्ट-रूपसे प्रकट उपयोगके तेजसे (सीमन्तितः) युक्त होते हुए (शोभसे) सुशोभित रहते है।

भावार्थ—जिस प्रकार ईंधनको जलाना अग्निका स्वभाव है उसी प्रकार ज्ञेयको जानना ज्ञानका स्वभाव है। वह ज्ञेय बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका होता है। घट-पटादि बाह्य ज्ञेय है और ज्ञानके भीतर पडा हुआ उनका विकल्प अन्तर्ज्ञेय है। ऐसा एकान्त नही है कि ज्ञान अन्तर्ज्ञेयको ही जानता है या बहिर्ज्ञेयको ही। अन्तर्ज्ञेय, बहिर्ज्ञेयसे सम्बन्ध रखता है अतः जहाँ अन्तर्ज्ञेयके जाननेकी बात कही जाती है वहाँ बहिर्ज्ञेयका जानना स्वतः आ जाता है और जहाँ बहिर्ज्ञेयके जाननेकी बात आती है वहाँ अन्तर्ज्ञेयका जानना स्वयसिद्ध है क्योकि अन्तर्ज्ञेयको जाने बिना बहिर्ज्ञेयका ज्ञान सभव नही है। उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हे भगवन्! आप ज्ञानस्वभावके कारण बाह्य पदार्थों को यद्यपि प्रतिसमय जानते है तथापि उनसे भिन्न रहते हैं जिस प्रकार मयूरके प्रतिबिम्बसे युक्त होनेपर भी दर्पण मयूरसे भिन्न रहता है उसी प्रकार अपका ज्ञान, घट-पटादि बाह्य पदार्थोंके विकल्पोसे युक्त होने पर भी उनसे भिन्न रहता है ॥ ९ ॥

बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्त्वरसनादात्मानमात्मात्मना
स्वात्मारामममुं यदीच्छति भृशं सङ्कोचकुब्जोऽस्तु मा।
क्षिप्यन्तं प्रसभ बहिर्मुहुरमुं निर्मथ्य मोहग्रहं
रागद्वेषविवर्जितः समदृशा स्वं सर्वतः पश्यतु ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (आत्मा) आपका आत्मा (तत्त्वरसनात्) परमार्थका रसिक होनेसे (बाह्यार्थान् परिहृत्य) बाह्य पदार्थोंको छोडकर (यदि) यदि (आत्मना) अपने आपके द्वारा (स्वात्माराम) स्वस्वभावमे रमण करनेवाले (आत्मान) अपने आत्माको (इच्छति) चाहता है तो (भृशं) अत्यधिक (सङ्कोचकुब्जो मा अस्तु) सङ्कोचसे कुबडा (छोटा) न हो अर्थात् बाह्य पदार्थोंको छोड़कर मात्र अपने आत्मामे ही सकुचित न रहे। (मुहु) बार-बार (प्रसभं) हठपूर्वक (बहि. क्षिप्यन्तं) बाह्य पदार्थोमे ले जानेवाले (अमुं मोहग्रहं) इस मोहरूपी ग्रहको (निर्मथ्य) नष्टकर (रागद्वेषविवर्जित 'सन्') रागद्वेषसे रहित होता हुआ (समदृशा) समदृष्टिसे (स्व) अपने आपको (सर्वतः) सब ओर (पश्यतु) देखे।

भावार्थ—स्वरूप समावेशके लिये यह आवश्यक नही है कि बाह्य पदार्थोंको छोड़कर मात्र आत्मस्वरूपको ही जाना जाय किन्तु यह आवश्यक है कि जो मोहरूपी पिशाच इस आत्माको बार-बार बाह्य पदार्थोमे खीचकर ले जाता है उसे नष्ट किया जाय। मोहरूपी पिशाचके नष्ट होनेपर आत्मा रागद्वेषसे रहित हो जावेगा और उस स्थितिमे वह स्व तथा पर दोनोंको जानने पर भी स्वरूपमे समाविष्ट रह सकेगा। तात्पर्य यह है कि वीतराग दृष्टि ही स्वरूप समावेशका धन है ॥१०॥

दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि यद् दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः
कस्यापि स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषस्त्वं पशोः ।
तेनैवोत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं स्वकर्मेच्छवः
सम्यक् स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यता योगिनः ॥११॥

अन्वयार्थ – (दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः) जो अपनी दृष्टिको बाहर रख रहा है तथा (स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषः) जिसकी आत्मदीप्ति अपने कर्मरूप पुद्गलके बलसे क्षोभको प्राप्त हो रही है ऐसे (कस्यापि पशोः) किसी अज्ञानी जीवको (त्वम्) आप (यत्) जिस कारण (दृष्टोऽपि) दृष्टिमे आकर भी (पुनः) फिर (भ्रमकृत्) भ्रमको करनेवाले (भवसि) होते है। अर्थात् जो पुरुष मात्र बहिर्दृष्टि है उसे कदाचित् आपका श्रद्धान होता भी है तो वह पुनः भ्रममें पड जाता है (तेनैव) उसी कारण (उत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं) बहुतभारी पिष्टपेषण—अभ्यस्त विषयाभिलाषाकी हठसे छूटे हुए (स्वकर्मेच्छव.) आत्मकर्तव्यके इच्छुक (योगिनः) योगी जन (सम्यक्) सम्यक् प्रकारसे (स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यताः) अपने योग्य बाह्याचारके पालनमे निरन्तर उद्यत रहते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञाननय और क्रियानय परस्पर सापेक्ष रहने पर ही आत्मकल्याणके लिये साधक होते है क्योकि ज्ञाननयसे निरपेक्ष मनुष्य, मात्र बाह्याचारमे लीन रहते हुए परमार्थसे बाह्य रहते हैं। ऐसे जीवोको कदाचित् आपका श्रद्धान होता भी है तो वे उसमे दृढ नही रह पाते, शीघ्र ही उससे विचलित हो जाते है और जो मात्र ज्ञाननयमे लीन रहते हैं वे अनादिकालसे अभ्यस्त विषय मार्गमे सलग्न रहते है उससे छूटनेका पुरुषार्थ नही करते। यही सब विचार कर योगीजन अपने पदके अनुरूप क्रिया—बाह्याचारके पालनमे निरन्तर तत्पर रहते है ॥११॥

रागग्रामविनिग्रहाय परमः कार्यः प्रयत्नः परं
योगानां फलकृन्न जातु विहितो गाढग्रहान्निग्रहः ।
सस्पन्दोऽपि विरज्यमानमहिमा योगी क्रमान्मुच्यते
निष्पन्दोऽपि सुषुप्तवन्मुकुलितस्वान्तःपशुर्बध्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ—(रागग्रामविनिग्रहाय) राग समूहका सर्वथा निग्रह करनेके लिये (परम्) अत्यधिक (परमः) उत्कृष्ट (प्रयत्नः) प्रयत्न (कार्य.) करना चाहिये, क्योकि (गाढग्रहात्) उसकी सुदृढ़ पकड़से (विहितः) किया हुआ (योगानां) मन वचन कायरूप योगोंका (निग्रह.) दमन (जातु) कभी भी (फलकृत् न) फलदायक नही होता है (विरज्यमानमहिमा) रागको छोड़नेके लिये उन्मुख महिमासे युक्त (योगी) साधु (सस्पन्दोऽपि) प्रवृत्ति सहित होनेपर भी (क्रमात्) क्रमसे (मुच्यते) मुक्त हो जाता है और (सुषुप्तवत्) गाढ निद्रामें निमग्नकी तरह (मुकुलितस्वान्तः) चित्तको संकोचित करनेवाला (पशु.) अज्ञानी जीव (निष्पन्दोऽपि) निश्चल होने पर भी (बध्यते) बन्धको प्राप्त होता है।

भावार्थ—राग समूह बन्धका प्रमुख कारण है क्योंकि उसके छोड़े बिना मात्र योगों—मन वचन काय की प्रवृत्तियोंका दमन कार्यकारी नही होता है। रागद्वेषका क्षय करनेके लिये प्रयत्नशील साधु पदानुकूल क्रियाओंको करता हुआ भी क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होता है और

रागद्वेषसे युक्त अज्ञानी पुरुष गाढनिद्रामे निमग्नकी तरह निश्चल रहने पर भी बन्धको प्राप्त होता रहता है इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवको रागसमूहका विनिग्रह करनेके लिये बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिये ॥१२॥

कर्मभ्यः कृतिनः क्रमाद् विरमतः कर्मैव तावद्गति-
र्यावद्वर्तितरज्जुवत् स्वयमसौ सर्वाङ्गमुद्वर्तते ।
लब्धज्ञानघनाद्भुतस्य तु वपुर्वाणीमनोवर्गणा
यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया सत्योऽप्यसत्योऽस्य ताः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(क्रमात्) क्रम पूर्वक (कर्मभ्यः) क्रियाओसे (विरमत.) विरत होनेवाले (कृतिनः) कुशल मनुष्यके (कर्मैव) क्रियारूप चारित्र ही (तावत्) तब तक (गति.) लक्ष्य है—शरण है (यावत्) जबतक (वर्तितरज्जुवत्) बटी हुई रस्सीके समान (असौ) वह (स्वयं) स्वयं ही (सर्वाङ्गं) सर्वाङ्गसे (उद्वर्तते) खुलता है (तु) परन्तु (लब्धज्ञानघनाद्भुतस्य) प्राप्त हुए ज्ञानघनसे आश्चर्यपूर्ण मनुष्यके लिये (वपुर्वाणीमनोवर्गणाः) शरीर वचन और मनोवर्गणाएँ (यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया) यन्त्र सचालितकी तरह मात्र कारण होनेसे (सत्योऽपि ता. अस्य असत्यः) होती हुई भी इसके लिये नही होती हुईके समान है।

भावार्थ—एक समय ऐसा भी आता है जब यह जीव क्रमपूर्वक क्रियाकाण्डरूप व्यवहार चारित्रसे निवृत्त हो जाता है और स्वरूपमे आचरणरूप निश्चय चारित्रसे युक्त होता है परन्तु यह क्रियाकाण्डरूप व्यवहार चारित्र भी उसके लिये तबतक शरणभूत रहता है जबतक कि कटी हुई रस्सीके समान यह बन्ध सर्वाङ्गसे स्वय नही खुल जाता है। पूर्ण विज्ञानघनसे आश्चर्यको प्राप्त होने वाले जीवके जो शरीर, वचन और मनोवर्गणाएँ हैं वे मात्र यन्त्र संचालितकी तरह है। अर्थात् वह बुद्धिपूर्वक उनको क्रियाओका कर्ता नही है अतः वे वर्गणाएँ इसके लिये उनकी होती हुई भी नही होतीके समान है ॥१३॥

निष्कम्पे हृदि भासि तस्य न बहिर्वल्गग्रहस्तम्भित-
क्षुभ्यज्जात्यहरेरिवोग्रतरसः स्तम्भेऽपि निष्कम्पता ।
स्तम्भेनापि विनैव पङ्गुपदवीमायाति यस्मिन्मन-
स्तत्किञ्चित् किल कारणं कलयतां भासि त्वमेव स्वयम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! आप (निष्कम्पे हृदि भासि) निष्कम्प—निश्चल हृदयमे सुशोभित होते हैं परन्तु (बहिर्वल्गग्रहस्तम्भितक्षुभ्यज्जात्यहरेरिव उग्रतरस.) जिस प्रकार तीव्र वेगशाली उत्तम जातिका घोड़ा बाह्य मे लगाम लगानेसे यद्यपि रुक तो जाता है तथापि आगे बढनेके लिये क्षुभित—चञ्चल होता रहता है उसी प्रकार (तस्य स्तम्भेऽपि न निष्कम्पता) रोकने पर भी उस मनमे निष्कम्पता—निश्चलता नही हो पाती। किन्तु (स्तम्भेनापि विनैव) रुकावटके बिना ही (यस्मिन्) जिसमे (मनः) मन (पङ्गुपदवीम् आयाति) लंगडेपनको प्राप्त हो जाता है—जिसे पाकर मनकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है (किल) निश्चयसे (तत् किञ्चित् कारण कलयताम्) उस किसी अनिर्वचनीय कारणको प्राप्त करनेवाले मनुष्योंके हृदयमे (त्वम्) आप (स्वयमेव) स्वयं ही (भासि) सुशोभित होने लगते हैं।

भावार्थ—मनकी चञ्चलता दो प्रकारकी है एक योगजनित और दूसरी कषायजनित। योगजनित चञ्चलताको रोक लेने पर भी अंतरंगमें विद्यमान कषायजनित चञ्चलता उसे बार-बार चञ्चल करती रहती है। हे भगवन् ! जिसने मात्र योगजनित चञ्चलताको रोका है उसके हृदयमे आपका ध्यान आता तो है परन्तु कषायजनित चंचलताके विद्यमान रहनेसे आपका वह ध्यान स्थिरताको प्राप्त नहीं हो पाता। हाँ, ऐसी अवस्था आ जावे कि कषायजनित चचलता भी शान्त हो जावे और उसके शान्त हो जाने पर मन एक प्रकारसे पंगु हो जावे अर्थात् उसकी चपलता दूर हो जावे तो फिर ऐसे मनमें जो आपका ध्यान आवेगा वह स्थिर हो जायगा। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि जिसमे मन पंगु बन जाता है उस किसी अनिर्वचनीय कारणको प्राप्तकरने वालोंके हृदयमे आप स्वयं सुशोभित होने लगते हैं ॥१४॥

छायास्पर्शरसेन शान्तमहसो मत्तप्रमत्ताशयाः
श्रामण्याद्द्विपमीलनेन पतितास्ते यान्ति हिंसां पुनः ।
आक्रम्याक्रमपाकदग्धरजसि स्फूर्य (र्ज) त्स्वभावाद्भुते
कर्मज्ञानसमुच्चये न रमते येषां मतिः स्वैरिणी ॥१५॥

अन्वयार्थ—(आक्रम्य अक्रमपाकदग्धरजसि) आक्रमण कर जिसने अक्रमपाक—अविपाक निर्जराके द्वारा कर्मरूपी धूलिको जला दिया है तथा जो (स्फूर्जत्स्वभावाद्भुते) प्रकट होनेवाले शक्तिशाली स्वभावसे आश्चर्यकारी है ऐसे (कर्मज्ञानसमुच्चये) क्रियानय और ज्ञाननयके समूहमे (येषा स्वैरिणी मतिः) जिनकी स्वच्छन्द बुद्धि (न रमते) रमण नही करती है (ते) वे (शान्तमहस.) शान्त तेजकी (छायास्पर्शरसेन) छायामात्रके स्पर्शसे (मत्तप्रमत्ताशया.) प्रमत्तचित्त तथा (द्विप-मलिनेन) गजनिमीलना—उपेक्षाभावके कारण (श्रामण्यात् पतिता.) वास्तविक मुनिपदसे पतित होते हुए (पुनः) फिरसे (हिंसां यान्ति) हिंसाको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो आत्मपरिणामोंकी ओर लक्ष्य न देकर मात्र क्रियाकाण्डमे निमग्न रहते है वे क्रियानयवादी हैं और जो मात्र 'शुद्धोऽहं बुद्धोऽहं' की रट लगाते है तदनुसार प्रवृत्तिरूप चारित्र का पालन नही करते है वे ज्ञाननयवादी हैं। ये दोनो ही मिथ्यावादी है और ससारमे भटकनेवाले हैं। इसके विपरीत जो पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझकर तदनुसार प्रवृत्ति करते है वे क्रियानय और ज्ञाननयके समुच्चयमे लीन हो संसार सागरसे पार होते है। यहाँ क्रिया और ज्ञाननयके समुच्चयकी महिमाका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह समुच्चय सब ओरसे आक्रमण कर किसी क्रमके बिना ही अर्थात् अविपाक निर्जराके द्वारा युगपत् ही कर्मरूपी धूलिको भस्म कर देता है तथा उसमे आत्माका टङ्कोत्कीर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाता है। ऐसे क्रियानय और ज्ञाननयके समूहमे जिनकी स्वच्छन्द—व्यवहाराभास, निश्चयाभास अथवा उभयाभासमे प्रवृत्त रहनेवाली बुद्धि रमती नही है वे मुनि परमार्थसे शान्तरमको प्राप्त नही हैं किन्तु शान्तरस की छायामात्रके स्पर्शसे ही अपने आपको कृतकृत्य मानकर प्रमत्त हो जाते हैं। और आत्मा अनात्माके अवगमके बिना निरन्तर होनेवाले आस्रवसे निर्भय हो जाते है। जिसप्रकार हाथी आँख बन्द कर किसी आशङ्कासे उपेक्षा करने लगता है उसीप्रकार मै तो 'सम्यग्दृष्टि हूँ अतः मुझे बन्ध नही होता, मेरे भोग भी कर्मनिर्जराके कारण हैं' ऐसी विपरीत श्रद्धाके कारण आस्रवसे उपेक्षाभाव धारण करले

हैं—उससे निवृत्त होनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे श्रामण्यपद—परमार्थ मुनिपदसे पतित हो पुनः हिंसाभावको—अविरत अवस्थाको प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे जीव मात्र द्रव्यलिंगको धारण कर बारबार मुनिपदसे भ्रष्ट होते हैं ॥१५॥[1]

सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि प्रक्षीणतैक्ष्ण्याः समं
सामान्यान्निपतन्त ऊर्जितनिजव्यक्तिष्वबद्धादराः ।
एते घर्घरघोरघोषसरलश्वासानिलैर्बालिशा
ऐकाग्र्यं प्रविहाय मोहपिहिता दुःशिक्षया शेरते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(प्रक्षीणतैक्ष्ण्याः) जिनके कषायकी तीव्रता क्षीण हो गयी है तथा (ऊर्जितनिजव्यक्तिषु) अपनी सुदृढ विशेषताओंमे जो (अबद्धादराः) आदरसे रहित हैं ऐसे पुरुष (सपदि) शीघ्र ही (क्षणं) क्षणभरके लिये (सामान्यम् उन्नमय्य) सामान्य—द्रव्यदृष्टिको ऊँचा उठाकर—उसे प्रधानता देकर पश्चात् (समं) साथ ही अथवा सम्पूर्णरूपसे (सामान्यात् निपतन्तः) सामान्य—द्रव्यदृष्टिसे (निपतन्त) पतित होते हुए (मोहपिहिताः) मोहसे आच्छादित (एते) ये (बालिशाः) अज्ञानी पुरुष (दुःशिक्षया) खोटी शिक्षाके कारण (घर्घरघोरघोषश्वासानिलैः) भयकर घुर्राटोके शब्दसे युक्त श्वासोच्छ्वासकी वायुसे (ऐकाग्र्यं विहाय) एकाग्रताको छोड़कर (शेरते) शयन करते है।

भावार्थ—ससारके प्राणी अनादिकालसे अपने विशेष व्यक्तित्वमें मूढ हो अहकारसे तन्मय हो रहे है तथा विषय-कषायसम्बन्धी तीक्ष्णताके कारण आत्मस्वभावसे भ्रष्ट हो रहे है। ऐसे ही जीवोमे यदि कदाचित् किन्हीकी तीक्ष्णता नष्ट होती है और अपने विशेष व्यक्तित्वका अहंकार छूटता है तो वे क्षणभरके लिये अपने सामान्य उपयोग—द्रव्यदृष्टिको ऊँचा उठाते है—उसे प्रधानना देते हैं परन्तु अनादिकालीन संस्कारोके कारण वे पुनः शीघ्र ही उस सामान्य उपयोगसे पतित हो अपने विशेष व्यक्तित्वके अहंकारमे निमग्न हो जाते हैं तथा मोहसे आच्छादित हो खर्राटे भरते हुए प्रगाढ निद्रामे लीन हो जाते है। ऐसे जीवोंको आचार्यने बालिश—अज्ञानी कहा है तथा उनकी इस अज्ञानताका कारण दुःशिक्षा—खोटी शिक्षाको बताया है ॥१६॥

तीक्ष्णं तीक्ष्णमिहोपयोगमचलस्वालम्बबद्धोद्धतं
साक्षात्खण्डितकालखण्डमनिशं विश्वस्य ये बिभ्रति ।
ते भूतार्थविमर्शसुस्थितदृशः सर्वत्र सन्तः समा-
श्चित्सामान्यविशेषसम्भृतमतिस्पष्टं स्वमध्यासते ॥१७॥

---

१ मग्ना. कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञान भवन्त. स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥ स० क०
सम्यग्दृष्टि स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्ता समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥ स० क०

अन्वयार्थ—(ये) जो मनुष्य (इह) इस जगत्में (अनिशं) निरन्तर (विश्वस्य) विश्वासकर—आत्मस्वरूपकी दृढ प्रतीतिकर (अचलस्वालम्बबद्धोद्धतं) अपने आपके अचल आलम्बनमे बद्ध होनेसे शक्तिशाली तथा (खण्डितकालखण्ड) कालखण्डको खण्डित करनेवाले अर्थात् प्रत्येक समय स्वरूपमें स्थिर रहनेवाले (तीक्ष्णं तीक्ष्णं) अत्यन्त तीक्ष्ण उपयोगको (साक्षात् बिभ्रति) साक्षात् धारण करते हैं (ते) वे (भूतार्थविमर्शसुस्थितदृश·) भूतार्थ–परमार्थ तत्त्वके विचारमे सुस्थिर दृष्टि रखनेवाले (सर्वत्र समा· सन्त.) इष्ट-अनिष्टमे मध्यस्थ होते हुए (चित्सामान्यविशेषसम्भृत) चैतन्यके सामान्य विशेषभावसे परिपूर्ण तथा (अतिस्पष्टं) अत्यन्त स्पष्ट (स्वम्) अपने आपमे (अध्यासते) अधिष्ठित होते है—निवास करते है।

भावार्थ—जो परमार्थके विचारमे अपनी दृष्टिको सुस्थिर रखते है अर्थात् निश्चयाभासके दूषित विचारसे अपने श्रद्धानको सुरक्षित रखते है वे एकान्त सामान्य अथवा एकान्त विशेषके पक्षसे मुक्त होकर कथचित् सामान्य और कथंचित् विशेषको प्रधानता देते हुए, दोनो स्वभावोसे परिपूर्ण आत्मस्वभावमे लीन रहते है ॥१७॥

अत्यन्तद्रढितोपयोगनिबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभू-
र्भूयोभिः समसंयमामृतरसैर्नित्याभिषिक्तः कृती।
एकः कोऽपि हठप्रहारदलितध्वान्तः स्वतत्त्वं स्पृशन्
विश्वोद्भासि विशालकेवलमहीमाक्रम्य विश्राम्यति ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अत्यन्तद्रढितोपयोगनिबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभू.) अत्यन्त दृढीकृत उपयोगके द्वारा जिसने श्रुतज्ञानकी भूमिको अत्यधिक व्याप्त किया है अर्थात् जो पूर्वविद् होकर पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यानमे अपना उपयोग दृढताके साथ स्थिर रखता है (भूयोभि· समसंयमामृतरसै·) अत्यधिक सम्पूर्ण सयमरूप अमृतके रसोमे अर्थात् यथाख्यान चारित्ररूप सुधाके रसोसे जो (नित्याभिषिक्त) निरन्तर अभिषिक्त रहता है (कृती) कृतकृत्य है अर्थात् मोहका सर्वथा क्षय हो जानेसे जो किसी कार्यकी इच्छासे रहित है और (हठप्रहारदलितध्वान्त) हठ-पूर्वक प्रहारसे जिसने अज्ञानान्धकारको नष्ट कर दिया है अर्थात् ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोका क्षय कर जिसने सर्वज्ञदशा प्राप्त कर ली है ऐसा (कोऽपि एक.) कोई एक निकट भव्यजीव (स्वतत्त्वं स्पृशन्) आत्मतत्त्वका स्पर्श करता हुआ बारबार अपना उपयोग आत्मामे ही लगाता हुआ (विश्वो-द्भासिविशालकेवलमहीम् आक्रम्य) समस्त पदार्थोको प्रकाशित करनेवाली विशाल केवलज्ञानकी भूमिको प्राप्त कर (विश्राम्यति) विश्राम करता है।

भावार्थ—यह जीव केवलज्ञानकी भूमि स्वरूप अरहन्त अवस्थाको किसप्रकार प्राप्त होता है? इसका व्यवस्थित क्रम बतलाते हुए आचार्यने कहा है कि पहले निश्चयनयके यथार्थ-बोधसे आत्मतत्त्वका निर्णय कर उसमे स्थिर होना चाहिये तदनन्तर श्रुतज्ञानकी उच्चतम भूमिका पूर्वविद् अवस्थाको प्राप्त कर उसके माध्यमसे मोहनीय कर्मका क्षय कर यथाख्यातचारित्ररूप पूर्ण चारित्रको प्राप्त करे। इसके पश्चात् शेष घातिया कर्मोका क्षय कर अज्ञानतिमिरका सदाके लिये विनाश करे तथा परपदार्थोसे निवृत्त होकर अपने ज्ञानोपयोगको आत्मस्वरूपमे स्थिर करे। ऐसा करनेसे ही यह जीव लोकालोकको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानसे युक्त अरहन्त अवस्था-को प्राप्त होता है ॥१८॥

आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः स्वादस्तवासौ स्फुटः
सर्वाङ्गं मदयन् प्रसह्य कुरुते कन्न प्रमादास्पदम् ।
माद्यन्तोऽपि निशातसंयमरुचो नैव प्रमाद्यन्ति ये
तेषामेव समुच्छलस्यविकलः काले विलीनैनसा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(आजन्मानुपलब्धशुद्धमहस) जिसे जन्मसे लेकर अबतक शुद्ध आत्मतेजकी उपलब्धि नहीं हुई ऐसे मनुष्यको (तव) आपका (असौ) यह (सर्वाङ्गं मदयन्) सर्वाङ्गमे मद उत्पन्न करनेवाला (स्फुटः स्वादः) स्पष्ट स्वाद—स्पष्ट अनुभव (क) किसे (प्रसह्य) हठपूर्वक (प्रमादास्पदम्) प्रमादी (न कुरुते) नही करता है ? अर्थात् सभीको करता है परन्तु (निशातसयमरुच) संयममे तीव्ररुचि रखनेवाले (ये) जो मनुष्य (माद्यन्तः अपि नैव प्रमाद्यन्ति) मत्त होते हुए भी प्रमत्त नही होते है (तेषामेव) उन्हींके आप (विलीनैनसा) पापके नष्ट हो जानेसे (काले) योग्य-समयपर (अविकलः) पूर्णरूपसे (समुच्छलसि) प्रकट होते हैं—अनुभवमे आते हैं ।

भावार्थ—जिन जीवोंको आजतक शुद्ध आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नही हुई है उन्हे कदाचित् आपका अनुभव होता भी है तो वह उन्हे प्रमाद उत्पन्न करानेवाला होता है । परन्तु जो मानव संयममे तीव्ररुचि रखते है और प्रमादके अवसरमे भी प्रमाद नही करते है उन्हीके पापोका क्षय होता है और पापक्षयके फलस्वरूप उनकी आत्मामे आप पूर्णरूपसे प्रकट होते है अर्थात् उपर्युक्त जीव ही आपका अनुभव कर पाते है । तात्पर्य यह है कि जो जीव कदाचित् आपकी श्रद्धा कर भी लेते है वे यदि प्रमत्त हो सयमसे भ्रष्ट रहते है तो उनके हृदयमे आपकी श्रद्धा सुदृढ नही रह सकती । आपकी श्रद्धाको सुदृढ बनाये रखनेके लिये सयममे प्रगाढरुचि होना आवश्यक है ॥१९॥

यन्मिथ्यापि विभाति वस्त्विह बहिः सम्यक् तदन्तर्द्रवं
भारूपं न विपर्ययस्य विषयो व्यक्तिर्हि साऽप्यात्मनः ।
साक्षात्क्षीणमलस्य गोचरमिते सम्यग्बहिर्वस्तुनि
व्यक्तिश्चेत् परिवर्तते किमनया ज्ञानस्य नाज्ञानता ॥२०॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगत्मे (यद् वस्तु) जो वस्तु (बहि.) बाह्यमे (मिथ्यापि विभाति) मिथ्या भी मालूम होती है (तत् अन्तर्द्रवं भारूप सम्यक्) दीप्तिरूप होकर अन्तरमे अवतीर्ण हुई वह वस्तु (सम्यक्) समीचीन है (विपर्ययस्य विषयो न) मिथ्याज्ञानका विषय नही है (हि) क्योकि (सा अपि) वह भी (आत्मन. व्यक्ति.) आत्माकी व्यक्ति है । तात्पर्य यह है कि बहिःप्रमेयकी अपेक्षा ही प्रमाणाभासका व्यवहार होता है अन्तःप्रमेयकी अपेक्षा नही । फिर (साक्षात् क्षीणमलस्य) जिसकी कर्मकालिमा साक्षात् क्षीण हो चुकी है ऐसे किसी मनुष्यके (सम्यग् बहिर्वस्तुनि) कोई समीचीन बाह्य वस्तु (गोचरम् इते) विषयको प्राप्त होती है और विषयको प्राप्त होनेपर (चेत्) यदि (व्यक्तिः परिवर्तते) उस बाह्य वस्तुका कोई विशिष्टरूप परिवर्तित होता है तो (अनया किम्) इससे क्या हानि है ? (ज्ञानस्य अज्ञानता न) उसके ज्ञानमे अज्ञानता नहीं आती है ।

भावार्थ—वस्तुके मिथ्या और सम्यक्पनेका व्यवहार अन्त.प्रमेयके ऊपर निर्भर है बाह्य प्रमेयके ऊपर नही । क्योकि अन्तःप्रमेय आत्माकी परिणति है अतः उसीके आधारपर वस्तुमें मिथ्या और सम्यक्पनेका व्यवहार होता है ॥२०॥

अन्तर्बाह्यविवर्ति किञ्चिदपि यद् रागादि रूपादि वा
तत्कुर्वन्न विशेषतः सम(म)मपि ज्ञानानलस्येन्धनम् ।
विश्वेनापि धृतप्रमेयवपुषाऽशेषेण संधुक्षितः
साक्षाद् वक्ष्यति कश्मलं समरसः शश्वत् प्रमाता ज्वलन् ।।२१।।

अन्वयार्थ—(अन्तर्बाह्यविवर्ति) भीतर और बाहर विद्यमान (यत् किञ्चित् रागादि रूपादि वा) जो कुछ रागादिक अथवा रूपादिक है (तत्) उसे (सममपि) संपूर्णरूपसे जो (विशेषतः) विशेषरूपसे (ज्ञानानलस्य इन्धन न कुर्वन्) अपनी ज्ञानरूपी अग्निका ईन्धन नही करता है अर्थात् उनका मात्र ज्ञाता न रह कर तद्रूप अपने आपको परिणमाता है ऐसा (प्रमाता) जाननेवाला—ज्ञायक (धृतप्रमेयवपुषा) प्रमेयाकारको धारण करनेवाले (विश्वेन) समस्त विश्वके द्वारा (अशेषेण) सपूर्णतया (संधुक्षितः) समुत्तेजित हुआ यद्यपि (शश्वत् ज्वलन्) निरन्तर जाननेमे तत्पर रहता है और (साक्षात् समरसः) साक्षात् मध्यस्थ भी होता है तो भी यह निश्चित है कि वह (कश्मलं वक्ष्यति) कर्मकालिमा अथवा दु खको (वक्ष्यति) धारण करेगा ।

भावार्थ—जो रागादिक अन्तरङ्गमे और रूपादिक बाह्यमे विद्यमान है उन्हे विवेकी पुरुष अपने ज्ञानके विषय तो बनाता है परन्तु उनरूप अपने ो परिणमाता नही है अर्थात् रागादिक और रूपादिकका कर्ता तथा भोक्ता नही बनता है परन्तु इसके विपरीत जो अपने आपको तद्रूप करता है वह ज्ञाता कितना ही समरस—मध्यस्थ क्यों न हो तथा पदार्थोंको जाननेके लिये कितना ही क्रियाशील क्यो न हो, नियमसे कर्मकालिमाका पात्र होता है और उसके फलस्वरूप दुःख भी उठाता है ।।२१।।

लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजना-
न्नश्यत्सञ्चितकश्मले मनसि नः शुद्धस्वभावस्पृशि ।
अत्यन्ताद्भुतमुत्तरोत्तरलसद् वैशद्यमुद्योतिभिः
प्रत्यग्रस्फुरितैः प्रकाशमभितस्तेजोऽन्यदुज्जृम्भते ।।२२।।

अन्वयार्थ—(लब्धज्ञानमहिम्नि) जिसने ज्ञानकी महिमाको प्राप्त किया है, (अखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजनात्) अखण्ड चारित्र समूहकी तीक्ष्णतासे जिसकी चिरसंचित कालिमा छूट रही है तथा जो (शुद्धस्वभावस्पृशि) शुद्ध स्वभावका स्पर्श कर रहा है ऐसे (न.) हमारे (मनसि) मनमे (अत्यन्ताद्भुतम्) अत्यन्त आश्चर्यकारी (उद्योतिभि. प्रत्यग्रस्फुरितै.) जिसकी निर्मलता उत्तरोत्तर बढ रही है तथा जो (अभित.प्रकाशम्) सब ओरसे प्रकाशमान है ऐसा (अन्यत् तेज.) एक अन्य ही तेज (उज्जृम्भते) वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ।

भावार्थ—आचार्य कह रहे हैं कि हे भगवन् ! आपके स्तवनसे मेरे मनने ज्ञानकी महिमा को प्राप्त कर लिया है । न केवल ज्ञानकी महिमाको प्राप्त किया है किन्तु अखण्ड चारित्रके प्रभावसे उसकी चिरसचित कालिमा भी छूट गई है तथा आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावमे ही रमने लगा है । साथ ही मेरे मनमे एक ऐसा आश्चर्यकारी अन्य तेज प्रकट हो रहा है जिसकी निर्मलता उत्तरोत्तर बढती जाती है तथा जो सब ओरसे प्रकाशमान है ।।२२।।

ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्मषमषीं प्रक्षालयन्तोऽखिलां
दूरोन्मग्नविचित्रसंयमरसस्रोतस्विनीसङ्गमाः ।
अन्तःशान्तमहिम्न्यसीममहसि मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छना
एतास्ताः परमात्मनो निजकलाः स्फूर्जन्ति निस्तेजिताः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(ये) जो पुरुष (साक्षात्) साक्षात् (अखिला) सम्पूर्ण (कल्मषमषी) कालिमारूपी स्याहीको (प्रक्षालयन्तः) धोते हुए (प्रतिभान्ति) सुशोभित होते है तथा (दूरोन्मग्नविचित्रसंयम-रसस्रोतस्विनीसङ्गमा.) जिन्हे बहुत दूर तक प्रकट हुए विचित्र सयमरसरूपी नदीका समागम प्राप्त हुआ है ऐसे (पुरुषोंकी असीममहसि) अनन्त तेजसे युक्त (अन्त.शान्तमहिम्नि) अन्तरङ्गकी शान्तमहिमामे (परमात्मनः) परमात्माकी (एताः ताः निजकलाः) ये वे निजकलाएँ (स्फूर्जन्ति) प्रकट होती हैं जो (मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छनाः) निरन्तर प्रवर्धमान है तथा (निस्तेजिताः) तीक्ष्णताको प्राप्त है—अतिशयरूपसे प्रकट हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो पुरुष राग-द्वेषरूपी कालिमाको नष्ट कर स्वरूपाचरण—यथा-ख्यात चारित्ररूप उत्कृष्ट संयमको धारण करते हैं उनके प्रशान्त अन्त करणमें परमात्माकी समस्त कलाएँ प्रकट होती हैं अर्थात् वे स्वयं परमात्मा बन जाते है ।।२३।।

[1]अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमा संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकी भवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिसकारण (निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव) पूर्णरूपसे पिये हुए समस्त भाव समूहरूपी रसके बहुतभारी भारमे मत्तकी तरह दिखनेवाली (इमाः) ये (अच्छाच्छा.) अत्यन्त निर्मल (संवेदनव्यक्तयः) ज्ञानकी विशेषताएँ (स्वयम् उच्छलन्ति) स्वयं छलक रही है—प्रकट हो रही है इस कारण मै (मन्ये) मानता हूँ कि (एष स. भगवान् चैतन्य-रत्नाकरः) यह वह भगवान् चैतन्यरूपी सागर ही (उत्कलिकाभिः) तरंगोंसे (वल्गति) चञ्चल हो रहा है जो (भिन्नरस) भिन्न रससे युक्त है (एकोऽपि अनेकीभवन्) एक होता हुआ भी अनेकरूप है तथा (अद्भुतनिधि.) आश्चर्योंका भाण्डार है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञानकी विविध विशेषताओंको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो अप्रतिम ऐश्वर्यका धारक चैतन्यरूपी सागर ही लहरा रहा है। तात्पर्य यह है कि ये ज्ञान-दर्शन के विकल्प उसी एक चैतन्यगुणके विविध परिणमन हैं ।।२४।।

---

१. यह श्लोक समयसार कलशाके निर्जराधिकारमें १४१ नम्बरपर ज्योका त्यो दिया गया है। मात्र तृतीय चरणमें 'मन्ये'के स्थानपर यस्य पाठ है।

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहि
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे ।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः
सम्यग्भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः ।।२५।।

अन्वयार्थ—(सतत विष्वक् प्रदीप्तस्य) जो निरन्तर सब ओर देदीप्यमान हो रहा है ऐसे (मे) मेरे (अन्तर्बहि प्रारब्धोद्धतसंयमस्य) भीतर-बाहर प्रकट हुए उत्कृष्ट सयमका (एषः पुटपाक.) यह पुटपाक (ज्ञानाग्नौ) ज्ञानरूपी अग्निमे (घटताम्) सपन्न हो (येन) जिससे (अशेषकषायकिट्टगलन-स्पष्टीभवद्वैभवाः) समस्त कषायरूपी कीटके निकल जानेसे जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है ऐसी (सर्वाः स्वभावश्रियः) समस्त स्वभावरूपी लक्ष्मियाँ (अनुभूतिवर्त्मपतिता) अनुभूतिके मार्गमे पड़ कर (सम्यग् भान्ति) अच्छी तरह सुशोभित हो रही है ।

भावार्थ—यतश्च ज्ञानपूर्वक होनेवाले सयममे दृढता रहती है अत मेरी प्रार्थना है कि हे भगवन् ! मेरे सयमका पुटपाक ज्ञानरूपी अग्निमे सपन्न हो जिससे रागादिक विकारी भाव नष्ट होकर मेरा ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव अच्छी तरह प्रकट हो सके ।।२५।।

■

वसन्ततिलकावृत्तम्

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः ।
आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एष हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्तेः ।।१।।

अन्वयार्थ—(स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः) जो वेगसे स्वयं अतिशय पीडित है तथा (संविद्विकासरसवीचिभिः) सम्यग्ज्ञानके विासरूपी रसकी तरंगोंसे जो (उल्लसन्त्याः) उल्लसित-सुशोभित हो रही है ऐसी (अस्या. स्वशक्ते॰) अपनी इस शक्तिके (बहूनि मणितानि) बहुत भारी शब्दोंका (एषः अमृतचन्द्रकवीन्द्र॰) यह अमृतचन्द्र कवीन्द्र (हृष्यन्) हर्षित होता हुआ (मुहुः) अनेक बार (आस्वादयतु) आस्वादित करे ।

भावार्थ—स्तोत्रात्मक शक्तिमणित कोषकी रचना कर उसके कर्ता अमृतचन्द्र आचार्य यह आकाक्षा प्रकट करते है कि इसके फलस्वरूप मैं अपनी आत्मशक्तिका रसास्वादन करूं ।।१।।

स्याद्वादवर्त्मनि परात्मविचारसारे ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम् ।
शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि रसातिरेके व्युत्पत्तिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम् ।।२।।

अन्वयार्थ—(स्याद्वादवर्त्मनि) स्याद्वादके मार्गमे, (परात्मविचारसारे) निज और परके श्रेष्ठ विचारमे, (ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम्) ज्ञान और क्रियाके अतिशयपूर्ण वैभवकी भावना मे, (शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि) शब्द और अर्थकी संघटनसम्बन्धी सीमामे तथा (रसातिरेके) रसकी अधिकतामे (व्युत्पत्तिमाप्तुमनसाम्) व्युत्पत्ति-विशिष्टज्ञान प्राप्त करनेके इच्छुक (शिशूनाम्) अल्पज्ञ जनोके लिये (असौ) मेरी यह रचना (दिक्) दिशा प्रदर्शन करनेवाली है ।

भावार्थ—इस रचनाके अभ्याससे अल्प ज्ञजनोको स्याद्वादका मार्ग, निजपरका उत्कृष्ट विचार, ज्ञान और चारित्रकी उत्कृष्टभावना, शब्द और अर्थका सुन्दर समावेश तथा प्रकरणानुकूल रस इन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा ।

इत्यमृतचन्द्रसूरीणा कृति. शक्तिमणितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः
इस प्रकार अमृचन्द्र सूरिकी कृति शक्तिमणित कोषः 'अपर नाम' लघुतत्त्वस्फोट' समाप्त हुआ ।

पद्यानुक्रमणिका

■

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	शक्तिगणितकोश	शक्तिमणितकोश
१	५	स्वयंभुवं	स्वायंभुवं
१२	८	निभाग	निर्भाग
२५	६	नेवोच्छ्रूसन्ति:	नैवोच्छ्वसन्ति
३९	२३	एकाग्ररुद्धमनस्तव	एकाग्ररुद्धमनसस्तव
४५	२४	धारिता	धारिता
४७	२१	पत्र जिसके	पत्र जिनके, ऐसी
४७	२२	तथा उनमे स्वकीय शुद्ध	स्वकीय शुद्ध
५०	१४	मभू	ममू
५२	१	त्वमेकनित्यत्वनिखत	त्वमेकनित्यत्वनिखात
५३	३२	बोध	बोध
५६	७	सब आर	सब ओर
५६	२०	मोक्ष को	क्षोभ को
५८	३३	पदार्थों के	पदार्थों को
६०	१९	चार्वाक्	चार्वाक
६२	२०	पुद्गल संख्यात	पुद्गल के संख्यात
६४	११	मिभ्रत:	मियूत.
६४	१४	इभ्रत:	इयूत:
६८	१२	परिणतियां	परिणतियों
६८	२८	नही	वही
६९	१२	विरहन्त	विहरन्त
६९	२३	भवानकर्षीत्	भवानकार्षीत्
७३	१	तदन्तर	तदनन्तर
७५	८	वीरुध:	वीरुध:
७७	५	पुन पुन:	पुन: पुन:
७९	३	विधायिन:	विधायिन
८२	४	कर रहा है	कर कह रहा है
८९	१४	अकुलतासे	आकुलतासे
१०१	१	उपजातवृत्तम्	उपजातिवृत्तम्
११७	१३	त्वमेक	त्वमेक
१३२	७	ज्ञानभूप	ज्ञानरूप

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३३	२	अकुलतासे	आकुलतासे
	६	अज्ञान	अज्ञात
	७	अकुशलतासे	आकुलतासे
१३४	१८	पहुँचते हुए	पहुँचाते हुए
१३७	१६	भाव भी नही है	भाव है। उस प्रकार गुण सादृश्यकी अपेक्षा अन्य जीव द्रव्योंमें नहीं है इस-लिये आपमें अत्यन्ताभाव भी नही है।
१३८	७	मनाद्यनन्तो	मनाद्यन्तो
१४२	२१	तवमतन्त	त्वमनन्त
	३३	आस्तित्व	अस्तित्व
१४५	५	रचनासे	रञ्जनासे
	१५	नितरा किल	नितरा दृगेव किल
	२३	जानना है	जानता है
	२६	सात्र (य)	सान्यकरणान्यपेक्षते
१४६	२९	आत्माके विषयी	आत्मा-विषयी के
१४८	४	चिदेक नियतः	चिदेकनियतः
	१९	अभेदकारक चकको	अभेदकारक चक्रको
	१९	भेदकारक चकको	भेदकारक चक्रको
	३०	स्वाकार्य	स्वीकार
१४९	२१	बृहतोदयः	बृंहितोदयः
१५०	२३	केकल ज्ञान मे	केवलज्ञानमें
१६३	१३	जीवनमुयत	जीवन्मुक्त
१६५	३०	पर्याय आश्रम	पर्याय आश्रयी
१६६	७	पर तु	परन्तु
१९३	२१	एकत्ववितर्क वीचार	एकत्ववितर्क
१९४	८	एनेकात्मक	अनेकात्मक
	९	एक और इन	एक और अनेक इन
१९५	६	एकानेक प्रतिभासि	एकानेकः प्रतिभासि
	२०	एक भी	अनेक भी
	२०	जो अनेक के बिना	जो एक के बिना
	२८	नामक धर्म	नामक दो धर्म
१९६	१०	अनित्यवत्व	अनित्यत्व
	१४	आपके मनमें	आपके मतमे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०४	२०	अन्य भावोका सकर	न अन्य भावोका संकर
२१३	४	प्राणिधान	प्रणिधान
२२९	२४	मञ्जसा	मञ्जसा
	२७	मञ्जसा	
२३०	२२	सहैवापपतो	सहैवापततो
२३३	४	मञ्जयनन्त	मञ्जयन्नन्त
	५	मानन्द्रवाह्	मानन्दवाह्
२३९	३३	भावदात्मा	यावदात्मा
२५९	२२	आपहो	आप ही
	३१	मिलितामन्दानन्दा	मिलिततमामन्दानन्दा
२७३	२१	वेश्ववर्ग	वैश्यवर्ग

■